Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

Fourth Upānga

ANUYOGADVĀRASŪTRA

[Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Inspiring Soul
Up-pravartaka Shasansevi (Late) Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Upadhyaya Sri Kewal Muniji

Sub Editor
DevKumar Jain

Chief Editor
Pt. Shobhachandra Bharill

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क २८

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ सम्प्रेरक
मुनिश्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वीरनिर्वाण संवत् २५१३
वि. सं. २०४४
ई. सन् १९८७

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन-समिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य [illegible]

[illegible]शोधित परिवर्धित मू[illegible]

Jinagam Granthmala Publication No. 28

- **Direction**
  Sadhwi Umravkunwar 'Archana'

- **Board of Editors**
  Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'
  Sri Devendra Muni Shastri
  Sri Ratan Muni
  Pt. Shobhachandra Bharill

- **Managing Editor**
  Srichand Surana 'Saras'

- **Promotor**
  Munisri Vinayakumar 'Bhima'
  Sri Mahendramuni 'Dinakar'

- **Date of Publication**
  Vir-nirvana Samvat 2513
  Vikram Samvat 2044; July, 1987

- **Publisher**
  Sri Agam Prakashan Samiti,
  Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.) [India]
  Pin 305 901

- **Printer**
  Satish Chandra Shukla
  Vedic Yantralaya
  Kesarganj. Ajmer

- **Price** Rs. 50/-

प्रकाशकीय

अनुयोगद्वारसूत्र जैन आगमों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसमें प्रतिपादित विषय अन्य आगमों में प्ररूपित विषयों से बहुत अंशों में भिन्न हैं, अतएव विशिष्ट जिज्ञासु जनों के लिए इसका अध्ययन और मनन भी विशेष उपयोगी है। प्रमोद का विषय है कि आगमप्रकाशन की कड़ी में समिति इस आगम को पाठकों के कर-कमलों में पहुँचा रही है।

आगमों की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना के लेखन में साहित्यवाचस्पति विद्वद्वर उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी म. का बहुमूल्य सहयोग समिति को प्रारंभ से ही प्राप्त रहा है। सचाई यह है कि आपका सहयोग भी आगमप्रकाशन की त्वरित गति का एक प्रधान कारण रहा है। साधुसम्मेलन पूना में सम्मिलित होने के लिए सुदूर विहार करते हुए भी आपने प्रस्तावनालेखन के हमारे अनुरोध को विस्मृत नहीं किया। शब्दों द्वारा आपका आभार व्यक्त करना संभव नहीं है। पूर्ण विश्वास है, आगे भी इसी प्रकार आपका सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

प्रस्तुत आगम के अनुवादक-विवेचक श्रमणसंघ के उपाध्याय विद्वान् श्रेष्ठ प्रवक्ता श्री केवल मुनिजी म. का नाम कौन नहीं जानता? आपकी ओर से समिति को जो महत्त्वपूर्ण योगदान प्राप्त हुआ है, वह मुक्त कंठ से सराहनीय ही नहीं स्तुत्य भी है। साथ ही जिन विद्वानों के सहयोग ने ग्रन्थ के प्रकाशन, सम्पादन, संशोधन में सहयोग प्रदान किया है, उन सभी के प्रति हम आभारी हैं।

अनुयोगद्वार आगमग्रन्थमाला का २८वां ग्रन्थ है। इसके पश्चात् जीवाजीवाभिगम, छेदसूत्र और चन्द्र-सूर्य-प्रज्ञप्ति का ही प्रकाशन शेष रहता है। कतिपय अनिवार्यताओं के कारण इनके प्रकाशन में कुछ विलम्ब होने की संभावना है, तथापि प्रयास यही है कि यथासंभव शीघ्र बत्तीसी का प्रकाशन पूरा किया जा सके। कतिपय आगमों के पत्राकार प्रकाशन की योजना भी समिति के समक्ष है। उसे भी कार्यान्वित करने का प्रयास चालू कर दिया गया है।

गत खाचरौद अधिवेशन में निर्णय लिया गया है कि आगम बत्तीसी की उपलब्धि को अक्षुण्ण रखा जाए और जो आगम समाप्त हो जाएँ उनका पुनः मुद्रण कराया जाए। इस निर्णय के अनुसार आगमप्रकाशन का कार्य भविष्य में भी निरन्तर चालू रहेगा और आगमप्रकाशन समिति स्थायी रूप ग्रहण करेगी। अतएव निवेदन है कि जिन सदस्य महानुभावों ने अपनी किश्तें अभी तक नहीं भेजी हैं, वे कृपया शीघ्र भेजकर इस पुनीत योजना के कार्यान्वयन में पुण्य के भागी बनें।

रतनचंद मोदी	सायरमल चौरड़िया	चांदमल बिनायकिया
कार्यवाहक अध्यक्ष	प्रधानमंत्री	मंत्री

आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)

स्वकथ्य

श्रमण भगवान् महावीर द्वारा भाषित और गणधरों आदि द्वारा संकलित अंग, उपांग, आगमों से यह अनुयोगद्वारसूत्र अपनी वर्णनशैली और वर्ण्य विषय की दृष्टि से भिन्न है। समस्त आगमों के आशय और उसकी व्याख्या को समझने की कुंजी रूप होने से इसका अनूठा ही स्थान है। इसमें आध्यात्मिक-विचारों की विवेचना की अपेक्षा दार्शनिक दृष्टि प्रमुख होने से इसे उत्तरवर्त्ती जैन दार्शनिकों के लिये मार्गनिर्देशक शास्त्र कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो शास्त्र-व्याख्याताओं के लिये यह सूत्र प्रशिक्षण (Training) देने वाला है।

अनुयोग का अर्थ

'अनुयोग' अनु और योग शब्दों का यौगिकरूप है। इसका सामान्य अर्थ है—शब्द का उसके अर्थ के साथ योग—सम्बन्ध जोड़ना। लेकिन प्रत्येक शब्द मूल में एक होते हुए भी अनेकार्थक है। वे अर्थ उसमें गर्भित हैं। अतः यथाप्रसंग शब्द और निश्चित अर्थ की संयोजना अनुयोग कहलाता है।

आगमों में अनुयोग की चर्चा

नन्दी और समवायांग सूत्र में जो आगमों का परिचय दिया है, उसमें आचारांग आदि आगमों के संख्येय अनुयोगद्वार हैं, यह उल्लेख है। स्थानांगसूत्र में द्रव्यानुयोग के दस प्रकार बताये हैं। भगवतीसूत्र में अनुयोगद्वारसूत्रगत अनुयोगद्वार के चार मूल द्वारों में से नयविचारणा का विस्तार से वर्णन किया है। इस संक्षिप्त संकेत से यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर के समय में सूत्र की व्याख्या करने की जो विधा थी, उस सबका समावेश रूप—एक परिपक्वरूप अनुयोगद्वारसूत्र है।

अनुयोगद्वारसूत्र में स्वीकृत व्याख्यापद्धति का परिज्ञान तो पाठक स्वयं इस शास्त्र के अध्ययन से कर लेंगे कि व्याख्येय शब्द का निक्षेप करके उसके अनेक अर्थों का निर्देश कर उस शब्द का प्रस्तुत में कौन सा अर्थ ग्राह्य है, यह शैली अपनायी है। इसी शैली का अनुसरण वैदिक और बौद्ध-साहित्य में किया गया है, जो अनेक ग्रंथों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। किन्तु विस्तारभय से उस सबका यहाँ उल्लेख किया जाना संभव नहीं है।

अनुयोगद्वारसूत्र के कर्त्ता

इस सूत्र के कर्त्ता स्थविर आर्यरक्षित माने जाते हैं। यह इस आधार पर माना जाता है कि आर्य वज्र तक तो जिस किसी भी सूत्र का अनुयोग करना होता उसको चरणकरणानुयोग आदि चारों अनुयोग सम्बन्धी मानकर व्याख्या की जाती थी, परन्तु समयपरिवर्तन को लक्ष्य में लेकर दीर्घद्रष्टा स्थविर आर्यरक्षित ने अनुयोग का पार्थक्य किया, तब से किसी भी सूत्र का सम्बन्ध चारों अनुयोगों में से किसी एक अनुयोग से जोड़ कर अर्थ किया जाने लगा। इसीलिए इसके कर्त्ता स्थविर आर्यरक्षित माने जाते हैं। लेकिन आचारांग आदि आगमों के परिचय का जैसा पूर्व में उल्लेख किया गया है, उससे स्पष्ट है कि इसके मूल उपदेष्टा श्रमण भगवान् महावीर हैं और उसी आधार से स्थविर आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वारसूत्र का निर्यूहण (दोहन) किया। इसीलिए कर्त्ता के रूप में स्थविर आर्यरक्षित का पुण्य-स्मरण किया जाने लगा।

उपसंहार

स्वकथ्य का अंतिम चरण उपसंहार है। इसमें पूर्वोक्त संक्षिप्त विचारों का संक्षेप में दुहराना योग्य नहीं है। अतः सर्वप्रथम स्व. विद्वद्वर्य युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म. का एवं उनकी दूरदर्शी श्लाघनीय प्रतिभा का अभिनंदन करता हूँ कि उनकी प्रेरणा से आगम वाङ्मय सर्वजनसुलभ हो सका। मुझे हर्ष है कि समिति के माध्यम से प्रस्तुत अनुयोगद्वारसूत्र द्वारा इस प्रकाशन में सहयोग देने की आकांक्षा की पूर्ति का अवसर प्राप्त हुआ।

समिति के प्रबन्धकों को साधुवाद है कि स्वर्गीय युवाचार्यश्री द्वारा निर्धारित प्रणाली के अनुसार वे आगम-साहित्य के प्रकाशन में संलग्न हैं। वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध पं. श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के प्रति प्रमोदभाव व्यक्त करता हूँ कि वे अपनी विद्वत्ता को सुनियोजित कर आगमों को जनगम्य बनाने के लिये प्रयत्नशील हैं।

अंत में मैं अपने सहयोगी श्री देवकुमारजी जैन की आत्मीयता का स्मरण करता हूँ कि इस जटिल माने-जाने वाले सूत्र को सुसंपादित करने एवं सुगम से सुगमतर बनाने में अपनी योग्यता, बुद्धि का पूरा-पूरा योग दिया है। उनके श्रम का सुफल है कि शास्त्रगत भावों को इतना स्पष्ट कर दिया कि वे सर्वजनहिताय सरल, सुबोध हो सके।

इसी संदर्भ में एक बात और स्पष्ट कर देता हूँ कि शास्त्रगत भावों को स्पष्ट करने में पूर्ण विवेक रखा है, फिर भी कहीं स्खलना हो गई हो तो पाठक क्षन्तव्य मानकर संशोधित और सूचित करने का लक्ष्य रखेंगे। किं बहुना!

अहमदनगर —केवल मुनि
१५-४-१९८७

विषयानुक्रम

आवश्यकनिरूपण

श्रुतनिरूपण

स्कन्धनिरूपण

उपक्रमनिरूपण

आनुपूर्वीनिरूपण

नामाधिकार

प्रमाणाधिकार

वक्तव्यतानिरूपण

अर्थाधिकारनिरूपण

समवतारनिरूपण

निक्षेपाधिकार

अनुगमनिरूपण

नयनिरूपण

परिशिष्ट

अनुयोगद्वार : एक समीक्षात्मक अध्ययन

प्रस्तावना

अध्यात्म और विज्ञान

अतीत काल से ही मानवजीवन के साथ अध्यात्म और विज्ञान का अत्यन्त गहरा सम्बन्ध रहा है। ये दोनों सत्य के अन्तस्तल को समुद्घाटित करने वाली दिव्य और भव्य दृष्टियाँ हैं। अध्यात्म आत्मा का विज्ञान है। वह आत्मा के शुद्ध और अशुद्ध स्वरूप का, वंध और मोक्ष का, शुभ और अशुभ परिणितियों का, ह्रास और विकास का गम्भीर व गहन विश्लेषण है तो विज्ञान भौतिक प्रकृति की गुरु गम्भीर ग्रन्थियों को सुलझाने का महत्त्वपूर्ण साधन है। उसने मानव के तन, मन और इन्द्रियों के संरक्षण व संपोषण के लिए विविध आयाम उपस्थित किए हैं। जीवन की अखण्ड सत्ता के साथ दोनों का मधुर सम्बन्ध है। अध्यात्म जीवन की अन्तरंग धारा का प्रतिनिधित्व करता है तो विज्ञान बहिरंग धारा का नेतृत्व करता है।

अध्यात्म का विषय है—जीवन के अन्त:करण, अन्तश्चैतन्य एवं आत्मतत्त्व का विवेचन व विश्लेषण करना। आत्मा के विशोधन व ऊर्ध्वीकरण करने की प्रक्रिया प्रस्तुत करना। जीव और जगत्, आत्मा और परमात्मा, व्यक्ति और समाज प्रभृति के शाश्वत तथ्यपरक सत्य का दिग्दर्शन करना। जब कि विज्ञान का क्षेत्र है प्रकृति के अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक का प्रयोगात्मक अनुसन्धान करना। अध्यात्म योग है तो विज्ञान प्रयोग है। अध्यात्म मन, वचन और काया की प्रशस्त शक्तियों को केन्द्रित कर मानव-चेतना को विकसित करने वाली निर्भय और निर्द्वन्द्व बनाने की दिव्य व भव्य दृष्टि प्रदान करता है। वह विवेक के तृतीय नेत्र को उद्घाटित कर काम और विकारों को भस्म करता है। जब कि विज्ञान नित्य नई भौतिक सुख-सुविधाओं को समुपलब्ध कराने में अपूर्व सहयोग देता है। विज्ञान के फलस्वरूप ही मानव अनन्त आकाश में पक्षियों की भाँति उड़ानें भरने लगा है, मछलियों की भाँति अनन्त सागर की गहराई में जाने लगा है और पृथ्वी पर द्रुतगामी साधनों से गमन करने लगा है। विद्युत् के दिव्य चमत्कारों से कौन चमत्कृत नहीं है!

अध्यात्म अन्तर्मुख है तो विज्ञान बहिर्मुख है। अध्यात्म अन्तरंग जीवन को सजाता है, संवारता है, तो विज्ञान बहिरंग जीवन को विकसित करता है। बहिरंग जीवन में किसी भी प्रकार की विशृंखलता नहीं आये, द्वन्द्व समुत्पन्न न हों, इसलिए अन्तरंग दृष्टि की आवश्यकता है एवं अन्तरंग जीवन को समाधियुक्त बनाने के लिए बहिरंग का सहयोग भी अपेक्षित है। बिना बहिरंग सहयोग के अन्तरंग जीवन विकसित नहीं हो सकता। मूलत: अध्यात्म और विज्ञान परस्पर विरोधी नहीं हैं। उनमें किसी प्रकार का विरोध और द्वन्द्व नहीं है। वे एक-दूसरे के पूरक हैं, जीवन की अखण्डता के लिए दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है।

अध्यात्म का प्रतिनिधि आगम

जैन-आगम आध्यात्मिक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले चिन्तन का अद्‌भुत व अनूठा संग्रह है, संकलन है। आगम शब्द बहुत ही पवित्र और व्यापक अर्थगरिमा को अपने-आप में समेटे हुए है। स्थूल दृष्टि से भले ही आगम और ग्रन्थ पर्यायवाची शब्द रहे हों पर दोनों में गहरा अन्तर है। आगम 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की साक्षात् अनुभूति की अभिव्यक्ति है। वह अनन्त सत्य के द्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग तीर्थंकरों की विमल वाणी का संकलन-आकलन है। जबकि ग्रन्थों व पुस्तकों के लिए यह निश्चित नियम नहीं है। वह राग-द्वेष के दलदल में फँसे हुए विषय-कषाय की आग में झुलसते हुए, विकार और वासनाओं से संत्रस्त व्यक्ति के विचारों का संग्रह भी हो सकता है। उसमें कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान भी हो सकती है पर वह केवल वाणी का विलास है, शब्दों का आडम्बर है, किन्तु उसमें अन्तरंग की गहराई नहीं है।

जैन आगम में सत्य का साक्षात् दर्शन है, जो अखण्ड है, सम्पूर्ण व समग्र मानवचेतना को संस्पर्श करता है। सत्य के साथ शिव का मधुर सम्बन्ध होने से वह सुन्दर ही नहीं, अतिसुन्दर है। वह आर्षवाणी तीर्थंकर या ऋषियों की वाणी है। यास्क ने ऋषि की परिभाषा करते हुए लिखा है—'जो सत्य का साक्षात् द्रष्टा है, वह ऋषि है'।[1] प्रत्येक साधक ऋषि नहीं बन सकता, ऋषि वह है जिसने तीक्ष्ण प्रज्ञा, तर्कशुद्ध ज्ञान से सत्य की स्पष्ट अनुभूति की है।[2] यही कारण है कि वेदों में ऋषि को मंत्रद्रष्टा कहा है। मंत्रद्रष्टा का अर्थ है—साक्षात् सत्यानुभूति पर आधृत शिवत्व का प्रतिपादन करने वाला सर्वथा मौलिक ज्ञान। वह आत्मा पर आई हुई विभाव परिणतियों के कालुष्य को दूर कर केवलज्ञान और केवलदर्शन से स्व-स्वरूप को आलोकित करता है। जो यथार्थ सत्य का परिज्ञान करा सकता है, आत्मा का पूर्णतया परिबोध करा सके, जिससे आत्मा पर अनुशासन किया जा सके, वह आगम है। उसे दूसरे शब्दों में शास्त्र और सूत्र भी कह सकते हैं।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में लिखा है—जिसके द्वारा यथार्थ सत्य रूप ज्ञेय का, आत्मा का परिबोध हो एवं आत्मा का अनुशासन किया जा सके, वह शास्त्र है।[3] शास्त्र शब्द शास् धातु से निर्मित हुआ है, जिसका अर्थ है—शासन शिक्षण और उद्‌बोधन। जिस तत्त्वज्ञान से आत्मा अनुशासित हो, उद्‌बुद्ध हो, वह शास्त्र है। जिससे आत्मा जागृत होकर तप, क्षमा एवं अहिंसा की साधना में प्रवृत्त होती है, वह शास्त्र है। और जो केवल गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वी के द्वारा कहा गया है, वह सूत्र है।[4] दूसरे शब्दों में जो ग्रन्थ प्रमाण से अल्प अर्थ की अपेक्षा महान्, बत्तीस दोषों से रहित, लक्षण तथा आठ गुणों से सम्पन्न होता हुआ सारवान् अनुयोगों से सहित, व्याकरणविहित, निपातों से रहित, अनिंद्य और सर्वज्ञ कथित है, वह सूत्र है।[5]

---

१. ऋषिदर्शनात्। —निरुक्त २।११

२. साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः। —निरुक्त १।२०

३. 'सासिज्जए तेण तहिं वा नेयमावावतो सत्थं'
टीका—शासु अनुशिष्टौ शास्यते ज्ञेयमात्मा वाऽनेनास्मादस्मिन्निति वा शास्त्रम्। —विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १३८४

४. सुत्तं गणधरकधिदं तहेव पत्तेयबुद्धकधिदं च।
सुदकेवलिणा कधिदं अभिण्णदसपुव्वि कधिदं च॥ —मूलाचार, ५।८०

५. अप्पग्गंथ महत्थं बत्तीसा दोसविरहियं जं च।
लक्खणजुत्तं सुत्तं अट्ठेहि गुणेहि उववेयं।
अप्पक्खरमसंदिद्धं च सारवं विस्सओ मुहं।
अत्थोभमणवज्जं च सुत्तं सव्वण्णुभासियं॥ —आव. निर्युक्ति, ८८०, ८८६

इस सन्दर्भ में यह समझना आवश्यक है कि आगम कहो, शास्त्र कहो या सूत्र कहो, सभी का एक ही प्रयोजन है। वे प्राणियों के अन्तर्मानस को विशुद्ध बनाते हैं। इसलिए आचार्य हरिभद्र ने कहा—जैसे जल वस्त्र की मलिनता का प्रक्षालन करके उसको उज्ज्वल बना देता है, वैसे ही शास्त्र भी मानव के अन्तःकरण में स्थित काम, क्रोध आदि कालुष्य का प्रक्षालन करके उसे पवित्र और निर्मल बना देता है।[6] जिससे आत्मा का सम्यक् बोध हो, आत्मा अहिंसा संयम और तप साधना के द्वारा पवित्रता की ओर गति करे, वह तत्त्वज्ञान शास्त्र है, आगम है।

आगम भारतीय साहित्य की मूल्यवान् निधि है। डॉ. हरमन जेकोबी, डॉ. शुब्रिंग प्रभृति अनेक पाश्चात्य मूर्धन्य मनीषियों ने जैन-आगम साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन कर इस सत्य-तथ्य को स्वीकार किया है कि विश्व को अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद के द्वारा सर्वधर्म-समन्वय का पुनीत पाठ पढ़ाने वाला यह सर्वश्रेष्ठतम साहित्य है।

आगम साहित्य बहुत ही विराट् और व्यापक है। समय-समय पर उसके वर्गीकरण किये गए हैं। प्रथम वर्गीकरण पूर्व और अंग के रूप में हुआ।[7] द्वितीय वर्गीकरण अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के रूप में किया गया।[8] तृतीय वर्गीकरण आर्य रक्षित ने अनुयोगों के आधार पर किया है। उन्होंने सम्पूर्ण आगम साहित्य को चार अनुयोगों में बाँटा है।[9]

अनुयोग शब्द पर चिन्तन करते हुए प्राचीन साहित्य में लिखा है—'अणुओयणमणुयोगो'—अनुयोजन को अनुयोग कहा है।[10] 'अनुयोजन' यहाँ पर जोड़ने व संयुक्त करने के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। जिससे एक दूसरे को सम्बन्धित किया जा सके।[11] इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है—जो भगवत् कथन से संयोजित करता है, वह 'अनुयोग' है। अभिधानराजेन्द्र कोष में लिखा है—लघु-सूत्र के साथ महान्-अर्थ का योग करना अनुयोग है।[12]

अनुयोग एक चिन्तन

अनुयोग शब्द 'अनु' और 'योग' के संयोग से निर्मित हुआ है। अनु उपसर्ग है। यह अनुकूल अर्थवाचक है। सूत्र के साथ अनुकूल, अनुरूप या सुसंगत संयोग अनुयोग है। बृहत्कल्प[13] में लिखा है कि अनु का अर्थ

---

६. मलिनस्य यथात्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम्।
अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥ —योगबिन्दु, प्रकरण २।९

७. समवायांग १४।१३६

८. अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं तं जहा—अंगपविट्ठं अंगबाहिरं च। —नन्दी, सूत्र ४३

९. (क) आवश्यक निर्युक्ति, ३६३-३७७
(ख) विशेषावश्यकभाष्य २२८४-२२९५
(ग) दशवैकालिक निर्युक्ति, ३ टी.

१०. "युज्यते संबध्यते भगवदुक्तार्थेन सहेति योगः"

११. "अणुसूत्रं महानर्थस्ततो महतोर्थस्याणुना सूत्रेण योगो अनुयोगः"

१२. देखो 'अणुओग' शब्द, पृ. ३४०

१३. अणुणा जोगो अणुजोगो अणु पच्छाभावओ य थेवे य।
जम्हा पच्छाऽभिहियं सुत्तं थोवं च तेणाणु ॥ —बृहत्कल्प १, गा. १९०

पश्चाद्भाव या स्तोक है। उस दृष्टि से अर्थ के पश्चात् जायमान या स्तोक सूत्र के साथ जो योग है, वह अनुयोग है। आचार्य मलयगिरि[14] के अनुसार अर्थ के साथ सूत्र की जो अनुकूल योजना की जाती है, उसका नाम अनुयोग है। अथवा सूत्र का अपने अभिधेय में जो योग होता है, वह अनुयोग है। यही बात आचार्य हरिभद्र,[15] आचार्य अभयदेव,[16] आचार्य शान्तिचन्द्र[17] ने लिखी है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का भी यही अभिमत है।[18]

जैन आगम साहित्य में अनुयोग के विविध भेद-प्रभेद हैं। नन्दी में आचार्य देववाचक ने अनुयोग के दो विभाग किये हैं। वहाँ पर दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका ये पांच भेद किये गये हैं।[19] उसमें 'अनुयोग' चतुर्थ है। अनुयोग के 'मूल प्रथमानुयोग' और 'गण्डिकानुयोग' ये दो भेद किए गये हैं।[20]

मूल प्रथमानुयोग क्या है? इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए आचार्य ने कहा—मूल प्रथमानुयोग में अर्हन् भगवान् को सम्यक्त्वप्राप्ति के भव से पूर्वभव, देवलोकगमन, आयुष्य, च्यवन, जन्म, अभिषेक, राज्यश्री, प्रव्रज्या, तप, केवलज्ञान की उत्पत्ति, तीर्थप्रवर्तन, शिष्य-समुदाय, गण-गणधर, आर्यिकाएँ, प्रवर्तिनी, चतुर्विध संघ का परिमाण, सामान्य केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, सम्यक् श्रुतज्ञानी, वादी, अनुत्तर विमान में गये हुए मुनि, उत्तर वैक्रियधारी मुनि, सिद्ध अवस्था प्राप्त मुनि, पादपोपगमन अनशन को प्राप्त कर जो जिस स्थान पर जितने भक्त का अनशन कर अन्तकृत् हुए। अज्ञान-रज से विप्रमुक्त हो जो मुनिवर अनुत्तर सिद्धि मार्ग को प्राप्त हुए उनका वर्णन है। इसके अतिरिक्त इन्हीं प्रकार के अन्य भाव, जो अनुयोग में कथित हैं, वह 'प्रथमानुयोग' है। दूसरे शब्दों में यों यह सकते हैं—'प्रथमानुयोग में सम्यक्त्वप्राप्ति से लेकर तीर्थप्रवर्तन और मोक्षगमन तक का वर्णन है।[21]

दूसरा गण्डिकानुयोग है। गण्डिका का अर्थ है—समान वक्तव्यता से अर्थाधिकार का अनुसरण करने वाली वाक्यपद्धति; और अनुयोग अर्थात्—अर्थ प्रकट करने की विधि। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है—इक्षु के मध्य भाग की गण्डिका सदृश एकार्थ का अधिकार यानी ग्रन्थपद्धति। गण्डिकानुयोग के अनेक प्रकार हैं—[22]

---

१४. सूत्रस्यार्थेन सहानुकूलं योजनमनुयोगः।
अथवा अभिधेये व्यापारः सूत्रस्य योगः।
अनुकूलोऽनुरूपो वा योगो अनुयोगः।
यथा घटशब्देन घटस्य प्रतिपादनमिति॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, मलय. वृ. नि. १२७

१५. आवश्यकनिर्युक्तिहरिभद्रियावृत्ति १३०

१६. (क) समवायांग, अभयदेववृत्ति १४७
(ख) स्थानांग, ४।१।२६२, पृ. २००

१७. जम्बूदीपप्रज्ञप्ति—प्रमेयरत्नमंजूषा वृत्ति, पृ. ४-५

१८. अणुजोयणमणुजोगो सुयस्स नियएण जमभिधेयेणं।
वावारो वा जोगो जो अणुरूवोऽणुकूलो वा॥ —विशेषावश्यकभाष्य, गा. १३८३

१९. परिक्कमे, सुत्ताइं, पुव्वगए, अणुयोगे, चूलिया। —श्रीमलयगिरीयानंदीवृत्ति, पृ. २३५

२०. पढमाणुयोगे, गंडियाणुयोगे। —श्रीनन्दीचूर्णी मूल, पृ. ५८

२१. इह मूलभावस्तु तीर्थंकरः तस्य प्रथमं पूर्वभवादि अथवा मूलस्स पढमाणुयोगे एत्थतित्थगरस्स अतीतभव-परियाय परिसत्तई भाणियव्वा। श्रीनंदीवृत्ति चूर्णी, पृ. ५८

२२. से किं तं गंडियाणुयोगे? गंडियाणुयोगे अणेगविहे पण्णत्ते.... —श्रीसमवायांगवृत्ति, पृ. १२०

(१) कुलकर गण्डिकानुयोग—विमलवाहन आदि कुलकरों की जीवनियाँ।
(२) तीर्थंकर गण्डिकानुयोग—तीर्थंकर प्रभु की जीवनियाँ।
(३) गणधर गण्डिकानुयोग—गणधरों की जीवनियाँ।
(४) चक्रवर्ती गण्डिकानुयोग—भरतादि चक्रवर्ती राजाओं की जीवनियाँ।
(५) दशार्ह गण्डिकानुयोग—समुद्रविजय आदि दशार्हों की जीवनियाँ।
(६) बलदेव गण्डिकानुयोग—राम आदि बलदेवों की जीवनियाँ।
(७) वासुदेव गण्डिकानुयोग—कृष्ण आदि वासुदेवों की जीवनियाँ।
(८) हरिवंश गण्डिकानुयोग—हरिवंश में उत्पन्न महापुरुषों की जीवनियाँ।
(९) भद्रबाहु गण्डिकानुयोग—भद्रबाहु स्वामी की जीवनी।
(१०) तपःकर्म गण्डिकानुयोग—तपस्या के विविध रूपों का वर्णन।
(११) चित्रान्तर गण्डिकानुयोग—भगवान् ऋषभ तथा अजित के अन्तर समय में उनके वंश के सिद्ध या सर्वार्थसिद्ध में गये हैं, उनका वर्णन।
(१२) उत्सर्पिणी गण्डिकानुयोग—उत्सर्पिणी काल का विस्तृत वर्णन।
(१३) अवसर्पिणी गण्डिकानुयोग—अवसर्पिणी काल का विस्तृत वर्णन।

देव, मानव, तिर्यंच, और नरक गति में गमन करना, विविध प्रकार से पर्यटन करना आदि का अनुयोग 'गण्डिकानुयोग' में है। जैसे—वैदिकपरम्परा में विशिष्ट व्यक्तियों का वर्णन पुराण साहित्य में हुआ है, वैसे ही जैनपरम्परा में महापुरुषों का वर्णन गण्डिकानुयोग में हुआ है। गण्डिकानुयोग की रचना समय-समय पर मूर्धन्य मनीषी तथा आचार्यों ने की। पंचकल्पचूर्णि[२३] के अनुसार कालकाचार्य ने गण्डिकाएँ रची थीं, पर उन गण्डिकाओं को संघ ने स्वीकार नहीं किया। आचार्य ने संघ से निवेदन किया—मेरी गण्डिकाएँ क्यों स्वीकृत नहीं की गई हैं? उन गण्डिकाओं में रही हुई त्रुटियाँ बतायी जायें, जिससे उनका परिष्कार किया जा सके। संघ के बहुश्रुत आचार्यों ने उन गण्डिकाओं का गहराई से अध्ययन किया और उन्होंने उन पर प्रामाणिकता की मुद्रा लगा दी। इससे यह स्पष्ट है—कालकाचार्य जैसे प्रकृष्ट प्रतिभासम्पन्न आचार्य की गण्डिकाएँ भी संघ द्वारा स्वीकृत होने पर ही मान्य की जाती थीं। इससे गण्डिकाओं की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

अनुयोग का अर्थ व्याख्या है। व्याख्येय वस्तु के आधार पर अनुयोग के चार विभाग किये गये हैं—चरण-करणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग, और द्रव्यानुयोग।[२४] दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थ द्रव्यसंग्रह की टीका[२५] में, पंचास्तिकाय[२६] में, तत्त्वार्थवृत्ति[२७] में, इन अनुयोगों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—प्रथमानुयोग,

---

२३. पञ्चकल्पचूर्णि। —कालकाचार्य प्रकरण, पृ. २३-२४

२४. चत्तारिउ अणुओगा, चरणे धम्म गणियाणुओगे य।
दवियाऽणुओगे य तहा, अहकम्मं ते महड्ढीया॥ —अभिधान राजेन्द्रकोष, प्र. भाग, पृ. २५६

२५. प्रथमानुयोगो....चरणानुयोगो....करणानुयोगो....द्रव्यानुयोगो इत्युक्तलक्षणानुयोगचतुष्टयरूपे चतुर्विधं श्रुतज्ञानं ज्ञातव्यम्। —द्रव्यसंग्रह टीका, ४२।१८२

२६. पंचास्तिकाय, १७३

२७. तत्त्वार्थवृत्ति, २५४।१५

चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग। श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों में नाम और कर्म में कुछ अन्तर अवश्य है पर भाव सभी का एक-सा है।

श्वेताम्बर दृष्टि से सर्वप्रथम चरणानुयोग है।[28] रत्नकरण्डश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र[29] ने चरणानुयोग की परिभाषा करते हुए लिखा है—गृहस्थ और मुनियों के चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के विधान करने वाले अनुयोग को चरणानुयोग कहते हैं। द्रव्यसंग्रह की टीका में लिखा है—उपासकाध्ययन आदि में श्रावक का धर्म और मूलाचार, भगवती आराधना आदि में यति का धर्म जहाँ मुख्यता से कहा गया है, वह चरणानुयोग है।[30] बृहद्द्रव्यसंग्रह, अनगारधर्मामृत[31] टीका आदि में भी चरणानुयोग की परिभाषा इसी प्रकार मिलती है। आचार सम्बन्धी साहित्य चरणानुयोग में आता है।

जिनदासगणि[32] महत्तर ने धर्मकथानुयोग की परिभाषा करते हुए लिखा है—सर्वज्ञोक्त अहिंसा आदि स्वरूप धर्म का जो कथन किया जाता है, अथवा अनुयोग के विचार से जो धर्मसम्बन्धी कथा कही जाती है, वह धर्मकथा है। आचार्य हरिभद्र[33] ने भी अनुयोगद्वार की टीका में अहिंसा लक्षणयुक्त धर्म का जो आख्यान है, उसे धर्मकथा कहा है। महाकवि पुष्पदन्त[34] ने भी लिखा है—जो अभ्युदय, निःश्रेयस् की संसिद्धि करता है और सद्धर्म से जो निबद्ध है, वह सद्धर्मकथा है। धर्मकथानुयोग को ही दिगम्बर परम्परा में प्रथमानुयोग कहा है। रत्नकरण्डश्रावकाचार[35] में लिखा है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का परमार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान है, जिसमें एक पुरुष या त्रिषष्टि श्लाघनीय पुरुषों के पवित्र-चरित्र में रत्नत्रय और ध्यान का निरूपण है, वह प्रथमानुयोग है।

गणितानुयोग, गणित के माध्यम से जहाँ विषय को स्पष्ट किया जाता है, दिगम्बर परम्परा में इसके स्थान पर करणानुयोग यह नाम प्रचलित है। करणानुयोग का अर्थ है—लोक-अलोक के विभाग को, युगों

---

२८. (क) आवश्यकनिर्युक्ति ३६३-७७७
(ख) विशेषावश्यकभाष्य २२८४-२२९५

२९. गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्ति-वृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥ —रत्नकरण्ड. ४५

३०. द्रव्यसंग्रह टीका, ४२।१८२।९

३१. सकलेतरचारित्र-जन्म रक्षा विवृद्धिकृत्।
विचारणीयश्चरणानुयोगश्चरणादृतैः॥ —अनगारधर्मामृत, ३।११ पं. आशाधरजी

३२. धम्मकहा नाम जो अहिंसादिलक्खणं सव्वण्णुपणीयं
धम्मं अणुयोगं वा कहेइ एसा धम्मकहा॥ —दशवैकालिकचूर्णि, पृ. २९

३३. अहिंसालक्षणधर्मान्वाख्यानं धर्मकथा। —अनुयोगद्वार टीका, पृ. १०

३४. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थ-संसिद्धिरंजसा।
सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता॥ —महापुराण, महाकवि पुष्पदंत, १।१२०

३५. प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः॥ —रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ४३

३६. लोकालोक-विभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथा मतिरवैति करणानुयोगं च॥ —रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ४४

के परिवर्तन को तथा चारों गतियों को दर्पण के सदृश प्रकट करने वाले सम्यग्ज्ञान को करणानुयोग कहते हैं।[३६] करण शब्द के दो अर्थ हैं—(१) परिणाम और (२) गणित के सूत्र।

द्रव्यानुयोग—जो श्रुतज्ञान के प्रकाश में जीव-अजीव, पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष आदि तत्त्वों को दीपक के सदृश प्रकट करता है, वह द्रव्यानुयोग है।[३७] जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में लिखा है[३८]—द्रव्य का द्रव्य में, द्रव्य के द्वारा अथवा द्रव्यहेतुक जो अनुयोग होता है, उसका नाम द्रव्यानुयोग है। इसके अतिरिक्त द्रव्य का पर्याय के साथ अथवा द्रव्य का द्रव्य के ही साथ जो योग (सम्बन्ध) होता है, वह भी द्रव्यानुयोग है। इसी तरह बहुवचन—द्रव्यों का द्रव्यों में भी समझना चाहिए।

आगम-साहित्य में कहीं संक्षेप से और कहीं विस्तार से इन अनुयोगों का वर्णन है। आर्य वज्र तक आगमों में अनुयोगात्मक दृष्टि से पृथक्ता नहीं थी। प्रत्येक सूत्र की चारों अनुयोगों द्वारा व्याख्या की जाती थी। आचार्य भद्रबाहु[३९] ने इस सम्बन्ध में लिखा है—कालिक श्रुत अनुयोगात्मक व्याख्या की दृष्टि से अपृथक् थे। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं—उनमें चरण-करणानुयोग प्रभृति अनुयोग चतुष्टय के रूप में अविभक्तता थी। आर्य वज्र के पश्चात् कालिक सूत्र और दृष्टिवाद की अनुयोगात्मक पृथक्ता (विभक्तता) की गई।

आचार्य मलयगिरि[४०] ने प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—आर्य वज्र तक श्रमण तीक्ष्ण बुद्धि के धनी थे, अतः अनुयोग की दृष्टि से अविभक्त रूप से व्याख्या प्रचलित थी। प्रत्येक सूत्र में चरण-करणानुयोग आदि का अविभागपूर्वक वर्तन था। मुख्यता की दृष्टि से निर्युक्तिकार ने यहाँ पर कालिक श्रुत को ग्रहण किया है अन्यथा अनुयोगों का कालिक-उत्कालिक आदि सभी में अविभाग था।[४१]

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने इस सम्बन्ध में विश्लेषण करते हुए लिखा है—आर्य वज्र तक जब अनुयोग अपृथक् थे तब एक ही सूत्र की चारों अनुयोगों के रूप में व्याख्या होती थी।

---

३७. जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोग-दीपः श्रुतविद्या लोकमातनुते॥ —रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ४६

३८. दव्वस्स जोऽणुओगो दव्वे दव्वेण दव्वहेऊ वा।
दव्वस्स पज्जवेण व जोगो, दव्वेण वा जोगो॥
बहुवयणओऽवि एवं नेओ जो वा कहे अणुवउत्तो।
दव्वाणुओग एसो······ —विशेषावश्यकभाष्य, १३९८-९९

३९. जावंतं अज्जवइरा अपुहुत्तं कालिआणुओगस्स।
तेणारेण पुहुत्तं कालिअसुइ दिट्ठिवाए अ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, गाथा १६३, पृ. ३८३

४०. यावदार्यवज्रा—आर्यवज्रस्वामिनो मुखो महामतयपस्तावत्कालिकानुयोगस्य कालिकश्रुतव्याख्यानस्यापृथक्त्वं-प्रतिसूत्रं चरण करणानुयोगादीनामविभागेन वर्तनमासीत्, तदासाधूनां तीक्ष्णप्रज्ञत्वात्। कालिकग्रहणं प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यथा सर्वानुयोगस्याऽपृथक्त्वमासीत्।
—आवश्यकनिर्युक्ति, पृ. ३८३ प्रका. आगमोदय समिति

४१. अपुहुत्ते अणिओगो चत्तारि दुवार भासए एगो।
पुहुत्ताणुओग करणे ते अत्थ तओवि वोच्छिन्ना॥
किं वइरेहिं पुहुत्तं कयमह तदणंतरेहिं भणियम्मि।
तदणंतरेहिं तदभिहिय गहिय सुत्तत्थ सारेहिं॥ —विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २२८६-२२८७

अनुयोगों का विभाग कर दिया जाय, उनकी पृथक्-पृथक् छँटनी कर दी जाय तो वहाँ उस सूत्र में चारों अनुयोग व्यवच्छिन्न हो जायेंगे। इन प्रश्न का समाधान करते हुए भाष्यकार ने लिखा है, जहाँ किसी एक सूत्र की व्याख्या चारों अनुयोगों में होती थी, वहाँ चारों में से अमुक अनुयोग के आधार पर व्याख्या करने का यहाँ पर अभिप्राय है।

आर्यरक्षित से पूर्व अपृथक्त्वानुयोग प्रचलित था, उसमें प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से की जाती थी। यह व्याख्यापद्धति बहुत ही क्लिष्ट और स्मृति की तीक्ष्णता पर अवलम्बित थी। आर्यरक्षित के १. दुर्वलिका पुष्यमित्र, २. फल्गुरक्षित, ३. विन्ध्य और ४. गोष्ठामाहिल ये चार प्रमुख शिष्य थे। विन्ध्यमुनि महान् प्रतिभासम्पन्न शीघ्रग्राही मनीषा के धनी थे। आर्यरक्षित शिष्यमण्डली को आगम वाचना देते, उसे विन्ध्यमुनि उसी क्षण ग्रहण कर लेते थे। अतः उनके पास अग्रिम अध्ययन के लिए बहुत-सा समय अवशिष्ट रहता। उन्होंने आर्यरक्षित से प्रार्थना की—मेरे लिए अध्ययन की पृथक् व्यवस्था करें। आचार्य ने प्रस्तुत महनीय कार्य के लिए महामेधावी दुर्वलिका पुष्यमित्र को नियुक्त किया। अध्यापनरत दुर्वलिका पुष्यमित्र ने कुछ समय के पश्चात् आर्यरक्षित से निवेदन किया—आर्य विन्ध्य को आगम वाचना देने से मेरे पठित पाठ के पुनरावर्तन में बाधा उपस्थित होती है। इस प्रकार की व्यवस्था से मेरी अधीत पूर्वज्ञान की राशि विस्मृत हो जायेगी। आर्यरक्षित ने सोचा—महामेधावी शिष्य की भी यह स्थिति है तो आगमज्ञान का सुरक्षित रहना बहुत ही कठिन है। दूरदर्शी आर्यरक्षित ने गम्भीरता से चिन्तन कर जटिल व्यवस्था को सरल बनाने हेतु आगम-अध्ययन क्रम को चार अनुयोगों में विभक्त किया।[४२]

यह महत्त्वपूर्ण कार्य दशपुर में वीरनिर्वाण सं. ५९२, वि. सं. १२२ के आसपास सम्पन्न हुआ था। यह वर्गीकरण विषय सादृश्य की दृष्टि से किया गया है। प्रस्तुत वर्गीकरण करने के बावजूद भी यह भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती कि अन्य आगमों में अन्य अनुयोगों का वर्णन नहीं है। उदाहरण के रूप में, उत्तराध्ययनसूत्र में धर्मकथा के अतिरिक्त दार्शनिक तथ्य भी पर्याप्त मात्रा में हैं। भगवतीसूत्र तो अनेक विषयों का विराट् सागर है। आचारांग आदि में भी अनेक विषयों की चर्चाएँ हैं। कुछ आगमों को छोड़कर अन्य आगमों में चारों अनुयोगों का सम्मिश्रण है। यह जो वर्गीकरण हुआ है वह स्थूल दृष्टि को लेकर हुआ है। व्याख्याक्रम की दृष्टि से यह वर्गीकरण अपृथक्त्वानुयोग और पृथक्त्वानुयोग के रूप में दो प्रकार का है।

हम यहाँ पर चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग, द्रव्यानुयोग और धर्मकथानुयोग पर चिन्तन न कर केवल अनुयोगद्वारसूत्र पर चिन्तन करेंगे। मूल आगमों में नन्दी के पश्चात् अनुयोगद्वार का नाम आता है। नन्दी और अनुयोगद्वार ये दोनों आगम चूलिका सूत्र के नाम से पहचाने जाते हैं। चूलिका शब्द का प्रयोग उन अध्ययनों या ग्रन्थों के लिए होता है जिनमें अवशिष्ट विषयों का वर्णन या वर्णित विषयों का स्पष्टीकरण किया गया हो।

---

४२. (क) देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खियज्जेहिं।
जुगमासज्ज विभत्तो, अणुयोगो तो कओ चउहा॥
चत्तारि अणुयोग चरणधम्मगणियाणुयोग य।
दव्वियणुयोगे तहा जहक्कमं महिड्ढिया॥ —अभिधानराजेन्द्रकोशः

(ख) कालिय सुयं च इसिभासिआइं तइओ अ सूरपन्नत्ती।
सव्वो अ दिट्ठिवाओ चउत्थओ होइ अणुओगो॥ —आवश्यकनिर्युक्ति—१२४

दशवैकालिक और महानिशीथ के अन्त में भी चूलिकाएँ-चूलाएँ-चूड़ाएँ प्राप्त होती हैं। चूलिकाओं को वर्तमान युग की भाषा में ग्रन्थ का परिशिष्ट कह सकते हैं। नन्दी और अनुयोगद्वार भी आगम साहित्य के अध्ययन के लिए परिशिष्ट का कार्य करते हैं। जैसे पांच ज्ञानरूप नन्दी मंगलस्वरूप है वैसे ही अनुयोगद्वारसूत्र भी समग्र आगमों को और उसकी व्याख्याओं को समझने में कुंजी सदृश है। ये दोनों आगम एक दूसरे के परिपूरक हैं। आगमों के वर्गीकरण में इनका स्थान चूलिका में है। जैसे भव्य मन्दिर शिखर से अधिक शोभा पाता है वैसे ही आगम-मन्दिर भी नन्दी और अनुयोगद्वार रूप शिखर से अधिक जगमगाता है।

हम पूर्व पंक्तियों में यह बता चुके हैं अनुयोग का अर्थ व्याख्या या विवेचन है। भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक-निर्युक्ति में अनुयोग के अनुयोग-नियोग, भाषा-विभाषा और वार्तिक ये पर्याय बताये हैं।[४३] जिनभद्रगणि क्षमा-श्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में[४४] संघदासगणि ने बृहत्कल्पभाष्य[४५] में इन सभी पर्यायों का विवरण प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि जो पर्याय दिये गये हैं, वे सभी पर्याय पूर्णरूप से एकार्थक नहीं हैं, किन्तु अनुयोगद्वार के जो विविध प्रकार हैं, उन्हें ही पर्याय लिखने में आया है।[४६]

आगमप्रभावक श्री पुण्यविजयजी महाराज ने अपनी अनुयोगद्वार की विस्तृत प्रस्तावना में अंग साहित्य में अनुयोग की चर्चा कहाँ-कहाँ पर आई है, इस पर प्रमाण पुरस्सर प्रकाश डाला है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि श्रमण भगवान् महावीर के समय सूत्र की जो व्याख्यापद्धति थी उसी व्याख्यापद्धति का विकसित और परिपक्वरूप हमें अनुयोगद्वारसूत्र में सहज रूप से निहारने को मिलता है। उसके पश्चात् लिखे गये जैन आगमों के व्याख्यासाहित्य में अनुयोगद्वार की ही शैली अपनाई गई। श्वेताम्बर ग्रन्थों में ही नहीं दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में भी इस शैली के सुन्दर संदर्शन होते हैं।

अनुयोगद्वार में द्रव्यानुयोग की प्रधानता है। उसमें चार द्वार हैं, १८९९ श्लोकप्रमाण उपलब्ध मूल पाठ है। १५२ गद्य सूत्र हैं और १४३ पद्य सूत्र हैं।

अनुयोगद्वार में प्रथम पंचज्ञान से मंगलाचरण किया गया है। उसके पश्चात् आवश्यक-अनुयोग का उल्लेख है। इससे पाठक को सहज ही यह अनुमान होता है कि इसमें आवश्यकसूत्र की व्याख्या होगी, पर ऐसा नहीं है। इसमें अनुयोग के द्वार अर्थात् व्याख्याओं के द्वार उपक्रम आदि का ही विवेचन किया गया है। विवेचन या व्याख्यापद्धति कैसी होनी चाहिए यह बताने के लिए आवश्यक को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत सूत्र में केवल आवश्यक, श्रुत, स्कन्ध, अध्ययन नामक ग्रन्थ की व्याख्या, उसके छह अध्ययनों में पिण्डार्थ (अर्थाधिकार का निर्देश), उनके नाम और सामायिक शब्द की व्याख्या दी है। आवश्यकसूत्र के पदों की व्याख्या नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अनुयोगद्वार मुख्यरूप से अनुयोग की व्याख्याओं के द्वारों का निरूपण करने वाला ग्रन्थ है—आवश्यक-सूत्र की व्याख्या करने वाला नहीं।

आगमसाहित्य में अंगों के पश्चात् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान आवश्यकसूत्र को दिया गया है, क्योंकि

---

४३. अणुयोगो अणियोगो भास विभासा य वत्तियं चेव।
एते अणुओगस्स तु णामा एगट्ठिया पंच॥ —आव. नि. गाथा १२६, विशे. १३८२, बृ. १८७

४४. विशेषावश्यकभाष्य १४१८, १४१९, १४२०

४५. बृहत्कल्पभाष्य गा. १९५, १९६, १९८, १९९

४६. नंदिसुत्तं—अणुओगद्दाराइं—प्रस्तावना पुण्यविजयजी म., पृ. ३७-३९

प्रस्तुत सूत्र में निरूपित सामायिक से ही श्रमणजीवन का प्रारम्भ होता है। प्रतिदिन प्रातः सन्ध्या के समय श्रमण-जीवन की जो आवश्यक क्रिया है इसकी शुद्धि और आराधना का निरूपण इसमें है। अतः अंगों के अध्ययन से पूर्व आवश्यक का अध्ययन आवश्यक माना गया है। एतदर्थ ही आवश्यक की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा प्रस्तुत सूत्र में की है। व्याख्या के रूप में भले ही सम्पूर्ण ग्रन्थ की व्याख्या न हो, केवल ग्रन्थ के नाम के पदों की व्याख्या की गई हो, तथापि व्याख्या की जिस पद्धति को इसमें अपनाया गया है वही पद्धति सम्पूर्ण आगमों की व्याख्या में भी अपनाई गई है। यदि यह कह दिया जाय कि आवश्यक की व्याख्या के बहाने से ग्रन्थकार ने सम्पूर्ण आगमों के रहस्यों को समझाने का प्रयास किया है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आगम के प्रारम्भ में आभिनिबोधिक आदि पांच ज्ञानों का निर्देश करके श्रुतज्ञान का विस्तार से निरूपण किया है। क्योंकि श्रुतज्ञान का उद्देश (पढ़ने की आज्ञा), समुद्देश (पढ़े हुए का स्थिरीकरण), अनुज्ञा (अन्य को पढ़ाने की आज्ञा) एवं अनुयोग (विस्तार से व्याख्यान) होता है; जबकि शेष चार ज्ञानों का नहीं होता। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य के उद्देशादि होते हैं वैसे ही कालिक, उत्कालिक और आवश्यकसूत्र के भी होते हैं।

सर्वप्रथम यह चिन्तन किया गया है कि आवश्यक एक अंगरूप है या अनेक अंगरूप ? एक श्रुतस्कन्ध है या अनेक श्रुतस्कन्ध ? एक अध्ययनरूप है या अनेक अध्ययनरूप ? एक उद्देशनरूप है या अनेक उद्देशनरूप ? समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि आवश्यक न एक अंगरूप है, न अनेक अंगरूप, वह एक श्रुतस्कन्ध है और अनेक अध्ययन-रूप है। उसमें न एक उद्देश है न अनेक। आवश्यक श्रुतस्कन्धाध्ययन का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आवश्यक, श्रुत, स्कन्ध और अध्ययन इन चारों का पृथक्-पृथक् निक्षेप किया गया है। आवश्यक निक्षेप चार प्रकार का है— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। किसी का भी आवश्यक यह नाम रख देना नाम-आवश्यक है।

किसी वस्तु की आवश्यक के रूप में स्थापना करने का नाम स्थापनाआवश्यक है। स्थापनाआवश्यक के ४० प्रकार हैं—काष्ठकर्मजन्य, चित्रकर्मजन्य, वस्त्रकर्मजन्य, लेप्यकर्मजन्य, ग्रंथिकर्मजन्य, वेष्टनकर्मजन्य, पूरिकर्मजन्य, (धातु आदि को पिघला कर सांचे में ढालना) संघातिकर्मजन्य (वस्त्रादि के टुकड़े जोड़ना) और अक्षकर्मजन्य (पासा) वराटककर्मजन्य (कौड़ी) इनसे प्रत्येक के दो भेद हैं—एक रूप और अनेक रूप। पुनः सद्‌भावस्थापना और असद्‌भावस्थापना रूप दो भेद हैं। इस तरह स्थापनाआवश्यक के ४० भेद होते हैं।

द्रव्यआवश्यक के आगमतः और नोआगमतः ये दो भेद हैं। आवश्यकपद स्मरण कर लेना और उसका निर्दोष उच्चारणादि करना आगमतः द्रव्यआवश्यक है। इसका विशेष स्पष्टीकरण करने के लिए सप्तनय की दृष्टि से द्रव्यावश्यक पर चिन्तन किया है। नोआगमतः द्रव्यावश्यक का तीन दृष्टियों से चिन्तन किया गया है। वे दृष्टियाँ हैं—ज्ञशरीर, भव्यशरीर और तद्‌व्यतिरिक्त। आवश्यकपद के अर्थ को जानने वाले व्यक्ति के प्राणरहित शरीर को ज्ञशरीरद्रव्यावश्यक कहते हैं। जैसे मधु या घृत से रिक्त हुए घट को भी मधुघट या घृतघट कहते हैं, क्योंकि पहले उसमें मधु या घृत था। वैसे ही आवश्यकपद का अर्थ जानने वाला चेतन तत्त्व, अभी नहीं है तथापि उसका शरीर है; भूतकालीन सम्बन्ध के कारण वह ज्ञशरीरद्रव्यावश्यक कहलाता है। जो जीव वर्तमान में आवश्यकपद का अर्थ नहीं जानता है, किन्तु आगामी काल में अपने इसी शरीर द्वारा उसे जानेगा वह भव्यशरीरद्रव्यावश्यक है। ज्ञशरीर और भव्यशरीर से अतिरिक्त तद्‌व्यतिरिक्त है। वह लौकिक, कुप्रावचनिक और लोकोत्तरीय रूप में तीन प्रकार का है। राजा, युवराज सेठ, सेनापति, सार्थवाह प्रभृति का प्रातः व सायंकालीन आवश्यक कर्त्तव्य वह लौकिकद्रव्यावश्यक है। कुतीर्थिकों की क्रियाएँ कुप्रावचनिकद्रव्यावश्यक है। श्रमण के गुणों से रहित, निरंकुश,

जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले स्वच्छन्द-विहारी की अपने मत की दृष्टि से उभयकालीन क्रियाएँ लोकोत्तरद्रव्यावश्यक हैं।

भावआवश्यक आगमतः और नोआगमतः रूप में दो प्रकार का है। आवश्यक के स्वरूप को उपयोग-पूर्वक जानना आगमतः भावआवश्यक है। नोआगमतः भावआवश्यक भी लौकिक और कुप्रावचनिक तथा लोकोत्तरिक रूप में तीन प्रकार का है। प्रातः महाभारत, सायं रामायण प्रभृति का स-उपयोग पठन-पाठन लौकिक-आवश्यक है। चर्म आदि धारण करने वाले तापस आदि का अपने इष्टदेव को सांजलि नमस्कारादि करना कुप्रावचनिक भावआवश्यक है। शुद्ध-उपयोग सहित वीतराग के वचनों पर श्रद्धा रखने वाले चतुर्विध तीर्थ का प्रातः सायंकाल उपयोगपूर्वक आवश्यक करना लोकोत्तरिक-भावआवश्यक है।

आवश्यक का निक्षेप करने के पश्चात् सूत्रकार श्रुत, स्कन्ध और अध्ययन का निक्षेपपूर्वक विवेचन करते हैं। श्रुत भी आवश्यक की तरह ४ प्रकार का है—नामश्रुत, स्थापनाश्रुत, द्रव्यश्रुत और भावश्रुत। श्रुत के श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना-प्रवचन एवं आगम ये एकार्थक नाम हैं।[४७] स्कन्ध के भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भावस्कन्ध ऐसे ४ प्रकार हैं। स्कन्ध के गण, काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग, राशि, पुञ्ज, पिंड, निकर, संघात, आकुल और समूह, ये एकार्थक नाम हैं।[४८] अध्ययन ६ प्रकार का है—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। सामायिक रूप प्रथम अध्ययन के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोगद्वार हैं।

उपक्रम का नामोपक्रम, स्थापनोक्रम, द्रव्योपक्रम, क्षेत्रोपक्रम, कालोपक्रम और भावोपक्रम रूप ६ प्रकार का है। अन्य प्रकार से भी उपक्रम के छह भेद बताये गये हैं—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार। उपक्रम का प्रयोजन है कि ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रारम्भिक ज्ञातव्य विषय की चर्चा। इस प्रकार की चर्चा होने से ग्रन्थ में आये हुए क्रमरूप से विषयों का निक्षेप करना। इससे वह सरल हो जाता है।

आनुपूर्वी के नामानुपूर्वी, स्थापनानुपूर्वी, द्रव्यानुपूर्वी, क्षेत्रानुपूर्वी, कालानुपूर्वी, उत्कीर्तनानुपूर्वी, गणनानु-पूर्वी, संस्थानानुपूर्वी, सामाचार्यानुपूर्वी, भावानुपूर्वी, ये दस प्रकार हैं जिनका सूत्रकार ने अतिविस्तार से निरूपण किया है। प्रस्तुत विवेचन में अनेक जैन मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

नामानुपूर्वी में नाम के एक, दो यावत् दस नाम बताये हैं। संसार के समस्त द्रव्यों के एकार्थवाची अनेक नाम होते हैं किन्तु वे सभी एक नाम के ही अन्तर्गत आते हैं। द्विनाम के एकाक्षरिकनाम और अनेकाक्षरिकनाम ये दो भेद हैं। जिसके उच्चारण करने में एक ही अक्षर का प्रयोग हो वह एकाक्षरिक नाम है। जैसे धी, स्त्री, ह्री इत्यादि। जिसके उच्चारण में अनेक अक्षर हों, वह अनेकाक्षरिकनाम है। जैसे—कन्या, वीणा, लता, माला इत्यादि। अथवा जीवनाम, अजीवनाम अथवा अविशेषिकनाम, विशेषिकनाम इस तरह दो प्रकार का है। इसका विस्तार से विवेचन किया गया है। त्रिनाम के द्रव्यनाम, गुणनाम और पर्यायनाम ये तीन प्रकार हैं। द्रव्यनाम के

---

४७. सुयं सुत्तं गंथं सिद्धन्त सासणं आण त्ति वयण उवएसो।
पण्णवणे आगमे वि य एगट्ठा पज्जवा सुत्ते॥ —सू. ४२, गाथा १

४८. गण काय निकाए चिए खंधे वग्गे तहेव रासी य।
पुंजे य पिण्डे निगरे संघाए आउल समूहे॥ —सू. १२, गा. १ (स्कन्धाधिकार)

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय (काल) ये छह भेद हैं। गुणनाम के वर्णनाम, गंधनाम, रसनाम, स्पर्शनाम और संस्थाननाम आदि अनेक भेद-प्रभेद हैं। पर्यायनाम के एक गुण कृष्ण, द्विगुण कृष्ण, त्रिगुण कृष्ण, यावत् दसगुण, संख्येयगुण, असंख्येयगुण और अनन्तगुण कृष्ण इत्यादि अनेक प्रकार हैं। चतुर्नाम ४ प्रकार का है—आगमतः, लोपतः, प्रकृतितः और विकारतः। विभक्त्यन्त पद में वर्ण का आगमन होने से पद्म का पद्मानि। यह आगमतः पद का उदाहरण है। वर्णों के लोप से जो पद बनता है वह लोपतः पद है; जैसे—पटोऽत्र-पटोत्र। सन्धिकार्य प्राप्त होने पर भी सन्धि का न होना प्रकृतिभाव कहलाता है। जैसे शाले एते, माले इमे। विकारतः पद के उदाहरण—दंडाग्रः, नदीह, मधूदकम्। पंचनाम पांच प्रकार का है—नामिक, नैपातिक, आख्यातिक, औपसर्गिक और मिश्र। षट्नाम औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सन्निपातिक—छह प्रकार का है। इन भावों पर कर्मसिद्धान्त व गुणस्थानों की दृष्टि से विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। इसके पश्चात् सप्तनाम में सप्त स्वर पर, अष्टनाम में अष्ट विभक्ति पर, नवनाम में नवरस एवं दसनाम में गुणवाचक दस नाम बताये हैं।

उपक्रम के तृतीय भेद प्रमाण पर चिन्तन करते हुए द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भाव-प्रमाण के रूप में चार भेद किये गये हैं। द्रव्यप्रमाण प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न रूप से दो प्रकार का है। प्रदेशनिष्पन्न-द्रव्यप्रमाण के अन्तर्गत परमाणु, द्विप्रदेशी स्कन्ध यावत् दशप्रदेशी स्कन्ध आदि हैं। विभागनिष्पन्न-द्रव्यप्रमाण के मान, उन्मान, अवमान, गणितमान और प्रतिमान, ये पांच प्रकार हैं। इनमें से मान के दो प्रकार हैं—धान्यमानप्रमाण, रसमानप्रमाण। धान्यमानप्रमाण के प्रसृति, सेधिका, कुडब, प्रस्थ, आढक, द्रोणि जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, कुम्भ आदि अनेक भेद हैं। इसी प्रकार रसमान प्रमाण के भी विविध भेद हैं। उन्मान प्रमाण के अर्द्धकर्ष, कर्ष, अर्द्धपल, पल, अर्द्धतुला, तुला, अर्द्धभार, भार आदि अनेक भेद हैं। इस प्रमाण से अगर, कुमकुम, खाँड, गुड़ आदि वस्तुओं का प्रमाण मापा जा सकता है। जिस प्रमाण से भूमि आदि का माप किया जाय वह अव-मान है। इसके हाथ, दंड, धनुष्य आदि अनेक प्रकार हैं। गणितमानप्रमाण में संख्या से प्रमाण निकाला जाता है। जैसे एक, दो से लेकर हजार, लाख, करोड़ आदि जिससे द्रव्य के आय-व्यय का हिसाब लगाया जाय। प्रतिमान—जिससे स्वर्ण आदि मापा जाय। इसके गुञ्जा कांगणी निष्पाव, कर्ममाशक, मण्डलक, सोनैया आदि अनेक भेद हैं। इस प्रकार द्रव्यप्रमाण की चर्चा है।

क्षेत्रप्रमाण प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न दो प्रकार का है। एक-प्रदेशावगाही, द्वि-प्रदेशावगाही आदि पुद्गलों से व्याप्त क्षेत्र को प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण कहा गया है। विभागनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण के अंगुल, वितस्ति, हस्त, कुक्षि, दंड, कोश, योजन आदि नाना प्रकार हैं। अंगुल—आत्मांगुल, उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल के रूप में तीन प्रकार का है। जिस काल में जो मानव होते हैं उनके अपने अंगुल से १२ अंगुल प्रमाण मुख होता है। १०८ अंगुल प्रमाण पूरा शरीर होता है। वे पुरुष उत्तम, मध्यम और जघन्य रूप से ३ प्रकार के हैं। जिन पुरुषों में पूर्ण लक्षण हैं और १०८ अंगुल प्रमाण जिनका शरीर है वे उत्तम पुरुष हैं, जिन पुरुषों का शरीर १०४ अंगुल प्रमाण है वे मध्यम पुरुष हैं और जिनका शरीर ९६ अंगुल प्रमाण है वे जघन्य पुरुष हैं। इन अंगुलों के प्रमाण से छह अंगुल का १ पाद, २ पाद की १ वितस्ति, २ वितस्ति का १ हाथ, २ हाथ की १ कुक्षि, २ कुक्षि का एक धनुष्य, दो हजार धनुष्य का १ कोश, ४ कोश का एक योजन होता है। प्रस्तुत प्रमाण से आराम, उद्यान, कानन, वन, वनखण्ड, कुँआ, वापिका, नदी, खाई, प्राकार, स्तूप आदि नापे जाते हैं।

उत्सेधांगुल का प्रमाण बताते हुए परमाणु त्रसरेणु, रथरेणु का वर्णन विविध प्रकार से किया है। प्रकाश में जो धूलिकण आँखों से दिखाई देते हैं वे त्रसरेणु हैं। रथ के चलने से जो धूलि उड़ती है वह रथरेणु है। परमाणु

का दो दृष्टियों से प्रतिपादन है—सूक्ष्म-परमाणु और व्यावहारिक-परमाणु। अनन्त सूक्ष्म-परमाणुओं के मिलने से एक व्यावहारिक-परमाणु बनता है। व्यावहारिक-परमाणुओं की क्रमश: वृद्धि होते-होते मानवों का बालाग्र, लीख, जूँ, यव और अंगुल बनता है, जो क्रमश: आठ गुने अधिक होते हैं। प्रस्तुत अंगुल के प्रमाण से छह अंगुल का अर्द्धपाद, १२ अंगुल का पाद, २४ अंगुल का एक हस्त, ४८ अंगुल की एक कुक्षि, ९६ अंगुल का १ धनुष्य होता है। इसी धनुष्य के प्रमाण से दो हजार धनुष्य का १ कोश और ४ कोश का १ योजन होता है। उत्सेधांगुल का प्रयोजन ४ गतियों के प्राणियों की अवगाहना नापना है। यह अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट रूप से दो प्रकार की होती है। जैसे नरक में जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है और उत्कृष्ट अवगाहना ५०० धनुष्य प्रमाण है और उत्तर विक्रिया करने पर जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हजार धनुष्य होती है। इस तरह उत्सेधांगुल का प्रमाण स्थायी, निश्चित और स्थिर है। उत्सेधांगुल से एक हजार गुना अधिक प्रमाणांगुल होता है। वह भी उत्सेधांगुल के समान निश्चित है। अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभ और उनके पुत्र भरत के अंगुल को प्रमाणांगुल माना गया है। अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर के एक अंगुल के प्रमाण में दो उत्सेधांगुल होते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो उनके ५०० अंगुल के बराबर १००० उत्सेधांगुल अर्थात् १ प्रमाणांगुल होता है। इस प्रमाणांगुल से अनादि पदार्थों का नाप ज्ञात किया जाता है। इससे बड़ा अन्य कोई अंगुल नहीं है।

कालप्रमाण प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न रूप से दो प्रकार का है। एक समय की स्थिति वाले परमाणु या स्कन्ध आदि का काल प्रदेशनिष्पन्न कालप्रमाण कहलाता है। समय, आवलिका, मुहूर्त्त, दिन, अहोरात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पल्य, सागर, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, परावर्तन आदि को विभागनिष्पन्न काल-प्रमाण कहा गया है। समय बहुत ही सूक्ष्म कालप्रमाण है। इसका स्वरूप प्रतिपादित करते हुए वस्त्र-विदारण का उदाहरण दिया है। असंख्यात समय की एक आवलिका, संख्यात आवलिका का एक उच्छ्वासनिश्वास; प्रसन्न मन, पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति के एक श्वासोच्छ्वास को प्राण कहते हैं। सात प्राणों का १ स्तोक, ७ स्तोकों का १ लव, उसके पश्चात् शीर्षप्रहेलिका, पल्योपम, सागरोपम की संख्या तक प्रकाश डाला है जिसका हम अन्य आगमों के विवेचन में उल्लेख कर चुके हैं। इस कालप्रमाण से चार गतियों के जीवों के आयुष्य पर विचार किया गया है।

भावप्रमाण तीन प्रकार का है—गुणप्रमाण, नयप्रमाण और संख्याप्रमाण। गुणप्रमाण—जीवगुण-प्रमाण और अजीवगुणप्रमाण इस तरह से दो प्रकार का है। जीवगुणप्रमाण के तीन भेद—ज्ञानगुणप्रमाण, दर्शनगुणप्रमाण और चारित्रगुणप्रमाण हैं। इसमें से ज्ञानगुणप्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार भेद हैं। प्रत्यक्ष के इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष दो भेद हैं। इन्द्रियप्रत्यक्ष के श्रोत्रेन्द्रिय से स्पर्शेन्द्रिय तक पांच भेद हैं। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञानप्रत्यक्ष—ये तीन भेद हैं।[४९]

अनुमान—पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत् तीन प्रकार का है। पूर्ववत्अनुमान को समझाने के लिए एक रूपक दिया है। जैसे—किसी माता का कोई पुत्र लघुवय में अन्यत्र चला गया और युवक होकर पुन: अपने नगर में आया। उसे देखकर उसकी माता पूर्व लक्षणों से अनुमान करती है कि यह पुत्र मेरा ही है। इसे पूर्ववत्अनुमान कहा है।

---

४९. प्रत्यक्षप्रमाण का विस्तृत विवरण नन्दीसूत्र के विवेचन में दिया गया है। इसके अतिरिक्त देखिए, लेखक का 'जैन आगम साहित्य: मनन मीमांसा' ग्रन्थ।

शेषवत्अनुमान कार्यतः, कारणतः, गुणतः, अवयवतः और आश्रयतः इस तरह पांच प्रकार का है। कार्य से कारण का ज्ञान होना कार्यतःअनुमान कहा जाता है। जैसे शंख, भेरी आदि के शब्दों से उनके कारणभूत पदार्थों का ज्ञान होना; यह एक प्रकार का अनुमान है। कारणतः अनुमान वह है जिसमें कारणों से कार्य का ज्ञान होता है; जैसे—तन्तुओं से पट बनता है, मिट्टी के पिण्ड से घट बनता है। गुणतःअनुमान वह है जिससे गुण के ज्ञान से गुणी का ज्ञान किया जाय; जैसे—कसौटी से स्वर्ण की परीक्षा, गंध से फूलों की परीक्षा। अवयवतः अनुमान है अवयवों से अवयवी का ज्ञान होना; जैसे—सींगों से महिष का, शिखा से कुक्कुट का, दांतों से हाथी का। आश्रयतः-अनुमान वह है जिसमें आश्रय से आश्रयी का ज्ञान होता है। इसमें साधन से साध्य पहचाना जाता है; जैसे धुएँ से अग्नि, बादलों से जल, सदाचरण से कुलीन पुत्र का ज्ञान होता है।

दृष्टसाधर्म्यवत्-अनुमान के सामान्यदृष्ट और विशेषदृष्ट—ये दो भेद हैं। किसी एक व्यक्ति को देखकर तद्देशीय या तज्जातीय अन्य व्यक्तियों की आकृति आदि का अनुमान करना सामान्यदृष्ट-अनुमान है। इसी प्रकार अनेक व्यक्तियों की आकृति आदि से एक व्यक्ति की आकृति का अनुमान भी किया जा सकता है। किसी व्यक्ति को पहले एक बार देखा हो, पुनः उसको दूसरे स्थान पर देखकर अच्छी तरह पहचान लेना विशेषदृष्ट-अनुमान है।

उपमानप्रमाण के साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत ये दो भेद हैं। साधर्म्योपनीत के किंचित् साधर्म्योपनीत, प्रायःसाधर्म्योपनीत और सर्वसाधर्म्योपनीत ये—तीन प्रकार हैं। जिसमें कुछ साधर्म्य हो वह किंचित्-साधर्म्योपनीत है। उदाहरण के लिए जैसा आदित्य है वैसा खद्योत है, क्योंकि दोनों ही प्रकाशित हैं। जैसा चन्द्र है वैसा कुमुद है, क्योंकि दोनों में शीतलता है। जिसमें लगभग समानता हो वह प्रायःसाधर्म्योपनीत है; जैसे—गाय है वैसी नील-गाय है। जिसमें सब प्रकार की समानता हो वह सर्वसाधर्म्योपनीत है। यह उपमा देश, काल आदि की भिन्नता के कारण अन्य में नहीं प्राप्त होती। अतः उसकी उसी से उपमा देना सर्वसाधर्म्योपनीत-उपमान है। इसमें उपमेय और उपमान भिन्न नहीं होते। जैसे—सागर सागर के सदृश है। तीर्थंकर तीर्थंकर के समान हैं।

वैधर्म्योपनीत के किंचित्वैधर्म्योपनीत, प्रायःवैधर्म्योपनीत और सर्ववैधर्म्योपनीत—ये तीन प्रकार हैं।

आगम दो प्रकार के हैं—लौकिक और लोकोत्तर। मिथ्यादृष्टियों के बनाये हुए ग्रन्थ लौकिक आगम हैं। जिन्हें पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी द्वारा प्रतिपादित द्वादशांग गणिपिटक—यह लोकोत्तर आगम है अथवा आगम के सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम अथवा आत्मागम, अनन्तरागम और परम्परागम, इस प्रकार तीन भेद हैं। तीर्थंकर द्वारा कथित अर्थ उनके लिए आत्मागम है। गणधररचित सूत्र गणधर के लिए आत्मागम है और अर्थ उनके लिए परम्परागम है। उसके पश्चात् सूत्र, अर्थ दोनों परम्परागम हैं। यह ज्ञानगुण-प्रमाण का वर्णन है।

दर्शनगुणप्रमाण के चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन गुणप्रमाण—ये चार भेद हैं।

चारित्रगुणप्रमाण पांच प्रकार का है—सामायिकचारित्र, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्ध, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातचारित्र गुणप्रमाण।

सामायिकचारित्र इत्वरिक और यावत्कथित रूप से दो प्रकार का है। छेदोपस्थापनीयचारित्र भी सातिचार और निरतिचार (सदोष और निर्दोष) ऐसे दो प्रकार का है। इसी प्रकार परिहारविशुद्ध, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यातचारित्र भी क्रमशः निर्विश्यमान और निर्विष्टकायिक, प्रतिपाती और अप्रतिपाती, छाद्मस्थिक और कैवलिक इस प्रकार दो-दो तरह के हैं। चारित्रगुणप्रमाण के अवान्तर भेद-प्रभेदों पर प्रस्तुत आगम में प्रकाश नहीं डाला गया है।

अजीवगुणप्रमाण के ५ प्रकार हैं—वर्णगुणप्रमाण, गंधगुणप्रमाण, रसगुणप्रमाण, स्पर्शगुणप्रमाण और संस्थानगुणप्रमाण। इनके क्रमशः ५, २, ५, ८ और ५ भेद प्रतिपादित किये गये हैं। यह गुणप्रमाण का वर्णन हुआ।

भावप्रमाण का दूसरा भेद नयप्रमाण है। नय के नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत—ये सात प्रकार हैं। प्रस्थक, वसति एवं प्रदेश के दृष्टान्त से इन नयों का स्वरूप समझाया है।

भावप्रमाण का तृतीय भेद संख्याप्रमाण है। वह नामसंख्या, स्थापनासंख्या, द्रव्यसंख्या, उपमान-संख्या, परिमाणसंख्या, ज्ञानसंख्या, गणनासंख्या और भावसंख्या—इस तरह आठ प्रकार का है।

गणनासंख्या विशेष महत्त्वपूर्ण होने से उसका विस्तार से विवेचन किया है। जिसके द्वारा गणना की जाय वह गणनासंख्या कहलाती है। एक का अंक गिनने में नहीं आता अतः दो से गणना की संख्या का प्रारम्भ होता है। संख्या के संख्येयक, असंख्येयक और अनन्त, ये तीन भेद हैं। संख्येयक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ये तीन भेद हैं। असंख्येयक के परीतासंख्येयक, युक्तासंख्येयक और असंख्येयासंख्येयक तथा इन तीनों के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ये तीन-तीन भेद हैं। इस प्रकार असंख्येयक के ९ भेद हुए। अनन्तक के परीतान्तक, युक्तानन्तक और अनन्तानन्तक, ये तीन भेद हैं। इनमें से परीतान्तक और युक्तानन्तक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ये तीन-तीन भेद हैं और अनन्तान्तक के जघन्य और मध्यम, ये दो भेद हैं। इस प्रकार कुल ८ भेद होते हैं।

संख्येयक के ३, असंख्येयक के ९ और अनन्तक के ८, कुल २० भेद हुए। यह भावप्रमाण का वर्णन हुआ।

हमने पूर्व पृष्ठों में सामायिक के चार अनुयोगद्वारों में से प्रथम अनुयोगद्वार उपक्रम के आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार, ये ६ भेद किये थे। उनमें आनुपूर्वी, नाम और प्रमाण पर चिन्तन किया जा चुका है। अवशेष ३ पर चिन्तन करना है।

वक्तव्यता के स्वसमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और उभयसमयवक्तव्यता, ये तीन प्रकार हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि स्व-सिद्धान्तों का वर्णन करना स्वसमयवक्तव्यता है। अन्य मतों के सिद्धान्तों की व्याख्या करना परसमयवक्तव्यता है। स्वपर—उभय मतों की व्याख्या करना उभयसमयवक्तव्यता है।

जो जिस अध्ययन का अर्थ है अर्थात् विषय है वही उस अध्ययन का अर्थाधिकार है। उदाहरण के रूप में, जैसे आवश्यक सूत्र के ६ अध्ययनों का सावद्ययोग से निवृत्त होना ही उसका विषयाधिकार है वही अर्थाधिकार कहलाता है।

समवतार का तात्पर्य यह है कि आनुपूर्वी आदि जो द्वार हैं उनमें उन-उन विषयों का समवतार करना अर्थात् सामायिक आदि अध्ययनों की आनुपूर्वी आदि पांच बातें विचार कर योजना करना। समवतारनाम के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसमवतार इस प्रकार छह भेद हैं। द्रव्यों का स्वगुण की अपेक्षा से आत्मभाव में अवतीर्ण होना—व्यवहारनय की अपेक्षा से पररूप में अवतीर्ण होना आदि द्रव्यसमवतार हैं। क्षेत्र का भी स्व-रूप, पररूप और उभयरूप से समवतार होता है। काल समवतार श्वासोच्छ्‌वास से संख्यात, असंख्यात और अनन्तकाल (जिसका विस्तार पूर्व में दे चुके हैं) तक का होता है। भावसमवतार के भी दो भेद हैं—आत्मभाव-समवतार और तदुभयसमवतार। भाव का अपने ही स्वरूप में समवतीर्ण होना आत्मभावसमवतार कहलाता है। जैसे—क्रोध का क्रोध के रूप में समवतीर्ण होना। भाव का स्वरूप और पररूप दोनों में समवतार होना तदुभय-भावसमवतार है। जैसे—क्रोध का क्रोध के रूप में समवतार होने के साथ ही मान के रूप में समवतार होना तदुभयभावसमवतार है।

अनुयोगद्वारसूत्र का अधिक भाग उपक्रम की चर्चा ने रोक रखा है। शेष तीन निक्षेप संक्षेप में हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना ऐसी है कि ज्ञातव्य विषयों का प्रतिपादन उपक्रम में ही कर दिया है जिससे बाद के विषयों को समझना अत्यन्त सरल हो जाता है।

उपक्रम में जिन विषयों की चर्चा की गई है उन सभी विषयों पर हम तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करना चाहते थे जिससे कि प्रबुद्ध पाठकों को यह परिज्ञात हो सके कि आगमसाहित्य में अन्य स्थलों पर इन विषयों की चर्चा किस रूप में है। और परवर्ती साहित्य में इन विषयों का विकास किस रूप में हुआ है। पर समयाभाव के कारण हम चाहते हुए भी यहाँ नहीं कर पा रहे हैं। 'प्रमाण एक अध्ययन' शीर्षक लेख में हमने प्रमाण की चर्चा विस्तार से की है, अतः जिज्ञासु पाठक उस ग्रन्थ का अवलोकन कर सकते हैं।[५०]

निक्षेप—यह अनुयोगद्वार का दूसरा द्वार है। निक्षेप जैनदर्शन का एक पारिभाषिक और लाक्षणिक शब्द है। पदार्थबोध के लिए निक्षेप का परिज्ञान बहुत ही आवश्यक है। निक्षेप की अनेक व्याख्याएँ विभिन्न ग्रन्थों में मिलती हैं। जीतकल्पभाष्य में आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने लिखा है 'नि' शब्द के तीन अर्थ हैं—ग्रहण, आदान और आधिक्य। 'क्षेप' का अर्थ है—प्रेरित करना। जिस वचनपद्धति में नि/अधिक क्षेप/विकल्प है, वह निक्षेप है।[५१]

सूत्रकृतांगचूर्णि जिनदासगणिमहत्तर ने निक्षेप की परिभाषा इस प्रकार की है—जिसका क्षेप/स्थापन नियत और निश्चित होता है. वह निक्षेप है।[५२] बृहद् द्रव्यसंग्रह में आचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है. युक्तिमार्ग से प्रयोजनवशात्, जो वस्तु को नाम आदि चार भेदों में क्षेपण स्थापन करे वह निक्षेप है।[५३] नयचक्र में आचार्य मल्लिसेन मलधारी ने निक्षेप की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है—वस्तु का नाम आदि में क्षेप करने या धरोहर रखना निक्षेप है।[५४] षट्खण्डागम की धवला टीका में आचार्य वीरसेन ने निक्षेप की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय में अवस्थित वस्तु को उनसे निकालकर जो निश्चय में क्षेपण करता है, वह निक्षेप है।[५५] दूसरे शब्दों में यूं कह सकते हैं, जो अनिर्णीत वस्तु का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव द्वारा निर्णय कराये वह निक्षेप है। इसे यों भी कह सकते हैं—अप्रकृत का निराकरण करके प्रकृत का निरूपण करना निक्षेप है।

---

५०. जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृष्ठ ३७६ से ४०५। —लेखक देवेन्द्र मुनि शास्त्री

५१. गहणं आदाणं ति होति णिसद्दो तहाहियत्थम्मि।
खिव पेरणे व भणितो अहिउक्खेवो तु णिक्खेवो॥
—जीतकल्पभाष्य ८०९ (बबलचन्द्र केशवलाल मोदी, अहमदाबाद)

५२. निक्षिप्यतेऽनेनेति निक्षेपः।
नियतो निश्चितो क्षेपो निक्षेपः॥ —सूत्रकृतांगचूर्णि १, पृष्ठ १७

५३. जुत्ती सुजुत्तमग्गे जं चउभेयेण होइ खलु ठवणं।
वज्जे सदि णामादिसु तं णिक्खेवं हवे समये॥ —बृहद्नयचक्र २६९

५४. वस्तु नामादिषु क्षिपतीति निक्षेपः। —नयचक्र ४८

५५. संशयविपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितस्तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपतीति निक्षेपः।
—धवला ४। १, ३, १। २। ६

अर्थात् शब्द का अर्थ में और अर्थ का शब्द में आरोप करना यानी शब्द और अर्थ को किसी एक निश्चित अर्थ में स्थापित करना निक्षेप है।[५६]

संक्षिप्त में सार यह है कि जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान या उपचार से वस्तु में जिन प्रकारों से आक्षेप किया जाय वह निक्षेप है। क्षेपणक्रिया के भी दो प्रकार हैं, प्रस्तुत अर्थ का बोध कराने वाली शब्दरचना और दूसरा प्रकार है अर्थ का शब्द में आरोप करना। क्षेपणक्रिया वक्ता के भावविशेष पर आधृत है।

आचार्य उमास्वाति ने निक्षेप का पर्यायवाची शब्द न्यास दिया है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में 'न्यासो निक्षेप:[५७] के द्वारा स्पष्टीकरण किया है। नाम आदि के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहते हैं।[५८]

निक्षेप के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार प्रकार हैं। प्रस्तुत द्वार में निक्षेप के ओघनिष्पन्ननिक्षेप, नामनिष्पन्ननिक्षेप और सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेप—इस प्रकार तीन भेद किये हैं। ओघनिष्पन्ननिक्षेप, अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा के रूप में चार प्रकार का है। अध्ययन के नामाध्ययन, स्थापनाध्ययन, द्रव्याध्ययन और भावाध्ययन—ये चार भेद हैं। अक्षीण के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—ये चार भेद हैं। इन चार में भावाक्षीणता के आगमत: भावाक्षीणता और नोआगमत: भावाक्षीणता कहलाती है। जो व्यय करने पर भी किंचिन्मात्र भी क्षीण न हो वह नोआगमत: भावाक्षीणता कहलाती है। जैसे—एक जगमगाते दीपक से शताधिक दीपक प्रज्वलित किये जा सकते हैं, किन्तु उससे दीपक की ज्योति क्षीण नहीं होती वैसे ही आचार्य श्रुत का दान देते हैं। वे स्वयं भी श्रुतज्ञान से दीप्त रहते हैं और दूसरों को भी प्रदीप्त करते हैं। सारांश यह है कि श्रुत का क्षीण न होना भावाक्षीणता है।

आय के नाम, स्थापनादि चार भेद हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का लाभ प्रशस्त आय है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की प्राप्ति अप्रशस्त आय है।

क्षपणा के नाम, स्थापनादि चार भेद हैं। क्षपणा का अर्थ निर्जरा, क्षय है। क्रोधादि का क्षय होना प्रशस्त क्षपणा है। ज्ञानादि का नष्ट होना अप्रशस्त क्षपणा है।

ओघनिष्पन्ननिक्षेप के विवेचन के पश्चात् नामनिष्पन्ननिक्षेप का विवेचन करते हुए कहा है—जिस वस्तु का नामनिक्षेपनिष्पन्न हो चुका है उसे नामनिष्पन्ननिक्षेप कहते हैं, जैसे सामायिक। इसके भी नामादि चार भेद हैं। भाव-सामायिक का विवेचन विस्तार से किया है और भावसामायिक करने वाले श्रमण का आदर्श प्रस्तुत करते हुए बताया है—जिसकी आत्मा सभी प्रकार से सावद्य व्यापार से निवृत्त होकर मूलगुणरूप संयम, उत्तरगुणरूप नियम तथा तप आदि में लीन है उसी को भावसामायिक का अनुपम लाभ प्राप्त होता है। जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों को आत्मवत् देखता है, उनके प्रति समभाव रखता है वही सामायिक का सच्चा अधिकारी है। जिस प्रकार मुझे दु:ख प्रिय नहीं है, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी दु:ख प्रिय नहीं है, ऐसा जानकर जो न किसी अन्य प्राणी का हनन करता है, न करवाता है और न करते हुए की अनुमोदना ही करता है वह श्रमण है, आदि।

---

५६. णिच्छए णिण्णए खिवदि त्ति णिक्खेओ। —धवला पु. १, पृ. १०

५७. नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यास:। —तत्त्वार्थसूत्र १। ५

५८. उपायो न्यास उच्यते। —धवला १।१।१।१, गा. ११।१७

सूत्रालापक निक्षेप वह है जिसमें 'करेमि भंते सामाइयं' आदि पदों का नामादि भेदपूर्वक व्याख्यान किया जाता है। इसमें सूत्र का शुद्ध और स्पष्ट रूप से उच्चारण करने की सूचना दी है।

अनुयोगद्वार का तृतीय द्वार अनुगम है। उत्तराध्ययनचूर्णि में अनुगम की व्याख्या इस प्रकार की गई है—जिसके द्वारा सूत्र का अनुसरण अथवा सूत्र के अर्थ का स्पष्टीकरण किया जाता है, वह अनुगम/व्याख्या है।[५९] अनुयोगद्वारचूर्णि में अनुगम की व्याख्या इस प्रकार मिलती है—अर्थ से सूत्र अणु अर्थात् लघु होता है, उसके अनुरूप गमन करना अनुगम है।[६०] दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि सूत्र और अर्थ के अनुकूल गमन करना अनुगम है।[६१] अनुयोगद्वार मलधारीय टीका में अनुगम की परिभाषा इस रूप में मिलती है—सूत्र पढ़ने के पश्चात् गमन/व्याख्यान करना अनुगम है। जिसके द्वारा सूत्रानुसारी ज्ञान होता है, वह अनुगम है।[६२] अनुगम के सूत्रानुगम और निर्युक्त्यनुगम, ये दो भेद हैं। निर्युक्त्यनुगम के तीन भेद हैं— निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम, उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम और सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम। इसमें निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम का विवेचन किया जा चुका है। उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम के उद्देश, निर्देश, निर्गम आदि छब्बीस भेद बताये हैं। सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम का अर्थ है—अस्खलित, अमिलित, अन्य सूत्रों के पाठों से असंयुक्त, प्रतिपूर्ण घोषयुक्त, कण्ठ—ओष्ठ से विप्रमुक्त तथा गुरुमुख से ग्रहण किये हुए उच्चारण से युक्त सूत्रों के पदों का स्वसिद्धान्त के अनुरूप विवेचन करना।

अनुयोगद्वार का चौथा द्वार नय है। नय जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जो वस्तु का बोध कराते हैं वे नय हैं।[६३] वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु के उन सम्पूर्ण धर्मों का यथार्थ और प्रत्यक्ष ज्ञान केवल सर्वज्ञ-सर्वदर्शी को ही हो सकता है। पर सामान्य मानव में वह सामर्थ्य नहीं है। सामान्य मानव एक समय में कुछ धर्मों का ही ज्ञान कर पाता है। यही कारण है कि उसका ज्ञान आंशिक है, आंशिक ज्ञान को नय कहते हैं। यह स्मरण रखना होगा, प्रमाण और नय ये दोनों ज्ञानात्मक हैं। किन्तु दोनों में अन्तर यही है कि प्रमाण सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान कराता है तो नय वस्तु के एक अंश का ज्ञान कराता है। प्रमाण को सकलादेश और नय को विकलादेश कहा है। सकलादेश में वस्तु के समस्त धर्मों की विवक्षा होती है पर विकलादेश में एक धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों की विवक्षा नहीं होती। विकलादेश को सम्यक् इसीलिए माना जाता है कि वह जिस धर्म की विवक्षा करता है उसके अतिरिक्त अन्य धर्मों का प्रतिषेध नहीं करता किन्तु उन धर्मों की उपेक्षा करता है।

वक्ता के अभिप्राय की दृष्टि से नय का लक्षण इस प्रकार है—विरोधी धर्मों का निषेध न करते हुए वस्तु के एक अंश या धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञाता का अभिप्राय नय है।[६४] दूसरे शब्दों में अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के विना हेतु की मुख्यता से साध्यविशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ शब्दप्रयोग नय है।[६५] जितने वचन

---

५९. अनुगम्यतेऽनेनास्मिश्चेति अनुगमः। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ९

६०. अत्थातो सुत्तं अणु, तस्स अणुरूवगमणत्ताओ अनुगमो। —अनुयोगद्वारचूर्णि, पृष्ठ १८

६१. सूत्रार्थानुकूलगमनं वा अनुगमः। —अनुयोगद्वारचूर्णि, पृष्ठ २३

६२. सूत्रपठनादनु पश्चाद् गमनं—व्याख्यानमनुगमः।
अनुसूत्रमर्थो गम्यते-ज्ञायते अनेनेत्यनुगमः॥ —अनुयोगद्वार मल्लधारी टीका, पत्रा ५४

६३. नयंति गमयंति प्राप्नुवंति वस्तु ये ते नयाः। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ २३४

६४. प्रमेयकमलमार्तण्ड। —पृष्ठ ६७६

६५. सर्वार्थसिद्धि। —१।३३

के प्रकार हैं, उतने ही नय भी हैं।[६६] इस तरह नय के अनन्त भेद हो सकते हैं। तथापि उनका समाहार करते हुए और समझने की सरलता की दृष्टि से उन सब वचन-पक्षों को अधिक से अधिक सात भेदों में विभाजित कर दिया है। अनुयोगद्वार में सात नयों का वर्णन है। १. नैगमनय, २. संग्रहनय, ३. व्यवहारनय, ४. ऋजुसूत्रनय, ५. शब्द-नय, ६. समभिरूढनय ७. एवं भूतनय। ठाणांग[६७] और प्रज्ञापना[६८] में भी सात नयों का वर्णन है। सात नयों में शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत ये तीन शब्दनय है[६९] और नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थनय हैं। तीन शब्द को विषय कहते हैं, अतः शब्दनय है और शेष चार अर्थ को अपना विषय बनाते हैं इसलिये अर्थनय हैं।

सामान्य और विशेष आदि अनेक धर्मो को ग्रहण करने वाला अभिप्राय नैगमनय है।[७०] प्रस्तुत नय सत्तारूप सामान्य को द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व रूप अवान्तर सामान्य को असाधारण रूप विशेष तथा पररूप से व्यावृत्त और सामान्य से भिन्न अवान्तर विशेषों को जानता है अथवा दो द्रव्यों में से, दो पर्यायों में से तथा द्रव्य और पर्याय में से किसी एक को मुख्य और दूसरे को गौण करके जानना नैगमनय है।[७१] विशेषों की अपेक्षा न करके वस्तु को सामान्य रूप से जानना संग्रहनय है।[७२] जैसे—जीव कहने से त्रस, स्थावर प्रभृति सभी प्रकार के जीवों का परिज्ञान होता है, भेद सहित सभी पर्यायों या विशेषों को अपनी जाति के विरोध के बिना एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करने वाला संग्रहनय है।[७३] दूसरे शब्दों में समस्त पदार्थो का सम्यक् प्रकार से एकीकरण करके जो अभेद रूप से ग्रहण करता है, वह संग्रहनय है।[७४] अथवा यों भी कह सकते हैं कि व्यवहार की अपेक्षा न करके सत्तादि रूप से सकल पदार्थों का संग्रह करना संग्रहनय है।[७५] संग्रहनय से जाने हुए पदार्थों का योग्य रीति से विभाग करने वाला अभिप्राय व्यवहारनय है।[७६] संग्रहनय जिस अर्थ को ग्रहण करता है, उस अर्थ का विशेष रूप से बोध करने के लिए उसका पृथक्करण आवश्यक होता है। यह सत्य है, संग्रहनय में सामान्य मात्र का ही ग्रहण होता है तथापि उस सामान्य का रूप क्या है? इसका विश्लेषण करने के लिए व्यवहार की जरूरत होती है। इसलिए सामान्य को भेदपूर्वक ग्रहण करना व्यवहारनय है।[७७] वर्तमानकालवर्ती पर्याय को मान्य करने

---

६६. जावइया वयणपहा तावइया चेव होन्ति णयवाया। —सन्मतितर्क, गाथा ४७

६७. सत्त मूलनया पं. तं.—नेगमे, संगहे, ववहारे, उज्जुसुते, सद्दे, समभिरूढे, एवंभूते। —स्थानांग ७।५५२

६८. से किं तं णयगती? जण्णं णेगमसंगहववहारउज्जुसुयसद्दसमभिरूढएवंभूयाणं नयाणं जा गती, अथवा सव्वणया वि जं इच्छंति। —प्रज्ञापना, पन्ना १६

६९. तिहं सद्दनयाणं। —अनुयोगद्वार १४८

७०. सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगमः। —जैनतर्कभाषा

७१. णेगेहिं माणेहिं मिय इत्ति णेगमस्स य निरुत्ती। —अनुयोगद्वारसूत्र

७२. सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः। —जैनतर्कभाषा

७३. स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदान् विशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः। —सर्वार्थसिद्धि १।३३

७४. सममेकीभावसम्यक्त्वे वर्तमानो हि गृह्यते।
निरुक्त्या लक्षणं तस्य तथासति विभाव्यते॥ —श्लोकवार्तिक १।३३

७५. व्यवहारमनपेक्ष्य सत्तादिरूपेण सकलवस्तुसंग्राहकः संग्रहनयः। —धवलाखण्ड १३

७६. संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसंधिना क्रियते स व्यवहारः। —जैनतर्कभाषा

७७. संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु येन व्यवह्रियते इति व्यवहारः। —आप्तपरीक्षा ९

वाले—ग्रहण करने वाले अभिप्राय को ऋजुसूत्रनय कहते हैं।[७८] भूतकाल विनष्ट और भविष्यकाल अनुत्पन्न होने से वह केवल वर्तमान कालवर्ती पर्याय को ही ग्रहण करता है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान क्षण की पर्याय को ही प्रधानता देता है। जैसे—मैं इस समय सुख भोग रहा हूँ। यहाँ पर क्षणस्थायी सुखपर्याय को सुख मानकर उस सुखपर्याय का आधार जो आत्मद्रव्य है, उसको गौण कर दिया गया है। पर्यायवाची शब्दों में भी काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग के भेद से अर्थभेद मानना शब्दनय है।[७९] विभिन्न संयोगों के आधार पर जो शब्दों में अर्थभेदी कल्पना की जाती है, वह शब्दनय है। पर्यायवाची शब्दों में भिन्न अर्थ को द्योतित करना निर्युक्ति यानी व्युत्पत्ति के भेद से पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में भेद स्वीकार करने वाला समभिरूढनय है। इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, प्रभृति शब्द पर्यायवाची हैं। तथापि भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति से भिन्न-भिन्न अर्थ को द्योतित करते हैं। शब्दनय तो समान काल, कारक, लिंग आदि युक्त पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ मानता है। किन्तु कारक आदि का भेद होने पर ही पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद स्वीकार करता है। पर कारक आदि का भेद न होने पर पर्यायवाची शब्दों में अभिन्न अर्थ मानता है पर समभिरूढनय तो पर्यायभेद होने से ही उन शब्दों में अर्थभेद मानता है।[८०] जिस समय पदार्थों में जो क्रिया होती है, उस समय क्रिया के अनुकूल शब्दों से अर्थ के प्रतिपादन करने को एवंभूतनय कहते हैं।[८१] जैसे—ऐश्वर्य का अनुभव करते समय इन्द्र, समर्थ होने के समय शक्र और नगरों का नाश करते समय पुरन्दर कहना। एवंभूतनय निश्चय प्रधान है, शब्दों की जो व्युत्पत्ति है उस व्युत्पत्ति की निमित्तभूतक्रिया जब पदार्थ में होती है तब वह पदार्थ को उस शब्द का वाच्य मानता है। इस प्रकार सातों नय पूर्व-पूर्व नय से उत्तर-उत्तर नयों का विषय सूक्ष्म होता चला गया। नैगमनय सामान्य और विशेष भेद-अभेद दोनों को ग्रहण करता है। जबकि संग्रहनय की दृष्टि उससे संकीर्ण है, वह सामान्य और अभेद को विषय करता है। संग्रहनय से भी व्यवहारनय का विषय कम है। संग्रहनय जहाँ समस्त सामान्य पदार्थों को जानता है, और व्यवहारनय संग्रह से जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से ग्रहण करता है। ऋजुसूत्रनय का विषय व्यवहारनय से कम है, चूंकि व्यवहारनय त्रैकालिक विषय की सत्ता को मानता है। जबकि ऋजुसूत्रनय से वर्तमान पदार्थ का ही परिज्ञान होता है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा शब्दनय का विषय कम है। क्योंकि शब्दनय काल आदि के भेद से वर्तमान पर्याय में भी भेद स्वीकार करता है। शब्दनय वर्तमान पर्याय के वाचक विविध पर्यायवाची शब्दों में से काल, लिंग, संख्या, पुरुष आदि व्याकरण सम्बन्धी विषमताओं का निराकरण करके केवल समान काल, लिंग आदि शब्दों को एकार्थवाची मानता है। जबकि ऋजुसूत्रनय में काल आदि का भेद नहीं होता। शब्दनय से भी समभिरूढ का विषय कम है। वह पर्याय और व्युत्पत्तिभेद से अर्थभेद मानता है। जबकि शब्दनय पर्यायवाची शब्दों में किसी भी प्रकार का भेद नहीं मानता। समभिरूढ़नय इन्द्र, शक्र आदि एकार्थवाची शब्दों को भी व्युत्पत्ति की दृष्टि से भिन्न अर्थवाची मानता है। वह किसी एक ही शब्द को वाचक रूप में रूढ करता है। पर वह सूक्ष्मता शब्दनय में नहीं है। एवंभूतनय का विषय समभिरूढनय से भी न्यून है। वह अर्थ को भी उस शब्द का वाच्य तभी मानता है, जब अर्थ अपनी

---

७८. (क) ऋजु वर्तमानक्षणस्थायिपर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः।

(ख) पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेअव्वो। —जैनतर्कभाषा

७९. कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः। कालकारकलिंगसंख्यापुरुषोपसर्गाः कालादयः।

—जैनतर्कभाषा

८०. पर्यायशब्देषु निर्युक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः। —जैनतर्कभाषा

८१. येनात्मनाभूतस्तेनैवाध्यवसायतीति एवंभूतः। —सर्वार्थसिद्धि १।३३

व्युत्पत्ति मूलक्रिया में लगा हो। सारांश यह है, पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय सूक्ष्म और सूक्ष्मतर विषय वाला होता है; और उत्तर-उत्तर नय का विषय पूर्व-पूर्व नय के विषय पर ही आधृत है; और प्रत्येक का विषय क्षेत्र उत्तरोत्तर न्यून होने से इनका परस्पर में पौर्वापर्य सम्वन्ध है। नयद्वार के विवेचन के साथ ही चारों प्रकार के अनुयोगद्वार का वर्णन पूर्ण होता है।

इस प्रकार अनुयोगद्वारसूत्र में वहुत ही महत्त्वपूर्ण जैन पारिभाषिक शब्द-सिद्धान्तों का विवेचन है। उपक्रम-निक्षेप शैली की प्रधानता और साथ ही भेद-प्रभेद की प्रचुरता होने से यह आगम अन्य आगमों से क्लिष्ट है तथापि जैनदर्शन के रहस्य को समझाने के लिए यह अतीव उपयोगी है। जैनआगम की प्राचीन चूर्णि-टीकाओं के प्रारम्भ के भाग को देखते हुए ज्ञात होता है कि समग्र निरूपण में वही पद्धति अपनाई गई है जो अनुयोगद्वार में है। यह सिर्फ श्वेताम्वरसम्मत जैन आगमों की टीकाओं पर ही नहीं लागू होता वरन् दिगम्वरों ने भी यह पद्धति अपनाई है। इसका प्रमाण दिगम्वरसम्मत षट्खण्डागम आदि प्राचीन शास्त्रों की टीका से मिलता है। इससे इसकी प्राचीनता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। अनुयोगद्वार में सांस्कृतिक सामग्री भी प्रचुर मात्रा में है। संगीत के सात स्वर, स्वरस्थान, गायक के लक्षण, ग्राम, मूर्च्छनाएँ, संगीत के गुण और दोष, नवरस, सामुद्रिक लक्षण, १०८ अंगुल के माप वाले, शंखादि चिह्न वाले, मस, तिल आदि व्यंजन वाले उत्तम पुरुष आदि वताये गये हैं। निमित्त के सम्वन्ध में भी प्रकाश डाला हैं, जैसे—आकाशदर्शन और नक्षत्रादि के प्रशस्त होने पर सुवृष्टि और अप्रशस्त होने पर दुर्भिक्ष आदि। इस तरह इसमें सांस्कृतिक व सामाजिक वर्णन भी किया गया है।[८२]

अनुयोगद्वार के रचयिता या संकलनकर्त्ता आर्यरक्षित माने जाते हैं। आर्यरक्षित से पहले यह पद्धति थी कि आचार्य अपने मेधावी शिष्यों को छोटे-वड़े सभी सूत्रों की वाचना देते समय चारों अनुयोगों का वोध करा देते थे। उस वाचना का क्या रूप था? वह आज हमारे समक्ष नहीं है, तथापि इतना कहा जा सकता है कि वे वाचना देते समय प्रत्येक सूत्र पर आचारधर्म, उसके पालनकर्त्ता, उनके साधन-क्षेत्र का विस्तार और नियमग्रहण की कोटि एवं भंग आदि का वर्णन कर सभी अनुयोगों का एक साथ वोध कराते थे। इसी वाचना को अपृथक्त्वानुयोग कहा गया है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है कि जव चरणकरणानुयोग आदि चारों अनुयोगों का प्रत्येक सूत्र पर विचार किया जाय तो वह अपृथक्त्वानुयोग है। अपृथक्त्वानुयोग में विभिन्न नयदृष्टियों का अवतरण किया जाता है और उसमें प्रत्येक सूत्र पर विस्तार से चर्चा की जाती है।[८३]

आर्य वज्रस्वामी तक कालिक आगमों के अनुयोग (वाचना) में अनुयोगों का अपृथक्त्व रूप रहा। उसके पश्चात् आर्यरक्षित ने कालिक श्रुत और दृष्टिवाद के पृथक् अनुयोग की व्यवस्था की।[८४] कारण कि आर्यरक्षित के धर्मशासन में ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी और वादी सभी प्रकार के सन्त थे। उन शिष्यों में पुष्यमित्र के तीन विशिष्ट महामेधावी शिष्य थे। उनमें से एक का नाम दुर्वलिकापुष्यमित्र, दूसरे का घृतपुष्यमित्र और तीसरे का वस्त्रपुष्यमित्र था। घृतपुष्यमित्र और वस्त्रपुष्यमित्र की लव्धि का यह प्रभाव था कि प्रत्येक गृहस्थ के घर से श्रमणों को घृत और वस्त्र सहर्ष उपलब्ध होते थे। दुर्वलिकापुष्यमित्र निरन्तर स्वाध्याय में तल्लीन रहते थे।

---

८२. 'नन्दीसुत्तं अनुयोगदाराइं' की प्रस्तावना। —पृष्ठ ५२ से ७०

८३. अपुहुत्तमेगभावो सुत्तं सुत्तं सुवित्थरं जत्थ।
भन्नंतणुओगा चरणधम्मसंखाणदव्वाण॥ —आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, पृ. ३८३

८४. जावंति अज्जवइरा अपुहुत्तं कालियाणुओगे य।
तेणारेण पुहुत्तं कालियसुय दिट्ठिवाये य॥ —(वही)

आर्यरक्षित के अन्य मुनि, विन्ध्य, फल्गुरक्षित, गोष्ठामाहिल प्रतिभासम्पन्न शिष्य थे। उन्हें जितना सूत्रपाठ आचार्य से प्राप्त होता था उससे उन्हें सन्तोष नहीं होता था, अतः उन्होंने एक पृथक् वाचनाचार्य की व्यवस्था के लिए प्रार्थना की। आचार्य ने दुर्बलिकापुष्यमित्र को इसके लिए नियुक्त किया। कुछ दिनों के पश्चात् दुर्बलिका-पुष्यमित्र ने आचार्य से निवेदन किया कि वाचना देने में समय लग जाने के कारण मैं पठित ज्ञान का पुनरावर्तन नहीं कर पाता, अतः विस्मरण हो रहा है। आचार्य को आश्चर्य हुआ कि इतने मेधावी शिष्य की भी यह स्थिति है। अतः उन्होंने प्रत्येक सूत्र के अनुयोग पृथक्-पृथक् कर दिये। अपरिणामी और अतिपरिणामी शिष्य नय दृष्टि का मूलभाव नहीं समझ कर कहीं कभी एकान्त ज्ञान, एकान्त क्रिया, एकान्त निश्चय अथवा एकान्त व्यवहार को ही उपादेय न मान लें तथा सूक्ष्म विषय में मिथ्याभाव नहीं ग्रहण करें, एतदर्थ नयों का विभाग नहीं किया।[८५]

अनुयोगद्वार का रचना समय वीर निर्वाण संवत् ८२७ से पूर्व माना गया है और कितने ही विद्वान् उसे दूसरी शताब्दी की रचना मानते हैं। आगमप्रभावक पुण्यविजयजी महाराज आदि का यह मन्तव्य है कि अनुयोग का पृथक्करण तो आचार्य आर्यरक्षित ने किया किन्तु अनुयोगद्वारसूत्र की रचना उन्होंने ही की हो ऐसा निश्चित रूप से नहीं कह सकते।

व्याख्या साहित्य

मूल ग्रन्थ के रहस्य का समुद्घाटन करने हेतु अतीतकाल से उस पर व्याख्यात्मक साहित्य लिखा जाता रहा है। व्याख्यात्मक लेखक मूल ग्रन्थ के अभीष्ट अर्थ का विश्लेषण तो करता ही है, साथ ही उस सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र चिन्तन भी प्रस्तुत करता है। प्राचीनतम जैन व्याख्यात्मक साहित्य में आगमिक व्याख्याओं का गौरवपूर्ण स्थान है। उस व्याख्यात्मक साहित्य को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) निर्युक्तियाँ (निज्जुत्ति), (२) भाष्य (भास), (३) चूर्णियाँ (चुण्णि), (४) संस्कृत टीकाएँ और (५) लोक-भाषाओं में रचित व्याख्याएँ।

निर्युक्तियाँ और भाष्य ये जैन आगमों की प्राकृत पद्य-बद्ध टीकाएँ हैं जिनमें विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दों की व्याख्याएँ की गई हैं। इस व्याख्याशैली का दर्शन हमें अनुयोगद्वारसूत्र में होता है। पर अनुयोगद्वार पर न निर्युक्ति लिखी गई है और न कोई भाष्य ही लिखा गया है। अनुयोगद्वार पर सबसे प्राचीन व्याख्या चूर्णि है। चूर्णियाँ प्राकृत अथवा संस्कृतमिश्रित प्राकृत में लिखी गई व्याख्याएँ हैं। गद्यात्मक होने के कारण चूर्णियों में भावनाभिव्यक्ति निर्बाध गति से हो पाई है। वह भाष्य और निर्युक्ति की अपेक्षा अधिक विस्तृत और चतुर्मुखी ज्ञान का स्रोत है। अनुयोगद्वार पर दो चूर्णियाँ उपलब्ध हैं। एक चूर्णि के रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं, जो केवल अंगुल पद पर है। दूसरी अनुयोगद्वारचूर्णि के रचयिता जिनदासगणिमहत्तर हैं वे संस्कृत और प्राकृत के अधिकारी विज्ञ थे। इनके गुरु का नाम गोपालगणि था, जो वाणिज्यकुलकोटिक गण और वज्रशाखा के

---

८५. (क) आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, पृष्ठ ३९९
(ख) प्रभावकचरित्र २४०-२४३, पृष्ठ १७
(ग) ऋषिमण्डल स्तोत्र २१०

विद्वान् थे[८६] और उनके विद्यागुरु प्रद्युम्नक्षमाश्रमण थे।[८७] उनके पिता का नाम नाग था[८८] और माता का नाम गोपा था।[८९]

जिनदासमहत्तर के जीवन के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। नन्दीचूर्णि के अन्त में उन्होंने जो अपना परिचय दिया है, वह बहुत ही अस्पष्ट है।[९०] उत्तराध्ययनचूर्णि में उन्होंने अपने गुरु के नाम का एवं कुल, गण और शाखा का उल्लेख किया है, पर स्वयं के नाम का उल्लेख नहीं किया।[९१] निशीथचूर्णि के प्रारम्भ में उन्होंने प्रद्युम्न क्षमाश्रमण का विद्यागुरु के रूप में उल्लेख किया है। निशीथचूर्णि के अन्त में उन्होंने अपना परिचय रहस्य शैली में दिया है। वे लिखते हैं, अकारादि स्वरप्रधान वर्णमाला को एक वर्ग मानने पर अवर्ग से सवर्ग तक आठ वर्ग बनते हैं। प्रस्तुत क्रम से तृतीय 'च' वर्ग का तृतीय अक्षर 'ज', चतुर्थ 'ट' वर्ग का पंचम अक्षर 'ण', पंचम 'त' वर्ग का तृतीय अक्षर 'द', अष्टम वर्ग का तृतीय अक्षर 'स' तथा प्रथम 'अ' वर्ग की मात्रा 'इकार' द्वितीय मात्रा 'आकार' को क्रमशः 'ज' और 'द' के साथ मिला देने पर जो नाम होता है, उसी नाम को धारण करने वाले व्यक्ति ने प्रस्तुत चूर्णि का निर्माण किया है।[९२]

अनुयोगद्वारचूर्णि के रचयिता जिनदासगणिमहत्तर ही हैं। उनका समय विक्रम संवत् ६५० से ७५० के मध्य है। क्योंकि नन्दीचूर्णि की रचना वि. सं. ७३३ में हुई है।

अनुयोगद्वारचूर्णि मूल सूत्र का अनुसरण करते हुए लिखी गई है। इस चूर्णि में प्राकृत भाषा का ही मुख्य रूप से प्रयोग हुआ है। संस्कृत भाषा का प्रयोग अति अल्प मात्रा में हुआ है। इसमें आराम, उद्यान, शिविका प्रभृति शब्दों की व्याख्या है। प्रारम्भ में मंगल के सम्बन्ध में भावनन्दी का स्वरूपविश्लेषण करते हुए ज्ञान के

---

८६. वाणिजकुलसंभूतो कोडियगणितो य वज्जसाहीतो।
गोवालियमहत्तरओ विक्खातो आसि लोगम्मि॥
ससमय-परसमयविऊ ओयस्सी देहिगं सुगंभीरो।
सीसगणसंपरिवुडो वक्खाणरतिप्पियो आसी॥
तेसिं सीसेण इमं उत्तज्झयणाण चुण्णिरखंडं तु।
रइयं अणुग्गहत्थं सीसाणं मंदवुद्धीणं॥ —उत्तराध्ययनचूर्णि-१-२, ३, गाथा

८७. सविसेसायरजुत्तं काउ पणामं च अत्थदायिस्स।
पज्जुण्णखमासमणस्स चरण-करणाणुपालस्स॥ —निशीथविशेषचूर्णि, पीठिका २

८८. संकरजडमउडविभूसणस्स तण्णामसरिसणामस्स।
तस्स सुतेणेस कता विसेसचुण्णी णिसीहस्स॥ —निशीथविशेषचूर्णि, उद्देशक १३

८९. रविकरमभिधाणक्खरसत्तमवग्गंत-अक्खरजुएणं।
णामं जस्सित्थिए सुतेण तिसे कया चुण्णी॥ —निशीथविशेषचूर्णि, उद्देशक १५

९०. णि रे ण ग म त्त ण ह स दा जि या पसुपतिसंखगजट्ठिताकुला।
कमट्ठिता धीमतचिंतियक्खरा फुडं कहेयंतऽभिधाण कत्तुणो॥ —नन्दीचूर्णि १

९१. उत्तराध्ययनचूर्णि १, २, ३

९२. ति चउ पण अट्ठमवग्गे ति तिग अक्खरा व तेसिं।
पढमततिएही तिदुसरजुएही णामं कयं जस्स॥ —निशीथचूर्णि

यद्यपि सचित्तद्रव्यस्कन्ध की सिद्धि हयस्कन्ध आदि में से किसी एक उदाहरण से हो सकती थी तथापि आत्माद्वैतवाद का निराकरण करने एवं जीवों के भिन्न-भिन्न स्वरूप तथा उनकी अनेकता बताने के लिये उदाहरण रूप में हय आदि पृथक्-पृथक् जीवों के नाम दिये हैं। अद्वैतवाद को स्वीकार करने पर भेदव्यवहार नहीं बनता है।

अचित्तद्रव्यस्कन्ध

६३. से किं तं अचित्तदव्वखंधे ?

अचित्तदव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—दुपएसिए खंधे तिपएसिए खंधे जाव दसपएसिए खंधे संखेज्जपएसिए खंधे असंखेज्जपएसिए खंधे अणंतपएसिए खंधे। से तं अचित्तदव्वखंधे।

[६३ प्र.] भगवन्! अचित्तद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप क्या है?

[६३ उ.] आयुष्मन्! अचित्तद्रव्यस्कन्ध अनेक प्रकार का प्ररूपित किया है। वह इस तरह—द्विप्रदेशिक स्कन्ध, त्रिप्रदेशिक स्कन्ध यावत् दसप्रदेशिक स्कन्ध, संख्यातप्रदेशिक स्कन्ध, असंख्यातप्रदेशिक स्कन्ध, अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध। यह अचित्तद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप है।

विवेचन—यहाँ सूत्रकार ने अचित्तद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप बताया है। दो प्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक जो और जितने भी पुद्गलस्कन्ध हैं वे सब अचित्तद्रव्यस्कन्ध हैं। प्रकृष्ट: (पुद्गलास्तिकाय—) देश: प्रदेश:, इस व्युत्पत्ति के अनुसार सबसे अल्प परिमाण वाले पुद्गलास्तिकाय का नाम प्रदेश-परमाणु है। दो आदि अनेक परमाणुओं के मेल से बनने वाले स्कन्धों का मूल परमाणु है। परमाणु में अस्तिकायता इसलिये है कि वह स्कन्धों का उत्पादक है।

मिश्रद्रव्यस्कन्ध

६४. से किं तं मीसदव्वखंधे ?

मीसदव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—सेणाए अग्गिमखंधे सेणाए मज्झिमखंधे सेणाए पच्छिमखंधे। से तं मीसदव्वखंधे।

[६४ प्र.] भगवन्! मिश्रद्रव्यस्कन्ध का क्या स्वरूप है?

[६४ उ.] आयुष्मन्! मिश्रद्रव्यस्कन्ध अनेक प्रकार का कहा है। यथा—सेना का अग्रिम स्कन्ध, सेना का मध्य स्कन्ध, सेना का अंतिम स्कन्ध। यह मिश्रद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्रकार ने मिश्रद्रव्यस्कन्ध के उदाहरण के रूप में सेना का उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि सेना सचेतन और अचेतन इन दोनों का मिश्रण (संयोग) रूप अवस्था है। हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि सचेतन तथा तलवार, धनुष, कवच, भाला आदि अचेतन वस्तुओं के समुदाय का नाम सेना है। इसीलिये इसे मिश्रद्रव्यस्कन्ध कहा है।

ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यस्कन्ध का प्रकारान्तर से प्ररूपण

६५. अहवा जाणगसरीरभवियसरीरवतिरित्ते दव्वखंधे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—कसिणखंधे १ अकसिणखंधे २ अणेगदवियखंधे ३।

अनुयोगद्वार पर दूसरी वृत्ति मलधारी आचार्य हेमचन्द्र की है। आचार्य हेमचन्द्र महान् प्रतिभा-सम्पन्न और आगमों के समर्थ ज्ञाता थे। यह वृत्ति सूत्रस्पर्शी है। सूत्र के गुरु गम्भीर रहस्यों को इसमें प्रकट किया गया है। वृत्ति के प्रारम्भ में श्रमण भगवान् महावीर को, गणधर गौतम प्रभृति आचार्यवर्ग को एवं श्रुत देवता को नमस्कार किया गया है।

वृत्तिकार ने इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि प्राचीन मेधावी आचार्यों ने चूर्णि व टीकाओं का निर्माण किया है। उनमें उन आचार्यों का प्रकाण्ड पाण्डित्य झलक रहा है। तथापि मैंने मन्दबुद्धि व्यक्तियों के लिए इस पर वृत्ति लिखी है। यह वृत्ति ग्रन्थकार की प्रौढ रचना है। कृति के अध्ययन से ग्रन्थकार की गहन अध्ययन-शीलता का अनुभव होता है। आगम के मर्मस्पर्शी विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्य आगम के एक मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनकी प्रस्तुत वृत्ति अनुयोगद्वार की गहनता को समझाने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। आचार्य हरिभद्र की टीका अत्यन्त संक्षिप्त थी और वह मुख्य रूप से प्राकृत चूर्णि का ही अनुवाद थी। आचार्य हेमचन्द्र ने सुविस्तृत टीका लिखकर पाठकों के लिए अनुयोगद्वार को सरल और सुग्राह्य बना दिया है। वृत्ति में यत्र-तत्र अन्य ग्रन्थों के श्लोक उद्‌धृत किए गये हैं। वृत्ति का ग्रन्थमान ५९०० श्लोक प्रमाण है। पर वृत्ति में रचना के समय का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।

संस्कृत टीका युग के पश्चात् लोक भाषाओं में बालावबोध की रचनाएँ प्रारम्भ हुईं, क्योंकि टीकाओं में दार्शनिक विषयों की चर्चाएँ चरम सीमा पर पहुँच गई थीं। जनसाधारण उन विषयों को सहज रूप से नहीं समझ सकता था, अतः जनहित की दृष्टि से आगमों के शब्दार्थ करने वाले संक्षिप्त लोकभाषाओं में टब्बाओं का निर्माण किया। स्थानकवासी आचार्य मुनि धर्मसिंहजी ने विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में सत्ताईस आगमों पर बालाव-बोध टब्बे लिखे। टब्बे मूलस्पर्शी अर्थ को स्पर्श करते हैं। सामान्य व्यक्तियों के लिए ये बहुत ही उपयोगी है। अनुयोगद्वार पर भी एक टब्बा लिखा हुआ है।

टब्बा के पश्चात् आगमों का अनुवादयुग प्रारम्भ हुआ। आचार्य अमोलक ऋषिजी म. ने स्थानकवासी परम्परामान्य बत्तीस आगमों का हिन्दी अनुवाद किया। उसमें अनुयोगद्वार भी एक है। यह अनुवाद सामान्य पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। श्रमण संघ के प्रथम आचार्य आत्मारामजी म. ने आगमों के रहस्यों को समुद्‌घाटित करने हेतु अनेक आगमों पर हिन्दी में व्याख्याएँ लिखीं। वे व्याख्याएँ सरल, सरस और सुगम हैं। उन्होंने अनुयोगद्वार पर भी संक्षिप्त में विवेचन लिखा।

स्थानकवासी परम्परा के आचार्य घासीलालजी म. ने संस्कृत में विस्तृत टीकाएँ लिखी। उन टीकाओं का हिन्दी और गुजराती में अनुवाद भी किया। प्रायः उनके रचित बत्तीस आगमों की टीकाएँ मुद्रित हो चुकी हैं। लेखक ने अनेक ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये हैं।

इस प्रकार अनुयोगद्वारसूत्र पर अनेक मूर्धन्य मनीषियों ने कार्य किया है। जब प्रकाशनयुग प्रारम्भ हुआ तब सर्वप्रथम सन् १८८० में अनुयोगद्वारसूत्र मलधारी हेमचन्द्रकृत वृत्ति सहित रायबहादुर धनपतसिंह कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। उसके पश्चात् सन् १९१५-१६ में वही आगम देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बम्बई से प्रका-शित हुआ है। पुनः सन् १९२४ में आगमोदय समिति बम्बई से वह वृत्ति प्रकाशित हुई और सन् १९३९-१९४० में केसरबाई ज्ञान मन्दिर पाटन से यह वृत्ति प्रकाशित हुई।

सन् १९२८ में अनुयोगद्वार हरिभद्रकृत वृत्ति सहित ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था रतलाम से प्रकाशित हुआ।

वीर संवत् २४४६ में सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जौहरी हैदराबाद ने अनुयोगद्वार, आचार्य अमोलक ऋषिजी द्वारा किये गये हिन्दी अनुवाद को प्रकाशित किया।

सन् १९३१ में श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस बम्बई ने उपाध्याय आत्मारामजी म. कृत हिन्दी अनुवाद का पूर्वार्ध प्रकाशित किया और उसका उत्तरार्ध मुरारीलाल चरणदास जैन पटियाला ने प्रकाशित किया।

अनुयोगद्वारसूत्र का मूलपाठ अनेक स्थलों से प्रकाशित हुआ है, पर महावीर विद्यालय बम्बई का संस्करण अपनी शानी का है। शुद्ध मूलपाठ के साथ ही प्राचीनतम प्रतियों के आधार से महत्त्वपूर्ण टिप्पण भी दिये हैं और आगमप्रभावक पुण्यविजयजी म. की महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना भी है।

प्रस्तुत आगम

स्वर्गीय सन्तरत्न युवाचार्य मधुकर मुनिजी महाराज ने आगम बत्तीसी के प्रकाशन का दायित्व वहन किया और उनकी प्रबल प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर अनेक मूर्धन्य मनीषियों ने आगम सम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया। विविध मनीषियों के पुरुषार्थ से स्वल्प समय में अनेक आगम प्रकाशित होकर प्रबुद्ध पाठकों के हाथों में पहुँचे। प्रायः शुद्ध मूलपाठ, अर्थ और संक्षिप्त विवेचन के कारण यह संस्करण अत्यधिक लोकप्रिय हुआ है।

प्रस्तुत जिनागम ग्रन्थमाला के अन्तर्गत अनुयोगद्वारसूत्र का शानदार प्रकाशन होने जा रहा है। पूर्व परम्परा की तरह इसमें भी शुद्ध मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद और विवेचन किया गया है। इस आगम के सम्पादक और विवेचक हैं उपाध्याय श्री केवलमुनिजी महाराज। आप ज्योतिपुरुष जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज के शिष्यरत्न हैं। आप प्रसिद्ध प्रवचनकार, संगीतकार, कहानीकार, उपन्यासकार और निबन्धकार हैं। आपकी तीन दर्जन से अधिक पुस्तकें विविध विधाओं में प्रकाशित हुई हैं और वे अत्यधिक लोकप्रिय भी हुई हैं। आपश्री जीवन के उषाकाल में गीतकार रहे, शताधिक सरस-सरल भजनों का निर्माण कर जन-जन के प्रिय बने। उसके पश्चात् विविध विषयों पर कहानियाँ लिखीं, कहानियों के माध्यम से उन्होंने जन-जीवन में सुख और शान्ति का सरसब्ज बाग किस प्रकार लहलहा सकता है, इस पर प्रकाश डाला। उसके पश्चात् उनकी लेखनी उपन्यास की विधा की ओर मुड़ी। पौराणिक-ऐतिहासिक-धार्मिक कथाओं को उन्होंने उपन्यास विधा में प्रस्तुत कर जनमानस का ध्यान जैनसाहित्य को पढ़ने के लिए उत्प्रेरित किया। साथ ही उन्होंने ललित शैली में निबन्ध लिखकर अपनी उत्कृष्ट साहित्यिक रुचि का परिचय दिया।

अनुयोगद्वार जैनआगम साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है जैसा कि हम पूर्व पंक्तियों में बता चुके हैं। अनुयोगद्वार का सम्पादन करना बहुत ही कठिन है। किन्तु उपाध्याय श्रीजी ने सुन्दर सम्पादन कर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। यह सम्पादन अपने-आप में अनूठा है। जिज्ञासु पाठकों के लिए अनुयोग-द्वार का यह सुन्दर संस्करण अति उपयोगी सिद्ध होगा। सम्पादनकला विशारद पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से परिमार्जन कर सोने में सुगन्ध का कार्य किया है।

मैं प्रस्तुत आगम पर बहुत ही विस्तार से प्रस्तावना लिखना चाहता था, पर पूना सन्त सम्मेलन होने के कारण पाली से पूना पहुँचना बहुत ही आवश्यक था। निरन्तर विहार यात्रा चलने के कारण तथा सम्मेलन के भीड़-भरे वातावरण में भी लिखना सम्भव नहीं था। सम्मेलन में महामहिम राष्ट्रसंत आचार्यसम्राट् श्री आनन्द ऋषिजी महाराज ने मुझे संघ का उत्तरदायित्व प्रदान किया, इसलिए समयाभाव रहना स्वाभाविक था। उधर प्रस्तावना के लिए निरन्तर आग्रह आता रहा कि लघु प्रस्तावना भी लिखकर भेज दें। समयाभाव के कारण संक्षेप

में ही कुछ लिख गया हूँ। यदि कभी समय मिल गया तो विस्तार से अनुयोगद्वार पर लिखने की भावना रखता हूँ। परम श्रद्धेय सद्‌गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज का मैं किन शब्दों में आभार व्यक्त करूँ। उनकी अपार कृपा सदा मुझ पर रही है। प्रस्तुत प्रस्तावना लिखने में भी उनका पथ-प्रदर्शन मेरे लिए सम्बल रूप में रहा है। अन्त में मैं आशा करता हूँ कि प्रबुद्ध पाठकगण प्रस्तुत आगम का स्वाध्याय कर अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करेंगे और जीवन को पावन-पवित्र बनायेंगे।

—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

श्री तिलोकरत्न स्था.
जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड
आचार्य आनन्द ऋषिजी महाराज मार्ग
अहमदनगर (महाराष्ट्र)

आचार्यसम्राट् जयन्ती—२६ जुलाई, १९८७

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

कार्यकारिणी समिति

क्रम	नाम	पद	स्थान
१.	श्रीमान् सेठ कंवरलालजी बैताला	अध्यक्ष	गोहाटी
२.	श्रीमान् सेठ रतनचन्दजी मोदी	कार्यवाहक अध्यक्ष	ब्यावर
३.	श्रीमान् सेठ खींवराजजी चोरड़िया	उपाध्यक्ष	मद्रास
४.	श्रीमान् धनराजजी विनायकिया	उपाध्यक्ष	ब्यावर
५.	श्रीमान् हुक्मीचन्दजी पारख	उपाध्यक्ष	जोधपुर
६.	श्रीमान् पारसमलजी चोरड़िया	उपाध्यक्ष	मद्रास
७.	श्रीमान् जसराजजी पारख	उपाध्यक्ष	दुर्ग
८.	श्रीमान् जी. सायरमलजी चोरड़िया	महामंत्री	मद्रास
९.	श्रीमान् चाँदमलजी विनायकिया	मन्त्री	ब्यावर
१०.	श्रीमान् ज्ञानराजजी मूथा	सहमन्त्री	पाली
११.	श्रीमान् अमरचन्दजी मोदी	सहमंत्री	ब्यावर
१२	श्रीमान् जंवरीलालजी शीशोदिया	कोषाध्यक्ष	ब्यावर
१३.	श्रीमान् अमरचन्दजी बोथरा	कोषाध्यक्ष	मद्रास
१४.	श्रीमान् बादलचन्दजी मेहता	सदस्य	इन्दौर
१५.	श्रीमान् दुलीचन्दजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
१६.	श्रीमान् एस. बादलचन्दजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
१७.	श्रीमान् मोहनसिंहजी लोढा	सदस्य	ब्यावर
१८.	श्रीमान् मांगीलालजी सुराणा	सदस्य	सिकन्दराबाद
१९.	श्रीमान् भंवरलालजी श्रीश्रीमाल	सदस्य	दुर्ग
२०.	श्रीमान् चाँदमलजी चौपड़ा	सदस्य	ब्यावर
२१.	श्रीमान् चन्दनमलजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
२२.	श्रीमान् मूलचन्दजी सुराणा	सदस्य	नागौर
२३.	श्रीमान् आसूलालजी बोहरा	सदस्य	महामन्दिर, जोधपुर
२४.	श्रीमान् सुमेरमलजी मेड़तिया	सदस्य	जोधपुर
२५.	श्रीमान् जालमसिंहजी मेड़तवाल	परामर्शदाता	ब्यावर
२६.	श्रीमान् प्रकाशचन्दजी जैन	परामर्शदाता	नागौर

सिरिअज्जरक्खियथेरविरइयं

अणुओगद्दारसुत्तं

श्रीआर्यरक्षितस्थविरविरचित

अनुयोगद्वारसूत्र

अनुयोगद्वारसूत्र

मंगलाचरण

१. नाणं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा—आभिणिबोहियणाणं १. सुयणाणं २. ओहिणाणं ३. मणपज्जवणाणं ४. केवलणाणं ५।

[१] ज्ञान के पांच प्रकार (भेद) कहे हैं। वे इस प्रकार—१ आभिनिबोधिकज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मनःपर्यवज्ञान, ५ केवलज्ञान।

विवेचन—यह मंगलाचरणात्मक सूत्र है। शास्त्र के स्वयं मंगलरूप होने पर भी सूत्रकार ने शिष्ट पुरुषों की आचार-व्यवहार-परंपरा का परिपालन करने के लिये, शास्त्र की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये, शिष्यों को शास्त्र के विषयभूत अर्थज्ञान की प्राप्ति की दृढ़ प्रतीति कराने के लिये शास्त्र की आदि में मंगलसूत्र का निर्देश किया है।

ज्ञान की मंगलरूपता कैसे ? सर्व ज्ञेय पदार्थों का ज्ञाता, विघ्नों का उपशमक, कर्म की निर्जरा का हेतु, निज-आनन्द का प्रदाता और आत्मगुणों का बोधक होने से ज्ञान मंगलरूप है। इसीलिये सूत्रकार की मंगलरूपता का बोध कराने के लिये ज्ञान के वर्णन से शास्त्र को प्रारम्भ किया है।

ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति—भावसाधन, करणसाधन, अधिकरणसाधन और कर्तृसाधन इन चार प्रकारों से ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति संभव है—

'ज्ञातिः ज्ञानम्'- अर्थात् जानना ज्ञान है। यह भावसाधन ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है। अर्थात् जानने रूप क्रिया को ज्ञान कहते हैं। 'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्' यह ज्ञान शब्द की करण-साधन व्युत्पत्ति है, अर्थात् आत्मा जिसके द्वारा पदार्थों को जानता है, वह ज्ञान है। इस व्युत्पत्ति द्वारा ज्ञानावरणकर्म का क्षय अथवा क्षयोपशम लक्षित होता है। क्योंकि इनके होने पर ही आत्मा में ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। इसलिये ज्ञानावरणकर्म का क्षय और क्षयोपशम ज्ञान रूप होने के कारण अभेद संबंध से ज्ञानरूप ही है, जो पदार्थों को जानने में साधकतम है। 'ज्ञायते अस्मिन्निति ज्ञानमात्मा' पदार्थ जिसमें जाने जायें वह ज्ञान है—यह अधिकरणमूलक व्युत्पत्ति है। इसके द्वारा आत्मा ज्ञान रूप प्रतीत होता है। यहाँ परिणाम (ज्ञान) और परिणामी (आत्मा) का अभेद होने के कारण आत्मा को ज्ञान रूप मान लिया गया है। क्योंकि ज्ञानावरणकर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से विशिष्ट आत्मा का परिणाम ज्ञान है और आत्मा उस परिणाम वाला है। अथवा ज्ञान गुण है और आत्मा उस गुण का आधार होने से गुणवान्-गुणी है। 'जानातीति ज्ञानम्' इस कर्तृसाधन व्युत्पत्ति से यह अर्थ लभ्य है कि आत्मा जानने की क्रिया का कर्त्ता है। इसलिये क्रिया और कर्त्ता में अभेदोपचार होने से ज्ञान का 'आत्मा' यह व्यपदेश होता है।

उक्त समग्र कथन का सारांश यह हुआ कि जिसके द्वारा वस्तुओं का स्वरूप जाना जाये, अथवा जो निज स्वरूप का प्रकाशक है, अथवा जो ज्ञानावरणकर्म के क्षय या क्षयोपशम के निमित्त से उत्पन्न होता है, वह ज्ञान है।

ज्ञान की पंचप्रकारता का कारण—ज्ञान के पांच प्रकार—भेद अर्थापेक्षया तीर्थंकरों ने और सूत्र की अपेक्षा गणधरों ने प्ररूपित किये हैं। यह संकेत 'पण्णत्तं-प्रज्ञप्तं' शब्द द्वारा किया गया है।[1] अथवा 'पण्णत्तं' शब्द की संस्कृतछाया प्राज्ञाप्तं भी होने से यह अर्थ हुआ कि ज्ञान की पंच-प्रकारता का बोध गणधरों ने प्राज्ञों—तीर्थंकर भगवन्तों से आप्त—प्राप्त किया है। अथवा 'पण्णत्तं' पद की संस्कृतछाया प्राज्ञात्तं भी होती है। अतएव इस पक्ष में प्राज्ञों—गणधरों द्वारा आत्तं—तीर्थंकरों से ग्रहण किया है, यह अर्थ हुआ। अथवा 'प्रज्ञाप्तं' यह संस्कृत छाया होने पर यह अर्थ हुआ कि भव्य जीवों ने स्वप्रज्ञा-बुद्धि से ज्ञान की पंचप्रकारता का बोध आप्तं—प्राप्त किया है।

सारांश यह कि सूत्रकार ने 'पण्णत्तं' शब्द प्रयोग द्वारा अपनी लघुता प्रकट करते हुए यह स्पष्ट किया है कि स्वबुद्धि या कल्पना से यह कथन नहीं करता हूँ, प्रत्युत तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा निरूपित आशय को ही यहाँ स्पष्ट कर रहा हूँ।[2]

ज्ञान के पांच भेदों के लक्षण—क्रमशः इस प्रकार हैं—

आभिनिबोधिकज्ञान—योग्य देश में अवस्थित वस्तु को मन और इन्द्रियों की सहायता से जानने वाले बोध—ज्ञान को आभिनिबोधिकज्ञान कहते हैं। यह अर्थ अभि-नि-बोध इन शब्दों से प्रकट होता है। इस आभिनिबोधिकज्ञान का अपर नाम मतिज्ञान भी है।

यहाँ ज्ञान शब्द सामान्य ज्ञान का तथा अभिनिबोध शब्द इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले विशिष्ट ज्ञान का बोधक है। अतः 'आभिनिबोधिकं च तज्ज्ञानं च आभिनिबोधिकज्ञानं' इस तरह इन दोनों—सामान्य-विशेष—ज्ञानों में समानाधिकरणता है।

श्रुतज्ञान—बोले गये शब्द द्वारा अर्थग्रहण रूप उपलब्धिविशेष को श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुत अर्थात् शब्द। कारण में कार्य का उपचार करने से शब्द को भी श्रुतज्ञान कहते हैं। क्योंकि शब्द श्रोता को अभिलषित अर्थ का ज्ञान कराने में कारण है। यह ज्ञान भी मन और इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होता है, फिर भी इसकी उत्पत्ति में इन्द्रियों की अपेक्षा मन की मुख्यता होने से इसे मन का विषय माना गया है।[3]

अवधिज्ञान—'अवधानमवधिः इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणम्, अवधिरेव ज्ञानमवधि-ज्ञानम्'—अर्थात् इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा द्वारा होने वाले अर्थग्रहण को अवधि कहते हैं और अवधिरूप जो ज्ञान वह अवधिज्ञान कहलाता है। अथवा अवधि शब्द

---

१. अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं। —आव. निर्युक्ति, गाथा ९२

२. 'पण्णत्तंति' प्रज्ञप्तमर्थतस्तीर्थंकरैः सूत्रतो गणधरैः प्ररूपितमित्यर्थः।
अनेन सूत्रकृता आत्मनः स्वमनीषिकापरिहृता भवति। —अनु. सूत्रवृत्ति, पृष्ठ १

३. श्रुतमनिन्द्रियस्य। —तत्त्वार्थसूत्र २।२२

का अर्थ मर्यादा है और रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष करना अरूपी को नहीं, यही इसकी मर्यादा-अवधि है। अतएव जो ज्ञान मर्यादा सहित-रूपी पदार्थों को जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

मनःपर्यवज्ञान—मनः-परि-अव इन तीन शब्दों से निष्पन्न 'मनःपर्यव' शब्द है। संज्ञी जीवों द्वारा काययोग से गृहीत और मन रूप से परिणामित मनोवर्गणा के पुद्‌गलों को मन कहते हैं। 'परि' का अर्थ है सर्व प्रकार से और 'अव्' धातु रक्षण, गति, कांति, प्रीति, तृप्ति और अवगम (बोध) अर्थ में प्रयुक्त होती है। उक्त अर्थों में से यहाँ अवगम अर्थ में अव् धातु का प्रयोग हुआ है। अतएव संज्ञी जीवों द्वारा किए जाने वाले चिन्तन के अनुरूप मन के परिणामों को सर्व प्रकार से अवगम करना—जानना मनःपर्यवज्ञान कहलाता है।

केवलज्ञान—संपूर्ण ज्ञेय पदार्थों को (उनकी त्रिकालवर्ती गुण-पर्यायों सहित) विषय करने वाले, जानने वाले ज्ञान को केवल[१] ज्ञान कहते हैं।

पांच ज्ञानों का क्रम—केवलज्ञान के अतिरिक्त शेष मतिज्ञान आदि चार ज्ञानों के अनेक अवान्तर भेद हैं, जिन्हें जिज्ञासु जन नन्दीसूत्र आदि से जान लेवें। प्रासंगिक होने से पांच ज्ञानों के क्रमविन्यास का कारण स्पष्ट किया जाता है।

सर्वप्रथम मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का निर्देश करने का कारण यह है कि ये दोनों ज्ञान सम्यक् अथवा मिथ्या रूप में, न्यूनाधिक मात्रा में, समस्त संसारी जीवों में सदैव रहते हैं। इन दोनों ज्ञानों के होने पर ही शेष ज्ञान होते हैं। इसीलिये इन दोनों का सर्वप्रथम निर्देश किया है और दोनों में भी पहले मतिज्ञान के उल्लेख का कारण यह है कि मतिज्ञान पूर्वक ही श्रुतज्ञान[२] होता है।

मति और श्रुत ज्ञान के अनन्तर अवधिज्ञान कहने का कारण यह है कि इन दोनों के साथ अवधिज्ञान की कई बातों में समानता है। यथा—जैसे मिथ्यात्व के उदय से मति और श्रुत ज्ञान मिथ्यारूप में परिणत होते हैं, उसी प्रकार अवधिज्ञान भी मिथ्यारूप में परिणत हो जाता है[३] तथा जब कोई विभंगज्ञानी सम्यग्दृष्टि होता है, तब तीनों ज्ञान एक साथ सम्यक् रूप में परिणत होते हैं। मति एवं श्रुत ज्ञान की लब्धि की अपेक्षा छियासठ सागरोपम से कुछ अधिक स्थिति है, अवधिज्ञान की भी उतनी ही स्थिति है।

अवधिज्ञान के अनन्तर मनःपर्यवज्ञान का निर्देश करने का कारण यह है कि दोनों में प्रत्यक्षत्व आदि की समानता है। जैसे अवधिज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है, विकल है, क्षयोपशमजन्य है एवं रूपी पदार्थ इसका विषय है, उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञान भी है।

केवलज्ञान सबसे अंत में प्राप्त होता है, अतएव उसका निर्देश सबसे अंत में किया है।

इन पांच ज्ञानों में आदि के चार ज्ञान क्षायोपशमिक और अंतिम केवलज्ञान ज्ञानावरणकर्म के सर्वथा क्षय से आविर्भूत होने के कारण क्षायिकभाव रूप है।

---

१. केवल शब्द के एक, शुद्ध, सकल, असाधारण, अनन्त और निरावरण भी अर्थ होते हैं। इसका अर्थ ग्रन्थान्तरों से ज्ञात करें।

२. श्रुतं मतिपूर्वं ....। —तत्त्वार्थसूत्र १।२०

३. मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च। —तत्त्वार्थसूत्र १।३२

मतिज्ञानादि पांच ज्ञानों में से एक साथ एक जीव में अधिक से अधिक चार ज्ञान लब्धि की अपेक्षा से हो सकते हैं। यदि एक ज्ञान हो तो मात्र केवलज्ञान होगा। क्योंकि यह क्षायिक ज्ञान है, अतः इसके साथ मतिज्ञान आदि चार क्षायोपशमिक ज्ञानों का सद्भाव नहीं पाया जाता है। दो होने पर मति और श्रुत ज्ञान होंगे। क्योंकि ये दोनों ज्ञान सामान्यतया सभी संसारी जीवों में पाये जाते हैं। तीन होने पर मति, श्रुत और अवधि अथवा मति, श्रुत और मनःपर्यव यह तीन ज्ञान पाये जाते हैं और चारों हों तो मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव ये चारों ज्ञान संभव हैं। उपयोग की दृष्टि से एक समय में एक ही ज्ञान होता है।

अभिधेयनिर्देश

२. तत्थ चत्तारि णाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं, णो उद्दिस्संति णो समुद्दिस्संति णो अणुण्णविज्जंति, सुयणाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ।

[२] इन (पांच प्रकार के) ज्ञानों में से चार ज्ञान (मति, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान) व्यवहार योग्य न होने से स्थाप्य हैं, स्थापनीय हैं। क्योंकि ये चारों ज्ञान (गुरु द्वारा शिष्यों को) उपदिष्ट नहीं होते हैं, समुपदिष्ट नहीं होते हैं और न इनकी आज्ञा दी जाती है। किन्तु श्रुतज्ञान का उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग होता है।

विवेचन—सूत्र में श्रुतज्ञान को अभिधेय कोटि में ग्रहण करने और शेष चार ज्ञानों को ग्रहण न करने के कारण को स्पष्ट किया है कि यद्यपि श्रुतज्ञान के अतिरिक्त शेप मतिज्ञान आदि चारों ज्ञान भी पदार्थबोध के हेतु हैं, परन्तु श्रुतज्ञान की तरह इनमें शब्दव्यवहार की प्रवृत्ति का अभाव होने से ये अपने स्वरूप, अनुभव एवं पदार्थ के स्वरूप को व्यक्त नहीं कर पाते हैं। श्रुतज्ञान का आश्रय लिये विना वे अपने विषयभूत हेयोपादेय विषय से न तो साक्षात् रूप में निवृत्त कराते हैं और न उसमें प्रवृत्त कराते हैं। इसीलिये उक्त चार ज्ञानों को यहाँ विचारकोटि में ग्रहणयोग्य नहीं माना है। जो लोकोपकार में प्रवृत्त होता है, वह संव्यवहार्य है, लेकिन मत्यादि चार ज्ञानों की स्थिति वैसी नहीं है।

मत्यादि चार ज्ञानों के असंव्यवहार्य होने से इनका उद्देश, समुद्देश नहीं होता और न अनुज्ञा-आज्ञा होती है। ये चारों ज्ञान अपने-अपने आवरणीय कर्म के क्षयोपशम एवं क्षय से स्वतः ही आविर्भूत हो जाया करते हैं। अपनी आविर्भूति-उत्पत्ति में उद्देश, समुद्देश आदि की अपेक्षा नहीं रखते हैं।

श्रुतज्ञान के उद्देश आदि होने का कारण—प्रायः लोक की हेयोपादेय अर्थ में प्रवृत्ति-निवृत्ति श्रुतज्ञान के द्वारा देखने में आती है तथा केवलज्ञानादि द्वारा जाने गये अर्थ की प्ररूपणा श्रुतज्ञान (शब्द) द्वारा की जाती है। इसीलिये उसे संव्यवहार्य-लोकव्यवहार का कारण होने से, गुरुपदेश से उसकी प्राप्ति होने से, गुरु द्वारा शिष्यों को प्रदान किये जाने से और स्वपर-स्वरूप का प्रतिपादन करने में समर्थ होने से श्रुतज्ञान का उद्देश, समुद्देश और अनुज्ञा आदि किया जाना संभव है और जिसके उद्देश आदि होते हैं, उसमें अनुयोग, उपक्रम आदि अनुयोगद्वारों की प्रवृत्ति होती है। सारांश यह हुआ कि श्रुतज्ञान के अतिरिक्त शेष चार ज्ञान आदान-प्रदान करने योग्य नहीं हैं, परोपकारी नहीं हैं, अपितु जिस आत्मा को जो ज्ञान होता है वही उसका अनुभव करता है, अन्य नहीं।

किन्तु श्रुतज्ञान परोपकारी है इसीलिये श्रुतज्ञान के उद्देश आदि होते हैं और चारों ज्ञानों का स्वरूप-वर्णन भी श्रुतज्ञान द्वारा किया जाता है।

विशिष्ट शब्दों के अर्थ—ठप्पाइं—स्थाप्य—असंव्यवहार्य-व्यवहार में जिनका उपयोग किया जाना संभव नहीं है। **ठवणिज्जाइं**—स्थापनीय हैं—अव्याख्येय होने से इस प्रसंग में वे विचारकोटि में ग्रहण किये जाने योग्य नहीं हैं। **णो उद्दिस्संति**—इनका उद्देश नहीं किया जाता है। तुम्हें पढ़ना चाहिए, शिष्य के लिये इस प्रकार के गुरु के आज्ञा-उपदेश रूप वचन को उद्देश कहते हैं। **णो समुद्दिस्संति**—समुद्देश नहीं होता। यह पठित ग्रन्थ विस्मृत न हो जाय, अतः इसकी आवृत्ति करो, इसे स्थिर-परिचित करो, इस प्रकार का गुरु का आदेशमूलक वचन समुद्देश कहलाता है। **णो अणुण्णविज्जंति**—अनुज्ञा-आज्ञा नहीं दी जाती। पठित ग्रन्थ का धारणा रूप संस्कार जमाओ, दूसरों को इसे पढ़ाओ, इस प्रकार के गुरु के आज्ञा रूप वचन को अनुज्ञा कहते हैं।

३. जइ सुयणाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ, किं अंगपविट्ठस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ ? अंगबाहिरस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ ?

अंगपविट्ठस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ, अंगबाहिरस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ।

इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च अंगबाहिरस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो।

[३ प्र.] भगवन् ! यदि श्रुतज्ञान में उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग की प्रवृत्ति होती है तो वह उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग की प्रवृत्ति अंगप्रविष्ट श्रुत में होती है। अथवा अंगबाह्य श्रुत में उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग की प्रवृत्ति होती है ?

[३ उ.] आयुष्मन् ! अंगप्रविष्ट (आचारांग आदि) श्रुत में भी उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग की प्रवृत्ति होती है तथा अंगबाह्य आगम (श्रुत) में भी उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग प्रवर्तित होते हैं।

४. जइ अंगबाहिरस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ, किं कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो ? उक्कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो ?

कालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो। उक्कालियस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो।

इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च उक्कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो।

[४ प्र.] भगवन् ! यदि अंगबाह्य श्रुत में उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग की प्रवृत्ति होती है तो क्या वह उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग की प्रवृत्ति कालिकश्रुत में होती है अथवा उत्कालिक श्रुत में उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग प्रवर्तमान होते हैं ?

[४ उ.] आयुष्मन् ! कालिकश्रुत में भी उद्देश यावत् अनुयोग की प्रवृत्ति होती है और उत्कालिक श्रुत में भी उद्देश, समुद्देश, अनुज्ञा और अनुयोग प्रवृत्त होते हैं, किन्तु यहाँ उत्कालिक श्रुत का उद्देश यावत् अनुयोग प्रारम्भ किया जायेगा।

विवेचन—यह दो सूत्र शास्त्र के वर्ण्य विषय की भूमिका रूप हैं और प्रश्नोत्तर के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप में माने गये दोनों प्रकार के श्रुत का अनुयोग किया जाता है। लेकिन यहाँ अंगबाह्यश्रुत और उसके भी कालिक एवं उत्कालिक रूप से माने गये दो भेदों में से मात्र उत्कालिक श्रुत के सम्बन्ध में अनुयोग का विचार किया जा रहा है।

अंगप्रविष्ट—तीर्थंकरों के उपदेशानुसार जिन शास्त्रों की रचना स्वयं गणधर करते हैं, वे अंगप्रविष्ट शास्त्र कहलाते हैं।

अंगबाह्य—अंगश्रुत का आधार लेकर जिनकी रचना स्थविर करते हैं, उन शास्त्रों को अंगबाह्य कहते हैं।

कालिकश्रुत—जिस श्रुत का रात्रि व दिन के प्रथम और अंतिम प्रहर में स्वाध्याय किया जाता है।

उत्कालिकश्रुत—जो अस्वाध्यायकाल को छोड़कर कालिक से भिन्नकाल में भी पढ़ा जाता है।

अंगप्रविष्ट आदि विभागों में परिगणित शास्त्रों के नाम एवं परिचय के लिये नंदीसूत्र देखिये।

५. जइ उक्कालियस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो ? किं आवस्सगस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो ? आवस्सगवइरित्तस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो ?

आवस्सगस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो, आवस्सगवइरित्तस्स वि उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो।

इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च आवस्सगस्स अणुओगो।

[५ प्र.] भगवन् ! यदि उत्कालिक श्रुत के उद्देश आदि ४ होते हैं तो क्या वे उद्देश आदि आवश्यक के होते हैं अथवा आवश्यकव्यतिरिक्त (आवश्यकसूत्र से भिन्न) उत्कालिक श्रुत के होते हैं ?

[५ उ.] आयुष्मन् ! यद्यपि आवश्यक और आवश्यक से भिन्न दोनों के उद्देश आदि ४ होते हैं परन्तु यहाँ (इस शास्त्र में) आवश्यक का अनुयोग प्रारम्भ किया जा रहा है।

विवेचन—सूत्र में शास्त्र के निश्चित वर्ण्य विषय का संकेत किया गया है कि सूत्रकार को आवश्यकसूत्र का अनुयोग करना अभीष्ट है और इष्ट होने का कारण यह है कि आवश्यकसूत्र सकल समाचारी का मूल आधार है।

आवश्यकसूत्र में उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा के प्रवर्तमान होने पर भी सूत्रकार ने उनका उल्लेख न करके अवसर प्राप्त होने की अपेक्षा केवल अनुयोग करने का संकेत किया है।

अनुयोग का निरुक्त्यर्थ—सूत्र के साथ **अनु**—नियत-अनुकूल अर्थ का **योग**—जोड़ना अर्थात् इस सूत्र का यह अभिधेय है, इस प्रकार की संयोजना करके शिष्य को समझाना, सूत्र के अर्थ का कथन करना। अथवा एक सूत्र के अनन्त अर्थ होते हैं, इस प्रकार अर्थ महान् और सूत्र अणुरूप होता है, अतएव अणु-सूत्र के साथ अर्थ के योग को अणुयोग (अनुयोग) कहते हैं।[1]

---

१. निययाणुकूलो जोगो सुत्तस्सत्थेण जो य अणुओगो।
सुत्तं च अणुं तेणं जोगो अत्थस्स अणुओगो ॥ —अनुयोग. वृत्ति प. ७

अनुयोगविषयक वक्तव्यता का क्रम इस प्रकार है—

१. निक्षेप—नाम, स्थापना आदि रूप से वस्तु स्थापित करके अनुयोग (कथन) करना।

२. एकार्थ—अनुयोग के पर्यायवाची शब्दों को कहना जैसे अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा, वार्तिक, ये अनुयोग के समानार्थक पर्यायवाची नाम हैं।[1]

३. निरुक्ति—शब्दगत अक्षरों का निर्वचन करना। अर्थात् तीर्थंकरप्ररूपित अर्थ का गणधरोक्त शब्दसमूह रूप सूत्र के साथ अनुकूल, नियत सम्बन्ध प्रकट करना।

४. विधि—सूत्र के अर्थ कहने अथवा अनुयोग करने की पद्धति को विधि कहते हैं। वह इस प्रकार है—सर्वप्रथम गुरु को शिष्य के लिये सूत्र का अर्थ कथन करना चाहिये। दूसरी वार उस कथित अर्थ को निर्युक्ति करके समझाना चाहिये और तीसरी वार प्रसंग, अनुप्रसंग सहित जो अर्थ होता हो उसका निर्देश करना चाहिये। यही सामान्य से अनुयोग की विधि है।[2]

अनुयोग श्रवण के अधिकारी—सामान्य से परिषद् (श्रोतृसमूह) के तीन प्रकार हैं—१. ज्ञायक २. अज्ञायक और ३. दुर्विदग्धा।[3]

ज्ञायकपरिषद्—गुण और दोषों के स्वरूप को जो विशेष रूप से जानती है और कुशास्त्रों के मानने वाले मतों में जिसे आग्रह नहीं होता, ऐसी परिषद् ज्ञायकपरिषद् कहलाती है। यह परिषद् हंस की तरह दोष रूपी जल का परित्याग करके गुण रूपी दूध को ग्रहण करने वाली होती है।

अज्ञायकपरिषद्—जिसके सदस्य स्वभावतः भद्र, सरल होते हैं और समझाने से सन्मार्ग पर आ जाते हैं। ऐसी परिषद् को अज्ञायकपरिषद् कहते हैं।

दुर्विदग्धापरिषद्—जिसके सदस्य किसी भी विषय में निष्णात न हों, अप्रतिष्ठा के भय से जो निष्णात से नहीं पूछें, ज्ञान के संस्कार से रहित, पल्लवग्राही पांडित्य से युक्त हों, ऐसे व्यक्तियों की सभा दुर्विदग्धापरिषद् कहलाती है।

इन तीन परिषदाओं में से आदि की दो अनुयोग का बोध प्राप्त करने योग्य हैं।

अनुयोगकर्त्ता की योग्यता—अनुयोग करने के अधिकारी-कर्त्ता की योग्यता का शास्त्रों में इस प्रकार से उल्लेख किया है—

१-४—जो आर्यदेश में उत्पन्न हुआ हो। जिसका कुल (पितृवंश) और जाति (मातृवंश) विशुद्ध हो। सुन्दर आकृति, रूप आदि से संपन्न हो। ५. जो दृढ़ संहननी (शारीरिक शक्तिसंपन्न) हो। ६. धृतियुक्त—परिषह और उपसर्ग सहन करने में समर्थ हो। ७. अनाशंसी—सत्कार-सम्मान आदि का अनाकांक्षी हो। ८. अविकत्थन—व्यर्थ का भाषण करने वाला न हो। ९. अमायी—कपट-

---

१. अणुओगो य निओगो भास विभासा य वत्तियं चेव।
एए अणुओगस्स य नामा एगट्ठिया पंच॥ —अनुयोगवृत्ति प. ७

२. सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसितो भणितो।
तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे॥ —अनुयोग. वृत्ति प. ७

३. अनुयोग. वृत्ति प. ८

भावरहित—निष्कपट हो। १०. स्थिरपरिपाटी—अभ्यास द्वारा अनुयोग करने का स्थिर अभ्यासी अथवा गुरुपरम्परा से प्राप्त ज्ञान का धनी हो। ११. ग्रहीतवाक्य—आदेय वचन बोलने वाला हो। १२. जित-परिषद्—सभा को प्रभावित करने वाला एवं क्षुभित न होने वाला हो। १३. जितनिद्र—शास्त्रीय अध्ययन-चिन्तन-मनन करते हुए निद्रा का वशवर्ती नहीं होने वाला। १४. मध्यस्थ—पक्षपात रहित—निष्पक्ष हो। १५ देश, काल, भाव का ज्ञाता हो। १६. आसन्नलब्धप्रतिभ—प्रतिवादी को परास्त करने की प्रतिभा से सम्पन्न हो। १७. नानाविधदेशभाषाविज्ञ—अनेक देशों की भाषाओं का ज्ञाता हो। १८. पंचविध आचारयुक्त—ज्ञानाचार आदि पांच प्रकार के आचारों का पालक हो। १९ सूत्रार्थ-तदुभय-विधिज्ञ—सूत्र, अर्थ एवं उभय (सूत्रार्थ) की विधि का जानकार हो। २०. आहरण-हेतु-उपनय-नय-निपुण—उदाहरण, हेतु, उपनय और नय दृष्टि का मर्मज्ञ हो। २१. ग्राहणाकुशल—शिष्य को तत्त्व ग्रहण कराने में कुशल हो। २२. स्वसमय-परसमयवित्—स्व और पर सिद्धान्त में निष्णात हो। २३. गम्भीर-उदार स्वभाव वाला हो। २४. दीप्तिमान्—परवादियों द्वारा परास्त न किया जा सके। २५. शिव—जनकल्याण करने की भावना से भावित हो। २६. सौम्य—शान्त स्वभाव वाला हो। २७. गुणशतकलित—दया, दाक्षिण्य आदि सैकड़ों गुणों से युक्त हो। इस प्रकार के गुणों से युक्त व्यक्ति प्रवचन का अनुयोग करने में समर्थ होता है या अनुयोग करने का अधिकारी है।[1]

इस प्रकार अनुयोग सम्बन्धी वक्तव्यता जानना चाहिये।

आवश्यक पद के निक्षेप की प्रतिज्ञा

६. जइ आवस्सयस्स अणुओगो आवस्सयण्णं किमंगं अंगाइं? सुयक्खंधो सुयक्खंधा? अज्झयणं अज्झयणाइं? उद्देसगो उद्देसगा?

आवस्सयण्णं णो अंगं णो अंगाइं, सुयक्खंधो णो सुयक्खंधा, णो अज्झयणं, अज्झयणाइं, णो उद्देसगो, णो उद्देसगा।

[६ प्र.] भगवन्! यदि यह अनुयोग आवश्यक का है तो क्या वह (आवश्यकसूत्र) एक अंग रूप है या अनेक अंग रूप है? एक श्रुतस्कन्ध रूप है या अनेक श्रुतस्कन्ध रूप है? एक अध्ययन रूप है या अनेक अध्ययन रूप है? एक उद्देशक रूप है या अनेक उद्देशक रूप है?

[६ उ.] आयुष्मन्! आवश्यकसूत्र (अंगप्रविष्ट द्वादशांग से बाह्य होने से) एक अंग नहीं है और अनेक अंग रूप भी नहीं है। वह एक श्रुतस्कन्ध रूप है, अनेक श्रुतस्कन्ध रूप नहीं है, (छह अध्ययन होने से) अनेक अध्ययन रूप है, एक अध्ययन रूप नहीं है, एक या अनेक उद्देशक रूप नहीं हैं, (अर्थात् आवश्यकसूत्र में उद्देशक नहीं हैं।)

विवेचन—यहाँ आवश्यकसूत्र के परिचय संबन्धी एक और बहुवचन की अपेक्षा आठ प्रश्न है और उनके उत्तर दिये हैं कि यह छह अध्ययनात्मक श्रुतस्कन्ध रूप होने से अनेक अध्ययन और एक श्रुतस्कन्ध रूप है। शेष छह प्रश्न अग्राह्य होने से अनादेय हैं।

---

१. अनुयोग-वृत्ति प. ७

विशिष्ट शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

अंग—तीर्थंकरों के अर्थ—उपदेशानुसार गणधरों द्वारा शब्दनिबद्ध श्रुत की अंग संज्ञा है।

श्रुतस्कन्ध—अध्ययन का समूहात्मक बृहत्काय खंड श्रुतस्कन्ध कहलाता है।

अध्ययन—शास्त्र के किसी एक विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादक अंश को अध्ययन कहते हैं।

उद्देशक—अध्ययन के अन्तर्गत नामनिर्देशपूर्वक वस्तु का निरूपण करने वाला प्रकरणविशेष उद्देशक कहलाता है।

आवश्यक आदि पदों का निक्षेप करने की प्रतिज्ञा

७. तम्हा आवस्सयं णिक्खिविस्सामि, सुयं णिक्खिविस्सामि, खंधं णिक्खिविस्सामि, अज्झयणं णिक्खिविस्सामि।

[७] (आवश्यकसूत्र श्रुतस्कन्ध और अध्ययन रूप है) इसलिये आवश्यक का निक्षेप करूंगा। इसी तरह श्रुत, स्कन्ध एवं अध्ययन शब्दों का निक्षेप—यथासंभव नाम आदि में न्यास—करूंगा।

८. जत्थ य जं जाणेज्जा णिक्खेवं णिक्खिवे णिरवसेसं।
जत्थ वि य न जाणेज्जा चउक्कयं निक्खिवे तत्थ॥ १॥

[८] यदि निक्षेप्ता (निक्षेप करने वाला) जिस वस्तु के समस्त निक्षेपों को जानता हो तो उसे (उस जीवादि रूप वस्तु में) उन सबका निरूपण करना चाहिये और यदि सर्व निक्षेपों को न जानता हो तो चार (नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव) निक्षेप तो करना ही चाहिये॥ १॥

विवेचन—इन दो सूत्रों में आवश्यक आदि पदों का निक्षेप करने की प्रतिज्ञा एवं अधिकतम, न्यूनतम निक्षेप करने के कारण व कर्ता की योग्यता का निर्देश किया है।

आवश्यक आदि पदों का निक्षेप करने का कारण—पूर्व में यह स्पष्ट हो चुका है कि इस शास्त्र में आवश्यक का अनुयोग किया जायेगा। इसके अर्थ का स्पष्ट रूप से विवेचन तभी हो सकता है जब पदों का निक्षेप किया जाये। इसलिये आवश्यक आदि पदों का निक्षेप करने की प्रतिज्ञा की है।

निक्षेप करने की उपयोगिता—यह है कि शब्द के विविध अर्थों में से प्रसंगानुरूप अर्थ की अभिव्यक्ति निक्षेप द्वारा ही होती है। ऐसा करने पर अर्थ का प्रतिपादन किस दृष्टि से किया जा रहा है, यह बात समझ में आती है। क्योंकि अप्रस्तुत का निराकरण करके प्रस्तुत का विधान करने में निक्षेप ही समर्थ है। जिससे प्रकृत अर्थ का बोध और अप्रकृत अर्थ का निराकरण हो जाता है।

निक्षेपकर्ता की योग्यता—वाग्व्यवहार की प्रामाणिकता का कारण निक्षेप है। इसलिये सामान्यतया तो साधारण, असाधारण सभी व्यक्ति इसके करने के अधिकारी हैं। लेकिन यदि निक्षेप्ता नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव आदि जितने रूप से शब्द का अर्थ जाने, अधिक से अधिक उतने प्रकारों द्वारा शब्द का निक्षेप करे। यदि इन सब भेदों से परिचित न हो तो उसे शब्द का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार प्रकार से अवश्य निक्षेप करना चाहिये। क्योंकि इनका क्षेत्र व्यापक होने से प्रत्येक पदार्थ कम से कम नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव रूप तो है ही।

आवश्यक के निक्षेप

९. से किं तं आवस्सयं ?

आवस्सयं चउव्विहं पण्णत्तं । तं जहा—नामावस्सयं १ ठवणावस्सयं २ दव्वावस्सयं ३ भावावस्सयं ४ ।

[९ प्र.] भगवन् ! आवश्यक का स्वरूप क्या है ?

[९ उ.] आयुष्मन् ! आवश्यक चार प्रकार का कहा है । यथा—१. नाम-आवश्यक, २. स्थापना-आवश्यक, ३ द्रव्य-आवश्यक, ४ भाव-आवश्यक ।

विवेचन—'यथोद्देशं निर्देशः' इस न्यायानुसार प्रथम आवश्यक का निक्षेप किया है ।

सूत्र में 'से किं तं आवस्सयं' इत्यादि में से 'से' अथ अर्थ का द्योतक मगधदेशीय शब्द है और 'अथ' शब्द का प्रयोग मंगल, अनन्तर, प्रारम्भ, प्रश्न और उपन्यास आदि अर्थों में होता है । प्रस्तुत में इसका उपयोग वाक्य के उपन्यास अर्थ में किया गया है । 'किं' प्रश्नार्थसूचक है और 'तं' पूर्व प्रक्रान्त परामर्शक सर्वनाम है ।

'आवश्यक' शब्द का निर्वचन[1]—विभिन्न रूपों में इस प्रकार किया जा सकता है—

जो अवश्य करने योग्य हो, वह आवश्यक है । अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ के द्वारा प्रतिदिन क्रमशः दिन और रात्रि के अंत में करने योग्य साधना को आवश्यक कहते हैं—अवश्यं कर्तव्यमावश्यकम् ।

आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर पूर्णरूपेण—सर्व प्रकार से गुणों के वश्य—अधीन करे, वह आवश्यक है—'गुणानां आसमन्ताद्वश्यमात्मानं करोतीत्यावश्यकम् ।'

इन्द्रिय और कषाय आदि भावशत्रु सर्वप्रकार से जिसके द्वारा वश में किये जाते हैं, वह आवश्यक है—'आ-समन्ताद् वश्या भवन्ति इन्द्रियकषायादिभावशत्रवो यस्मात्तदावश्यकम् ।'

'आवस्सयं' का संस्कृत रूप 'आवासकं' भी होता है । अतएव गुणशून्य आत्मा को सर्वात्मना गुणों से जो वासित करे उसे आवासक (आवश्यक) कहते हैं—'गुणशून्यमात्मानम् आ-समन्तात् वासयति गुणैरित्यावासकम् ।'

निक्षेपविधि के अनुसार आवश्यक के सामान्यतया नाम आदि चार प्रकार होने का कारण यह है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार रूपों में हो सकता है ।

शास्त्रीय भाषा में इस रूप का संकेत करने के लिये **निक्षेप शब्द का प्रयोग हुआ है । अब यथाक्रम** उक्त चार रूपों द्वारा आवश्यक का वर्णन करते हैं ।

नाम-स्थापना-आवश्यक

१०. से किं तं नामावस्सयं ?

नामावस्सयं जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा आवस्सए त्ति नामं कीरए । से तं नामावस्सयं ।

---

१. संयुक्त पद का खण्ड-खण्ड रूप में पृथक्करण करके वाक्य के अर्थ के स्पष्टीकरण करने को निर्वचन कहते हैं ।

[१० प्र.] भगवन्! नाम-आवश्यक का स्वरूप क्या है?

[१० उ.] आयुष्मन्! जिस किसी जीव या अजीव का अथवा जीवों या अजीवों का, तदुभय (जीव और अजीव) का अथवा तदुभयों (जीवों और अजीवों) का (लोकव्यवहार चलाने के लिये) 'आवश्यक' ऐसा नाम रख लिया जाता है, उसे नाम-आवश्यक कहते हैं।

११. से किं तं ठवणावस्सयं?

जण्णं कट्ठकम्मे वा चित्तकम्मे वा पोत्थकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गंथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइमे वा अक्खे वा वराडए वा एगो वा अणेगा वा सब्भावठवणाए वा असब्भावठवणाए वा आवस्सए त्ति ठवणा ठविज्जति। से तं ठवणावस्सयं।

[११ प्र.] भगवन्! स्थापना-आवश्यक का क्या स्वरूप है?

[११ उ.] आयुष्मन्! स्थापना-आवश्यक का स्वरूप इस प्रकार है—काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पुस्तकर्म, लेप्यकर्म, ग्रंथिम, वेष्टिम, पूरिम, संघातिम, अक्ष अथवा वराटक में एक अथवा अनेक आवश्यक रूप से जो सद्भाव अथवा असद्भाव रूप स्थापना की जाती है, वह स्थापना-आवश्यक है। यह स्थापना-आवश्यक का स्वरूप है।

१२. नाम-ट्ठवणाणं को पइविसेसो?

णामं आवकहियं, ठवणा इत्तरिया वा होज्जा आवकहिया वा।

[१२ प्र.] भगवन्! नाम और स्थापना में क्या भिन्नता—अंतर है?

[१२ उ.] आयुष्मन्! नाम यावत्कथिक होता है, किन्तु स्थापना इत्वरिक और यावत्कथिक, दोनों प्रकार की होती है।

विवेचन—इन तीन सूत्रों में नाम और स्थापना आवश्यक का स्वरूप एवं दोनों की विशेषता—भिन्नता का निर्देश किया है।

नाम-आवश्यक—नाम, अभिधान या संज्ञा को कहते हैं। अतएव तदात्मक आवश्यक नाम-आवश्यक कहलाता है। नाम-आवश्यक में नाम ही आवश्यक रूप होता है—अथवा नाम मात्र से ही जो आवश्यक कहलाये वह नाम-आवश्यक है।

नाम का क्षेत्र इतना व्यापक है कि लोकव्यवहार चलाने के लिये जीव, अजीव, जीवों, अजीवों अथवा जीवाजीव से मिश्रित पदार्थ अथवा पदार्थों के लिये उपयोग होता है। इसको उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं।

जीव का आवश्यक यह नामकरण किये जाने में व्यक्ति की इच्छा मुख्य है। जैसे किसी व्यक्ति ने अपने पुत्र का नाम देवदत्त रखा। लेकिन उसे देव ने दिया नहीं है, फिर भी लोकव्यवहार के लिये ऐसा कहा जाता है। यही दृष्टि नाम-आवश्यक के लिये भी समझना चाहिये कि भाव-आवश्यक से शून्य किसी जीव, अजीव का व्यवहारार्थ आवश्यक नामकरण कर दिया गया है।

एक अजीव में आवश्यक नाम का प्रयोग इस प्रकार जानना चाहिये—आवश्यक शब्द का एक अर्थ आवास भी बतलाया है। अतएव सूखे अचित्त अनेक कोटरों से व्याप्त वृक्षादि में 'यह सर्प का आवास है,' इस नाम से लोकव्यवहार होता है।

अनेक जीवों के लिये आवासक यह नाम इस प्रकार घटित होता है—इष्टिकापाक आदि की अग्नि में अनेक मूषिकायें संमूर्च्छन जन्म धारण करती हैं। इस अपेक्षा से वह इष्टिकापाक आदि की अग्नि मूषिकावास रूप से कही जाती है। इस प्रकार उन असंख्यात अग्निजीवों का आवासक नाम सिद्ध होता है।

अनेक अजीवों का आवासक नाम इस प्रकार जानना चाहिये—घोंसला अनेक अचित्त तिनकों से वनता है और उसमें पक्षी रहने से पक्षियों का वह आवासक है, यह कहा जाता है। अत: उन अनेक अजीवों में आवासक ऐसा नाम सिद्ध है।

जीव और अजीव इन दोनों का आवासक यह नाम इस प्रकार है—जलाशय, उद्यान आदि से युक्त राजमहल राजा का आवास नाम से कहलाता है। वहाँ जलाशय-उद्यान आदि सचित्त और ईंट आदि अचित्त हैं और इन दोनों से निष्पन्न राजमहल आवास रूप होने से वह इन दोनों से निष्पन्न राजमहल आवास रूप होने से आवासक नामनिक्षेप का विषय वनता है। इसी प्रकार राजप्रासाद से युक्त समस्त नगर राजा आदि का आवास रूप से व्यवहार में कह दिया जाता है। जिससे उन संमिलित अनेक अजीवों और जीवों का आवासक ऐसा नाम कहलाता है।

इसी प्रकार अन्य सभी जीव आदि के लिये आवासक संज्ञा समझ लेना चाहिये।

स्थापना-आवश्यक—'अमुक यह है' इस अभिप्राय से जो स्थापना की जाती है, उसे स्थापना और काष्ठादि की पुतली में आवश्यकवान् श्रावक आदि रूप जो स्थापना होती है उसे स्थापना-आवश्यक कहते हैं। यह आवश्यक क्रिया और आवश्यकक्रियावान् में अभेदोपचार से संभव है। अर्थात् भाव-आवश्यक से रहित वस्तु में भाव-आवश्यक के अभिप्राय से स्थापना किये जाने से इसे स्थापना-आवश्यक कहते हैं।

यह स्थापना तत्सदृश-तदाकार और असदृश-अनाकार (अतदाकार) इन दोनों प्रकार की वस्तुओं में कुछ कालविशेष के लिये अथवा यावत्कथिक (जव तक वस्तु रहे तव तक) के लिये की जा सकती है।

यद्यपि जैसे भाव-आवश्यक से शून्य वस्तु में नामनिक्षेप किया जाता है, उसी प्रकार भाव से शून्य वस्तु में तदाकार या अतदाकार स्थापना भी की जाती है; अतएव भावशून्यता की अपेक्षा दोनों में समानता है। परन्तु काल-मर्यादा की अपेक्षा दोनों में विशेषता होने से दोनों पृथक्-पृथक् माने जाते हैं। नाम तो स्वाश्रय द्रव्य के अस्तित्व काल तक रहता है। अर्थात् नामव्यवहार यावत्कथिक ही है, जवकि स्थापना स्वल्प काल के लिये भी और यावत्कथिक भी होती है।

इसके सिवाय दोनों में अन्य प्रकार से भी भिन्नता संभव है। जैसे कि इन्द्रादि की प्रतिमा में कुंडल-कटक-केयूर आदि से भूषित आकृति दिखती है और देखकर सम्मान, आदर का भाव पैदा होता है—वैसा नाम इन्द्र को देखने-सुनने से उल्लास आदि उत्पन्न नहीं होता है।

इस प्रकार की स्थितिविशेष नाम और स्थापना निक्षेप के पार्थक्य—भिन्नता का कारण है।

सूत्रगत विशिष्ट शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं—

कट्ठकम्मे (काष्ठकर्म)—लकड़ी में उकेरी गई आकृति। **चित्तकम्मे**—(चित्रकर्म) कागज आदि पर चित्रित आकृति। **पोत्थकम्मे** (पुस्तकर्म)—कपड़े पर चित्रित आकृति आदि। अथवा पुस्तक आदि में बनाई गई रचना विशेष या ताडपत्र पर छेद कर बनाये गये आकार आदि। **लेप्पकम्मे** (लेप्यकर्म)—गीली मिट्टी के पिंड से रचित आकार। **गंथिमे** (ग्रन्थिम)—सूत आदि को गूंथकर बनाई गई रचना। **वेढिमे** (वेष्टिम)—एक, दो या अनेक वस्त्रों को वेष्टित कर, लपेटकर बनाया गया आकार। **पूरिमे** (पूरिम)—गर्म तांबे, पीतल आदि को सांचे में ढालकर बनाया गया आकार। **संघाइमे** (संघातिम)—पुष्पों आदि को अथवा अनेक वस्त्रखंडों को सांधकर-जोड़कर बनाया गया रूपक। **अक्खे** (अक्ष)—चौपड़ के पासे आदि। **वराडए** (वराटक)—कौड़ी।

१३. से किं तं दव्वावस्सयं ?

दव्वावस्सयं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा—आगमतो य १ णो आगमतो य २।

[१३ प्र.] भगवन्! द्रव्य-आवश्यक का क्या स्वरूप है ?

[१३ उ.] आयुष्मन्! द्रव्यावश्यक दो प्रकार का कहा है। वह इस प्रकार—१. आगमद्रव्यावश्यक, २. नोआगमद्रव्यावश्यक।

विवेचन—यहाँ भेद करके द्रव्यावश्यक का स्वरूप बतलाया गया है।

द्रव्य—जो उन-उन पर्यायों को प्राप्त करता है वह द्रव्य है, अर्थात् जो अतीत, अनागत भाव का कारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। विवक्षित पर्याय का जो अनुभव कर चुकी अथवा भविष्यत् काल में अनुभव करेगी ऐसी वस्तु प्रस्तुत प्रसंग में द्रव्य के रूप में परिगणित हुई है।

इस प्रकार का द्रव्य रूप जो आवश्यक हो वह द्रव्य-आवश्यक है। अर्थात् जो आवश्यक रूप परिणाम का अनुभव कर चुका अथवा भविष्य में अनुभव करेगा ऐसा आवश्यक के उपयोग से शून्य साधु का शरीर आदि द्रव्य-आवश्यक पद का अभिधेय है।

आगमद्रव्य-आवश्यक

१४. से किं तं आगमतो दव्वावस्सयं ?

आगमतो दव्वावस्सयं जस्स णं आवस्सए त्ति पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं णामसमं घोससमं अहीणक्खरं अणच्चक्खरं अव्वाइद्धक्खरं अक्खलियं अमिलियं अवच्चामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं। से णं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्मकहाए, णो अणुप्पेहाए। कम्हा ? "अणुवओगो दव्व" मिति कट्टु।

[१४ प्र.] भगवन्! आगमद्रव्य-आवश्यक का क्या स्वरूप है ?

[१४ उ.] आयुष्मन्! आगमद्रव्य-आवश्यक का स्वरूप इस प्रकार है—जिस (साधु) ने 'आवश्यक' पद को सीख लिया है, (हृदय में) स्थित कर लिया है, जित—आवृत्ति करके धारणा रूप कर लिया है, मित—श्लोक, पद, वर्ण आदि के संख्याप्रमाण का भली-भांति अभ्यास कर लिया है,

परिजित—आनुपूर्वी-अनानुपूर्वी पूर्वक सर्वात्मना परावर्तित कर लिया है, नामसम—स्वकीय नाम की तरह अविस्मृत कर लिया है, घोषसम—उदात्तादि स्वरों के अनुरूप उच्चारण किया है, अहीनाक्षर—अक्षर की हीनतारहित उच्चारण किया है, अनत्यक्षर—अक्षरों की अधिकता रहित उच्चारण किया है, अव्याविद्धाक्षर—व्यतिक्रम रहित उच्चारण किया है, अस्खलित—स्खलित रूप (बीच-बीच में कुछ अक्षरों को छोड़कर) से उच्चारण नहीं किया है, अमिलित—शास्त्रान्तर्वर्ती पदों को मिश्रित करके उच्चारण नहीं किया है, अव्यत्याम्रेडित—एक शास्त्र के भिन्न-भिन्न स्थानगत एकार्थक सूत्रों को एकत्रित करके पाठ नहीं किया है,[1] प्रतिपूर्ण—अक्षरों और अर्थ की अपेक्षा शास्त्र का अन्यूनाधिक अभ्यास किया है, प्रतिपूर्णघोष—यथास्थान समुचित घोषों पूर्वक शास्त्र का परावर्तन किया है, कंठोष्ठविप्रमुक्त—स्वरोत्पादक कंठादि के माध्यम से स्पष्ट उच्चारण किया है, गुरुवाचनोपगत—गुरु के पास (आवश्यक शास्त्र की) वाचना ली है, जिससे वह उस शास्त्र की वाचना, पृच्छना, परावर्तना, धर्मकथा से भी युक्त है। किन्तु (अर्थ का अनुचिन्तन करने रूप) अनुप्रेक्षा (उपयोग) से रहित होने से वह आगमद्रव्य-आवश्यक है। क्योंकि 'अनुपयोगो द्रव्यं' इस शास्त्रवचन के अनुसार आवश्यक के उपयोग से रहित होने के कारण उसे आगमद्रव्य-आवश्यक कहा जाता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में आगमद्रव्य-आवश्यक का स्वरूप बताया है। सूत्रार्थ स्पष्ट है। आगम-श्रुतज्ञान का कारण आत्मा, तदधिष्ठित देह और उपयोगशून्य सूत्र का उच्चारण शब्द है। ये सभी साधन होने से कारण में कार्य का उपचार करके उन्हें आगम कहा हैं। द्रव्य कहने का कारण यह है कि विवक्षित भाव का कारण द्रव्य होता है। इसलिये आवश्यक में उपयोग रहित आत्मा को आगमद्रव्य-आवश्यक कहा जाता है। यदि उपयोग पूर्वक अनुप्रेक्षा हो तब वह भाव-आवश्यक हो जाये। अतएव अनुपयोग के कारण उसे द्रव्य-आवश्यक कहा गया है।

सूत्रकार ने शिक्षितादि श्रुतगुणों के वर्णन द्वारा यह सूचित किया है कि इस प्रकार से शास्त्र का अभ्यासी भी यदि उसमें अनुपयुक्त (उपयोग बिना का) हो रहा है तो वह द्रव्यश्रुत-द्रव्यआवश्यक ही है।

श्रुतगुणों में 'अहीनाक्षर' का ग्रहण इसलिये किया है कि हीनाक्षर सूत्र का उच्चारण करने से अर्थ में भेद हो जाता है और उससे क्रिया में भेद आने से परम कल्याण रूप मोक्ष की प्राप्ति न होकर अनन्त संसार की प्राप्ति रूप अनर्थ प्रकट होते हैं।

घोषसम और परिपूर्ण घोष—इन दोनों विशेषणों में से घोषसम विशेषण शिक्षाकालाश्रयी है और परिपूर्णघोष विशेषण परावर्तनकाल की अपेक्षा है।

आगमद्रव्य-आवश्यक और नयदृष्टियाँ

१५. [१] णेगमस्स एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं दव्वावस्सयं, दोण्णि अणुवउत्ता आगमओ दोण्णि दव्वावस्सयाइं, तिण्णि अणुवउत्ता आगमओ तिण्णि दव्वावस्सयाइं, एवं जावइया अणुवउत्ता तावइयाइं ताइं णेगमस्स आगमओ दव्वावस्सयाइं।

---

१. सूत्रों का पाठ करते समय बीच-बीच में स्वबुद्धि से रचित तत्सदृश सूत्रों का उच्चारण करना अथवा बोलते समय जहाँ विराम लेना हो वहाँ विराम नहीं लेना और जहाँ विराम नहीं लेना हो वहाँ विराम लेने को भी व्यत्याम्रेडित कहते हैं।

[१५-१] नैगमनय की अपेक्षा एक अनुपयुक्त आत्मा एक आगमद्रव्य-आवश्यक है। दो अनुपयुक्त आत्माएँ दो आगमद्रव्य-आवश्यक, तीन अनुपयुक्त आत्माएँ तीन आगमद्रव्य-आवश्यक हैं। इसी प्रकार जितनी भी अनुपयुक्त आत्माएँ हैं, वे सभी उतनी ही नैगमनय की अपेक्षा आगमद्रव्य-आवश्यक हैं।

[२] एवमेव ववहारस्स वि।

[१५-२] इसी प्रकार (नैगमनय के सदृश ही) व्यवहारनय भी आगमद्रव्य-आवश्यक के भेद स्वीकार करता है।

[३] संगहस्स एगो वा अणेगा वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्ता वा आगमओ दव्वावस्सयं वा दव्वावस्सयाणि वा से एगे दव्वावस्सए।

[१५-३] संग्रहनय (सामान्यमात्र को ग्रहण करने वाला होने से) एक अनुपयुक्त आत्मा एक द्रव्य-आवश्यक और अनेक अनुपयुक्त आत्माएँ अनेक द्रव्य-आवश्यक हैं, ऐसा स्वीकार नहीं करता है। वह सभी आत्माओं को एक द्रव्य-आवश्यक ही मानता है।

[४] उज्जुसुयस्स एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं दव्वावस्सयं, पुहत्तं नेच्छइ।

[१५-४] ऋजुसूत्रनय के मत से एक अनुपयुक्त आत्मा एक आगमद्रव्य-आवश्यक है। वह पृथक्त्व—भेदों को स्वीकार नहीं करता है।

[५] तिण्हं सद्दनयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थू। कम्हा? जइ जाणए अणुवउत्ते ण भवति। से तं आगमओ दव्वावस्सयं।

[१५-५] तीनों शब्दनय (शब्द, समभिरूढ, एवंभूत नय) ज्ञायक यदि अनुपयुक्त हो तो उसे अवस्तु (असत्) मानते हैं। क्योंकि जो ज्ञायक है वह उपयोगशून्य नहीं होता है और जो उपयोगरहित है उसे ज्ञायक नहीं कहा जा सकता।

यह आगम से द्रव्य-आवश्यक का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में आगमद्रव्य-आवश्यक के विषय में नयों का मन्तव्य स्पष्ट किया है।

वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। किन्तु वचन में एक समय में एक ही धर्म का कथन करने की योग्यता होने से उस एक धर्म के ग्राहक बोध को नय कहते हैं। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्मों के होने से नयों की संख्या भी अनन्त है, तथापि सुगमता से बोध कराने के लिये उनका सात विभागों में समावेश कर लिया जाता है।

नैगमनय की मान्यतानुसार पदार्थ सामान्य और विशेष उभय रूप है। वह न केवल सामान्य रूप है और न केवल विशेष रूप ही है। अतः वह एक नहीं अपितु अनेक प्रकारों द्वारा अर्थ का बोध कराता है। अतएव उस नय की दृष्टि से विशेष रूप भेद को प्रधान मानकर जितने भी अनुपयुक्त व्यक्ति हैं, उतने ही आगमद्रव्य-आवश्यक हैं। वह संग्रहनय की तरह एक ही द्रव्य-आवश्यक नहीं मानता।

संग्रहनय द्वारा गृहीत पदार्थों का विधिपूर्वक विभाग जिस अभिप्राय से किया जाता है, उस अभिप्राय को व्यवहारनय कहते हैं। व्यवहारनय में लौकिक प्रवृत्ति—व्यवहार की प्रधानता होती है, जिससे वह लोकव्यवहारोपयोगी पदार्थों को स्वीकार करता है, अन्य को नहीं। लोकव्यवहार में जल आदि लाने के लिये घट आदि 'विशेप' उपकारी दिखते हैं अतः उस विशेप के अतिरिक्त अन्य कोई घटत्व आदि सामान्य नहीं है। अतएव व्यवहारनय विशेप को वस्तु रूप से स्वीकार करता है, सामान्य को नहीं। जिससे विशेष—भेद की मुख्यता से नैगमनय के सदृश ही जितने भी अनुपयुक्त व्यक्ति हों, उतने ही आगमद्रव्य-आवश्यक हैं।

इस प्रकार प्ररूपणा में समानता होने से सूत्रकार ने क्रमप्राप्त संग्रहनय को छोड़कर ग्रन्थ-लाघव की दृष्टि से व्यवहारनय का उपन्यास संग्रहनय से पूर्व और नैगमनय के अनन्तर किया है।

समस्त भुवनत्रयवर्ती वस्तुसमूह का सामान्यमुखेन संग्रह करने वाले, जानने वाले संग्रहनय की अपेक्षा एक अथवा अनेक जितनी भी अनुपयुक्त आत्मायें हैं, वे सब आगम से एक द्रव्य-आवश्यक हैं। क्योंकि संग्रहनय मात्र सामान्य को ही ग्रहण करता है, विशेषों को नहीं और विशेषों को स्वीकार न करने में उसका मन्तव्य यह है कि वे विशेष सामान्य से पृथक् हैं या अपृथक् हैं? यदि प्रथमपक्ष स्वीकार किया जाय तो सामान्य के अभाव में खरविपाणवत् विशेप सम्भव नहीं हैं और विशेप सामान्य से अपृथक् होने से वे सामान्य ही है। इसलिये सामान्य से व्यतिरिक्त विशेप सम्भव नहीं हैं। अतः जितने भी द्रव्य-आवश्यक हैं, वे सभी सामान्य से अव्यतिरिक्त होने के कारण एक ही आगम-द्रव्य-आवश्यक रूप हैं।

अतीत, अनागत पर्यायों को छोड़कर वर्तमान स्वकीय पर्याय को स्वीकार करने वाला ऋजुसूत्रनय एक आगमद्रव्य-आवश्यक को मानता है, पार्थक्य—भेद को स्वीकार नहीं करता है। क्योंकि अतीत पर्याय के विनष्ट होने और अनागत पर्याय के अनुत्पन्न होने से वह वर्तमान पर्याय को ही मानता है और वह वर्तमान पर्याय एक सामयिक होने से एक ही है। इसी कारण इस नय की दृष्टि में पृथक्त्व—नानात्व नहीं है। जिससे इस नय की मान्यतानुसार आगमद्रव्य-आवश्यक एक ही है, अनेक नहीं।

शब्दप्रधान नयों का नाम शब्दनय है। शब्द के द्वारा ही अर्थावगम होने से ये शब्द को प्रधान मानते हैं। शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत के भेद से शब्दनय तीन हैं। इनका मन्तव्य है कि ज्ञातृत्व और अनुपयुक्तता का समन्वय सम्भव नहीं है। क्योंकि ज्ञाता होने पर अनुपयुक्त और अनुपयुक्त होने पर ज्ञाता यह स्थिति वन नहीं सकती है। ज्ञाता है तो वह उसमें उपयुक्त है और यदि अनुपयुक्त है तो वह उसका ज्ञाता नहीं है। इसलिये आवश्यकशास्त्र के अनुपयुक्त ज्ञाता को लेकर की जाने वाली आगमद्रव्य-आवश्यक की प्ररूपणा असत् है।

इस प्रकार से आगमद्रव्य-आवश्यक का स्वरूप एवं तत्सम्बन्धित नयों का मन्तव्य जानना चाहिये।

नोआगमद्रव्य-आवश्यक

१६. से किं तं नोआगमतो दव्वावस्सयं ?

नोआगमतो दव्वावस्सयं तिविहं पण्णत्तं । तं जहा—जाणगसरीरदव्वावस्सयं १ भवियसरीरदव्वावस्सयं २ जाणगसरीरभवियसरीरवतिरित्तं दव्वावस्सयं ३ ।

[१६ प्र.] भगवन् ! नोआगमद्रव्य-आवश्यक का स्वरूप क्या है ?

[१६ उ.] आयुष्मन् ! नोआगमद्रव्य-आवश्यक तीन प्रकार का है। यथा—१. ज्ञायकशरीरद्रव्यावश्यक, २. भव्यशरीरद्रव्यावश्यक, ३. ज्ञायकशरीर-भव्यशरीर-व्यतिरिक्तद्रव्यावश्यक ।

विवेचन—सूत्र में भेदों के द्वारा नोआगमद्रव्यावश्यक का स्वरूप बताया है। नो शब्द का प्रयोग सर्वथा और एकदेश दोनों प्रकार के निषेधों में होता है। यहाँ नोआगमद्रव्यावश्यक के भेदों में 'नो' शब्द सर्वथा और एकदेश अभाव के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि इन भेदों में आगम का—आवश्यकादि ज्ञान का सर्वथा अभाव है और एकदेशप्रतिषेधवचन में नो शब्द का उदाहरण इस प्रकार जानना चाहिये—आवर्तादि क्रियाओं को करते और वंदनासूत्र आदि रूप आगम का उच्चारण करते हुए जो आवश्यक करते हैं, वे नोआगमद्रव्यावश्यक हैं। इसके तीन प्रकार हैं। अब क्रम से उनका विवेचन करते हैं।

नोआगमज्ञायकशरीरद्रव्यावश्यक

१७. से किं तं जाणगसरीरदव्वावस्सयं ?

जाणगसरीरदव्वावस्सयं आवस्सए त्ति पदत्थाधिकारजाणगस्स जं सरीरयं ववगयचुतचावितचत्तदेहं जीवविप्पजढं सेज्जागयं वा संथारगयं वा सिद्धसिलातलगयं वा पासित्ता णं कोइ भणेज्जा-अहो! णं इमेणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं आवस्सए त्ति पयं आघवियं पण्णवियं परूवियं दंसियं निदंसियं उवदंसियं । जहा को दिट्ठंतो ? अयं महुकुंभे आसी, अयं घयकुंभे आसी । से तं जाणगसरीरदव्वावस्सयं ।

[१७ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीरद्रव्यावश्यक का क्या स्वरूप है ?

[१७ उ.] आयुष्मन् ! आवश्यक इस पद के अर्थाधिकार को जानने वाले के व्यपगत—चैतन्य से रहित, च्युत-च्यावित—आयुकर्म के क्षय होने से श्वासोच्छ्वास आदि दस प्रकार के प्राणों से रहित, त्यक्तदेह—आहार-परिणतिजनित वृद्धि से रहित, ऐसे जीवविप्रमुक्त शरीर को शैयागत, संस्तारकगत अथवा सिद्धशिलागत—अनशन आदि अंगीकार किये गये स्थान पर स्थित देखकर कोई कहे—'अहो ! इस शरीररूप पुद्गलसंघात ने जिनोपदिष्ट भाव से आवश्यक पद का (गुरु से) अध्ययन किया था, सामान्य रूप से शिष्यों को प्रज्ञापित किया था, विशेष रूप से समझाया था, अपने आचरण द्वारा शिष्यों को दिखाया था, निर्दशित—अक्षम शिष्यों को आवश्यक ग्रहण कराने का प्रयत्न किया था, उपदर्शित—नयों और युक्तियों द्वारा शिष्यों के हृदय में अवधारण कराया था।' ऐसा शरीर ज्ञायकशरीरद्रव्य-आवश्यक है।

शिष्य—इसका समर्थक कोई दृष्टान्त है ?

आचार्य—(दृष्टान्त इस प्रकार है—) यह मधु का घड़ा था, यह घी का घड़ा था।

यह ज्ञायकशरीरद्रव्यावश्यक का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में द्रव्यावश्यक के दूसरे भेद नोआगम के ज्ञायकशरीरद्रव्यावश्यक का स्वरूप वतलाया है। जिसने पहले आवश्यकशास्त्र का सविधि ज्ञान प्राप्त कर लिया था, किन्तु अव पर्यायान्तरित हो जाने से उसका वह निर्जीव शरीर आवश्यकसूत्र के ज्ञान से सर्वथा रहित होने के कारण नोआगमज्ञायकशरीरद्रव्यावश्यक है।

यद्यपि मृतावस्था में चेतना नहीं होने से उस शरीर में द्रव्यावश्यकता नहीं है, तथापि भूतपूर्व-प्रज्ञापननयापेक्षया अतीत आवश्यक पर्याय के प्रति कारणता मानकर उसमें द्रव्यावश्यकता मानी गई है। लोकव्यवहार में ऐसा माना भी जाता है, जो सूत्रगत दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि पहले जिस घड़े में मधु या घृत भरा जाता था लेकिन अव नहीं भरे जाने पर भी 'यह मधुकुंभ है, यह घृतकुंभ है' ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार निर्जीव शय्यादिगत शरीर भी भूतकालीन आवश्यक पर्याय का कारण रूप आधार होने से नोआगम की अपेक्षा द्रव्यावश्यक है।

सूत्रस्थ 'अहो' शब्द दैन्य, विस्मय और आमंत्रण इन तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे शरीर अनित्य है इससे दैन्य का, इस निर्जीव शरीर ने आवश्यक जाना था इससे विस्मय का और देखो इस शरीरसंघात ने आवश्यकशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था, इससे परिचितों को आमंत्रित करने का आशय घटित होता है।

विशिष्ट शब्दों का अर्थ—सेज्जा (शय्या) सर्वांगप्रमाण लंबा-चौड़ा पाटा आदि। **संथार** (संस्तार) अढाई हाथ प्रमाण लंबा-चौड़ा पाट, यह **शय्या** के प्रमाण से आधा होता है। **सिद्धसिलातल** (सिद्धशिलातल) अनेकविध तपस्याओं को करने वाले साधुजनों ने जहाँ स्वयमेव जाकर भक्त-प्रत्याख्यान रूप अनशन किया है, करते हैं और करेंगे, अथवा जहाँ पर जिस किसी महर्षि ने संस्तारक करके मरणधर्म को प्राप्त किया हो, उस स्थान का नाम सिद्धशिलातल है।

नोआगमभव्यशरीरद्रव्यावश्यक

१८. से किं तं भवियसरीरदव्वावस्सयं ?

भवियसरीरदव्वावस्सयं जे जीवे जोणिजम्मणणिक्खंते इमेणं चेव सरीरसमुस्सएणं आदत्तएणं जिणोवदिट्ठेणं भावेणं आवस्सए त्ति पयं सेयकाले सिक्खिस्सइ, न ताव सिक्खइ। जहा को दिट्ठंतो ? अयं महुकुंभे भविस्सइ, अयं घयकुंभे भविस्सइ। से तं भवियसरीरदव्वावस्सयं।

[१८ प्र.] भगवन् ! भव्यशरीरद्रव्यावश्यक का क्या स्वरूप है ?

[१८ उ.] आयुष्मन् ! समय पूर्ण होने पर जो जीव जन्मकाल में योनिस्थान से वाहर निकला और उसी प्राप्त शरीर द्वारा जिनोपदिष्ट भावानुसार भविष्य में आवश्यक पद को सीखेगा, किन्तु अभी सीख नहीं रहा है, ऐसे उस जीव का वह शरीर भव्यशरीरद्रव्यावश्यक कहलाता है।

शिष्य—इसका कोई दृष्टान्त है ?

आचार्य—(दृष्टान्त इस प्रकार है—) यह मधुकुंभ होगा, यह घृतकुंभ होगा।

यह भव्यशरीरद्रव्यावश्यक का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में नोआगमद्रव्यावश्यक के दूसरे भेद भव्यशरीरद्रव्यावश्यक का स्वरूप बतलाया है। वर्तमान की अपेक्षा इस शरीर में आगम के अभाव को लेकर नोआगमता जानना चाहिये।

यद्यपि इस समय के शरीर में आगम का अभाव है, लेकिन 'भाविनि भूतवदुपचारः'—भावी में भी भूत की तरह उपचार होता है—के न्यायानुसार भविष्यकालीन स्थिति को ध्यान में रखकर उपचार से उसमें द्रव्यावश्यकता मानी है। क्योंकि वर्तमान में न सही किन्तु यही शरीर आगे चलकर इसी पर्याय में आवश्यकशास्त्र का ज्ञाता बनेगा। यही बात दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट की गई है कि भविष्य में मधु या घृत जिनमें भरा जाएगा उन घड़ों को वर्त्तमान में मधुघट या घृतघट कहा जाता है।

इन दोनों दृष्टान्तों में संकल्पमात्रग्राही नैगमनय की अपेक्षा है।

ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यावश्यक

१९. से किं तं जाणगसरीरभवियसरीरवतिरित्ते दव्वावस्सए ?

जाणगसरीरभवियसरीरवतिरित्ते दव्वावस्सए तिविधे पण्णत्ते। तं जहा—लोइए १ कुप्पावयणिते २ लोउत्तरिते ३।

[१९ प्र.] भगवन्! ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यावश्यक का क्या स्वरूप है?

[१९ उ.] आयुष्मन्! ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यावश्यक तीन प्रकार का है। यथा—१ लौकिक, २ कुप्रावचनिक, ३ लोकोत्तरिक।

विवेचन—सूत्र में उभयव्यतिरिक्त द्रव्यावश्यक के तीन भेदों के नाम गिनाये हैं। यथाक्रम उनका वर्णन करते हैं।

लौकिक द्रव्यावश्यक

२०. से किं तं लोइयं दव्वावस्सयं ?

लोइयं दव्वावस्सयं जे इमे राईसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्भ-सेट्ठि-सेणावइ-सत्थवाहप्पभितिओ कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए सुविमलाए फुल्लुप्पल-कमलकोमलुम्मिल्लियम्मि अहपंडुरे पभाए रत्तासोगप्पगासकिंसुयसुयमुहगुंजद्धरागसरिसे कमलागर-नलिणिसंडबोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते मुहधोयण-दंतपक्खालण-तेल्ल-फणिह-सिद्धत्थय-हरियालिय-अद्दाग-धूव-पुप्फ-मल्ल-गंध-तंबोल-वत्थमाइयाइं दव्वावस्सयाइं करेत्ता ततो पच्छा रायकुलं वा देवकुलं वा आरामं वा उज्जाणं वा सभं वा पवं वा गच्छंति। से तं लोइयं दव्वावस्सयं।

[२० प्र.] भगवन्! लौकिक द्रव्यावश्यक का क्या स्वरूप है?

[२० उ.] आयुष्मन्! जो ये राजेश्वर अथवा राजा, ईश्वर, तलवर, माडंबिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह आदि रात्रि के व्यतीत होने से प्रभातकालीन किंचिन्मात्र प्रकाश होने पर, पहले की अपेक्षा अधिक स्फुट प्रकाश होने, विकसित कमलपत्रों एवं मृगों के नयनों के

ईषद् उन्मीलन से युक्त, यथायोग्य पीतमिश्रित श्वेतवर्णयुक्त प्रभात के होने तथा रक्त अशोकवृक्ष, पलाशपुष्प, तोते के मुख और गुंजा (चिरमी) के अर्ध भाग के समान रक्त, सरोवरवर्ती कमलवनों को विकसित करने वाले और अपनी सहस्र रश्मियों से दिवसविधायक तेज से देदीप्यमान सूर्य के उदय होने पर मुख को धोना, दंतप्रक्षालन, तेलमालिश करना, स्नान, कंघी आदि से केशों को संवारना, मंगल के लिए सरसों, पुष्प, दूर्वा आदि का प्रक्षेपण, दर्पण में मुख देखना, धूप जलाना, पुष्पों और पुष्पमालाओं को लेना, पान खाना, स्वच्छ वस्त्र पहनना आदि करते हैं और उसके बाद राजसभा, देवालय, आराम-गृह, उद्यान, सभा अथवा प्रपा (प्याऊ) की ओर जाते हैं, वह लौकिक द्रव्यावश्यक है।

विवेचन—सूत्र में लौकिक द्रव्यावश्यक का स्वरूप बतलाया है कि संसारी जनों द्वारा आवश्यक कृत्यों के रूप में जिनको अवश्य करना होता है, वे सब लौकिक द्रव्यावश्यक हैं।

इन दंतप्रक्षालन आदि लौकिक आवश्यक कृत्यों में द्रव्य शब्द का प्रयोग मोक्षप्राप्ति के कारणभूत आवश्यक की अप्रधानता की अपेक्षा से किया है। मोक्ष का प्रधान कारण तो भावावश्यक है, न कि द्रव्यावश्यक। अतएव 'अप्पाहण्णे वि दव्वसद्दोत्थि'—अप्रधान अर्थ में भी द्रव्य शब्द प्रयुक्त होता है—इस शास्त्रवचन के अनुसार अप्रधानभूत आवश्यक द्रव्यावश्यक है तथा इन दंतधावनादि कृत्यों में लोकप्रसिद्धि से भी आगमरूपता नहीं है, अतः इनमें आगम का अभाव होने से नोआगमता सिद्ध है।

प्रभातवर्णन की विशेषता—'पाउप्पभायाए' इत्यादि पदों द्वारा सूत्रकार ने प्रभात की विशेष अवस्थाओं का वर्णन किया है। यथा—'पाउप्पभायाए' इस पद द्वारा प्रभात की प्रथम अवस्था बतलाई है। इस समय में प्रभात की आभा की प्रारंभिक अवस्था होती है। इसके बाद यथाक्रम से प्रभात की द्वितीय अवस्था होती है, जिसमें पूर्व की अपेक्षा प्रकाश स्फुटतर तथा धीरे-धीरे बढ़कर कमलों के ईषत् विकास से युक्त होकर कुछ-कुछ श्वेततामिश्रित पीत वर्ण से समन्वित हो जाता है, जिसे सुविमलाए....अहपंडुरे पभाए पद से स्पष्ट किया है। इसके बाद प्रभात तृतीय अवस्था में पहुँचता है। तब सूर्य पूर्ण रूप में उदित होकर अपने प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है। इस उषाकालीन स्थिति का संकेत रत्तासोगप्पगास....तेयसा जलंते पद द्वारा किया है।

विशिष्ट शब्दों के अर्थ—**राईसर**—राजेश्वर—चक्रवर्ती, वासुदेव आदि, अथवा राजा—महामांडलिक, ईश्वर—युवराज, सामान्य मांडलिक, अमात्य आदि, **तलवर**—राजा द्वारा प्रदत्त रत्नालंकृत स्वर्णपट्ट को मस्तक पर धारण करने वाला। **माडंबिय**—जिनके आसपास में अन्य गांव नहीं हो अथवा छिन्न-भिन्न जनाश्रय विशेष को मडंब और इन मडंबों के अधिपति को माडंबिक कहते हैं। **कोडुंबिय**-कौटुम्बिक—अनेक कुटुम्बों का प्रतिपालन करने वाले। **इब्भ**—इभ नाम हाथी का है। जिनके पास हाथी-प्रमाण द्रव्य हो। **सेट्ठि**—जो कोटयधीश हैं तथा राजा द्वारा नगरसेठ की उपाधि से विभूषित एवं संमानार्थ स्वर्णपट्टप्राप्त। **सेणावइ**—हाथी आदि चतुरंग सेना के नायक सेनापति। **सत्थवाह**—सार्थवाह—गणिम, धरिम, मेय और परिच्छेद्य रूप क्रय-विक्रय योग्य द्रव्यसमूह को लेकर लाभ की इच्छा से जो अन्य व्यापारियों के समूह के साथ देशान्तर जाते हैं एवं उन का संवर्धन करते हैं।

कुप्रावाचनिक द्रव्यावश्यक

२१. से किं तं कुप्पावयणियं दव्वावस्सयं ?

कुप्पावयणियं दव्वावस्सयं जे इमे चरग-चीरिग-चम्मखंडिय-भिच्छुंडग-पंडुरंग-गोतम-गोव्वतिय-गिहिधम्म-धम्मचिंतग-अविरुद्ध-विरुद्ध-वुड्ढ-सावगप्पभितयो पासंडत्था कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव तेयसा जलंते इंदस्स वा खंदस्स वा रुद्दस्स वा सिवस्स वा वेसमणस्स वा देवस्स वा नागस्स वा जक्खस्स वा भूयस्स वा मुगुंदस्स वा अज्जाए वा कोट्टकिरियाए वा उवलेवण-सम्मज्जणाऽऽवरिसण-धूव-पुप्फ-गंध-मल्लाइयाइं दव्वावस्सयाइं करेंति। से तं कुप्पावयणियं दव्वावस्सयं।

[२१ प्र.] भगवन् ! कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक का क्या स्वरूप है ?

[२१ उ.] आयुष्मन् ! जो ये चरक, चीरिक, चर्मखंडिक, भिक्षोण्डक, पांडुरंग, गौतम, गोव्रतिक, गृहीधर्मा, धर्मचिन्तक, अविरुद्ध, विरुद्ध, वृद्धश्रावक आदि पाषंडस्थ रात्रि के व्यतीत होने के अनन्तर प्रभात काल में यावत् सूर्य के जाज्वल्यमान तेज से दीप्त होने पर इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव, वैश्रमण-कुवेर अथवा देव, नाग, यक्ष, भूत, मुकुन्द, आर्यदेवी, कोट्टक्रियादेवी आदि की उपलेपन, संमार्जन, स्नपन (प्रक्षालन), धूप, पुष्प, गंध, माला आदि द्वारा पूजा करने रूप द्रव्यावश्यक करते हैं, वह कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक है।

विवेचन—सूत्र में कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक का स्वरूप वतलाया है। मोक्ष के कारणभूत सिद्धांतों से विपरीत सिद्धान्तों की प्ररूपणा एवं आचरण करने वाले चरक आदि कुप्रावचनिकों के आवश्यक को कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक कहते हैं।

ये चरक आदि इन्द्रादिकों की प्रतिमाओं का उपलेपन आदि आवश्यक कृत्य करते हैं, अतः आवश्यक पद दिया है तथा इन उपलेपनादि क्रियाओं में मोक्ष के कारणभूत भावावश्यक की अप्रधानता होने से द्रव्यत्व एवं आगम के सर्वथा अभाव की अपेक्षा नोआगमता जानना चाहिये।

सूत्र में 'प्रभृति' शब्द से परिव्राजक आदि का एवं यावत् शब्द से पूर्वोक्त २० वें सूत्र में कथित प्रातःकाल की तीन अवस्थाओं और सूर्य के सहस्ररश्मि, दिनकर आदि विशेषणों को ग्रहण किया गया है।

सूत्रगत शब्दों का अर्थ—**चरग** (चरक)—समुदाय रूप में एकत्रित होकर भिक्षा मांगने वाले अथवा खाते-खाते चलने वाले। **चीरिग** (चीरिक)—मार्ग में पड़े हुए वस्त्रखंडों (चिथड़ों) को पहनने वाले। **चम्मखंडिय**(चर्मखंडिक)—चमड़े को वस्त्र रूप में पहनने वाले अथवा जिनके चमड़े के ही समस्त उपकरण होते हैं। **भिच्छुंडग** (भिक्षोण्डक)—अपने घर में पालित गाय आदि के दूधादि से नहीं किन्तु भिक्षा में प्राप्त अन्न से ही उदरपूर्ति करने वाले अथवा सुगत के शासन को मानने वाले। **पंडरंग** (पाण्डुरांग)—शरीर पर भस्म (राख) का लेप करने वाले। **गोतम** (गौतम)—बैल को कौड़ियों की मालाओं से विभूषित करके उसकी विस्मयकारक चाल दिखाकर भिक्षावृत्ति करने वाले। **गोव्वतिय** (गोव्रतिक)—गोचर्या का अनुकरण करने वाले। गोव्रत का पालन करने वाले ये गायों के मध्य में रहने की इच्छा से गायें जव गांव से निकलती हैं तव उनके साथ ही निकलते हैं, वे जव बैठती हैं तव

बैठते हैं, खड़ी होती हैं तब खड़े होते हैं, जब चरती हैं, तब कन्दमूल, फल आदि का भोजन करते हैं और जब जल पीती हैं तब जल पीते हैं।[1] **गिहिधम्म** (गृहिधर्मा)—गृहस्थधर्म ही श्रेयस्कर है, ऐसी जिनकी मान्यता है और ऐसा मानकर उसी का आचरण करने वाले। **धम्मचिंतग** (धर्मचिन्तक)—याज्ञवल्क्य आदि ऋषिप्रणीत धर्मसंहिता आदि के अनुसार धर्म के विचारक और तदनुसार दैनिक प्रवृत्ति, आचार वाले। **अविरुद्ध** (अविरुद्ध)—देव, नृप, माता, पिता और तिर्यचादि का विना किसी भेदभाव के समानरूप में—एकसा विनय करने वाले वैनयिक मिथ्यादृष्टि। **विरुद्ध** (विरुद्ध)—पुण्य-पाप, परलोक आदि को नहीं मानने वाले अक्रियावादी। इनका आचार-विचार सर्व पाखंडियों, सर्व धर्म वालों की अपेक्षा विपरीत होने से ये विरुद्ध कहलाते हैं। **वुड्ढ-सावग** (वृद्ध श्रावक)—ब्राह्मण। प्राचीन काल की अपेक्षा इनमें वृद्धता मानी है। क्योंकि भरतचक्रवर्ती ने अपने शासनकाल में देव, धर्म, गुरु का स्वरूप सुनाने के लिये इनकी स्थापना की थी। अथवा वृद्धावस्था में दीक्षा अंगीकार करके तपस्या करने वाले श्रावक। **पासंडत्था** (पाषण्डस्थ)—पाषण्ड अर्थात् व्रतों का पालन करने वाले। **खंद** (स्कन्द)—कार्तिकेय-महेश्वर का पुत्र। **रुद्र** (रुद्र)—महादेव। **सिव** (शिव)—व्यंतरदेव विशेष। **वेसमण** (वैश्रमण)—कुबेर, धनरक्षक यक्षविशेष। **नाग** (नागकुमार) भवनपतिनिकाय का देवविशेष। **जक्ख, भूत** (यक्ष, भूत)—व्यंतरजातीय देव। **मुगुन्द** (मुकुन्द) बलदेव। **अज्जा** (आर्या)—देवीविशेष। **कोट्टकिरिया** (कोट्टक्रिया)—महिषासुर की मर्दक देवी। **उवलेवण** (उपलेपन)—तेल, घी आदि का लेप करना। **सम्मज्जण** (सम्मार्जन)—वस्त्रखंड से पोंछना। **आवरिसण** (आवर्षण)—गंधोदक से अभिषेक करना, स्नान कराना।

लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यक

२२. **से किं तं लोगोत्तरियं दव्वावस्सयं ?**

लोगोत्तरियं दव्वावस्सयं जे इमे समणगुणमुक्कजोगी छक्कायनिरणुकंपा हया इव उद्दामा गया इव निरंकुसा घट्ठा मट्ठा तुप्पोट्ठा पंडरपडपाउरणा जिणाणं अणाणाए सच्छंदं विहरिऊणं उभओकालं आवस्सगस्स उवट्ठंति। से तं लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं से तं जाणगसरीरभवियसरीर-वइरित्तं दव्वावस्सयं। से तं नोआगमतो दव्वावस्सयं। से तं दव्वावस्सयं।

[२२ प्र.] भगवन् ! लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यक का क्या स्वरूप है ?

[२२ उ.] आयुष्मन् ! लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यक का स्वरूप इस प्रकार है—जो (साधु) श्रमण के (मूल और उत्तर) गुणों से रहित हों, छह काय के जीवों के प्रति अनुकम्पा न होने के कारण अश्व की तरह उद्दाम (शीघ्रगामी—जल्दी-जल्दी चलने वाले) हों, हस्तिवत् निरंकुश हों, स्निग्ध पदार्थों के लेप से अंग-प्रत्यंगों को कोमल, सलौना बनाते हों, जल आदि से बारंबार शरीर को धोते हों, अथवा तेलादि से केशों का संस्कार करते हों, ओठों को मुलायम रखने के लिये मक्खन लगाते हों, पहनने-ओढने के वस्त्रों को धोने में आसक्त हों और जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा की उपेक्षा कर स्वच्छंद विचरण करते हों, किन्तु उभयकाल (प्रातः सायंकाल) आवश्यक करने के लिये तत्पर हों तो उनकी वह क्रिया लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यक है।

---

१. इन गोव्रतिकों की चर्या का विस्तृत वर्णन रघुवंश प्रथम सर्ग में राजा दिलीप की प्रवृत्ति द्वारा किया गया है।

इस प्रकार यह ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यावश्यक का स्वरूप जानना चाहिये।

यह नोआगमद्रव्यावश्यक का निरूपण हुआ और साथ ही द्रव्यावश्यक की वक्तव्यता भी पूर्ण हुई।

विवेचन—सूत्र में उभयव्यतिरिक्त द्रव्यावश्यक के तीसरे भेद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए नोआगमद्रव्यावश्यक एवं द्रव्यावश्यक की वक्तव्यता का उपसंहार किया है।

लोक में श्रेष्ठ साधुओं द्वारा आचरित एवं लोक में उत्तर-उत्कृष्टतर जिनप्रवचन में वर्णित होने से आवश्यक लोकोत्तरिक है। किन्तु श्रमणगुण से रहित स्वच्छन्दविहारी द्रव्यलिंगी साधुओं द्वारा किये जाने से वह आवश्यककर्म अप्रधान होने के कारण द्रव्यावश्यक है तथा भावशून्यता के कारण उसका कोई फल प्राप्त नहीं होता है।

प्रस्तुत में 'नो' शब्द एकदेश प्रतिषेध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि प्रतिक्रमणक्रिया रूप एकदेश में आगमरूपता नहीं है, किन्तु उसके ज्ञान का सद्भाव होने से आगम की एकदेशता है। इस प्रकार क्रिया की दृष्टि से आगम का अभाव और ज्ञान की दृष्टि से आगम का सद्भाव प्रकट करने से 'नो' शब्द में देशप्रतिषेधरूपता है।

इस प्रकार सप्रभेद द्रव्यावश्यक का निरूपण जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त भावावश्यक का वर्णन करते हैं।

भावावश्यक

२३. से किं तं भावावस्सयं?

भावावस्सयं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा—आगमतो य १ णोआगमतो य २।

[२३ प्र.] भगवन्! भावावश्यक का क्या स्वरूप है?

[२३ उ.] आयुष्मन्! भावावश्यक दो प्रकार का है—१. आगमभावावश्यक और २. नो-आगमभावावश्यक।

विवेचन—प्रस्तुत में भेदों द्वारा भावावश्यक का स्वरूपवर्णन प्रारम्भ किया है।

विवक्षित क्रिया के अनुभव से युक्त अर्थ को भाव कहते हैं। अतः यहाँ भाव शब्द विवक्षित क्रिया के अनुभव से युक्त साध्वादि के लिये प्रयुक्त हुआ है और उनका आवश्यक भावावश्यक है। यह कथन भाव और भाववान् में अभेदोपचार की अपेक्षा किया गया है। जैसे ऐश्वर्य रूप इन्दन क्रिया के अनुभव से युक्त को भावतः इन्द्र कहा जाता है अथवा विवक्षित क्रिया के अनुभव रूप भाव को लेकर जो आवश्यक होता है वह भावावश्यक है।

इस भावावश्यक के दो भेद हैं। क्रम से जिनका वर्णन इस प्रकार है—

आगमभावावश्यक

२४. से किं तं आगमतो भावावस्सयं?

आगमतो भावावस्सयं जाणए उवउत्ते। से तं आगमतो भावावस्सयं।

[२४ प्र.] भगवन् ! आगमभावावश्यक का क्या स्वरूप है ?

[२४ उ.] आयुष्मन् ! जो आवश्यक पद का ज्ञाता हो और साथ ही उपयोग युक्त हो, वह आगमभावावश्यक कहलाता है।

विवेचन—सूत्र में आगमभावावश्यक के स्वरूप का निर्देश किया है। ज्ञायक होने के साथ जो उसके उपयोग से भी युक्त हो वह आगम से भाव-आवश्यक है। अर्थात् आवश्यक के अर्थज्ञान से जनित उपयोग को भाव और उस भाव से युक्त आवश्यक को भावावश्यक कहते हैं एवं आवश्यक के अर्थ के ज्ञाता का आवश्यक में उपयोगरूप परिणाम आगमभावावश्यक है।

ज्ञायक एवं उपयोगयुक्त साधु को उस परिणाम से युक्त होने के कारण अभेदविवक्षा से भावावश्यक कहा जाता है।

नोआगमभावावश्यक

२५. से किं तं नोआगमतो भावावस्सयं ?

नोआगमतो भावावस्सयं तिविहं पण्णत्तं। तं जहा—लोइयं १ कुप्पावयणियं २ लोगुत्तरियं ३।

[२५ प्र.] भगवन् ! नोआगमभावावश्यक किसे कहते हैं ?

[२५ उ.] आयुष्मन् ! नोआगमभावावश्यक तीन प्रकार का है। जैसे—१. लौकिक, २. कुप्रावचनिक और ३. लोकोत्तरिक।

विवेचन—नोआगमद्रव्यावश्यक के अनुरूप नोआगमभाववाश्यक के भी लौकिक आदि तीन भेद हैं। क्रम से उनकी व्याख्या इस प्रकार है—

लौकिक भावावश्यक

२६. से किं तं लोइयं भावावस्सयं ?

लोइयं भावावस्सयं पुव्वण्हे भारहं अवरण्हे रामायणं। से तं लोइयं भावावस्सयं।

[२६ प्र.] भगवन् ! लौकिक भावावश्यक का क्या स्वरूप है ?

[२६ उ.] आयुष्मन् ! दिन के पूर्वार्ध में महाभारत का और उत्तरार्ध में रामायण का वाचन करने, श्रवण करने को लौकिक नोआगमभावावश्यक कहते हैं।

विवेचन—सूत्र में नोआगम से लौकिक भावावश्यक का स्वरूप बतलाया है कि नियत समय पर लोकव्यवहार में आगमरूप से माने गये महाभारत, रामायण आदि का वांचना और श्रवण अवश्य करने योग्य होने से लौकिक आवश्यक हैं और उनके अर्थ में वक्ता एवं श्रोता के उपयोगरूप परिणाम होने से भावरूपता है। किन्तु वांचने वाले का बोलने, पुस्तक के पन्ने पलटने, हाथ का संकेत करने तथा श्रोता के हाथों को जोड़े रहने आदि रूप क्रियायें आगमरूप नहीं हैं। क्योंकि 'किरिया आगमो न होइ'—क्रिया आगम नहीं होती है, ज्ञान ही आगमरूप है। इसलिये क्रियारूप देश में आगम का अभाव होने से नोआगमता है।

इस तरह एकदेश में आगमता की अपेक्षा यह लौकिक-भावावश्यक का स्वरूप जानना चाहिये।

कुप्रावचनिक भावावश्यक

२७. से किं तं कुप्पावयणियं भावावस्सयं ?

कुप्पावयणियं भावावस्सयं जे इसे चरग-चीरिय-जाव पासंडत्था इज्जंजलि-होम-जप्प-उंदुरुक्क-नमोक्कारमाइयाइं भावावस्सयाइं करेंति। से तं कुप्पावयणियं भावावस्सयं।

[२७ प्र.] भगवन् ! कुप्रावचनिक भावावश्यक का क्या स्वरूप है।

[२७ उ.] आयुष्मन् ! जो ये चरक, चीरिक यावत् पाषण्डस्थ (उपयोगपूर्वक) इज्या- यज्ञ, अंजलि, होम—हवन, जाप, उन्दुरुक्क—धूपप्रक्षेप या बैल जैसी ध्वनि, वंदना आदि भावावश्यक करते हैं, वह कुप्रावचनिक भावावश्यक है।

विवेचन—सूत्र में कुप्रावचनिक भावावश्यक का स्वरूप बतलाया है। मिथ्याशास्त्रों को मानने वाले चरक, चीरिक आदि पाषंडी यथावसर जो भावसहित यज्ञ आदि क्रियायें करते हैं, वह कुप्रावचनिक भावावश्यक है।

चरक आदि द्वारा अवश्य ही—निश्चित रूप से किये जाने से ये यज्ञ आदि आवश्यक रूप हैं तथा इनके करने वालों की उन क्रियाओं में उपयोग एवं श्रद्धा होने से भावरूपता है। तथा इन चरकादि का उन क्रियाओं संबन्धी उपयोग तो देशतः आगम रूप है और हाथ, सिर आदि द्वारा होने वाली प्रवृत्ति आगमरूप नहीं है। इसीलिए आगम के एक देश की अपेक्षा नोआगम हैं।

कतिपय शब्दों के विशिष्ट अर्थ —इज्जंजलि—(इज्यांजलि) यज्ञ और तन्निमित्तिक जलधारा प्रक्षेप—छोड़ना। अथवा इज्या—पूजा गायत्री आदि के पाठपूर्वक ब्राह्मणों द्वारा की जाने वाली संध्योपासना और अंजलि—हाथ जोड़कर नमस्कार करना अथवा इज्या—माता आदि गुरुजनों को अंजलि—नमस्कार करना। **उन्दुरुक्क**—उन्दु-मुख और रुक्क बैल जैसी ध्वनि करना, अर्थात् मुख से बैल जैसी गर्जना करना अथवा धूपप्रक्षेप करना।

लोकोत्तरिक भावावश्यक

२८. से किं तं लोगोत्तरियं भावावस्सयं ?

लोगोत्तरियं भावावस्सयं जण्णं इमं समणे वा समणी वा सावए वा साविया वा तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तयज्झवसिते तत्तिव्वज्झवसाणे तयट्ठोवउत्ते तयप्पियकरणे तब्भावणाभाविते अण्णत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे उभओकालं आवस्सयं करेंति, से तं लोगोत्तरियं भावावस्सयं। से तं नोआगमतो भावावस्सयं। से तं भावावस्सयं।

[२८ प्र.] भगवन् ! लोकोत्तरिक भावावश्यक का क्या स्वरूप है ?

[२८ उ.] आयुष्मन् ! दत्तचित्त और मन की एकाग्रता के साथ, शुभ लेश्या एवं अध्यवसाय से सम्पन्न, यथाविधि क्रिया को करने के लिये तत्पर अध्यवसायों से सम्पन्न होकर, तीव्र आत्मोत्साहपूर्वक उसके (आवश्यक के) अर्थ में उपयोगयुक्त होकर एवं उपयोगी करणों—शरीरादि को नियोजित कर, उसकी भावना से भावित होकर जो ये श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविकायें

अन्यत्र मन (वचन-काय) को डोलायमान (संयोजित) किये बिना उभयकाल (प्रातः-संध्या समय) आवश्यक—प्रतिक्रमणादि करते हैं, वह लोकोत्तरिक भावावश्यक है।

इस प्रकार से यह नोआगम भावावश्यक का स्वरूप जानना चाहिये और इसके साथ ही भावावश्यक की वक्तव्यता पूर्ण हुई।

विवेचन—सूत्र में लोकोत्तरिक भावावश्यक का स्वरूप बतलाया है। जो श्रमण आदि जिन-प्रवचन में मन को केन्द्रित कर दोनों समय आवश्यक करते हैं, उसे लोकोत्तरिक भावावश्यक कहते हैं।

प्रतिक्रमण आदि क्रियायें श्रमण आदि जनों को अवश्य करने योग्य होने से आवश्यक हैं। इनके करने वालों का उनमें उपयोग वर्तमान रहने से भावरूपता है। 'तयट्ठोवउत्ते' और 'तयप्पिय-करणे' इन दो पदों द्वारा यह स्पष्ट किया है कि आवश्यक क्रियायें स्वयं तो आगम रूप नहीं हैं अतः आवश्यकक्रियारूप एकदेश में तो अनागमता है किन्तु इनके ज्ञानरूप एकदेश में आगमता का सद्भाव होने से उभयरूपता के कारण इन्हें नोआगम लोकोत्तरिक भावावश्यक जानना चाहिये।

आवश्यक के पर्यायवाची नाम

२९. तस्स णं इमे एगट्ठिया णाणाघोसा णाणावंजणा णामधेज्जा भवंति। तं जहा—

आवस्सयं १ अवस्सकरणिज्जं २ धुवणिग्गहो ३ विसोही य ४।
अज्झयणछक्कवग्गो ५ नाओ ६ आराहणा ७ मग्गो ८॥ २॥
समणेण सावएण य अवस्सकायव्वयं हवति जम्हा।
अंतो अहो—निसिस्स उ तम्हा आवस्सयं नाम॥ ३॥

से तं आवस्सयं।

[२९] उस आवश्यक के नाना घोष (स्वर) और अनेक व्यंजन वाले एकार्थक अनेक नाम इस प्रकार हैं—

१ आवश्यक, २ अवश्यकरणीय, ३ ध्रुवनिग्रह, ४ विशोधि, ५ अध्ययन-षट्कवर्ग, ६ न्याय, ७ आराधना और ८ मार्ग।

श्रमणों और श्रावकों द्वारा दिन एवं रात्रि के अन्त में अवश्य करने योग्य होने के कारण इसका नाम आवश्यक है। यह आवश्यक का स्वरूप है।

विवेचन—यहाँ आवश्यक के पर्यायवाची नाम बतलाये हैं। जो पृथक्-पृथक् उदात्तादि स्वर वाले और अनेक प्रकार के ककारादि व्यंजन वाले होने से किंचित् अर्थभेद रखते हुए भी एकार्थ—समानार्थवाचक हैं—

१. आवश्यक—अवश्य करने योग्य कार्य को आवश्यक कहते हैं। सामायिक आदि की साधना साधु आदि के द्वारा अवश्य—निश्चित रूप से किये जाने योग्य होने से आवश्यक है। अथवा ज्ञानादि गुणों और मोक्ष की जिसके द्वारा पूर्णतया प्राप्ति होती है वह आवश्यक है—'ज्ञानादिगुणा मोक्षो वा आसमन्ताद्वश्यः क्रियतेऽनेनेत्यावश्यकम्।' अथवा इन्द्रिय, कषायादि भावशत्रुओं को सर्वतः वश में करने वालों के द्वारा जो किया जाता है, उसे आवश्यक कहते हैं—'आसमन्ताद् वश्या इन्द्रियकषायादि-भावशत्रवो येषां, तैरेव क्रियते यत् तदावश्यकम्।'

२. **अवश्यकरणीय**—मुमुक्षु साधकों द्वारा नियमत: अनुष्ठेय होने के कारण अवश्यकरणीय है।

३. **ध्रुवनिग्रह**—अनादि होने के कारण कर्मों को तथा कर्मों के फल जन्म—जरा—मरणादि रूप संसार को भी ध्रुव कहते हैं और आवश्यक कर्म एवं कर्मफलरूप संसार का निग्रह करने वाला होने के कारण ध्रुवनिग्रह है।

४. **विशोधि**—कर्म से मलिन आत्मा की विशुद्धि का हेतु होने से आवश्यक विशोधि कहलाता है।

५. **अध्ययनषट्कवर्ग**—आवश्यकसूत्र में सामायिक आदि छह अध्ययन होने से यह अध्ययन-षट्कवर्ग है।

६. **न्याय**—अभीष्ट अर्थ की सिद्धि का सम्यक् उपाय होने से न्याय है। अथवा जीव और कर्म के अनादिकालीन सम्बन्ध के अपनयन का कारण होने से भी न्याय कहलाता है।

७. **आराधना**—आराध्य—मोक्षप्राप्ति का हेतु होने से आराधना है।

८. **मार्ग**—मार्ग का अर्थ है उपाय। अतः मोक्षपुर का प्रापक—उपाय होने से मार्ग है।

इस प्रकार से सूत्रकार ने पहले जो 'आवस्सयं निक्खिविस्सामि' प्रतिज्ञा की थी, तदनुसार आवश्यक का न्यास करके वर्णन किये जाने से यह आवश्यकाधिकार समाप्त हुआ।

श्रुत के भेद

३०. से किं तं सुयं ?

सुयं चउव्विहं पण्णत्तं। तं जहा—नामसुयं १ ठवणासुयं २ दव्वसुयं ३ भावसुयं ४।

[३० प्र.] भगवन् ! श्रुत का क्या स्वरूप है ?

[३० उ.] आयुष्मन् ! श्रुत चार प्रकार का है—१ नामश्रुत, २ स्थापनाश्रुत, ३ द्रव्यश्रुत, ४ भावश्रुत।

विवेचन—सूत्रकार ने आवश्यक के अनन्तर 'सुयं निक्खविस्सामि'—श्रुत का निक्षेप करूंगा, इस प्रतिज्ञानुसार निक्षेपविधि से श्रुत के स्वरूप का वर्णन करना प्रारंभ किया है।

नाम और स्थापना श्रुत

३१. से किं तं नामसुयं ?

नामसुयं जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा सुए इ नामं कीरति। से तं नामसुयं।

[३१ प्र.] भगवन् ! नामश्रुत का क्या स्वरूप है ?

[३१ उ.] आयुष्मन् ! जिस किसी जीव या अजीव का, जीवों या अजीवों का, उभय का अथवा उभयों का 'श्रुत' ऐसा नाम रख लिया जाता है, उसे नामश्रुत कहते हैं।

३२. से किं तं ठवणासुयं ?

ठवणासुयं जण्णं कट्ठकम्मे वा जाव सुए इ ठवणा ठविज्जति । से तं ठवणासुयं ।

[३२ प्र.] भगवन् ! स्थापनाश्रुत का स्वरूप क्या है ?

[३२ उ.] आयुष्मन् ! काष्ठ यावत् कौड़ी आदि में 'यह श्रुत है,' ऐसी जो स्थापना, कल्पना या आरोप किया जाता है, वह स्थापनाश्रुत है ।

३३. नाम-ठवणाणं को पतिविसेसो ?

नामं आवकहियं, ठवणा इत्तरिया वा होज्जा आवकहिया वा ।

[३३ प्र.] भगवन् ! नाम और स्थापना में क्या विशेषता—अन्तर है ?

[३३ उ.] आयुष्मन् ! नाम यावत्कथिक होता है, जबकि स्थापना इत्वरिक और यावत्कथिक दोनों प्रकार की होती है ।

विवेचन—यहाँ नाम और स्थापनारूप श्रुत का स्वरूप वतलाने के साथ उन दोनों में अन्तर का निर्देश किया है ।

नाममात्र से श्रुत नामश्रुत है—नाम्ना—नाममात्रेण श्रुतं नामश्रुतमिति—इस समास के अनुसार जिस जीव, अजीव आदि का श्रुत यह नाम रख लिया जाता है, वह नामश्रुत है । जीव आदि का श्रुत नाम रखने का कारण पूर्वोक्त नामावश्यक के कथनानुसार जानना चाहिये ।

स्थापनाश्रुत का विवेचन भी पूर्वोक्त स्थापनावश्यक के अनुरूप है । किन्तु आवश्यक के बदले यहाँ श्रुत शब्द का प्रयोग करना चाहिये । अतएव तदाकार, अतदाकार काष्ठादि अथवा काष्ठादि से निर्मित्त आकृति में जो श्रुतपठनादि क्रियावन्त साधु आदि की स्थापना की जाती है, वह स्थापना-श्रुत है ।

नाम और स्थापना आवश्यक के सदृश ही नाम और स्थापना श्रुत में भी अन्तर जानना चाहिये कि नाम का प्रयोग वस्तु के सद्भाव रहने तक होता है जबकि स्थापना वस्तु के सद्भाव पर्यन्त और यथायोग्य अल्पकाल के लिये भी की जा सकती है ।

द्रव्यश्रुत के भेद

३४. से किं तं दव्वसुयं ?

दव्वसुयं दुविहं पण्णत्तं । तं जहा—आगमतो य १ नोआगमतो य २ ।

[३४ प्र.] भगवन् ! द्रव्यश्रुत का क्या स्वरूप है ?

[३४ उ.] आयुष्मन् ! द्रव्यश्रुत दो प्रकार का है । जैसे—१ आगमद्रव्यश्रुत, २ नोआगम-द्रव्यश्रुत ।

आगमद्रव्यश्रुत

३५. से किं तं आगमतो दव्वसुयं ?

आगमतो दव्वसुयं जस्स णं सुए त्ति पयं सिक्खियं ठियं जियं मियं परिजियं जाव कम्हा ? जइ जाणते अणुवउत्ते ण भवइ । से तं आगमतो दव्वसुयं ।

[३५ प्र.] भगवन् ! आगम की अपेक्षा द्रव्यश्रुत का क्या स्वरूप है ?

[३५ उ.] आयुष्मन् ! जिस साधु आदि ने श्रुत यह पद सीखा है, स्थिर, जित, मित, परिजित किया है यावत् जो ज्ञायक है वह अनुपयुक्त नहीं होता है आदि । यह आगम द्रव्यश्रुत का स्वरूप है ।

विवेचन—सूत्र में आगम द्रव्यश्रुत का स्वरूप बतलाया है कि श्रुतपद के अभिधेय—आचारादि शास्त्रों को जिसने सीख तो लिया है, किन्तु उसके उपयोग से शून्य है, इस कारण वह आगम से द्रव्यश्रुत है ।

'जाव कम्हा' पद द्वारा आवश्यक विषयक पूर्वोक्त शब्दनय आदि की मान्यता सम्बन्धी सूत्रालापक तक का अतिदेश किया गया है जो इस प्रकार है—

णामसमं घोससमं अहीणक्खरं अणच्चक्खरं अव्वाइद्धक्खरं अक्खलियं अमिलियं अवच्चामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं । से णं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्मकहाए णो अणुप्पेहाए । कम्हा ? 'अणुवओगो दव्व' मिति कट्टु ।

णेगमस्स एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं दव्वावस्सयं (दव्वसुयं) दोण्णि अणुवउत्ता आगमओ दोण्णि दव्वावस्सयाइं (दव्वसुयाइं) तिण्णि अणुवउत्ता आगमओ तिण्णि दव्वावस्सयाइं (दव्वसुयाइं) एवं जावइया अणुवउत्ता तावइयाइं ताइं णेगमस्स आगमओ दव्वावस्सयाइं (दव्वसुयाइं) ।

एवमेव ववहारस्स वि ।

संगहस्स एगो वा अणेगा वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्ता वा आगमओ दव्वावस्सयं (दव्वसुयं) वा दव्वावस्सयाणि (दव्वसुयाणि) वा से एगे दव्वावस्सए (दव्वसुए) ।

उज्जुसुयस्स एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं दव्वावस्सयं (दव्वसुयं), पुहुत्तं नेच्छइ ।

तिण्हं सद्दनयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थू । कम्हा ?……………।

इनका अर्थ द्रव्यावश्यक के प्रसंग में किये गये गये अर्थ के अनुरूप है । किन्तु सर्वत्र आवश्यक के स्थान में श्रुत शब्द का प्रयोग करना चाहिए ।[1]

नोआगमद्रव्यश्रुत

३६. से किं तं णोआगमतो दव्वसुयं ?

णोआगमतो दव्वसुयं तिविहं पन्नत्तं । तं जहा—जाणयसरीरदव्वसुयं १ भवियसरीरदव्वसुयं २ जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्तं दव्वसुयं ३ ।

[३६ प्र.] भगवन् ! नोआगमद्रव्यश्रुत का क्या स्वरूप है ?

[३६ उ.] आयुष्मन् ! नोआगमद्रव्यश्रुत तीन प्रकार का कहा है। जैसे—१. ज्ञायकशरीरद्रव्यश्रुत, २. भव्यशरीरद्रव्यश्रुत, ३. ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यश्रुत ।

विवेचन—सूत्र में नोआगमद्रव्यावश्यक के समान नोआगमद्रव्यश्रुत के भी तीन भेदों के नामों का उल्लेख किया है । क्रम से अब इन तीनों का स्पष्टीकरण करते हैं ।

१. देखें सूत्र संख्या १४, १५ का अर्थ ।

ज्ञायकशरीरद्रव्यश्रुत

३७. से किं तं जाणयसरीरदव्वसुतं ?

जाणयसरीरदव्वसुतं सुतत्तिपदत्थाहिकारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुतचावितचत्तदेहं जीवविप्पजढं सेज्जागयं वा संथारगयं वा सिद्धसिलायलगयं वा, अहो ! णं इमेणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं सुए इ पयं आघवियं पण्णवियं परूवियं दंसियं निदंसियं उवदंसियं। जहा को दिट्ठंतो ? अयं मधुकुंभे आसी, अयं घयकुंभे आसी। से तं जाणयसरीरदव्वसुतं।

[३७ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीर-द्रव्यश्रुत का क्या स्वरूप है ?

[३७ उ.] आयुष्मन् ! श्रुतपद के अर्थाधिकार के ज्ञाता के व्यपगत, च्युत, च्यावित, त्यक्त, जीवरहित शरीर को शय्यागत, संस्तारकगत अथवा सिद्धशिला-तपोभूमिगत देखकर कोई कहे— अहो ! इस शरीररूप परिणत पुद्गलसंघात द्वारा जिनोपदेशित भाव से 'श्रुत' इस पद की गुरु से वाचना ली थी, शिष्यों को सामान्य रूप से प्रज्ञापित और विशेष रूप से प्ररूपित, दर्शित, निदर्शित, उपदर्शित किया था, उसका वह शरीर ज्ञायकशरीरद्रव्यावश्यक है।

शिष्य—इसका दृष्टान्त ?

आचार्य—(जैसे किसी घड़े में से मधु या घी निकाल लिये जाने के बाद कहा जाये कि) यह मधु का घड़ा है, यह घी का घड़ा है।

इसी प्रकार निर्जीव शरीर भूतकालीन श्रुतपर्याय का आधाररूप होने से ज्ञायकशरीर-द्रव्यश्रुत कहलाता है।

विवेचन—यहाँ ज्ञायकशरीरद्रव्यश्रुत का स्वरूप बतलाया है। सूत्रगत पदों की विस्तृत व्याख्या ज्ञशरीरद्रव्यावश्यक के अनुरूप जानना चाहिये।

जीवविप्रमुक्तता के आधार पर पत्थर आदि पुद्गलसंघातों में भी कदाचित् श्रुतज्ञातृत्व, कर्तृत्व एवं मुक्तत्व की संभावना की जाय तो उसका निराकरण करने के लिये सूत्र में शय्यागत आदि पदों की योजना की है।

भव्यशरीरद्रव्यश्रुत

३८. से किं तं भवियसरीरदव्वसुतं ?

भवियसरीरदव्वसुतं जे जीवे जोणीजम्मण-निक्खंते इमेणं चेव सरीरसमुस्सएणं आदत्तएणं जिणोवइट्ठेणं भावेणं सुए इ पयं सेकाले सिक्खिस्सति, ण ताव सिक्खति। जहा को दिट्ठंतो ? अयं मधुकुंभे भविस्सति, अयं घयकुंभे भविस्सति। से तं भवियसरीरदव्वसुतं।

[३८ प्र.] भगवन् ! भव्यशरीरद्रव्यश्रुत का क्या स्वरूप है ?

[३८ उ.] आयुष्मन् ! भव्यशरीरद्रव्यश्रुत का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—समय पूर्ण होने पर जो जीव योनि में से निकला और प्राप्त शरीरसंघात द्वारा भविष्य में जिनोपदिष्ट

भावानुसार श्रुतपद को सीखेगा, किन्तु वर्तमान में सीख नहीं रहा है, ऐसे उस जीव का वह शरीर भव्यशरीर-द्रव्यश्रुत है।

शिष्य—इसका दृष्टान्त क्या है ?

आचार्य—(मधु और घी जिन घड़ों में भरा जाने वाला है, परन्तु अभी भरा नहीं है, उनके लिये) 'यह मधुघट है, यह घृतघट है' ऐसा कहा जाता है।

विवेचन—यहाँ भविष्य में भावश्रुत की कारण रूप पर्याय होने की योग्यता की अपेक्षा भव्यशरीरद्रव्यश्रुत का स्वरूप निर्दिष्ट किया है।

ज्ञशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यश्रुत

३९. से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवतिरित्तं दव्वसुतं ?

जाणयसरीरभवियसरीरवतिरित्तं पत्तयपोत्थयलिहियं।

[३९ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त-द्रव्यश्रुत का क्या स्वरूप है ?

[३९ उ.] आयुष्मन् ! ताड़पत्रों अथवा पत्रों के समूहरूप पुस्तक में अथवा वस्त्रखंडों पर लिखित श्रुत ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यश्रुत है।

विवेचन—पूर्वोक्त ज्ञशरीर और भव्यशरीर द्रव्यश्रुत का लक्षण घटित न होने से उनसे भिन्न यह द्रव्यश्रुत का लक्षण यहाँ निरूपित किया है। पत्रादि पर लिखित श्रुत भावश्रुत का कारण होने से उभयव्यतिरिक्त-द्रव्यश्रुत है।

पत्र आदि पर लिखे श्रुत में उपयोग रहितता होने से द्रव्यत्व है। आत्मा, देह और शब्द आगम के कारण हैं। इनका अभाव होने से अथवा पत्र आदि में लिखित श्रुत में अचेतनता होने के कारण नोआगमता है।

'सुय' पद की संस्कृतछाया 'सूत्र' भी होती है, अतः शिष्य की बुद्धि की विशदता के लिये सुय के प्रकरण में प्रकारान्तर से सूत्र (सूत) की भी व्याख्या की जाती है—

४०. अहवा सुत्तं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा—अंडयं १ बोंडयं २ कीडयं ३ वालयं ४ वक्कयं ५।

[४०] अथवा (ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्य-) सूत्र पांच प्रकार का है—१. अंडज २. वोंडज, ३. कीटज, ४. वालज, ५. वल्कज।

४१. से किं तं अंडयं ?

अंडयं हंसगब्भादि। से तं अंडयं।

[४१ प्र.] भगवन् ! अंडज किसे कहते हैं ?

[४१ उ.] आयुष्मन् ! हंसगर्भादि से बने सूत्र को अंडज कहते हैं।

४२. से किं तं बोंडयं ?

बोंडयं फलिहमादि। से तं बोंडयं।

[४२ प्र.] भगवन् ! बोंडज किसे कहते हैं ?

[४२ उ.] आयुष्मन् ! बोंड—कपास या रुई से बनाये गये सूत्र को कहते हैं।

४३. से किं तं कीडयं ?

कीडयं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा—पट्टे १ मलए २ अंसुए ३ चीणंसुए ४ किमिरागे ५। से तं कीडयं।

[४३ प्र.] भगवन् ! कीटजसूत्र किसे कहते हैं।

[४३ उ.] आयुष्मन् ! कीटजसूत्र पांच प्रकार का है—१. पट्ट, २. मलय, ३. अंशुक, ४. चीनांशुक, ५. कृमिराग।

४४. से किं तं वालयं ?

वालयं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा—उण्णिए १ उट्टिए २ मियलोमिए ३ कुतवे ४ किट्टिसे ५। से तं वालयं।

[४४ प्र.] भगवन् ! वालज सूत्र का क्या स्वरूप है ?

[४४ उ.] आयुष्मन् ! वालज सूत्र के पांच प्रकार हैं—१. और्णिक, २. औष्ट्रिक, ३. मृगलोमिक, ४. कौतव, ५. किट्टिस।

४५. से किं तं वक्कयं ?

वक्कयं सणमाई। से तं वक्कयं। से तं जाणगसरीरभवियसरीरवतिरित्तं दव्वसुयं। से तं नोआगमतो दव्वसुयं। से तं दव्वसुयं।

[४५ प्र.] भगवन् ! वल्कज किसे कहते हैं ?

[४५ उ.] आयुष्मन् ! सन आदि से निर्मित सूत्र को कहते हैं।

इस प्रकार यह ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यश्रुत का वर्णन है और इसके साथ ही नोआगमद्रव्यश्रुत एवं सप्रभेद द्रव्यश्रुत का निरूपण समाप्त हुआ।

विवेचन—यहाँ सुय का अर्थ सूत्र (सूत) भी होने की अपेक्षा उभयव्यतिरिक्तद्रव्यश्रुत का वर्णन करने के साथ नोआगमद्रव्यश्रुत एवं समग्र द्रव्यश्रुत के निरूपण की पूर्णता का संकेत किया है।

कारण में कार्य का उपचार अंडज आदि नामों का हेतु है। अतएव जिस वस्तु से और जिस क्षेत्रविशेष में जो सूत्र बना, उसको उस नाम से कहा है।

अंडज आदि की व्याख्या

अंडज के रूप में हंसगर्भ का उल्लेख किया गया है। हंस, पतंगा जातीय एक चतुरिन्द्रिय जीव है, जिसे कोशा भी कहते हैं। वह अपनी लार से एक थैली (कोशिका, कुशेरा) बनाकर उसी में बंद हो जाता है। उससे उत्पन्न सूत्र का नाम अंडज है।

बोंड अर्थात् कपास का कोश और उस कपास से बने सूत को बोंडज कहते हैं। अथवा बोंड अर्थात् वमनीफल-रुई से या सेमल की रुई से बने सूत्र का नाम बोंडज है।

कीट—चतुरिन्द्रिय जीवविशेष की लार से उत्पन्न सूत्र को कीटज कहते हैं। पट्ट आदि पांचों भेद कीटजन्य होने से कीटज हैं।

पट्टसूत्र की उत्पत्ति के विषय में ऐसा माना जाता है कि जंगल में सघन लताच्छादित स्थानों में मांसपुंज रखकर उसकी आजू-बाजू कुछ अंतर में ऊंची-नीची अनेक कीलें गाड़ दी जाती हैं। मांस के लोभी कीट-पंतगे मांसपुंजों पर भंडराते हैं और कीलों के आसपास घूमकर अपनी लार को छोड़ते हैं। उस लार को एकत्रित करके जो सूत बनता है, उसे पट्टसूत्र कहते हैं।

मलय देश में बने कीटज सूत्र को मलय कहते हैं तथा चीन देश से बाहर कीटों की लार से बना सूत्र अंशुक और चीन देश में बना सूत्र चीनांशुक कहलाता है।

कृमिरागसूत्र के विषय में ऐसा सुना जाता है कि किन्हीं क्षेत्रविशेषों में मनुष्यादि का रक्त वर्तन में भरकर उसके मुख को छिद्रों वाले ढक्कन से ढँक देते हैं। उसमें बहुत से लाल रंग के कृमि—कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। वे कृमि छिद्रों से निकलकर बाहर आसपास के प्रदेश में उड़ते हुए अपनी लार छोड़ते हैं। इस लार को इकट्ठा करके जो सूत बनाया जाता है, वह कृमिरागसूत्र कहलाता है। लाल रंग के कृमियों से उत्पन्न होने के कारण इस सूत का रंग भी लाल होता है।

रोमों—बालों से बने सूत को बालज कहते हैं। भेड़ के रोमों—बालों से जो सूत बनता है वह और्णिक, ऊंट के रोमों से बना सूत औष्ट्रिक, मृग के रोमों से बना सूत मृगलोमिक तथा चूहे के रोमों से बना सूत कौतव कहलाता है। इन और्णिक आदि सूत्रों को बनाते समय इधर-उधर बिखरे बालों का नाम किट्टिस है। इनसे निर्मित अथवा और्णिक आदि सूत को दुहरा-तिहरा करके बनाया गया सूत अथवा घोड़ों आदि के बालों से बना सूत किट्टिस कहलाता है।

सन आदि की छाल से बनाया गया सूत वल्कज है।

भावश्रुत

४६. से किं तं भावसुयं?

भावसुयं दुविहं पन्नत्तं। तं जहा—आगमतो य १ नोआगमतो य २।

[४६ प्र.] भगवन्! भावश्रुत का क्या स्वरूप है?

[४६ उ.] आयुष्मन्! भावश्रुत दो प्रकार का है। यथा—१ आगमभावश्रुत और २ नोआगमभावश्रुत।

४७. से किं तं आगमतो भावसुयं?

आगमतो भावसुयं जाणते उवउत्ते। से तं आगमतो भावसुयं।

[४७ प्र.] भगवन्! आगमभावश्रुत का क्या स्वरूप है?

[४७ उ.] आयुष्मन्! जो श्रुत (पद) का ज्ञाता होने के साथ उसके उपयोग से भी सहित हो, वह आगमभावश्रुत है। यह आगम से भावश्रुत का लक्षण है।

विवेचन—सूत्र में आगमभावश्रुत का लक्षण बताया है। श्रुत रूप पद के अर्थ के अनुभव-उपयोग से युक्त साधु आदि भावशब्द का वाच्यार्थ है। अभेदोपचार से साध्वादि भी भावश्रुत

हैं। श्रुत में उपयोगरूप परिणाम के सद्भाव से उसमें भावता और श्रुत के अर्थज्ञान के सद्भाव से आगमता जानना चाहिये।

नोआगमभावश्रुत

४८. से किं तं नोआगमतो भावसुयं ?

नोआगमतो भावसुयं दुविहं पन्नत्तं। तं जहा—लोइयं १ लोउत्तरियं च २।

[४८ प्र.] भगवन् ! नोआगम की अपेक्षा भावश्रुत का क्या स्वरूप है ?

[४८ उ.] आयुष्मन् ! नोआगमभावश्रुत दो प्रकार का है। जैसे—१. लौकिक, २. लोकोत्तरिक।

लौकिक भावश्रुत

४९. से किं तं लोइयं भावसुयं ?

लोइयं भावसुयं जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छदिट्ठीहिं सच्छंदबुद्धि-मइविगप्पियं। तं जहा—भारहं रामायणं भीमासुरुक्कं कोडिल्लयं घोडमुहं सगडभद्दिआओ कप्पासियं नागसुहुमं कणगसत्तरी वइसेसियं बुद्धवयणं वेसियं काविलं लोयाययं सट्ठितंतं माढरं पुराणं वागरणं नाडगादी, अहवा बावत्तरि-कलाओ चत्तारि य वेदा संगोवंगा। से तं लोइयं भावसुयं।

[४९ प्र.] भगवन् ! लौकिक (नोआगम) भावश्रुत का क्या स्वरूप है ?

[४९ उ.] आयुष्मन् ! अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों द्वारा अपनी स्वच्छन्द बुद्धि और मति से रचित महाभारत, रामायण, भीमासुरोक्त, कौटिल्य (रचित अर्थशास्त्र), घोटकमुख, शटकभद्रिका, कार्पासिक, नागसूक्ष्म, कनकसप्तति, वैशेषिकशास्त्र, बौद्धशास्त्र, कामशास्त्र, कपिलशास्त्र, लोकायतशास्त्र, षष्ठितंत्र, माठरशास्त्र, पुराण, व्याकरण, नाटक आदि अथवा बहत्तर कलायें और सांगोपांग चार वेद लौकिक नोआगमभावश्रुत हैं।

विवेचन—सूत्र में लौकिक नोआगमभावश्रुत का स्वरूप बतलाया है कि सर्वज्ञोक्त प्रवचन से विरुद्ध अभिप्राय वाली बुद्धि और मति द्वारा विरचित सभी शास्त्र लौकिक भावश्रुत हैं।

महाभारत, रामायण आदि में आगमशास्त्र रूप लोकप्रसिद्धि होने से आगमता और इनमें वर्णित क्रियायें मोक्ष की हेतु न होने से अनागम हैं।

इस प्रकार की उभयरूपता को बताने के लिये सूत्रकार ने नोआगम पद का प्रयोग किया है। तथा 'उपयोगो भावनिक्षेपः—उपयोग ही भाव निक्षेप है' ऐसा शास्त्रवचन होने से इनमें संलग्न उपयोग की अपेक्षा भावरूपता जाननी चाहिये, किन्तु शब्दों के अचेतन होने से ये महाभारत आदि भावश्रुत नहीं हैं।

सूत्र में प्रयुक्त बुद्धि और मति शब्दों में से अवग्रह और ईहा रूप विचारधारा बुद्धि है और अवाय तथा धारणा रूप विचारधारा को मति कहते हैं।

अज्ञानिक पद में नञ् समास अल्पार्थ का बोधक है, अतः अज्ञानिक का तात्पर्य 'अल्पज्ञान वाले' जानना चाहिये तथा ऐसे अल्पज्ञानी सम्यग्दृष्टि भी होते हैं—अतः उनकी निवृत्ति के लिये मिथ्यादृष्टि पद दिया है।

सूत्रोक्त कतिपय ग्रन्थों के नाम तो सर्वविदित हैं और शेष अप्रसिद्ध ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है—

भीमासुरुक्कं—भीमासुरोक्त, एक जैनेतर प्राचीन शास्त्र। संभवतः इसमें अंगविद्या का वर्णन किया गया होगा।

कोडिल्लयं—कौटिल्यक—चाणक्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र। अथवा कोडिल्ल यानी मुग्दर। अतः मुग्दर आदि शस्त्रों की निर्माणविधि सूचक शास्त्र।

घोडमुहं—घोटमुख, अश्वादि पशुओं का वर्णन करने वाला शास्त्र।

सगडभद्दिआ—शकटभद्रिका—शकटव्यूह आदि के रूप में सैन्यरचना की विधि बताने वाला शास्त्र।

कप्पासियं—कार्पासिक—कपास आदि से सूत, कपड़ा आदि बनाने की विधि बताने वाला शास्त्र।

नागसुहुम—नागसूक्ष्म—एक जैनेतर शास्त्र। संभवतः इसमें सर्प आदि विषैले जीव-जन्तुओं का वर्णन किया गया होगा।

कणगसत्तरी—कनकसप्तति—एक प्राचीन जैनेतर शास्त्र। संभव है इसमें सोने आदि धातुओं का अथवा सोने के तार से मिश्रित कपड़ा बनाने की विधि का वर्णन किया गया हो।

वइसेसियं—वैशेषिक, कणाद मुनि द्वारा प्ररूपित दर्शनविशेष—वैशेषिकदर्शन।

बुद्धवयण—बुद्धवचन, तथागत बुद्ध द्वारा प्ररूपित दर्शन—बौद्धदर्शन।

वेसियं—वैशिक—कामशास्त्र, व्यापार-व्यवसाय का शास्त्र।

काविलं—कापिल, कपिलऋषिरचित दर्शन—सांख्यदर्शन।

लोयायय—लोकायत, बृहस्पतिरचित शास्त्र—चार्वाकदर्शन।

सट्ठितंतं—षष्ठितंत्र—सांख्यदर्शन अथवा धूर्तता सिखाने वाला शास्त्रविशेष।

माढर—माठर, शास्त्रविशेष।

बहत्तर कलाओं के नाम समवायांग आदि सूत्रों से जान लेना चाहिये। सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद ये चार वेद प्रसिद्ध हैं तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष, ये वेदों के छह अंग और इनकी व्याख्या रूप ग्रन्थ उपांग हैं।

लोकोत्तरिक भावश्रुत

५०. से किं तं लोगोत्तरियं भावसुयं ?

लोगोत्तरियं भावसुयं जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पन्ननाण-दंसणधरेहिं तीत-पडुप्पन्न-मणागतजाणएहिं सव्वन्नूहिं सव्वदरिसीहिं तेलोक्कवहिय-महिय-पूइएहिं अप्पडिहयवरनाण-दंसणधरेहिं पणीतं दुवालसंगं गणिपिडगं। तं जहा—आयारो १ सूयगडो २ ठाणं ३ समवाओ ४ वियाहपण्णत्ती ५ नायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगडदसाओ ८ अणुत्तरोववाइयदसाओ ९ पण्हावागरणाइं १० विवागसुयं ११ दिट्ठिवाओ १२ य। से तं लोगोत्तरिय भावसुयं। से तं नोआगमतो भावसुयं। से तं भावसुयं।

[५० प्र.] भगवन् ! लोकोत्तरिक (नोआगम) भावश्रुत का क्या स्वरूप है ?

[५० उ.] आयुष्मन्। (ज्ञान-दर्शनावरण कर्म के क्षय से) उत्पन्न केवलज्ञान और केवलदर्शन को धारण करने वाले, भूत-भविष्यत् और वर्तमान कालिक पदार्थों को जानने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, त्रिलोकवर्ती जीवों द्वारा अवलोकित, महित—पूजित, अप्रतिहत श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन के धारक अरिहंत भगवन्तों द्वारा प्रणीत १ आचारांग, २ सूत्रकृतांग, ३ स्थानांग, ४ समवायांग, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६ ज्ञातृधर्मकथा, ७ उपासकदशांग, ८ अन्तकृद्दशांग, ९ अनुत्तरोपपातिकदशांग, १० प्रश्नव्याकरण, ११ विपाकश्रुत, १२ दृष्टिवाद रूप द्वादशांग, गणिपिटक लोकोत्तरिक नोआगम भावश्रुत हैं।

इस प्रकार से नोआगम भावश्रुत का वर्णन पूर्ण हुआ।

विवेचन—सूत्र में नोआगम की अपेक्षा लोकोत्तरिक भावश्रुत का स्वरूप बतलाया है। अर्हत् भगवन्तों द्वारा प्रणीत गणिपिटक में उपयोगरूप परिणाम होने से भावश्रुतता है और यह उपयोग रूप परिणाम चरणगुण—चारित्रगुण से युक्त है तो वह नोआगम से भावश्रुत है। क्योंकि चरणगुण क्रिया रूप है और क्रिया आगम नहीं होती है। इस प्रकार यहाँ 'नो' शब्द एकदेशनिषेधक रूप में प्रयुक्त हुआ है।

तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा अर्थतः प्ररूपित आचार आदि द्वादश अंग गणिपिटक लोकोत्तरिक भावश्रुत हैं।

श्रुत के नामान्तर

५१. तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा नामधेज्जा भवंति। तं जहा—

सुय सुत्त गंथ सिद्धंत सासणे आण वयण उवदेसे।
पण्णवण आगमे या एगट्ठा पज्जवा सुत्ते ॥ ४ ॥

से तं सुयं।

[५१] उदात्तादि विविध स्वरों तथा ककारादि अनेक व्यंजनों से युक्त उस श्रुत के एकार्थवाचक (पर्यायवाची) नाम इस प्रकार हैं—

१. श्रुत, २. सूत्र, ३. ग्रन्थ, ४. सिद्धान्त, ५. शासन, ६. आज्ञा, ७. वचन, ८. उपदेश, ९. प्रज्ञापना, १०. आगम, ये सभी श्रुत के एकार्थक पर्याय हैं।

इस प्रकार से श्रुत की वक्तव्यता समाप्त हुई।

विवेचन—यहाँ श्रुत के पर्यायवाची नामों को गिनाया है, जिनमें शब्दभेद होने पर भी अर्थभेद नहीं है। क्योंकि—

१. गुरु के समीप सुने जाने के कारण यह श्रुत है।

२. अर्थों की सूचना मिलने के कारण इसका नाम सूत्र है।

३. तीर्थंकर रूप कल्पवृक्ष के वचन रूप पुष्पों का ग्रथन होने से इनका नाम ग्रंथ है।

४. प्रमाणसिद्ध अर्थ को प्रकट करने वाला—बताने वाला होने से यह सिद्धान्त है।

५. मिथ्यात्वादि से दूर रहने की शिक्षा—सीख देने के कारण अथवा मिथ्यात्वी को शासित, संयमित करने वाला होने से यह शासन है।[1]

६. मुक्ति के लिये आज्ञा देने वाला होने से अथवा मोक्षमार्गप्रदर्शक होने से इसे आज्ञा कहते हैं।

७. वाणी द्वारा प्रकट किये जाने से यह वचन है।

८. उपादेय में प्रवृत्ति और हेय से निवृत्ति का उपदेश (शिक्षा) देने वाला होने से इसे उपदेश कहते हैं।

९. जीवादिक पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का प्ररूपण करने वाला होने से यह प्रज्ञापना है।

१०. आचार्य परंपरा से आने अथवा आप्तवचन रूप होने से यह आगम है।

इस प्रकार श्रुताधिकार के अधिकृत विषयों का विवेचन समाप्त हुआ।

स्कन्ध-निरूपण के प्रकार

५२. से किं तं खंधे ?

खंधे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—नामखंधे १ ठवणाखंधे २ दव्वखंधे ३ भावखंधे ४।

[५२ प्र.] भगवन्! स्कन्ध का क्या स्वरूप है?

[५२ उ.] आयुष्मन्! स्कन्ध के चार प्रकार हैं। वे इस तरह—१. नामस्कन्ध, २. स्थापना-स्कन्ध, ३ द्रव्यस्कन्ध, ४ भावस्कन्ध।

विवेचन—'खंधं निक्खिविस्सामि' स्कन्ध का निक्षेप करूंगा—इस प्रतिज्ञा के अनुसार सूत्र में निक्षेपविधि से स्कन्ध की प्ररूपणा आरम्भ की गई है।

---

१. हारिभद्रीया और मलधारियावृत्ति में शासन के स्थान पर पाठान्तर के रूप में प्रवचन शब्द है। जिसका अर्थ यह है कि प्रशस्त-प्रधान-श्रेष्ठ-प्रथम वचन होने से इसका नाम प्रवचन है—'प्रशस्तं प्रथमं वा वचनं प्रवचनम्।'

खंधं (स्कन्ध) का अर्थ है पुद्गलप्रचय—पुद्गलों का पिंड। समूह-समुदाय, कंधा, वृक्ष का धड़ (जहाँ से शाखायें निकलती हैं) के लिये भी स्कन्ध शब्द का प्रयोग होता है।

नाम-स्थापनास्कन्ध

५३. से किं तं नामखंधे ?

नामखंधे जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जाव खंधे त्ति णामं कज्जति। से तं णामखंधे।

[५३ प्र.] भगवन् ! नामस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[५३ उ.] आयुष्मन् ! जिस किसी जीव या अजीव का यावत् स्कन्ध यह नाम रखा जाता है, उसे नामस्कन्ध कहते हैं।

५४. से किं तं ठवणाखंधे ?

ठवणाखंधे जण्णं कट्ठकम्मे वा जाव खंधे इ ठवणा ठविज्जति। से तं ठवणाखंधे।

[५४ प्र.] भगवन् ! स्थापनास्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[५४ उ.] आयुष्मन् ! काष्ठादि में 'यह स्कन्ध है' इस प्रकार का जो आरोप किया जाता है, वह स्थापनास्कन्ध है।

५५. णाम-ठवणाणं को पतिविसेसो ?

नामं आवकहियं, ठवणा इत्तरिया वा होज्जा आवकहिया वा।

[५५ प्र.] भगवन् ! नाम और स्थापना में क्या अन्तर है ?

[५५ उ.] आयुष्मन् ! नाम यावत्कथिक (वस्तु के अस्तित्व रहने तक) होता है परन्तु स्थापना इत्वरिक—स्वल्पकालिक और यावत्कथिक दोनों प्रकार की होती है।

विवेचन—ऊपर नाम और स्थापना स्कन्ध का स्वरूप बतलाया है। उनकी विशेष व्याख्या नाम स्थापना आवश्यक के अनुरूप समझ लेनी चाहिये।

द्रव्यस्कन्ध

५६. से किं तं दव्वखंधे ?

दव्वखंधे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—आगमतो य १ नोआगमतो य २।

[५६ प्र.] भगवन् ! द्रव्यस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[५६ उ.] आयुष्मन् ! द्रव्यस्कन्ध दो प्रकार का है। यथा—१. आगमद्रव्यस्कन्ध और २. नोआगमद्रव्यस्कन्ध।

५७. (१) से किं तं आगमओ दव्वखंधे ?

आगमओ दव्वखंधे जस्स णं खंधे इ पयं सिक्खियं ठियं जियं मियं जाव णेगमस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगे दव्वखंधे, दो अणुवउत्ता आगमओ दो (ण्णि) दव्वखंधाइं, तिण्णि अणुवउत्ता आगमओ तिण्णि दव्वखंधाइं, एवं जावइया अणुवउत्ता तावइयाइं ताइं दव्वखंधाइं।

[५७ प्र. १] भगवन् ! आगमद्रव्यस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[५७ उ. १] आयुष्मन् ! जिसने स्कन्धपद को गुरु से सीखा है, स्थित किया है, जित, मित किया है यावत् नैगमनय की अपेक्षा एक अनुपयुक्त आत्मा आगम से एक द्रव्यस्कन्ध है, दो अनुपयुक्त आत्मायें दो, तीन अनुपयुक्त आत्मायें तीन आगमद्रव्यस्कन्ध हैं, इस प्रकार जितनी भी अनुपयुक्त आत्मायें हैं, उतने ही आगमद्रव्यस्कन्ध जानना चाहिये।

(२) एवमेव ववहारस्स वि।

२. इसी तरह (नैगमनय की तरह) व्यवहारनय भी आगमद्रव्यस्कन्ध के भेद स्वीकार करता है।

(३) संगहस्स एगो वा अणेगा वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्ता वा दव्वखंधे वा दव्वखंधाणि वा से एगे दव्वखंधे।

३. सामान्यमात्र को ग्रहण करने वाला संग्रहनय एक अनुपयुक्त आत्मा एक द्रव्यस्कन्ध और अनेक अनुपयुक्त आत्मायें अनेक आगमद्रव्यस्कन्ध ऐसा स्वीकार नहीं करता, किन्तु सभी को एक ही आगमद्रव्यस्कन्ध मानता है।

(४) उज्जुसुयस्स एगो अणुवउत्तो आगमओ एगे दव्वखंधे, पुहत्तं णेच्छति।

४. ऋजुसूत्रनय से एक अनुपयुक्त आत्मा एक आगमद्रव्यस्कन्ध है। वह भेदों को स्वीकार नहीं करता है।

(५) तिण्हं सद्दणयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थू। कम्हा ? जइ जाणए कहं अणुवउत्ते भवति ? से तं आगमओ दव्वखंधे।

५. तीनों शब्दनय ज्ञायक यदि अनुपयुक्त हो तो उसे अवस्तु—असत् मानते हैं। क्योंकि जो ज्ञायक है वह अनुपयुक्त नहीं होता है।

यह आगमद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप है।

विवेचन—यहाँ आगमद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप एवं तद्विपयक नय-विवक्षाओं का उल्लेख किया है। इन सबका वर्णन पूर्वोक्त आवश्यक के स्थान पर स्कन्ध पद रखकर आगमद्रव्यावश्यक की तरह जानना चाहिये।

नोआगमद्रव्यस्कन्ध

५८. से किं तं णोआगमतो दव्वखंधे ?

णोआगमतो दव्वखंधे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—जाणगसरीरदव्वखंधे १ भवियसरीरदव्वखंधे २ जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे ३ ।

[५८ प्र.] भगवन् ! नोआगमद्रव्यस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[५८ उ.] आयुष्मन् ! नोआगमद्रव्यस्कन्ध तीन प्रकार का है । यथा—१. ज्ञायकशरीर-द्रव्यस्कन्ध, २. भव्यशरीरद्रव्यस्कन्ध और ३. ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यस्कन्ध ।

ज्ञायकशरीरद्रव्यस्कन्ध

५९. से किं तं जाणगसरीरदव्वखंधे ?

जाणगसरीरदव्वखंधे खंधे इ पयत्थाहिगार-जाणगस्स जाव खंधे इ पयं आघवियं पण्णवियं परूवियं जाव से तं जाणगसरीरदव्वखंधे ।

[५९ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीरद्रव्यस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[५९ उ.] आयुष्मन् ! स्कन्धपद के अर्थाधिकार को जानने वाले यावत् जिसने स्कन्ध पद का (गुरु से) अध्ययन किया था, प्रतिपादन किया था, प्ररूपित किया था, आदि पूर्ववत् समझना चाहिए । यह ज्ञायकशरीरद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप है ।

विवेचन—सूत्र में नोआगम ज्ञायकशरीरद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप बताया है । जिसका विशद अर्थ पूर्वोक्त ज्ञायकशरीरद्रव्यावश्यक के सदृश जानना चाहिये । मात्र आवश्यक के स्थान पर स्कन्ध शब्द का प्रयोग किया जाए ।

सूत्रगत दो 'जाव' पदों द्वारा सूत्र १७ में उल्लिखित पदों को ग्रहण करना चाहिये ।

नोआगम-भव्यशरीरद्रव्यस्कन्ध

६०. से किं तं भवियसरीरदव्वखंधे ?

भवियसरीरदव्वखंधे जे जीवे जोणिजम्मणनिक्खंते जाव खंधे इ पयं सेकाले सिक्खिस्सइ । जहा को दिट्ठंतो ? अयं महुकुंभे भविस्सइ, अयं घयकुंभे भविस्सति । से तं भवियसरीरदव्वखंधे ।

[६० प्र.] भगवन् ! भव्यशरीरद्रव्यस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[६० उ.] आयुष्मन् ! समय पूर्ण होने पर यथाकाल कोई योनिस्थान से बाहर निकला और वह यावत् भविष्य में 'स्कन्ध' इस पद के अर्थ को सीखेगा (किन्तु अभी नहीं सीख रहा है), उस जीव का शरीर भव्यशरीरद्रव्यस्कन्ध है ।

शिष्य—इसका दृष्टान्त ?

आचार्य—दृष्टान्त इस प्रकार है—वर्तमान में मधु या घी नहीं भरा है किन्तु भविष्य में भरा जायेगा ऐसे घड़े के लिये कहना—यह मधुकुंभ है, यह घृतकुंभ है।

इस प्रकार भव्यशरीरद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—ज्ञायकशरीर एवं भव्यशरीरद्रव्यस्कन्ध की व्याख्या द्रव्यावश्यक की व्याख्या के समान होने से तदनुरूप जानना चाहिये।

ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यस्कन्ध

६१. से किं तं जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे ?

जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सचित्ते १ अचित्ते २ मीसए ३।

[६१ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[६१ उ.] आयुष्मन् ! ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यस्कन्ध के तीन प्रकार हैं। वे प्रकार ये हैं—१ सचित्त, २ अचित्त और ३ मिश्र।

विवेचन—सूत्र में उभयव्यतिरिक्तद्रव्यस्कन्ध के एक अपेक्षा से तीन भेद बतलाये हैं।

सचित्तद्रव्यस्कन्ध

६२. से किं तं सचित्तदव्वखंधे ?

सचित्तदव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—हयखंधे गयखंधे किन्नरखंधे किंपुरिसखंधे महोरगखंधे उसभखंधे। से तं सचित्तदव्वखंधे।

[६२ प्र.] भगवन् ! सचित्तद्रव्यस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[६२ उ.] आयुष्मन् ! सचित्तद्रव्यस्कन्ध के अनेक प्रकार हैं। वे इस तरह—हय (अश्व) स्कन्ध, गज (हाथी) स्कन्ध, किन्नरस्कन्ध, किंपुरुषस्कन्ध, महोरगस्कन्ध, वृषभ (बैल) स्कन्ध। इस प्रकार यह सचित्तद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप है।

विवेचन—चेतना, संज्ञान, उपयोग, मन और विज्ञान ये सब चित्त के पर्यायवाची नाम हैं। इस चित्त से जो युक्त हो वह सचित्त है। स्कन्ध का अर्थ पूर्व में बताया जा चुका है। यह सचित्त-स्कन्ध व्यक्तिभेद की अपेक्षा अनेक प्रकार का है। जो उदाहरण के रूप में दिये गये हयस्कन्ध आदि नामों से स्पष्ट है।

अपौद्गलिक होने से यद्यपि जीव में स्कन्धता घटित नहीं होती है, परन्तु यह ऐकान्तिक नियम नहीं कि पुद्गलप्रचय में ही स्कन्धता मानी जाए। प्रत्येक जीव असंख्यातप्रदेशी है। अतः उन प्रदेशों की समुदाय रूप स्कन्धता उसमें सुप्रतीत ही है। अर्थात् जीव पुद्गलप्रचय रूप नहीं, किन्तु असंख्यात प्रदेशों का समुदाय रूप स्कन्ध है।

इसके अतिरिक्त जीव का गृहीत शरीर के साथ अमुक अपेक्षा से अभेद है और सचित्त-द्रव्यस्कन्ध का अधिकार होने से यहाँ उन-उन शरीरों में रहे जीवों में परमार्थतः सचेतनता होने से हयादिकों को स्कन्ध रूप में ग्रहण किया है।

यद्यपि सचित्तद्रव्यस्कन्ध की सिद्धि हयस्कन्ध आदि में से किसी एक उदाहरण से हो सकती थी तथापि आत्माद्वैतवाद का निराकरण करने एवं जीवों के भिन्न-भिन्न स्वरूप तथा उनकी अनेकता बताने के लिये उदाहरण रूप में हय आदि पृथक्-पृथक् जीवों के नाम दिये हैं। अद्वैतवाद को स्वीकार करने पर भेदव्यवहार नहीं बनता है।

अचित्तद्रव्यस्कन्ध

६३. से किं तं अचित्तदव्वखंधे ?

अचित्तदव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—दुपएसिए खंधे तिपएसिए खंधे जाव दसपएसिए खंधे संखेज्जपएसिए खंधे असंखेज्जपएसिए खंधे अणंतपएसिए खंधे। से तं अचित्तदव्वखंधे।

[६३ प्र.] भगवन् ! अचित्तद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप क्या है ?

[६३ उ.] आयुष्मन् ! अचित्तद्रव्यस्कन्ध अनेक प्रकार का प्ररूपित किया है। वह इस तरह—द्विप्रदेशिक स्कन्ध, त्रिप्रदेशिक स्कन्ध यावत् दसप्रदेशिक स्कन्ध, संख्यातप्रदेशिक स्कन्ध, असंख्यातप्रदेशिक स्कन्ध, अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध। यह अचित्तद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप है।

विवेचन—यहाँ सूत्रकार ने अचित्तद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप बताया है। दो प्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक जो और जितने भी पुद्गलस्कन्ध हैं वे सब अचित्तद्रव्यस्कन्ध हैं। प्रकृष्टः (पुद्गलास्तिकाय—) देशः प्रदेशः, इस व्युत्पत्ति के अनुसार सबसे अल्प परिमाण वाले पुद्गलास्तिकाय का नाम प्रदेश-परमाणु है। दो आदि अनेक परमाणुओं के मेल से बनने वाले स्कन्धों का मूल परमाणु है। परमाणु में अस्तिकायता इसलिये है कि वह स्कन्धों का उत्पादक है।

मिश्रद्रव्यस्कन्ध

६४. से किं तं मीसदव्वखंधे ?

मीसदव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—सेणाए अग्गिमखंधे सेणाए मज्झिमखंधे सेणाए पच्छिमखंधे। से तं मीसदव्वखंधे।

[६४ प्र.] भगवन् ! मिश्रद्रव्यस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[६४ उ.] आयुष्मन् ! मिश्रद्रव्यस्कन्ध अनेक प्रकार का कहा है। यथा—सेना का अग्रिम स्कन्ध, सेना का मध्य स्कन्ध, सेना का अंतिम स्कन्ध। यह मिश्रद्रव्यस्कन्ध का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्रकार ने मिश्रद्रव्यस्कन्ध के उदाहरण के रूप में सेना का उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि सेना सचेतन और अचेतन इन दोनों का मिश्रण (संयोग) रूप अवस्था है। हाथी, घोड़े, मनुष्य आदि सचेतन तथा तलवार, धनुष, कवच, भाला आदि अचेतन वस्तुओं के समुदाय का नाम सेना है। इसीलिये इसे मिश्रद्रव्यस्कन्ध कहा है।

ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यस्कन्ध का प्रकारान्तर से प्ररूपण

६५. अहवा जाणगसरीरभवियसरीरवतिरित्ते दव्वखंधे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—कसिणखंधे १ अकसिणखंधे २ अणेगदवियखंधे ३।

[६५] अथवा ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यस्कन्ध के तीन प्रकार हैं। जैसे—१ कृत्स्नस्कन्ध, २ अकृत्स्नस्कन्ध, ३ अनेकद्रव्यस्कन्ध।

विवेचन—यहाँ उभयव्यतिरिक्त द्रव्यस्कन्ध के प्रकारान्तर से कृत्स्न (संपूर्ण), अकृत्स्न (अपूर्ण) और अनेक (एक से अधिक द्रव्यों का समुदाय), इन तीन भेदों के नाम बताये हैं। अब क्रम से उनका स्पष्टीकरण करते हैं।

कृत्स्नस्कन्ध

६६. से किं तं कसिणखंधे ?

कसिणखंधे से चेव हयक्खंधे गयक्खंधे जाव उसभखंधे। से तं कसिणखंधे।

[६६ प्र.] भगवन् ! कृत्स्नस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[६६ उ.] आयुष्मन् ! हयस्कन्ध, गजस्कन्ध यावत् वृषभस्कन्ध जो पूर्व में कहे, वही कृत्स्नस्कन्ध हैं। यही कृत्स्नस्कन्ध का स्वरूप है।

विवेचन—यहाँ कृत्स्नस्कन्ध का स्वरूप बतलाया गया है।

यद्यपि इस कृत्स्नस्कन्ध के उदाहरणों में भी सचित्तद्रव्यस्कन्ध के उदाहरण हयस्कन्ध आदि का उल्लेख किया है, लेकिन दोनों में अन्तर यह है कि सचित्तद्रव्यस्कन्ध में तो हय (अश्व) आदि जीवों की विवक्षा की है, उनके शरीर की नहीं और कृत्स्नस्कन्ध के प्रसंग में जीव और जीवाधिष्ठित शरीरावयव इन दोनों के समुदाय की विवक्षा है। इस तरह अभिधेय-भिन्नता से सचित्तद्रव्यस्कन्ध और कृत्स्नस्कन्ध में भेद (अन्तर) है। अर्थात् कृत्स्नस्कन्ध में जीव और जीवाधिष्ठित शरीरावयवों के समुदाय को और सचित्तद्रव्यस्कन्ध में मात्र असंख्यातप्रदेशी जीव को ग्रहण किया है। इस प्रकार उदाहरण एक होने पर भी दोनों में अन्तर है।

हयस्कन्ध, गजस्कन्ध आदि के आकार-प्रकार में जो छोटापन, बड़ापन है, वह पौद्गलिक प्रदेशों की अपेक्षा है, लेकिन प्रत्येक जीव असंख्यातप्रदेशी है और उस शरीर में सभी प्रदेशों के सर्वात्मना तदाकार रूप से रहने के कारण असंख्यात प्रदेश सर्वत्र तुल्य हैं, हीनाधिकता नहीं है। पुद्गल प्रदेशों में वृद्धि-हानि होने पर भी आत्मप्रदेशों में वृद्धि-हानि नहीं होती है।

अकृत्स्नस्कन्ध

६७. से किं तं अकसिणखंधे ?

अकसिणखंधे से चेव दुपएसियादी खंधे जाव अणंतपदेसिए खंधे। से तं अकसिणखंधे।

[६७ प्र.] भगवन् ! अकृत्स्नस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[६७ उ.] आयुष्मन् ! अकृत्स्नस्कन्ध पूर्व में कहे गये द्विप्रदेशिक स्कन्ध आदि यावत् अनन्त-प्रदेशिक स्कन्ध हैं। इस प्रकार अकृत्स्नस्कन्ध का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में अकृत्स्नस्कन्ध की व्याख्या की है। अकृत्स्न यानि अपरिपूर्ण। अतएव जिस स्कन्ध से अन्य कोई दूसरा बड़ा स्कन्ध होता है, वह अपरिपूर्ण होने के कारण अकृत्स्नस्कन्ध है। द्विप्रदेशिक आदि स्कन्ध अपूर्ण हैं और इनमें अपरिपूर्णता इस प्रकार है कि द्विप्रदेशिक स्कन्ध त्रिप्रदेशिक

स्कन्ध से न्यून होने के कारण अपरिपूर्ण है। इसी तरह उत्तरोत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व का स्कन्ध अकृत्स्नस्कन्ध जानना चाहिये। यह अकृत्स्नता कृत्स्नता प्राप्त होने के पूर्व तक होती है।

पूर्व में द्विप्रदेशिक आदि से लेकर अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध सामान्य रूप से अचित्त कहे हैं। परन्तु अकृत्स्नद्रव्यस्कन्ध के प्रकरण में सर्वोत्कृष्ट स्कन्ध से नीचे के स्कन्ध ही उत्तरोत्तर की अपेक्षा अकृत्स्नस्कन्ध रूप में ग्रहण किये हैं। यही इन दोनों में भेद है।

अनेकद्रव्यस्कन्ध

६८. से किं तं अणेगदवियखंधे ?

अणेगदवियखंधे तस्सेव देसे अवचिते तस्सेव देसे उवचिए। से तं अणेगदवियखंधे। से तं जाणगसरीरभवियसरीरवतिरित्ते दव्वखंधे। से तं नोआगमतो दव्वखंधे। से तं दव्वखंधे।

[६८ प्र.] भगवन्! अनेकद्रव्यस्कन्ध का क्या स्वरूप है?

[६८ उ.] आयुष्मन्! एकदेश अपचित और एकदेश उपचित भाग मिलकर उनका जो समुदाय वनता है. वह अनेकद्रव्यस्कन्ध है।

इस प्रकार से ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यस्कन्ध का निरूपण समाप्त हुआ और इसकी समाप्ति के साथ नोआगम द्रव्यस्कन्ध का और साथ ही द्रव्यस्कन्ध का वर्णन भी पूर्ण हुआ जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्रार्थ स्पष्ट है। इसमें विशेष कथनीय यह है कि एक देश अपचित भाग अर्थात् जीवप्रदेशों से रहित (अचेतन) नख केशादि रूप भाग एवं एकदेश उपचित—जीवप्रदेशों से व्याप्त पीठ, उदर आदि भाग के संयोग से एक विशिष्ट आकार वाला जो देह रूप समुदाय वनता है, वह अनेकद्रव्यस्कन्ध है। जैसे हयस्कन्ध, गजस्कन्ध आदि।

यद्यपि यह अनेकद्रव्यस्कन्ध भी कृत्स्नस्कन्ध की तरह हयादि स्कन्ध रूप से प्रतीत होता है, फिर भी दोनों में यह अंतर है कि कृत्स्नस्कन्ध में तो मात्र जीव के प्रदेशों से व्याप्त शरीरावयव रूप देश को ही विवक्षित किया है, जीव-प्रदेशों से अव्याप्त नखादि प्रदेशों को नहीं, किन्तु अनेकद्रव्यस्कन्ध में पूर्वोक्त के साथ नखादि रूप अचेतन देश भी विवक्षित हैं।

मिश्रद्रव्यस्कन्ध से भी यह अनेकद्रव्यस्कन्ध भिन्न है। क्योंकि मिश्रद्रव्यस्कन्ध में तो पृथक्-पृथक् रूप से अवस्थित हस्ती, तलवार आदि को मिश्रस्कन्ध रूप से कहा है, परन्तु इस अनेकद्रव्यस्कन्ध में विशिष्ट परिणाम रूप से परिणत हुए सचेतन-अचेतन द्रव्यों के एक समुदाय को अनेक द्रव्यस्कन्ध कहा है।

भावस्कन्ध निरूपण

६९. से किं तं भावखंधे ?

भावखंधे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—आगमतो य १ नोआगमतो य २।

[६९ प्र.] भगवन्! भावस्कन्ध का क्या स्वरूप है?

[६९ उ.] आयुष्मन्! भावस्कन्ध दो प्रकार का कहा है। वह इस तरह—१. आगमभावस्कन्ध २. नोआगमभावस्कन्ध।

७०. से किं तं आगमतो भावखंधे ?

आगमतो भावखंधे जाणए उवउत्ते। से तं आगमतो भावखंधे।

[७० प्र.] भगवन्! आगमभावस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[७० उ.] आयुष्मन्! स्कन्ध पद के अर्थ का उपयोग युक्त ज्ञाता आगमभावस्कन्ध है।

७१. से किं तं नोआगमओ भावखंधे ?

नोआगमओ भावखंधे एएसिं चेव सामाइयमाइयाणं छण्हं अज्झयणाणं समुदयसमिइसमागमेणं निप्फन्ने आवस्सगसुयक्खंधे भावखंधे त्ति लब्भइ। से तं नोआगमतो भावखंधे। से तं भावखंधे।

[७१ प्र.] भगवन्! नोआगमभावस्कन्ध का क्या स्वरूप है ?

[७१ उ.] आयुष्मन्! परस्पर-संबन्धित सामायिक आदि छह अध्ययनों के समुदाय के मिलने से निष्पन्न आवश्यकश्रुतस्कन्ध नोआगमभावस्कन्ध कहलाता है।

इस प्रकार से भावस्कन्ध की वक्तव्यता जानना चाहिए।

विवेचन—इन सूत्रों में भावस्कन्ध का स्वरूप स्पष्ट किया है। इनमें से आगमभावस्कन्ध की व्याख्या तो आगमभावावश्यक प्रतिपादक सूत्र की जैसी जानना चाहिए।

नोआगमभावस्कन्ध की स्वरूपव्याख्या में 'समुदयसमिइसमागमेणं' पद मुख्य है। इसमें 'समुदयसमिइ' का अर्थ है सामायिक आदि छह अध्ययनों के समूह का अव्यवहित मिलना तथा समागम यानि षट्प्रदेशी स्कन्ध की तरह छह अधिकार वाले आवश्यकश्रुतस्कन्ध का आत्मा में एक रूप होना। अर्थात् लोहशलाकाओं की तरह परस्पर निरपेक्ष सामायिक आदि षट् आवश्यकों के समुदाय-समिति-समागम से निष्पन्न आवश्यकश्रुतस्कन्ध का नाम भावस्कन्ध है। यही भावस्कन्ध जब मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि की व्यापार रूप क्रिया से विवक्षित किया जाता है तब वह नोआगमभावस्कन्ध है।

यहाँ नोआगम में प्रयुक्त 'नो' शब्द सर्वथा आगमभाव का निषेधक नहीं है किन्तु एकदेश का निषेधक है। स्कन्धपदार्थ का ज्ञान आगम, उसमें ज्ञाता का उपयोग भाव और रजोहरण आदि द्वारा की जाने वाली प्रमार्जना आदि क्रियायें नोआगम हैं।

स्कन्ध के पर्यायवाची नाम

७२. तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा नामधेज्जा भवंति। तं जहा—

गण काय निकाय खंध वग्ग रासी पुंजे य पिंड नियरे य।
संघाय आकुल समूह भावखंधस्स पज्जाया ॥ ५ ॥

से तं खंधे।

[७२.] उस भावस्कन्ध के विविध घोषों एवं व्यंजनों वाले एकार्थक (पर्यायवाची) नाम इस प्रकार हैं—

(गाथार्थ) गण, काय, निकाय, स्कन्ध, वर्ग, राशि, पुंज, पिंड, निकर, संघात, आकुल और समूह, ये सभी भावस्कन्ध के पर्याय हैं।

विवेचन—पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. **गण**—मल्ल आदि गणों की तरह स्कन्ध अनेक परमाणुओं का संश्लिष्ट परिणाम होने से गण कहलाता है।
२. **काय**—स्कन्ध भी पृथ्वीकायादि की तरह होने से उसे काय कहते हैं।
३. **निकाय**—षट्जीवनिकाय की तरह यह स्कन्ध भी निकाय रूप है।
४. **स्कन्ध**—द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी आदि रूप संश्लिष्ट परिणाम वाला होने से स्कन्ध कहलाता है।
५. **वर्ग**—गोवर्ग की तरह स्कन्ध वर्ग है।
६. **राशि**—चावल, गेहूं आदि धान्य राशिवत् होने से स्कन्ध का नाम राशि भी है।
७. **पुंज**—एकत्रित किये गये धान्यपुंजवत् होने से इसे पुंज कहते हैं।
८. **पिंड**—गुड़ आदि के पिंडवत् होने से पिंड है।
९. **निकर**—चांदी आदि के समूह की तरह होने से यह निकर है।
१०. **संघात**—महोत्सव आदि में एकत्रित जनसमुदाय की तरह होने से इसका नाम संघात है।
११. **आकुल**—आंगन आदि में एकत्रित (व्याप्त) जनसमूह जैसा होने से स्कन्ध को आकुल कहते हैं।
१२. **समूह**—नगरादि के जनसमूह की तरह वह समूह है।

इस प्रकार स्कन्धाधिकार का समग्र वर्णन जानना चाहिये।

आवश्यक के अर्थाधिकार और अध्ययन

७३. आवस्सगस्स णं इमे अत्थाहिगारा भवंति। तं जहा—

सावज्जजोगविरती १ उक्कित्तण २ गुणवओ य पडिवत्ती ३।
खलियस्स निंदणा ४ वणतिगिच्छ ५ गुणधारणा ६ चेव॥ ६॥

[७३] आवश्यक के अर्थाधिकारों के नाम इस प्रकार हैं—

(गाथार्थ) १. सावद्ययोगविरति, २. उत्कीर्तन, ३. गुणवत्प्रतिपत्ति, ४. स्खलितनिन्दा, ५. व्रणचिकित्सा और ६ गुणधारणा।

विवेचन—यहाँ आवश्यक के छह अर्थाधिकारों के नाम बताये हैं। ये अर्थाधिकार इसलिये हैं कि आवश्यक की साधना, आराधना द्वारा जो उपलब्धि होती है अथवा जो करणीय है उसका बोध इनके द्वारा होता है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सावद्ययोगविरति—हिंसा, असत्य आदि सावद्य योगों का त्याग करना। अर्थात् हिंसा आदि निन्दनीय कार्यों से विरत होना अथवा हिंसा आदि के कारण होने वाली मलिन मानसिक आदि वृत्तियों के प्रति उन्मुख न होना सावद्ययोगविरति (सामायिक) अर्थाधिकार है।

उत्कीर्तन—सावद्ययोग की विरति से जो स्वयं सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए एवं दूसरों को भी आत्मशुद्धि के लिये इसी सावद्ययोग-प्रवृत्ति के त्याग का जिन्होंने उपदेश दिया ऐसे उपकारियों के गुणों की स्तुति करना उत्कीर्तन (चतुर्विंशतिस्तव) अर्थाधिकार है।

गुणवत्प्रतिपत्ति—सावद्ययोगविरति की साधना में तत्पर गुणवान् अर्थात् मूल एवं उत्तर गुणों के धारक संयमी निर्ग्रन्थ श्रमणवर्ग की प्रतिपत्ति—आदर-सम्मान करना गुणवत्प्रतिपत्ति (वंदना) अर्थाधिकार है।

स्खलितनिन्दा—संयमसाधना करते हुए प्रमादवश होने वाली स्खलना—अतिचार—दोष की शुद्ध बुद्धि से संवेगभावनापूर्वक निन्दा—गर्हा करना स्खलितनिन्दा (प्रतिक्रमण) अर्थाधिकार है।

व्रणचिकित्सा—स्वीकृत साधना में कायोत्सर्ग करके—शरीर पर ममत्व-रागभाव त्याग करके—अतिचारजन्य भावव्रण (घाव-दोष) का प्रायश्चित्त रूप औषधोपचार द्वारा निराकरण करना व्रणचिकित्सा (कायोत्सर्ग) अर्थाधिकार है।

गुणधारणा—प्रायश्चित्त द्वारा दोषों का प्रमार्जन करके मूल और उत्तर गुणों को अतिचार रहित—निर्दोष धारण—पालन करना गुणधारणा (प्रत्याख्यान) अर्थाधिकार है।

गाथोक्त 'च' और 'एव' शब्दों द्वारा यह स्पष्ट किया है कि मूल में आवश्यक के यही छह अर्थाधिकार हैं और इनसे सम्बन्धित आचार-विचार आदि सभी का इन्हीं में समावेश हो जाता है।

७४. आवस्सगस्स एसो पिंडत्थो वण्णितो समासेणं।
एत्तो एक्केक्कं पुण अज्झयणं कित्तइस्सामि॥ ७॥

तं जहा—सामाइयं १ चउवीसत्थओ २ वंदणं ३ पडिक्कमणं ४ काउस्सग्गो ५ पच्चक्खाणं ६।

[७४] इस प्रकार से आवश्यकशास्त्र के समुदायार्थ का संक्षेप में कथन करके अब एक-एक अध्ययन का वर्णन करूंगा। उनके नाम यह हैं—

१. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वंदना ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग और ६. प्रत्याख्यान।

विवेचन—यह प्रतिज्ञावाक्य है। पिंडार्थ के रूप में आवश्यकशास्त्र के जिस अर्थ का पूर्व में संकेत किया है उसी का विशद वर्णन करने के लिये यहाँ पृथक्-पृथक् अध्ययनों के नाम बताये हैं। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सामायिक अध्ययन सर्वसावद्ययोग की विरति का प्रतिपादक है।

चतुर्विंशतिस्तव अध्ययन चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन—गुणानुवाद किये जाने से उत्कीर्तन रूप है।

वंदना अध्ययन मूलगुणों एवं उत्तरगुणों से संपन्न मुनियों का बहुमान करने रूप होने से गुणवत्प्रतिपत्ति अर्थाधिकार है।

प्रतिक्रमण अध्ययन मूलगुणों और उत्तरगुणों से स्खलित होने पर लगे अतिचारों का निराकरण करने वाला होने से स्खलितनिन्दा अर्थाधिकार रूप है।

कायोत्सर्ग नामक पांचवाँ अध्ययन चारित्रपुरुष के अतिचाररूपी भावव्रण की प्रायश्चित्त रूप चिकित्सा करने के कारण व्रणचिकित्सा अर्थाधिकार है।

प्रत्याख्यान अध्ययन मूल और उत्तर गुणों को निरतिचार धारण करने रूप होने से गुण-धारणा अर्थाधिकारात्मक है।

यद्यपि कृत प्रतिज्ञानुसार आवश्यक, श्रुत और स्कन्ध के अनन्तर अध्ययन का निक्षेप किया जाना चाहिये था, किन्तु वक्ष्यमाण 'निक्षेप-अनुयोगद्वार' में निक्षेप किये जाने से यहाँ मात्र अध्ययनों के नामों का उल्लेख किया है।

अनुयोगद्वार-नामनिर्देश

७५. तत्थ पढमज्झयणं सामाइयं। तस्स णं इमे चत्तारि अणुओगद्दारा भवंति।

तं जहा—उवक्कमे १ णिक्खेवे २ अणुगमे ३ णए ४।

७५. इन (छह अध्ययनों) में से प्रथम सामायिक अध्ययन के यह चार अनुयोगद्वार हैं—

१. उपक्रम २. निक्षेप ३. अनुगम ४. नय।

विवेचन—'एक्केक्कं पुण अज्झयणं कित्तइस्सामि' के निर्देशानुसार सूत्रकार ने सामायिक सम्बन्धी विचारणा प्रारम्भ की है।

सामायिक के प्रथम उपन्यास का कारण—यह है कि सामायिक समस्त चारित्रगुणों का आधार और मानसिक, शारीरिक दुःखों के नाश तथा मुक्ति का प्रधान हेतु है।

सामायिक की निर्युक्ति—समस्य आय:—समाय: प्रयोजनमस्येति सामायिकम्—सर्वभूतों में आत्मवत् दृष्टि से संपन्न राग-द्वेष रहित आत्मा के (समभाव रूप) परिणाम को सम और इस सम की आय—प्राप्ति या ज्ञानादि गुणोत्कर्ष के साथ लाभ को समाय कहते हैं। यह समाय ही जिसका प्रयोजन है, उसका नाम सामायिक है।

अनुयोग—अध्ययन के अर्थ का कथन करने की विधि का नाम अनुयोग है। अथवा सूत्र के साथ उसका अनुकूल अर्थ स्थापित करना अनुयोग है।

उपक्रम—निक्षेप करने योग्य बनाने की रीति से दूरस्थ वस्तु का समीप लाना—प्रतिपादन करना। अथवा गुरु के जिस वचन-व्यापार द्वारा अथवा विनीत शिष्य के विनयादि गुणों से वस्तु निक्षेपयोग्य की जाती है उसे उपक्रम कहते हैं।

निक्षेप—नाम, स्थापना आदि के भेद से सूत्रगत पदों का न्यास—व्यवस्थापन करना।

अनुगम—सूत्र का अनुकूल अर्थ कहना।

नय—अनन्त धर्मात्मक वस्तु के शेष धर्मों को अपेक्षादृष्टि से गौण मानकर मुख्य रूप से एक अंश को ग्रहण करने वाला बोध।

उपक्रम आदि का क्रमविन्यास—निक्षेपयोग्यताप्राप्त वस्तु निक्षिप्त होती है और इस योग्य बनाने का कार्य उपक्रम द्वारा होता है। अतः सर्वप्रथम उपक्रम और तदनन्तर निक्षेप का निर्देश किया है। नाम आदि के रूप में निक्षिप्त वस्तु ही अनुगम की विषयभूत बनती है, इसलिये निक्षेप के अनन्तर अनुगम का तथा अनुगम से युक्त (ज्ञात) हुई वस्तु नयों द्वारा विचारकोटि में आती है, अतएव अनुगम के बाद नय का कथन किया गया है।

उपक्रम के भेद और नाम—स्थापना उपक्रम

७६. से किं तं उवक्कमे ?

उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—नामोवक्कमे १ ठवणोवक्कमे २ दव्वोवक्कमे ३ खेत्तोवक्कमे ४ कालोवक्कमे ५ भावोवक्कमे ६।

[७६ प्र.] भगवन् ! उपक्रम का स्वरूप क्या है ?

[७६ उ.] आयुष्मन् ! उपक्रम के छह भेद हैं। वे इस प्रकार—१. नाम-उपक्रम, २. स्थापना-उपक्रम, ३. द्रव्य-उपक्रम, ४. क्षेत्र-उपक्रम, ५. काल-उपक्रम, ६. भाव-उपक्रम।

७७. नाम-ठवणाओ गयाओ।

[७७] नाम-उपक्रम और स्थापना-उपक्रम का स्वरूप नाम-आवश्यक एवं स्थापना-आवश्यक के समान जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्रकार ने इन दो सूत्रों में उपक्रम के भेदों के साथ नाम और स्थापना उपक्रम का स्वरूप बतलाया है।

किसी चेतन या अचेतन पदार्थ का 'उपक्रम' ऐसा नाम रख लेना नाम-उपक्रम है और किसी पदार्थ में उपक्रम का आरोप करना—उपक्रम रूप से उसे मान लेना स्थापना-उपक्रम कहलाता है।

द्रव्य-उपक्रम

७८. से किं तं दव्वोवक्कमे ?

दव्वोवक्कमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—आगमओ य १ नोआगमओ य २ जाव जाणगसरीर-भवियसरीरवतिरित्ते दव्वोवक्कमे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सचित्ते १ अचित्ते २ मीसए ३।

[७८ प्र.] भगवन् ! द्रव्य-उपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[७८ उ.] आयुष्मन् ! द्रव्य-उपक्रम दो प्रकार का है—१. आगमद्रव्य-उपक्रम, २. नोआगम-द्रव्य-उपक्रम इत्यादि पूर्ववत् जानना चाहिये यावत् ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्य-उपक्रम के तीन प्रकार हैं। वे इस तरह—१. सचित्तद्रव्य-उपक्रम, २. अचित्तद्रव्य-उपक्रम, ३. मिश्रशरीरद्रव्य-उपक्रम।

विवेचन—सूत्र में द्रव्य-उपक्रम की व्याख्या तो की है, लेकिन कतिपय विषयों के लिये संकेत मात्र किया है, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिये—

भूतकालीन अथवा भविष्यत्कालीन उपक्रम की पर्याय को वर्तमान में उपक्रम रूप से कहना द्रव्य-उपक्रम है। इसके भी द्रव्यावश्यक के भेदों की तरह आगम और नोआगम को आश्रित करके दो भेद हैं। उनमें से उपक्रम के अर्थ का अनुपयुक्त ज्ञाता आगम की अपेक्षा द्रव्योपक्रम है और नोआगम को आश्रित करके ज्ञायकशरीर, भव्यशरीर तथा दोनों से व्यतिरिक्त, ये तीन भेद होते हैं। उनमें उपक्रम के अनुपयुक्त ज्ञाता का निर्जीव शरीर नोआगमज्ञायकशरीरद्रव्योपक्रम तथा जिस प्राप्त शरीर से जीव आगे उपक्रम के अर्थ को सीखेगा वह भव्यशरीरद्रव्योपक्रम है और इन दोनों से व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्योपक्रम का सूत्र में इस प्रकार से संकेत किया है—

जिस उपक्रम का विषय सचित्तद्रव्य है, अचित्तद्रव्य है और सचित्त-अचित्त दोनों प्रकार का द्रव्य है, उसे अनुक्रम से उभय-व्यतिरिक्त सचित्तद्रव्योपक्रम, अचित्तद्रव्योपक्रम और मिश्रद्रव्योपक्रम जानना चाहिये। इनका विशेषता के साथ स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

सचित्तद्रव्योपक्रम

७९. से किं तं सचित्तदव्वोवक्कमे ?

सचित्तदव्वोवक्कमे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—दुपयाणं १ चउप्पयाणं २ अपयाणं ३। एक्केक्के दुविहे—परिकम्मे य १ वत्थुविणासे य २।

[७९ प्र.] भगवन् ! सचित्तद्रव्योपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[७९ उ.] आयुष्मन् ! सचित्तद्रव्योपक्रम तीन प्रकार का कहा है। यथा—१. द्विपद—मनुष्यादि दो पैर वाले द्रव्यों का उपक्रम, २. चतुष्पद—चार पैर वाले पशु आदि का उपक्रम, ३. अपद—विना पैर वाले वृक्षादि द्रव्यों का उपक्रम। ये प्रत्येक उपक्रम भी दो-दो प्रकार के हैं—१. परिकर्मद्रव्योपक्रम, २. वस्तुविनाशद्रव्योपक्रम।

८०. से किं तं दुपए उवक्कमे ?

दुपए उवक्कमे दुपयाणं नडाणं नट्टाणं जल्लाणं मल्लाणं मुट्ठियाणं वेलंबगाणं कहगाणं पवगाणं लासगाणं आइक्खगाणं लंखाणं मंखाणं तूणइल्लाणं तुंबवीणियाणं कायाणं मागहाणं। से तं दुपए उवक्कमे।

[८० प्र.] भगवन् ! द्विपद-उपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[८० उ.] आयुष्मन् ! नटों, नर्तकों, जल्लों (रस्सी पर खेल करने वालों), मल्लों, मौष्टिकों (मुट्ठी से प्रहार करने वालों, पंजा लड़ाने वालों), वेलंबकों (विदूषकों, बहुरुपियों), कथकों (कथा-कहानी कहने वालों), प्लवकों (छलांग लगाने वालों, तैरने वालों), लासकों (हास्योत्पादक क्रियायें करने वालों, भांडों), आख्यायकों (शुभाशुभ बताने वालों), लंखों (बांस आदि पर चढ़कर खेल दिखाने वालों), मंखों (चित्रपट दिखाने वाले भिक्षुओं), तूणिकों (तंतुवाद्य-वादकों), तुंबवीणकों (तुम्बे की वीणा-वादकों), कावडियाओं तथा मागधों (मंगलपाठकों) आदि दो पैर वालों का परिकर्म और विनाश करने रूप उपक्रम—आयोजन द्विपदद्रव्योपक्रम है।

८१. से किं तं चउप्पए उवक्कमे ?

चउप्पए उवक्कमे चउप्पयाणं आसाणं हत्थीणं इच्चाइ । से तं चउप्पए उवक्कमे ।

[८१ प्र.] भगवन् ! चतुष्पदोपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[८१ उ.] आयुष्मन् ! चार पैर वाले अश्व, हाथी आदि पशुओं के उपक्रम को चतुष्पदोपक्रम कहते हैं ।

८२. से किं तं अपए उवक्कमे ?

अपए उवक्कमे अपयाणं अंबाणं अंबाडगाणं इच्चाइ । से तं अपए उवक्कमे । से तं सचित्त-दव्वोवक्कमे ।

[८२ प्र.] भगवन् ! अपद-द्रव्योपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[८२ उ.] आयुष्मन् ! आम, आम्रातक आदि बिना पैर वालों से संबन्धित उपक्रम को अपद-उपक्रम कहते हैं ।

इस प्रकार से सचित्तद्रव्योपक्रम का स्वरूप जानना चाहिये ।

विवेचन—इन तीन सूत्रों में सचित्तद्रव्योपक्रम का स्वरूप बतलाया गया है ।

सचेतन होने से द्विपद, चतुष्पद और अपद इन तीन में समस्त शरीरधारी जीवों का ग्रहण हो जाने से सचित्तद्रव्योपक्रम के तीन भेद बताये हैं ।

द्विपदों, चतुष्पदों और अपदों के रूप में क्रमशः नट आदि मनुष्यों, हाथी आदि चौपायों और आम आदि अपदों (वृक्षों) के नाम सुगमता से बोध कराने के लिये उदाहरण रूप में प्रयुक्त किये हैं ।

वस्तु के गुण, शक्तिविशेष की वृद्धि करने के प्रयत्न या उपाय को परिकर्म और वस्तु के विनाश के साधनों—तलवार आदि के द्वारा उनको विनष्ट किये जाने के प्रयत्न को वस्तुविनाश उपक्रम कहते हैं ।

नट, नर्तक आदि द्विपदों की शारीरिक शक्ति बढ़ाने वाले घृतादि पदार्थों का सेवन रूप प्रयत्नविशेष द्विपद परिकर्म-उपक्रम है और तलवार आदि के द्वारा इन्हीं का विनाश—घात करने रूप प्रयत्न—आयोजन वस्तुविनाशोपक्रम कहलाता है ।

इसी प्रकार चतुष्पदों और अपदों संबन्धी परिकर्म और विनाश विषयक उपक्रमों के लिये भी समझ लेना चाहिये ।

अचित्तद्रव्योपक्रम

८३. से किं तं अचित्तदव्वोवक्कमे ?

अचित्तदव्वोवक्कमे खंडाईणं गुडादीणं मत्स्यंडीणं । से तं अचित्तदव्वोवक्कमे ।

[८३ प्र.] भगवन् ! अचित्तद्रव्योपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[८३ उ.] आयुष्मन् ! खांड (शक्कर), गुड़, मिश्री अथवा राब आदि पदार्थों में उपाय-विशेष से मधुरता की वृद्धि करने और इनके विनाश करने रूप उपक्रम को अचित्तद्रव्योपक्रम कहते हैं।

मिश्रद्रव्योपक्रम

८४. से किं तं मीसए दव्वोवक्कमे ?

मीसए दव्वोवक्कमे से चेव थासग-आयंसगाइमंडिते आसादी। से तं मीसए दव्वोवक्कमे। से तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वोवक्कमे। से तं नोआगमओ दव्वोवक्कमे। से तं दव्वोवक्कमे।

[८४ प्र.] भगवन् ! मिश्रद्रव्योपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[८४ उ.] आयुष्मन् ! स्थासक, दर्पण आदि से विभूपित एवं (कुंकुम आदि से) मंडित अश्वादि सम्बन्धी उपक्रम को मिश्रद्रव्योपक्रम कहते हैं।

इस प्रकार से ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्योपक्रम का स्वरूप जानना चाहिये और इसके साथ ही नोआगमद्रव्योपक्रम एवं द्रव्योपक्रम की वक्तव्यता पूर्ण हुई।

विवेचन—अचित्तद्रव्योपक्रम की व्याख्या सुगम है, अचित्त पदार्थों में गुणात्मक वृद्धि अथवा उनको नष्ट करने के लिये किया जाने वाला प्रयत्न अचित्तद्रव्योपक्रम कहलाता है।

मिश्रद्रव्योपक्रम के विषय में यह जानना चाहिये—अश्व, बैल आदि सचित्त हैं और स्थासक, आदर्श, कुंकुम आदि अचित्त हैं। मिश्र शब्द द्वारा इन दोनों का बोध कराया है। ऐसे विभूपित, मंडित अश्वादि को शिक्षण देकर विशेष गुणों से युक्त करना तो परिकर्मरूप द्रव्योपक्रम है एवं तलवार आदि के द्वारा उनका प्राणनाश करना आदि वस्तुविनाशरूप द्रव्योपक्रम है।

शब्दार्थ—**थासग** (स्थासक)—अश्व को विभूपित करने वाला आभूपण। **आयंसग** (आदर्श)—बैल आदि के गले का दर्पण जैसा चमकीला आभूषण विशेष।

क्षेत्रोपक्रम

८५. से किं तं खेत्तोवक्कमे ?

खेत्तोवक्कमे जण्णं हल-कुलियादीहिं खेत्ताइं उवक्कामिज्जंति। से तं खेत्तोवक्कमे।

[८५ प्र.] भगवन् ! क्षेत्रोपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[८५ उ.] आयुष्मन् ! हल, कुलिक आदि के द्वारा जो क्षेत्र को उपक्रान्त किया जाता है, वह क्षेत्रोपक्रम है।

विवेचन—यहाँ संक्षेप में क्षेत्रोपक्रम का स्वरूप बतलाया है और क्षेत्र शब्द से गेहूं आदि अन्न को उत्पन्न करने वाले स्थान—खेत को ग्रहण किया है। अतएव हल और कुलिक—खेत में से तृणादि को हटाने के काम में आने वाला एक प्रकार का हल (देशी भाषा में इसे 'बखर' कहते हैं।) से जोतकर खेत को बीजोत्पादन योग्य बनाना परिकर्म विषयक क्षेत्रोपक्रम है और उसी क्षेत्र को हाथी आदि

बांध कर बीजोत्पादन के अयोग्य (वंजर) वना देना विनाश-विषयक क्षेत्रोपक्रम है। क्योंकि हाथी के मल-मूत्र से खेत की वीजोत्पादन शक्ति का नाश हो जाता है।

यद्यपि परिकर्म और विनाश क्षेत्रगत पृथ्वी आदि द्रव्यों के होने की अपेक्षा इसे द्रव्योपक्रम कहा जा सकता है, फिर भी क्षेत्रोपक्रम को पृथक् मानने का कारण यह है कि क्षेत्र का अर्थ है आकाश और आकाश अमूर्त है, अत: उसका तो उपक्रम नहीं होता है। किन्तु आधेय रूप में वर्तमान पृथ्वी आदि द्रव्यों का उपक्रम हो सकने से उनका उपक्रम—आधार रूप आकाश में उपचरित कर लिये जाने से उसे क्षेत्रोपक्रम कहते हैं। जैसे कि मञ्चा क्रोशन्ति—मंच बोलते हैं, ऐसा जो कहा जाता है वह आधेय रूप पुरुषों आदि को मंच रूप आधार में उपचरित करके कहा जाता है।

कालोपक्रम

८६. से किं तं कालोवक्कमे ?

कालोवक्कमे जं णं नालियादीहिं कालस्सोवक्कमणं कीरति। से तं कालोवक्कमे।

[८६ प्र.] भगवन् ! कालोपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[८६ उ.] आयुष्मन् ! नालिका आदि के द्वारा जो काल का यथावत् ज्ञान होता है, वह कालोपक्रम है।

विवेचन—सूत्रार्थ स्पष्ट है। नालिका (तांवे का वना पेंदे में एक छिद्र सहित पात्र-विशेष, जलघड़ी, रेतघड़ी आदि) अथवा कील आदि की छाया द्वारा काल का जो यथार्थ परिज्ञान किया जाता है वह परिकर्मरूप तथा नक्षत्रों आदि की चाल से जो कालविनाश होता है वह वस्तुविनाश रूप कालोपक्रम है।

काल द्रव्य का पर्याय है और द्रव्य-पर्याय का मेचकमणिवत् संवलित रूप होने से द्रव्योपक्रम के वर्णन में कालोपक्रम का भी कथन किया जा चुका मानना चाहिये। तथापि समय, आवलिका, मुहूर्त इत्यादि रूप से काल का स्वतंत्र अस्तित्व वताने के लिये कालोपक्रम का पृथक् निर्देश किया है।

भावोपक्रम

८७. से किं तं भावोवक्कमे ?

भावोवक्कमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—आगमतो य १ नोआगमतो य २।

[८७ प्र.] भगवन् ! भावोपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[८७ उ.] आयुष्मन् ! भावोपक्रम के दो प्रकार हैं। वे इस तरह—१. आगमभावोपक्रम, २. नोआगमभावोपक्रम।

८८. से किं तं आगमओ भावोवक्कमे ?

आगमओ भावोवक्कमे जाणए उवउत्ते। से तं आगमओ भावोवक्कमे।

[८८ प्र.] भगवन् ! आगमभावोपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[८८ उ.] आयुष्मन् ! उपक्रम के अर्थ को जानने के साथ जो उसके उपयोग से भी युक्त हो, वह आगमभावोपक्रम है।

८९. से किं तं नोआगमतो भावोवक्कमे ?

नोआगमतो भावोवक्कमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—पसत्थे य १ अपसत्थे य २।

[८९ प्र.] भगवन् ! नोआगमभावोपक्रम का स्वरूप क्या है ?

[८९ उ.] आयुष्मन् ! नोआगमभावोपक्रम दो प्रकार का कहा है। यथा—१. प्रशस्त और २. अप्रशस्त।

९०. से किं तं अपसत्थे भावोवक्कमे ?

अपसत्थे भावोवक्कमे डोडिणि-गणियाऽमच्चाईणं से तं अपसत्थे भावोवक्कमे।

[९० प्र.] भगवन् ! अप्रशस्त भावोपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[९० उ.] आयुष्मन् ! डोडणी ब्राह्मणी, गणिका और अमात्यादि का अन्य के भावों को जानने रूप उपक्रम अप्रशस्त नोआगमभावोपक्रम है।[1]

९१. से किं तं पसत्थे भावोवक्कमे ?

पसत्थे भावोवक्कमे गुरुमादीणं। से तं पसत्थे भावोवक्कमे। से तं नोआगमतो भावोवक्कमे। से तं भावोवक्कमे।

[९१ प्र.] भगवन् ! प्रशस्त भावोपक्रम का क्या स्वरूप है ?

[९१ उ.] आयुष्मन् ! गुरु आदि के अभिप्राय को यथावत् जानना प्रशस्त नोआगमभावोपक्रम है।

इस प्रकार से नोआगमभावोपक्रम का और इसके साथ ही भावोपक्रम का वर्णन पूर्ण हुआ जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्रकार ने यहाँ सप्रभेद भावोपक्रम का स्वरूप निर्देश करने के साथ भावोपक्रम की वक्तव्यता की समाप्ति का संकेत किया है।

भावोपक्रम—स्वभाव, सत्ता, आत्मा, योनि और अभिप्राय ये भाव शब्द के पांच अर्थ हैं। इनमें से यहाँ अभिप्राय अर्थ ग्रहण किया गया है। अतएव अर्थ यह हुआ कि भाव—अभिप्राय के यथावत् परिज्ञान को भावोपक्रम कहते हैं और उपक्रम शब्द के अर्थ के ज्ञान के साथ उसके उपयोग से युक्त जीव आगमभावोपक्रम कहलाता है।

नोआगमभावोपक्रम के अप्रशस्त और प्रशस्त यह दो भेद होने का कारण यह है कि डोडिणी, ब्राह्मणी आदि ने परकीय अभिप्राय को जाना तो अवश्य किन्तु वह सांसारिक फलजनक होने से अप्रशस्त है। गुरु आदि का अभिप्राय मोक्ष का कारण होने से प्रशस्त है।

---

१. इन दृष्टान्तों के कथानक परिशिष्ट में देखिये।

लौकिक दृष्टि की अपेक्षा यह उपक्रम का वर्णन जानना चाहिये। अब शास्त्रीय पद्धति से उपक्रम का निरूपण करते हैं।

उपक्रम वर्णन की शास्त्रीय दृष्टि

९२. अहवा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—आणुपुव्वी १ नामं २ पमाणं ३ वत्तव्वया ४ अत्थाहिगारे ५ समोयारे ६।

[९२] अथवा उपक्रम के छह प्रकार हैं। यथा—१. आनुपूर्वी, २. नाम, ३. प्रमाण, ४. वक्तव्यता, ५. अर्थाधिकार और ६. समवतार।

विवेचन—प्रकारान्तर से उपक्रम के इन भेदों का निर्देश करने का कारण यह है कि पूर्व में जिस प्रशस्त भावोपक्रम का वर्णन किया है, वह गुरुभावोपक्रप रूप है। पूर्व में आदि शब्द से ग्रहण किये गये शास्त्रीय भावोपक्रम का वर्णन यहाँ प्रस्तुत है। आनुपूर्वी आदि प्रकारों द्वारा किये जाने से उसके छह भेद हो जाते हैं।

आनुपूर्वी निरूपण

९३. से किं तं आणुपुव्वी ?

आणुपुव्वी दसविहा पण्णत्ता। तं जहा—नामाणुपुव्वी १ ठवणाणुपुव्वी २ दव्वाणुपुव्वी ३ खेत्ताणुपुव्वी ४ कालाणुपुव्वी ५ उक्कित्तणाणुपुव्वी ६ गणणाणुपुव्वी ७ संठाणाणुपुव्वी ८ सामायारियाणुपुव्वी ९ भावाणुपुव्वी १०।

[९३ प्र.] भगवन् ! आनुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[९३ उ.] आयुष्मन् ! आनुपूर्वी दस प्रकार की है। वह इस प्रकार—१. नामानुपूर्वी, २. स्थापनानुपूर्वी, ३. द्रव्यानुपूर्वी, ४. क्षेत्रानुपूर्वी, ५. कालानुपूर्वी, ६. उत्कीर्तनानुपूर्वी, ७. गणनानुपूर्वी, ८. संस्थानानुपूर्वी, ९. समाचार्यनुपूर्वी, १०. भावानुपूर्वी।

विवेचन—सूत्र में शास्त्रोपक्रम के प्रथम भेद आनुपूर्वी के दस नामों को गिनाया है। जिनका यथाक्रम विवेचन आगे किया जाएगा।

आनुपूर्वी—आनुपूर्वी, अनुक्रम एवं परिपाटी, ये आनुपूर्वी के पर्यायवाची शब्द हैं। अतः अर्थ यह हुआ कि अनुक्रम—एक के पीछे दूसरा ऐसी परिपाटी को आनुपूर्वी कहते हैं—पूर्वस्य अनु—पश्चादनुपूर्व तस्य भावः आनुपूर्वी।

नाम-स्थापना आनुपूर्वी

९४. से किं तं णामाणुपुव्वी ?

नाम-ठवणाओ तहेव।

[९४ प्र.] भगवन् ! नाम (स्थापना) आनुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[९४ उ.] आयुष्मन् ! नाम और स्थापना आनुपूर्वी का स्वरूप नाम और स्थापना आवश्यक जैसा जानना चाहिये।

द्रव्यानुपूर्वी

९५. दव्वाणुपुव्वी जाव से किं तं जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुपुव्वी ?

जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—उवणिहिया य १ अणोवणिहिया य २।

[९५] द्रव्यानुपूर्वी का स्वरूप भी ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यानुपूर्वी के पहले तक सभेद द्रव्यावश्यक के समान जानना चाहिये।

प्र. भगवन् ! ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

उ. आयुष्मन् ! ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यानुपूर्वी दो प्रकार की कही है। यथा—१ औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी और २ अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी।

९६. तत्थ णं जा सा उवणिहिया सा ठप्पा।

[९६] इनमें से औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी स्थाप्य है। तथा—

९७. तत्थ णं जा सा अणोवणिहिया सा दुविहा पन्नत्ता। तं जहा—णेगम-ववहाराणं १ संगहस्स य २।

[९७] अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी के दो प्रकार हैं—१ नैगम-व्यवहारनयसंमत, २ संग्रहनयसंमत।

विवेचन—सूत्र संख्या ९४-९५ में नाम, स्थापना आनुपूर्वी तथा द्रव्यानुपूर्वी के कतिपय भेदों का स्वरूप सदृश नाम वाले आवश्यक के भेदों के जैसा समझने का अतिदेश किया है। इसके अतिरिक्त विशेष कथनीय इस प्रकार है—

औपनिधिकी आनुपूर्वी—इसका मूल शब्द उपनिधि है। जिसमें 'उप' का अर्थ है समीप तथा 'निधि' का अर्थ है रखना। अतएव किसी एक विवक्षित पदार्थ को पहले व्यवस्थापित करके फिर उसके पास ही पूर्वानुपूर्वी आदि के क्रम से अन्यान्य पदार्थों को रखे जाने को उपनिधि कहते हैं और यह उपनिधि जिस आनुपूर्वी का प्रयोजन है, उसे औपनिधिकी आनुपूर्वी कहते हैं।

अनौपनिधिकी आनुपूर्वी—अनुपनिधि—पूर्वानुपूर्वी आदि के क्रमानुसार पदार्थ की स्थापना, व्यवस्था नहीं करना अनौपनिधिकी आनुपूर्वी कहलाती है।

इन दोनों में अल्पविषय वाली होने से औपनिधिकी आनुपूर्वी को गौण मानकर पहले बहुविषय वाली अनौपनिधिकी आनुपूर्वी का वर्णन प्रारंभ किया है। औपनिधिकी आनुपूर्वी का कथन आगे किया जाएगा।

अनौपनिधिकी आनुपूर्वी की द्विविधता—नैगम, संग्रह, व्यवहार आदि सात नयों का द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों में अन्तर्भाव हो जाता है। द्रव्यार्थिकनय द्रव्य ही परमार्थ है, इस प्रकार पर्यायों को गौण करके द्रव्य को स्वीकार करता है और पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से पर्यायें ही मुख्य हैं—सत् हैं। नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीन नय द्रव्य को ही विषय करने वाले

होने से द्रव्यार्थिकनय हैं तथा ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये चार नय पर्यायों को विषय करने वाले होने से पर्यायार्थिकनय हैं।

सामान्य से द्रव्यार्थिकनय दो प्रकार का है—१ विशुद्ध, २ अविशुद्ध। नैगम और व्यवहार नय अनन्त परमाणु, अनन्त द्व्यणुक आदि अनेक व्यक्ति स्वरूप और कृष्णादि अनेक गुणों के आधारभूत त्रिकालवर्ती द्रव्य को विषय करने वाले होने से अविशुद्ध हैं और संग्रहनय स्वजाति की अपेक्षा परमाणु आदि एक सामान्य रूप द्रव्य को ही विषय करता है। यह द्रव्यगत पूर्वापर विभाग को नहीं मानता है। इसकी दृष्टि में अनेक भिन्न-भिन्न परमाणु आदि भी परमाणुत्व आदि रूप से समानता वाले होने के कारण एक हैं, अतः उनमें भी भेद नहीं है। इन सब कारणों से संग्रहनय विशुद्ध है। अतएव द्रव्यार्थिकनय के मत से द्रव्यानुपूर्वी का शुद्ध-अशुद्ध स्वरूप बताने के लिये अनौपनिधिकी आनुपूर्वी के दो भेद हो जाते हैं।

स्कन्ध में अनौपनिधिकी आनुपूर्वी कैसे? जिज्ञासु का प्रश्न है कि स्कन्ध अनन्तप्रदेशी तक के होते हैं। उनमें कोई त्रिप्रदेशी, कोई चतुःप्रदेशी इस प्रकार उत्तरोत्तर समस्त स्कन्ध क्रमपूर्वक होने से उनमें पूर्वानुपूर्वी के क्रम से स्थापना की व्यवस्था होने के कारण औपनिधिकित्व संभव है, अनौपनिधिकरूपता कैसे? इसका उत्तर यह है कि स्कन्धगत त्रिप्रदेशिकता आदि किसी के द्वारा क्रम से रखकर नहीं बनाई गई है। वह तो स्वभाव से ही है। सभी स्कन्ध स्वाभाविक परिणाम से परिणत होते रहते हैं। अतएव स्कन्ध में अनौपनिधिकीपन है। जहाँ तीर्थंकर आदि के द्वारा पूर्वानुपूर्वी के क्रम से वस्तुओं की व्यवस्था होती है, वहाँ पर औपनिधिकी आनुपूर्वी होती है। जैसे धर्म, अधर्म आदि छह द्रव्यों में अथवा सामायिक आदि छह अध्ययनों में।

अनौपनिधिकी में आनुपूर्वित्व कैसे?—यद्यपि अनौपनिधिकी में पूर्वानुपूर्वी के क्रम से व्यवस्थापन नहीं होता है, फिर भी तीन आदि परमाणुओं में आदि, मध्य और अन्त रूप नियत क्रम से व्यवस्थापन की योग्यता ही आनुपूर्वित्व का कारण है।

पाठभेद—अत्रोक्त सूत्र ९४-९५ के स्थान पर किसी-किसी प्रति में निम्न प्रकार से विस्तृत पाठ है—

नामठवणाओ गयाओ, से किं तं दव्वाणुपुव्वी? २ दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—आगमओ अ नोआगमओ अ। से किं तं आगमओ दव्वाणुपुव्वी? २ जस्स णं आणुपुव्वित्ति पयं सिक्खियं ठियं जियं मियं परिजियं जाव नो अणुप्पेहाए, कम्हा? अणुवओगो दव्वमितिकट्टु, णेगमस्स णं एगो अणुवउत्तो आगमओ एगा दव्वाणुपुव्वी जाव कम्हा? जइ जाणए अणुवउत्ते न भवइ से तं आगमओ दव्वाणुपुव्वी। से किं तं नोआगमओ दव्वाणुपुव्वी? २ तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—जाणयसरीरदव्वाणुपुव्वी भविअसरीरदव्वाणुपुव्वी, जाणयसरीर-भविअसरीरवइरित्तादव्वाणुपुव्वी। से किं तं जाणयसरीर-दव्वाणुपुव्वी? २ पयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुयचावियचत्तदेहं सेसं जहा दव्वावस्सए तहा भाणिअव्वं जाव से तं जाणयसरीरदव्वाणुपुव्वी। से किं तं भविअसरीरदव्वाणुपुव्वी? २ जे जीवे जोणीजम्मणनिक्खंते सेसं जहा दव्वावस्सए जाव से तं भविअसरीरदव्वाणुपुव्वी।

सूत्रपाठ का आशय स्पष्ट है।

नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी के भेद

९८. से किं तं णेगम-ववहाराणं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी ?

णेगम-ववहाराणं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा—अट्ठपयपरूवणया १ भंगसमुक्कित्तणया २ भंगोवदंसणया ३ समोयारे ४ अणुगमे ५ ।

[९८ प्र.] भगवन् ! नैगमनय और व्यवहारनय द्वारा मान्य अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[९८ उ.] आयुष्मन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत द्रव्यानुपूर्वी के पांच प्रकार हैं। वे इस प्रकार—१ अर्थपदप्ररूपणा, २ भंगसमुत्कीर्तनता, ३ भंगोपदर्शनता, ४ समवतार और ५ अनुगम ।

विवेचन—नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी का जिन पांच प्रकारों द्वारा विचार किया जाता है, उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

अर्थपदप्ररूपणा—त्र्यणुक स्कन्ध आदि रूप अर्थ को विषय करने वाले पद की प्ररूपणा करना। अर्थात् सर्वप्रथम संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध मात्र का कथन करना अर्थपदप्ररूपणा है ।

भंगसमुत्कीर्तनता—आनुपूर्वी आदि के पदों से निष्पन्न हुए पृथक्-पृथक् भंगों का और संयोगज दो आदि भंगों का संक्षेप रूप में कथन करना भंगसमुत्कीर्तनता है ।

भंगोपदर्शनता—सूत्र रूप में उच्चारित हुए उन्हीं भंगों में से प्रत्येक भंग का अपने अभिधेय रूप त्र्यणुकादि अर्थ के साथ उपदर्शन—कथन करना । अर्थात् भंगसमुत्कीर्तन में तो मात्र भंगविषयक सूत्र का ही उच्चारण होता है और भंगोपदर्शन में वही सूत्र अपने विषयभूत अर्थ के साथ कहा जाता है । यही दोनों में अन्तर है ।

समवतार—आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का स्वस्थान और परस्थान में अन्तर्भाव होने के विचारों के प्रकार का नाम समवतार है ।

अनुगम—आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का सत्पदप्ररूपणा आदि अनुयोगद्वारों से विचार करना अनुगम है ।

नैगम-व्यवहारनयसंमत अर्थपदप्ररूपणा और प्रयोजन

९९. से किं तं णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणया ?

णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणया तिपएसिए आणुपुव्वी, चउपएसिए आणुपुव्वी जाव दसपएसिए आणुपुव्वी, संखेज्जपदेसिए आणुपुव्वी, असंखेज्जपदेसिए आणुपुव्वी, अणंतपएसिए आणुपुव्वी । परमाणुपोग्गले अणाणुपुव्वी । दुपएसिए अवत्तव्वए । तिपएसिया आणुपुव्वीओ जाव अणंतपएसिया आणुपुव्वीओ । परमाणुपोग्गला अणाणुपुव्वीओ । दुपएसिया अवत्तव्वगाइं । से तं णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणया ।

[९९ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत अर्थपद की प्ररूपणा का क्या स्वरूप है ?

[९९ उ.] आयुष्मन् ! (तीन प्रदेश वाला) त्र्यणुकस्कन्ध आनुपूर्वी है । इसी प्रकार चतुष्प्रदेशिक आनुपूर्वी यावत् दसप्रदेशिक, संख्यातप्रदेशिक, असंख्यातप्रदेशिक और अनन्तप्रदेशिक

स्कन्ध आनुपूर्वी है। किन्तु परमाणु पुद्गल अनानुपूर्वी रूप है। द्विप्रदेशिक स्कन्ध अवक्तव्य है। अनेक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध यावत् अनेक अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वियाँ—अनेक आनुपूर्वी रूप हैं। अनेक पृथक्-पृथक् पुद्गल परमाणु अनेक अनानुपूर्वी रूप हैं। अनेक द्विप्रदेशिक स्कन्ध अनेक अवक्तव्य हैं। इस प्रकार नैगम-व्यवहारनयसंमत अर्थपदप्ररूपणा का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में नैगम-व्यवहारनयसंमत अर्थपदप्ररूपणा की व्याख्या की गई है। यहाँ यह समझना चाहिये कि आनुपूर्वी परिपाटी को कहते हैं और परिपाटी रूप आनुपूर्वी वहीं होती है जहाँ आदि, मध्य और अन्त रूप गणना का व्यवस्थित क्रम होता है। ये आदि, मध्य और अन्त त्रिप्रदेशिक स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध एवं स्कन्धों में होते हैं। इसलिये इनमें प्रत्येक स्कन्ध आनुपूर्वी रूप होता है।

परमाणु अनानुपूर्वी रूप क्यों?—एक परमाणु अथवा पृथक्-पृथक् स्वतंत्र सत्ता वाले अनेक परमाणुओं में आदि, मध्य और अंतरूपता नहीं होने से वे अनानुपूर्वी हैं। आनुपूर्वीरूपता उनमें संभव नहीं है।

द्विप्रदेशिक स्कन्ध की अवक्तव्यता का कारण—यद्यपि द्विप्रदेशिक स्कन्ध में दो परमाणु संश्लिष्ट रहते हैं, इसलिये यहाँ अन्योन्यापेक्षा पूर्वस्य अनु-पश्चात्—अर्थात् एक के बाद दूसरा, इस प्रकार की अनुपूर्वरूपता—आनुपूर्वी है। किन्तु मध्य के अभाव में संपूर्ण गणनानुक्रम नहीं बन पाने से द्विप्रदेशिक स्कन्ध में गणनानुक्रमात्मक आनुपूर्वी रूप से कथन किया जाना अशक्य है और द्विप्रदेशी स्कन्ध में परस्पर की अपेक्षा पूर्व-पश्चाद्भाव का सद्भाव होने से पुद्गल परमाणु की तरह अनानुपूर्वी रूप से भी उसे नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार आनुपूर्वी और अनानुपूर्वी रूप से कहा जाना शक्य नहीं होने से यह द्विप्रदेशिक स्कन्ध अवक्तव्य है।

आदि, मध्य, अन्त का वाच्यार्थ—आदि अर्थात् जिससे पर (अगला) है किन्तु पूर्व नहीं। जिससे पूर्व भी है और पर भी है, यह मध्य और जिससे पूर्व तो है किन्तु पर नहीं, वह अन्त कहलाता है।

बहुवचनान्त पदों का निर्देश क्यों?—त्रिप्रदेशिक आनुपूर्वी है इत्यादि एक वचनान्त से संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध का कथन सिद्ध हो जाने पर भी आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का हरएक भेद अनन्त व्यक्ति रूप है तथा नैगम एवं व्यवहारनय का ऐसा सिद्धान्त है, इस बात को प्रदर्शित करने के लिये 'त्रिप्रदेशाः आनुपूर्व्यः' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग किया है। अर्थात् त्रिप्रदेशिक एकद्रव्यरूप एक ही आनुपूर्वी नहीं किन्तु त्रिप्रदेशिकद्रव्य अनन्त हैं, अतः उतनी ही अनन्त आनुपूर्वियों की सत्ता है।

क्रमविन्यास में हेतु—सूत्रकार ने एक परमाणु से निष्पन्न अनानुपूर्वी द्रव्य, परमाणुद्वय के संबन्ध से निष्पन्न अवक्तव्य द्रव्य और फिर परमाणुत्रय के संश्लेष से निष्पन्न आनुपूर्वी द्रव्य, इस प्रकार द्रव्य की वृद्धिरूप पूर्वानुपूर्वी क्रम का तथा इसी प्रकार परमाणुत्रयनिष्पन्न आनुपूर्वी, परमाणुद्वय-निष्पन्न अवक्तव्य और एक परमाणुनिष्पन्न अनानुपूर्वी रूप पश्चानुपूर्वी का उल्लंघन करके पहले आनुपूर्वी द्रव्य का, तदनन्तर अनानुपूर्वी द्रव्य का और सबसे अंत में अवक्तव्य द्रव्य का निर्देश यह स्पष्ट करने के लिये किया है कि आनुपूर्वी द्रव्यों की अपेक्षा अनानुपूर्वी द्रव्य अल्प हैं और अनानुपूर्वी

द्रव्यों की अपेक्षा अवक्तव्य द्रव्य और भी अल्प हैं। इस प्रकार से द्रव्य की अल्पता-न्यूनता का निर्देश करने के लिये सूत्र में यह क्रमविन्यास किया है।

१००. एयाए णं णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए किं पओयणं ?

एयाए णं णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए भंगसमुक्कित्तणया कीरइ।

[१०० प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत इस अर्थपदप्ररूपणा रूप आनुपूर्वी से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ?

[१०० उ.] आयुष्मन् ! इस नैगम-व्यवहारनयसंमत अर्थपदप्ररूपणा द्वारा भंगसमुत्कीर्तना की जाती है अर्थात् भंगों का कथन किया जाता है।

विवेचन—सूत्र में यह स्पष्ट किया है कि अर्थपदप्ररूपणा का प्रयोजन यह है कि उसके बाद भंगसमुत्कीर्तन रूप कार्य होता है। तात्पर्य यह है कि अर्थपदप्ररूपणा में आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी, अवक्तव्य संज्ञायें निश्चित होने के बाद ही भंगों का समुत्कीर्तन (कथन) हो सकता है, अन्यथा नहीं।

नैगम-व्यवहारनयसंमत भंगसमुत्कीर्तन और उसका प्रयोजन

१०१. से किं तं णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया ?

णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आणुपुव्वी १ अत्थि अणाणुपुव्वी २ अत्थि अवत्तव्वए ३ अत्थि आणुपुव्वीओ ४ अत्थि अणाणुपुव्वीओ ५ अत्थि अवत्तव्वयाइं ६। अहवा अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य १ अहवा अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वीओ य २ अहवा अत्थि आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वी य ३ अहवा अत्थि आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वीओ य ट्क[1], अहवा अत्थि आणुपुव्वी य अवत्तव्वए य १ अहवा अत्थि आणुपुव्वी य अवत्तव्वयाइं च २ अहवा अत्थि आणुपुव्वीओ य अवत्तव्वए य ३ अहवा अत्थि अणुपुव्वीओ य अवत्तव्वयाइं च ट्क, अहवा अत्थि अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य १ अहवा अत्थि अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वयाइं च २ अहवा अत्थि अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वए य ३ अहवा अत्थि अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वयाइं च ट्क। अहवा अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य १ अहवा अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वयाइं च २ अहवा अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वए य ३ अहवा अत्थि आणुपुव्वी य अणाणु-पुव्वीओ य अवत्तव्वयाइं च ट्क अहवा अत्थि आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य ५ अहवा अत्थि आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वयाइं च ६ अहवा अत्थि आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वए य ७ अहवा अत्थि आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वयाइं च ८, एए अट्ठ भंगा। एवं सव्वे वि छव्वीसं भंगा २६। से तं णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया।

[१०१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत भंगसमुत्कीर्तन का क्या स्वरूप है ?

[१०१ उ.] आयुष्मन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तन का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—

---

१. 'ट्क' चार (४) संख्या का द्योतक अक्षरांक है।

१. आनुपूर्वी है, २. अनानुपूर्वी है, ३. अवक्तव्य है, ४. आनुपूर्वियां हैं, ५. अनानुपूर्वियां हैं, ६. (अनेक) अवक्तव्य हैं। अथवा—

१ आनुपूर्वी और अनानुपूर्वी है, २. आनुपूर्वी और अनानुपूर्वियां हैं, ३. आनुपूर्वियां और अनानुपूर्वी है, ४. आनुपूर्वियां और अनानुपूर्वियां हैं। अथवा—

१. आनुपूर्वी और अवक्तव्यक है, २. आनुपूर्वी और (अनेक) अवक्तव्य हैं, ३. आनुपूर्वियां और अवक्तव्य है ४. आनुपूर्वियां और (अनेक) अवक्तव्य हैं। अथवा—

१. अनानुपूर्वी और अवक्तव्य है, २. अनानुपूर्वी और (अनेक) अवक्तव्य हैं, ३. अनानुपूर्वियां और (एक) अवक्तव्य है, ४. अनानुपूर्वियां और अनेक अवक्तव्य हैं। अथवा—

१. आनपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्य है, २. आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अनेक अवक्तव्य हैं, ३. आनुपूर्वी, अनानुपूर्वियां और अवक्तव्य है, ४. आनुपूर्वी, अनानुपूर्वियां और अनेक अवक्तव्य हैं, ५. आनुपूर्वियां, अनानुपूर्वी और अवक्तव्य है, ६ आनुपूर्वियां, अनानुपूर्वी और अनेक अवक्तव्य हैं, ७. आनुपूर्वियां, अनानुपूर्वियां और अवक्तव्य है, ८. आनुपूर्वियां, अनानुपूर्वियां और अनेक अवक्तव्य हैं, इस प्रकार यह आठ भंग हैं।

ये सब मिलकर छब्बीस भंग होते हैं। यह नैगम-व्यवहारनयसम्मतभंगसमुत्कीर्तनता का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में नैगम-व्यवहारनयसम्मत छब्बीस भंगों का समुत्कीर्तन (कथन) किया है। जो परस्पर संयोग और असंयोग की अपेक्षा से बनते हैं। इन छब्बीस भंगों के मूल आधार आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्य यह तीन पदार्थ हैं। इनके असंयोग पक्ष में एकवचनान्त तीन और बहुवचनान्त तीन इस प्रकार छह भंग होते हैं।

संयोगपक्ष में इन तीन पदों के द्विकसंयोगी भंग तीन चतुर्भंगी रूप होने से कुल बारह हैं। इन एक-एक भंग में दो-दो का संयोग होने पर एकवचन और बहुवचन को लेकर चार-चार भंग होते हैं। इसलिये तीन चतुर्भंगी और उनके कुल बारह भंग हो जाते हैं।

त्रिकसंयोग में एकवचन और बहुवचन को लेकर आठ भंग बनते हैं। इस प्रकार छह, बारह और आठ भंगों को मिलाने से कुल छब्बीस भंग हो जाते हैं। सुगमता से बोध के लिये उनका प्रारूप इस प्रकार है—

असंयोगी भंग ६	**द्विकसंयोगी भंग १२** (प्रथम चतुर्भंगी)	**त्रिकसंयोगी भंग ८**
१. आनुपूर्वी	१. आनुपूर्वी—अनानुपूर्वी,	१. आनुपूर्वी—अनानुपूर्वी—अवक्तव्य,
२. अनानुपूर्वी	२. आनुपूर्वी—अनानुपूर्वियां,	२. आनुपूर्वी—अनानुपूर्वी—अनेक अवक्तव्यक,
३. अवक्तव्यक	३. आनुपूर्वियां—अनानुपूर्वी,	३. आनुपूर्वी—अनानुपूर्वियां—अवक्तव्यक,
४. आनुपूर्वियां	४. आनुपूर्वियां—अनानुपूर्वियां।	
५. अनानुपूर्वियां		
६. अनेक अवक्तव्यक		

(द्वितीय चतुर्भंगी)

१. आनुपूर्वी—अवक्तव्यक,
२. आनुपूर्वी—अनेक अवक्तव्यक,
३. आनुपूर्वियां—अवक्तव्यक,
४. आनुपूर्वियां—अनेक अवक्तव्य।

(तृतीय चतुर्भंगी)

१. अनानुपूर्वी—अवक्तव्यक,
२. अनानुपूर्वी—अनेक अवक्तव्यक
३. अनानुपूर्वियां—अवक्तव्यक,
४. अनानुपूर्वियां—अनेक अवक्तव्यक।

४. आनुपूर्वी—अनानुपूर्वियां—अनेक अवक्तव्यक,
५. आनुपूर्वियां—अनानुपूर्वी—अवक्तव्यक,
६. आनुपूर्वियां—अनानुपूर्वी, अनेक अवक्तव्यक,
७. आनुपूर्वियां—अनानुपूर्वियां—अवक्तव्यक
८. आनुपूर्वियां—अनानुपूर्वियां—अनेक अवक्तव्यक।

कुल मिलाकर बारह भंग होते हैं।

इन भंगों का समुत्कीर्तन—वर्णन इसलिये किया जाता है कि असंयोगी छह और संयोगज बीस भंगों में से वक्ता जिस भंग से द्रव्य की विवक्षा करना चाहता है, वह उस भंग से विवक्षित द्रव्य को कहे। इसी कारण यहाँ नैगम-व्यवहारनयसंमत समस्त भंगों का कथन करने के लिये इन भंगों का समुत्कीर्तन किया है।

१०२. एयाए णं णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओयणं ?

एयाए णं णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए भंगोवदंसणया कीरइ।

[१०२ प्र.] भगवन् ! इस नैगम-व्यवहारनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता का क्या प्रयोजन है ?

[१०२ उ.] आयुष्मन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता का प्रयोजन यह है कि उसके द्वारा भंगोपदर्शन—भंगों का कथन किया जाता है।

विवेचन—सूत्र में समुत्कीर्तन का प्रयोजन बताया है। यद्यपि भंगसमुत्कीर्तन और भंगोपदर्शन का आशय स्थूल दृष्टि से एक जैसा प्रतीत होता है, लेकिन शब्दभेद से अर्थभेद होने के न्यायानुसार दोनों में अंतर है। वह इस प्रकार—भंगसमुत्कीर्तन में तो भंगों का नाम और वे कितने होते हैं, यह बतलाते हैं और भंगोपदर्शन में उनका त्र्यणुक आदि वाच्यार्थ कहा जाता है। क्योंकि वाचकसूत्र के कथन के बिना वाच्य रूप अर्थ का कथन करना असंभव है। इसलिये भंगोपदर्शनता, भंगसमुत्कीर्तनता का फल जानना चाहिये। अर्थात् भंगसमुत्कीर्तनता कारण है और भंगोपदर्शन उसका कार्य है।

नैगम-व्यवहारनयसम्मत भंगोपदर्शनता

१०३. से किं तं णेगम-ववहाराणं भंगोवदंसणया ?

णेगम-ववहाराणं भंगोवदंसणया तिपदेसिए आणुपुव्वी १ परमाणुपोग्गले अणाणुपुव्वी २ दुपदेसिए अवत्तव्वए ३ तिपदेसिया आणुपुव्वीओ ४ परमाणुपोग्गला अणाणुपुव्वीओ ५ दुपदेसिया

अवत्तव्वयाइं ६। अहवा तिपदेसिए य परमाणुपोग्गले य आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य १ अहवा तिपदेसिए य परमाणुपोग्गला य आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वीओ य २ अहवा तिपदेसिया य परमाणुपोग्गले य आणपुव्वीओ य अणाणुपुव्वी य ३ अहवा तिपदेसिया य परमाणुपोग्गला य आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वीओ य ४, अहवा तिपदेसिए य दुपदेसिए य आणुपुव्वी य अवत्तव्वए य १ अहवा तिपदेसिए य दुपदेसिया य आणुपुव्वी य अवत्तव्वयाइं च २ अहवा तिपदेसिया य दुपदेसिए य आणुपुव्वीओ य अवत्तव्वए य ३ अहवा तिपदेसिया य दुपदेसिया य आणुपुव्वीओ य अवत्तव्वयाइं च ४, अहवा परमाणुपोग्गले य दुपदेसिए य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य १ अहवा परमाणुपोग्गले य दुपदेसिया य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वयाइं च २ अहवा परमाणुपोग्गला य दुपदेसिए य अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वए य ३ अहवा परमाणुपोग्गला य दुपदेसिया य अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वयाइं च ४। अहवा तिपदेसिए य परमाणुपोग्गले य दुपदेसिए य आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य १ अहवा तिपदेसिए य परमाणुपोग्गले य दुपदेसिया य आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वयाइं च २ अहवा तिपदेसिए य परमाणुपोग्गला य दुपदेसिए य आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वए य ३ अहवा तिपएसिए य परमाणुपोग्गला य दुपदेसिया य आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वीयो य अवत्तव्वयाइं च ट्क अहवा तिपदेसिया य परमाणुपोग्गले य दुपदेसिए य आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य ५ अहवा तिपदेसिया य परमाणुपोग्गले य दुपदेसिया य आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वयाइं च ६ अहवा तिपदेसिया य परमाणुपोग्गला य दुपदेसिए य आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वए य ७ अहवा तिपदेसिया य परमाणुपोग्गला य दुपदेसिया य आणुपुव्वीओ य अणाणुपुव्वीओ य अवत्तव्वयाइं च ८। से तं नेगम-ववहाराणं भंगोवदंसणया।

[१०३ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत भंगोपदर्शनता का क्या स्वरूप है ?

[१०३ उ.] आयुष्मन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत भंगोपदर्शनता का स्वरूप इस प्रकार है—

१. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी है, २. परमाणुपुद्गल अनानुपूर्वी है, ३ द्विप्रदेशिक स्कन्ध अवक्तव्य है, ४. त्रिप्रदेशिक अनेक स्कन्ध आनुपूर्वियाँ हैं, ५. अनेक परमाणु पुद्गल अनानुपूर्वियाँ हैं, ६. अनेक द्विप्रदेशिक स्कन्ध अवक्तव्यक हैं। (इस प्रकार से असंयोगी छह भंगों का अर्थ जानना चाहिये।) अथवा—

१. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और परमाणुपुद्गल आनुपूर्वी और अनानुपूर्वी रूप है, २. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और अनेक परमाणुपुद्गल आनुपूर्वी और अनानुपूर्वियों का वाच्यार्थ है, ३. अनेक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और परमाणुपुद्गल आनुपूर्वियां और अनानुपूर्वी है, ४ अनेक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और अनेक परमाणुपुद्गल आनुपूर्वियों और अनानुपूर्वियों का रूप हैं। अथवा—

१. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और द्विप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी-अवक्तव्य रूप है, २. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और अनेक द्विप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी अवक्तव्यक रूप हैं, ३. अनेक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और द्विप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वियाँ और अवक्तव्य रूप हैं, ४. अनेक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और अनेक द्विप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वियों और अवक्तव्यकों रूप हैं। अथवा—

१. परमाणुपुद्गल और द्विप्रदेशिक स्कन्ध अनानुपूर्वी अवक्तव्यक रूप है, २. परमाणुपुद्गल और अनेक द्विप्रदेशिक स्कन्ध अनानुपूर्वी अवक्तव्यकों रूप है, ३. अनेक परमाणुपुद्गल और द्विप्रदेशिक स्कन्ध अनानुपूर्वियों और अवक्तव्य रूप है, ४. अनेक परमाणुपुद्गल और अनेक द्विप्रदेशिक स्कन्ध अनानुपूर्वियों और अवक्तव्यकों रूप हैं। अथवा

१. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध, परमाणुपुद्गल और द्विप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी-अनानुपूर्वी-अवक्तव्यक रूप है, २. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध, परमाणुपुद्गल और अनेक द्विप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यकों रूप है, ३. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध, अनेक परमाणुपुद्गल और द्विप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी, अनानुपूर्वियों और अवक्तव्यक रूप है, ४. त्रिप्रदेशिक स्कन्ध, अनेक परमाणुपुद्गल और अनेक द्विप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी, अनानुपूर्वियों और अवक्तव्यकों रूप हैं, ५. अनेक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध, परमाणुपुद्गल और द्विप्रदेशिकस्कन्ध आनुपूर्वियों, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक रूप है, ६. अनेक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध, परमाणुपुद्गल और अनेक द्विप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वियों, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यकों रूप हैं, ७. अनेक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध अनेक परमाणुपुद्गल और द्विप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वियों, अनानुपूर्वियों और अवक्तव्यक रूप है, ८. अनेक त्रिप्रदेशिकस्कन्ध, अनेक परमाणुपुद्गल और अनेक द्विप्रदेशिकस्कन्ध अनुपूर्वियों—अनानुपूर्वियों—अवक्तव्यकों रूप हैं।

इस प्रकार से नैगम-व्यवहारनयसंमत भंगोपदर्शनता का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—पूर्व में भंगसमुत्कीर्तन के द्वारा जो संक्षेप रूप में संकेत किया था, उसी का यहाँ विस्तार से वाच्यार्थ स्पष्ट किया है कि किस भंग के द्वारा किसके लिये संकेत किया है। जैसे कि त्रिप्रदेशी स्कन्ध आनुपूर्वी शब्द का, परमाणुपुद्गल अनानुपूर्वी का और द्विप्रदेशीस्कन्ध अवक्तव्य शब्द का वाच्य है। अतएव एकवचन व बहुवचन के रूप में जिस प्रकार से आनुपूर्वी आदि शब्द का प्रयोग किया गया हो, उसका उसी रूप में वाच्यार्थ निर्धारित कर लेना चाहिए।

अर्थपदप्ररूपणा और भंगोपदर्शनता में यह अन्तर है कि अर्थपदप्ररूपणा में तो केवल अर्थपद रूप पदार्थ का कथन और भंगोपदर्शनता में भिन्न-भिन्न रूप से कथित भंगों का अर्थ स्पष्ट किया जाता है। इसलिये यहाँ पुनरुक्ति की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

समवतार-प्ररूपणा

१०४. (१) से किं तं समोयारे? समोयारे णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समोयरंति? किं आणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति? अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति? अवत्तव्वयदव्वेहिं समोयरंति?

णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं आणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति, णो अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति नो अवत्तव्वयदव्वेहिं समोयरंति।

[१०४-१ प्र.] भगवन्! समवतार का क्या स्वरूप है? नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वी-द्रव्य कहाँ समवतरित (समाविष्ट) होते हैं? क्या आनुपूर्वीद्रव्यों में समवतरित होते हैं, अनानुपूर्वी-द्रव्यों में अथवा अवक्तव्यकद्रव्यों में समवतरित होते हैं?

[१०४-१ उ.] आयुष्मन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्य आनुपूर्वीद्रव्यों में समवतरित होते हैं, किन्तु अनानुपूर्वीद्रव्यों में या अवक्तव्यद्रव्यों में समवतरित नहीं होते हैं।

[२] णेगम-ववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समोयरंति ? किं आणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति ? अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति ? अवत्तव्वयदव्वेहिं समोयरंति ?

णेगम-ववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाइं णो आणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति, अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति, णो अवत्तव्वयदव्वेहिं समोयरंति।

[१०४-२ प्र.] नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनानुपूर्वीद्रव्य कहाँ समवतरित होते हैं ? क्या आनुपूर्वी द्रव्यों में समवतरित होते हैं ? अनानुपूर्वीद्रव्यों में या अवक्तव्यकद्रव्यों में समवतरित होते हैं ?

[१०४-२ उ.] आयुष्मन् ! अनानुपूर्वीद्रव्य आनुपूर्वीद्रव्यों में और अवक्तव्यकद्रव्यों में समवतरित नहीं होते हैं किन्तु अनानुपूर्वीद्रव्यों में समवतरित होते हैं।

[३] णेगम-ववहाराणं अवत्तव्वयदव्वाइं कहिं समोयरंति ? किं आणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति ? अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति ? अवत्तव्वयदव्वेहिं समोयरंति ?

णेगम-ववहाराणं अवत्तव्वयदव्वाइं णो आणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति, णो अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति, अवत्तव्वयदव्वेहिं समोयरंति। से तं समोयारे।

[१०४-३ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयमान्य अवक्तव्यद्रव्य कहाँ समवतरित होते हैं ? क्या आनुपूर्वीद्रव्यों में अथवा अनानुपूर्वीद्रव्यों में या अवक्तव्यकद्रव्यों में समवतरित होते हैं ?

[१०४-३ उ.] आयुष्मन् ! अवक्तव्यकद्रव्य आनुपूर्वीद्रव्यों में और अनानुपूर्वीद्रव्यों में समवतरित नहीं होते हैं किन्तु अवक्तव्यकद्रव्यों में समवतरित होते हैं। यह समवतार की वक्तव्यता है।

विवेचन—सूत्रकार ने सूत्र में कौन द्रव्य किसमें समवतरित होता है, यह स्पष्ट किया है।

समवतार का तात्पर्य है समावेश अर्थात् आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का विना किसी विरोध के अपनी जाति में रहना, जात्यन्तर में नहीं रहने का और कार्य में कारण का उपचार करके 'आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का अन्तर्भाव स्वस्थान में होता है, या परस्थान में, इस प्रकार के चिन्तनप्रकार—विचार के उत्तर को भी समवतार कहते हैं। यह विचार किस प्रकार से किया जाता है ? उसको सूत्र में स्पष्ट किया है। अविरुद्ध रूप से आनुपूर्वीद्रव्य—त्रिप्रदेशिक आदि स्कन्ध—आनुपूर्वीद्रव्य में, अनानुपूर्वी द्रव्य—परमाणुपुद्गल—अनानुपूर्वीद्रव्य में और अवक्तव्यद्रव्य—द्विप्रदेशिकस्कन्ध—अवक्तव्यद्रव्य में अविरोध रूप से—अपनी जाति में विना विरोध के रहते हैं। इस प्रकार की अविरोधवृत्तिता स्वजातीय पदार्थ में ही हो सकती है, इतर जाति में नहीं। आनुपूर्वीद्रव्यों का समवतार यदि पर-जाति में भी माना जाए तो परजाति में रहने पर उसमें स्वजाति में रहने की अविरोधवृत्तिता नहीं वन सकेगी। इससे यह सिद्धान्त प्रतिफलित हुआ कि नाना देशवर्ती समस्त आनुपूर्वीद्रव्य आनुपूर्वीद्रव्यों में रहते हैं, परजाति में नहीं। इसी प्रकार अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों के लिये भी समझ लेना चाहिये।

अनुगमप्ररूपणा

१०५. से किं तं अणुगमे ?

अणुगमे णवविहे पण्णत्ते। तं जहा—

संतपयपरूवणया १ दव्वपमाणं च २ खेत्त ३ फुसणा य ४।
कालो य ५ अंतरं ६ भाग ७ भाव ८ अप्पाबहुं ९ चेव ॥ ८ ॥

[१०५ प्र.] भगवन् ! अनुगम का क्या स्वरूप है ?

[१०५ उ.] आयुष्मन् ! अनुगम नौ प्रकार कहा गया है, जैसे—१. सत्पदप्ररूपणा, २. द्रव्यप्रमाण ३. क्षेत्र, ४. स्पर्शना, ५. काल, ६. अन्तर, ७. भाग, ८. भाव और ९. अल्पबहुत्व।

विवेचन—सूत्र में नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी के अन्तिम भेद अनुगम की वक्तव्यता प्रारम्भ की है।

अनुगम—सूत्र के अनुकूल अथवा अनुरूप व्याख्यान करने की विधि को अनुगम कहते हैं। अथवा सूत्र पढ़ने के पश्चात् उसका व्याख्यान करना अनुगम है। इस अनुगम के सत्पदप्ररूपणा आदि नौ भेद हैं, जिनके लक्षण इस प्रकार हैं—

सत्पदप्ररूपणा—विद्यमान पदार्थविषयक पद की प्ररूपणा को कहते हैं। जैसे आनुपूर्वी आदि द्रव्य सत् पदार्थ के वाचक हैं, असत् पदार्थ के वाचक नहीं, ऐसी प्ररूपणा करना। अनुगम करते समय यह प्रथम करने योग्य होने से सर्वप्रथम इसका विन्यास किया है।

द्रव्यप्रमाण—आनुपूर्वी आदि पदों के द्वारा जिन द्रव्यों को कहा जाता है उनकी संख्या का विचार करने को कहते हैं।

क्षेत्र—आनुपूर्वी आदि पदों द्वारा कथित द्रव्यों के आधारभूत क्षेत्र का विचार करना।

स्पर्शन—आनुपूर्वी आदि द्रव्यों द्वारा स्पर्शित क्षेत्र की पर्यालोचना करना।

क्षेत्र में केवल आधारभूत आकाश का ही ग्रहण है, जबकि स्पर्शना में आधारभूत क्षेत्र के चारों तरफ के और ऊपर-नीचे के वे आकाशप्रदेश भी ग्रहण किये जाते हैं जो आधेय द्वारा स्पर्शित होते हैं, यही क्षेत्र और स्पर्शन में अन्तर है।

काल—आनुपूर्वी आदि द्रव्यों की स्थिति की मर्यादा का विचार करना।

अन्तर—विरहकाल। अर्थात् विवक्षित पर्याय का परित्याग हो जाने के बाद पुनः उसी पर्याय की प्राप्ति में होने वाले विरहकाल को अन्तर कहते हैं।

भाग—आनुपूर्वी आदि द्रव्य दूसरे द्रव्यों के कितनेवें भाग में रहते हैं, ऐसा विचार करना।

भाव—विवक्षित आनुपूर्वी आदि द्रव्य किस भाव में हैं, ऐसा विचार करना।

अल्पबहुत्व—अर्थात् न्यूनाधिकता। द्रव्यार्थिक, प्रदेशार्थिक और तदुभय के आश्रय से इन आनुपूर्वी आदि द्रव्यों में अल्पाधिकता का विचार किया जाना अल्पबहुत्व कहलाता है।

इनका विस्तृत विचार क्रम से आगे के सूत्रों में किया जा रहा है।

सत्पद प्ररूपणा

१०६. (१) नेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं किं अत्थि णत्थि ?
णियमा अत्थि ।

[१०६-१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनय की अपेक्षा आनुपूर्वी द्रव्य हैं अथवा नहीं हैं ?
[१०६-१ उ.] आयुष्मन् ! नियम से—अवश्य हैं ।

(२) नेगम-ववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाइं किं अत्थि णत्थि ?
णियमा अत्थि ।

[१०६-२ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत अनानुपूर्वी द्रव्य हैं अथवा नहीं हैं ?
[१०६-२ उ.] आयुष्मन् ! अवश्य हैं ।

(३) नेगम-ववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं किं अत्थि णत्थि ?
नियमा अत्थि ।

[१०६-३ प्र.] भगवन् ! क्या नैगम-व्यवहारनयसंमत अवक्तव्यक द्रव्य हैं या नहीं हैं ?
[१०६-३ उ.] आयुष्मन् ! अवश्य हैं ।

(इस प्रकार से सत्पदप्ररूपणा रूप प्रथम भेद की वक्तव्यता जानना चाहिये ।)

विवेचन—सूत्र में नैगम-व्यवहारनयसंमत आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का निश्चितरूपेण अस्तित्व प्रकट किया है । वे असत् रूप नहीं हैं और न उनका कभी अभाव हो सकता है । यही सत्पदप्ररूपणा का हार्द है ।

द्रव्यप्रमाण

१०७. (१) नेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं किं संखेज्जाइं असंखेज्जाइं अणंताइं ?
नो संखेज्जाइं नो असंखेज्जाइं अणंताइं ।

[१०७-१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनय की अपेक्षा आनुपूर्वी द्रव्य क्या संख्यात हैं, असंख्यात हैं, अथवा अनन्त हैं ?

[१०७-१ उ.] आयुष्मन् ! वे संख्यात नहीं, असंख्यात भी नहीं किन्तु अनन्त हैं ।

[२] एवं दोण्णि वि ।

[१०७-२] इसी प्रकार शेष दोनों (अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्य) भी अनन्त हैं ।

इस प्रकार से अनुगम के द्रव्यप्रमाण नामक दूसरे भेद की वक्तव्यता जानना चाहिये ।

विवेचन—सूत्र में अनुगम के दूसरे भेद का हार्द स्पष्ट किया है कि आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्य अनन्त हैं और इनके अनन्त होने का कारण यह है कि ये प्रत्येक आकाश के एक-एक प्रदेश में अनन्त-अनन्त भी पाये जाते हैं ।

असंख्यातप्रदेशी आकाश रूप क्षेत्र में अनन्त आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का अवस्थान कैसे संभव है? इसका उत्तर यह है कि क्योंकि पुद्गल का परिणमन अचिन्त्य है और आकाश में अवगाहन शक्ति है। जैसे एक प्रदीप की प्रभा से व्याप्त एक गृहान्तर्वर्ती आकाश प्रदेशों में दूसरे और भी अनेक प्रदीपों की प्रभा का अवस्थान होता है, इसी प्रकार आनुपूर्वी आदि अनन्त द्रव्यों की असंख्यातप्रदेशी आकाश में उसकी अवगाहनशक्ति के योग से एवं पुद्गल परिणमन की विचित्रता से अवस्थिति होने में और आनुपूर्वी आदि द्रव्यों को अनन्त मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

प्रस्तुत में प्रयुक्त 'एवं दोण्णि वि' के स्थान पर किसी-किसी प्रति में निम्नलिखित पाठ है—

'एवं अणाणुपुव्वीदव्वाइं अवत्तव्वगदव्वाइं च अणंताइं भाणिअव्वाइं।'

जिसमें संक्षेप और विस्तार की अपेक्षा शब्दों में अन्तर है, लेकिन दोनों का आशय समान है।

क्षेत्रप्ररूपणा

१०८. [१] णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं लोगस्स कतिभागे होज्जा? किं संखेज्जइभागे होज्जा? असंखेज्जइभागे होज्जा? संखेज्जेसु भागेसु होज्जा? असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा? सव्वलोए होज्जा?

एगदव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागे वा होज्जा असंखेज्जइभागे वा होज्जा संखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा असंखेज्जेसु भागेसु वा होज्जा सव्वलोए वा होज्जा, नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्जा।

[१०८-१ प्र.] भगवन्! नैगम-व्यवहारनयसंमत आनुपूर्वी द्रव्य (क्षेत्र के) कितने भाग में अवगाढ हैं? क्या लोक के संख्यातवें भाग में अवगाढ हैं? असंख्यातवें भाग में अवगाढ हैं? क्या संख्यात भागों में अवगाढ हैं? असंख्यात भागों में अवगाढ हैं? अथवा समस्त लोक में अवगाढ हैं?

[१०८-१ उ.] आयुष्मन्! किसी एक आनुपूर्वीद्रव्य की अपेक्षा कोई लोक के संख्यातवें भाग में अवगाढ है, कोई एक आनुपूर्वी द्रव्य लोक के असंख्यातवें भाग में रहता है तथा कोई एक आनुपूर्वी द्रव्य लोक के संख्यात भागों में रहता है और कोई एक आनुपूर्वी द्रव्य असंख्यात भागों में रहता है और कोई एक द्रव्य समस्त लोक में अवगाढ होकर रहता है। किन्तु अनेक द्रव्यों की अपेक्षा तो वे नियमतः समस्त लोक में अवगाढ हैं।

[२] नेगम-ववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाइं किं लोगस्स संखेज्जइभागे होज्जा? असंखेज्जइभागे होज्जा? संखेज्जेसु भागेसु होज्जा? असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा? सव्वलोए वा होज्जा?

एगदव्वं पडुच्च नो संखेज्जइभागे होज्जा असंखेज्जइभागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा नो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा नो सव्वलोए होज्जा, णाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्जा।

[१०८-२ प्र.] भगवन्! नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनानुपूर्वीद्रव्य क्या लोक के संख्यात भाग में अवगाढ हैं? असंख्यात भाग में अवगाढ हैं? संख्यात भागों में हैं या असंख्यात भागों में हैं अथवा समस्त लोक में अवगाढ हैं?

[१०८-२ उ.] आयुष्मन् ! एक अनानुपूर्वीद्रव्य की अपेक्षा वह लोक के संख्यातवें भाग में अवगाढ नहीं है, असंख्यातवें भाग में अवगाढ है, न संख्यात भागों में, न असंख्यात भागों में और न सर्वलोक में अवगाढ है, किन्तु अनेक अनानुपूर्वीद्रव्यों की अपेक्षा नियमत: सर्वलोक में अवगाढ है।

[३] एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि।

[१०८-३] इसी प्रकार अवक्तव्यद्रव्य के विषय में भी जानना चाहिये।

(यह क्षेत्र प्ररूपणा का आशय है।)

विवेचन—सूत्र में आनुपूर्वी आदि द्रव्यों के क्षेत्र विषयक पांच प्रश्नों के उत्तर दिये हैं। वे पांच प्रश्न इस प्रकार हैं—

१. आनुपूर्वी आदि द्रव्य क्या लोक के संख्यातवें भाग में रहते हैं ? अथवा
२. असंख्यातवें भाग में रहते हैं ? अथवा
३. लोक के संख्यात भागों में रहते हैं ? अथवा
४. असंख्यात भागों में रहते हैं ? अथवा
५. समस्त लोक में रहते हैं ?

यह पूर्व में बताया जा चुका है कि कम से कम त्र्यणुक स्कन्ध आनुपूर्वीद्रव्य है तथा द्व्यणुक स्कन्ध और परमाणु क्रमश: अवक्तव्य एवं अनानुपूर्वी द्रव्य हैं। यह त्र्यणुक आदि का व्यवहार पुद्‌गलद्रव्य में ही होता है। अतएव पुद्‌गलद्रव्य का आधार यद्यपि सामान्य से तो लोकाकाश रूप क्षेत्र नियत है। परन्तु विशेष रूप से भिन्न-भिन्न पुद्‌गलद्रव्यों के आधारक्षेत्र के परिमाण में अंतर होता है। अर्थात् आधारभूत क्षेत्र के प्रदेशों की संख्या आधेयभूत पुद्‌गलद्रव्य के परमाणुओं की संख्या से न्यून या उसके बराबर हो सकती है, अधिक नहीं। इसलिये एक परमाणु रूप अनानुपूर्वीद्रव्य आकाश के एक ही प्रदेश में स्थित रहता है परन्तु द्व्यणुक एक प्रदेश में भी रह सकता है और दो प्रदेशों में भी। इसी प्रकार उत्तरोत्तर संख्या बढ़ते-बढ़ते त्र्यणुक, चतुरणुक यावत् संख्याताणुक स्कन्ध एक प्रदेश, दो प्रदेश, तीन प्रदेश यावत् संख्यात प्रदेशरूप क्षेत्र में ठहर सकते हैं। संख्याताणुक द्रव्य की स्थिति के लिये असंख्यात प्रदेश वाले क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार असंख्याताणुक स्कन्ध एक प्रदेश से लेकर अधिक से अधिक अपने बराबर के असंख्यात संख्या वाले प्रदेशों के क्षेत्र में ठहर सकता है। किन्तु अनन्ताणुक और अनन्तानंताणुक स्कन्ध के विषय में यह जानना चाहिये कि वह एक प्रदेश, दो प्रदेश इत्यादि क्रम से बढ़ते-बढ़ते संख्यात प्रदेश और असंख्यात प्रदेश वाले क्षेत्र में ठहर सकते हैं। उनकी स्थिति के लिये अनन्त प्रदेशात्मक क्षेत्र की जरूरत नहीं है। पुद्‌गलद्रव्य का सबसे बड़ा स्कन्ध, जिसे अचित्त महास्कन्ध कहते हैं और जो अनन्तानन्त अणुओं का बना होता है, वह भी असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में ही ठहर जाता है। लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात ही हैं और उससे बाहर पुद्‌गल की अवगाहना संभव नहीं है।

उपर्युक्त समग्र कथन आनुपूर्वी आदि एक-एक द्रव्य की अपेक्षा से समझना चाहिए। किन्तु अनेक की अपेक्षा इन समस्त द्रव्यों का अवगाहन समस्त लोकाकाश में है। जिसका स्पष्टीकरण 'नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्जा' पद द्वारा किया गया है।

अनन्तानन्त पुद्‌गलपरमाणुओं से निष्पन्न अचित्त महास्कन्धरूप आनुपर्वीद्रव्य के एक समय

में समस्त लोक में अवगाढ रहने को केवलीसमुद्‌घात के चतुर्थ समयवर्ती आत्मप्रदेशों के सर्वलोक में व्याप्त होने की तरह जानना चाहिये।

स्पर्शना प्ररूपणा

१०९.[१] णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं लोगस्स किं संखेज्जइभागं फुसंति ? असंखेज्जइ-भागं फुसंति ? संखेज्जे भागे फुसंति ? असंखेज्जे भागे फुसंति ? सव्वलोयं फुसंति ?

एगदव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागं वा फुसंति, असंखेज्जइभागं वा फुसंति संखेज्जे वा भागे फुसंति असंखेज्जे वा भागे फुसंति सव्वलोगं वा फुसंति, णाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोगं फुसंति।

[१०९-१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत आनुपूर्वीद्रव्य क्या लोक के संख्यातवें भाग का स्पर्श करते हैं ? अथवा असंख्यातवें भाग का स्पर्श करते हैं ? संख्यात भागों का स्पर्श करते हैं ? अथवा असंख्यात भागों का स्पर्श करते हैं ? अथवा समस्त लोक का स्पर्श करते हैं ?

[१०९-१ उ.] आयुष्मन् ! नैगम-व्यवहारनय की अपेक्षा एक आनुपूर्वीद्रव्य लोक के संख्यातवें भाग का स्पर्श करता है, असंख्यातवें भाग का स्पर्श करता है, संख्यात भागों का स्पर्श करता है, असंख्यात भागों का स्पर्श करता है अथवा सर्वलोक का स्पर्श करता है, किन्तु अनेक (आनुपूर्वी) द्रव्य तो नियमतः सर्वलोक का स्पर्श करते हैं।

(२) णेगम-ववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाणं पुच्छा, एगं दव्वं पडुच्च नो संखेज्जइभागं फुसंति असंखेज्जइभागं फुसंति नो संखेज्जे भागे फुसंति नो असंखेज्जेभागे फुसंति नो सव्वलोगं फुसंति, नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोगं फुसंति।

[१०९-२ प्र] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनय की अपेक्षा अनानुपूर्वी द्रव्य क्या लोक के संख्यातवें भाग का स्पर्श करते हैं ? इत्यादि प्रश्न है।

[१०९-२ प्र.] आयुष्मन् ! एक एक अनानुपूर्वी की अपेक्षा लोक के संख्यातवें भाग का स्पर्श नहीं करते हैं किन्तु असंख्यातवें भाग का स्पर्श करते हैं, संख्यात भागों का, असंख्यात भागों का या सर्वलोक का स्पर्श नहीं करते हैं। किन्तु अनेक अनानुपूर्वी द्रव्यों की अपेक्षा तो नियमतः सर्वलोक का स्पर्श करते हैं।

(३) एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि भाणियव्वाणि।

[१०९-३] अवक्तव्य द्रव्यों की स्पर्शना भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों की एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा स्पर्शना का विचार किया है। सूत्रार्थ सुगम है और प्रश्नोत्तर का प्रकार क्षेत्रप्ररूपणा के समान ही जानना चाहिए। लेकिन क्षेत्र और स्पर्शना में यह अंतर है कि परमाणुद्रव्य की जो अवगाहना एक आकाश प्रदेश में होती है, वह क्षेत्र है तथा परमाणु के द्वारा अपने निवासस्थानरूप एक आकाश-प्रदेश के अतिरिक्त चारों ओर तथा ऊपर-नीचे के प्रदेशों के स्पर्श को स्पर्शना कहते हैं। परमाणु

की स्पर्शना आकाश के सात प्रदेशों की इस प्रकार है—चारों दिशाओं के चार प्रदेश, ऊपर-नीचे के दो प्रदेश एवं एक वह प्रदेश जहाँ स्वयं उसकी अवगाहना है। इस प्रकार अनानुपूर्वी द्रव्य की कुल मिलाकर सात प्रदेशों की स्पर्शना होती है। यद्यपि परमाणु निरंश है, एक है, तथापि सात प्रदेशों के साथ उसकी स्पर्शना होती है।

कालप्ररूपणा

११०. [१] णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कालओ केवचिरं होंति ?

एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च णियमा सव्वद्धा।

[११०-१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत आनुपूर्वीद्रव्य काल की अपेक्षा कितने काल तक (आनुपूर्वीद्रव्य रूप में) रहते हैं ?

[११०-१ उ.] आयुष्मन् ! एक आनुपूर्वीद्रव्य जघन्य एक समय एवं उत्कृष्ट असंख्यात काल तक उसी स्वरूप में रहता है और विविध आनुपूर्वीद्रव्यों की अपेक्षा नियमतः स्थिति सार्वकालिक है।

[२] एवं दोन्नि वि।

[२] इसी प्रकार अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति भ. जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का एक और अनेक की अपेक्षा से उन्हीं आनुपूर्वी आदि द्रव्यों के रूप में रहने के काल का कथन किया गया है।

आनुपूर्वीद्रव्य का आनुपूर्वीद्रव्य के रूप में रहने का जघन्य एक समयरूप और उत्कृष्ट असंख्यात काल इस प्रकार घटित होता है कि परमाणुद्वय आदि में दूसरे एक आदि परमाणुओं के मिलने पर एक अपूर्व आनुपूर्वीद्रव्य उत्पन्न हो जाता है और एक समय के बाद ही उसमें से एक आदि परमाणु के छूट जाने पर वह आनुपूर्वीद्रव्य उस रूप से विनष्ट हो जाता है। इस अपेक्षा आनुपूर्वीद्रव्य का आनुपूर्वी के रूप में रहने का काल जघन्य एक समय होता है और जब वही एक आनुपूर्वीद्रव्य असंख्यात काल तक उसी आनुपूर्वीद्रव्य के रूप में रहकर एक आदि परमाणु से वियुक्त होता है तब उसकी अवस्थिति का उत्कृष्ट असंख्यात काल जानना चाहिये।

अनेक आनुपूर्वीद्रव्यों की अपेक्षा तो इन आनुपूर्वीद्रव्यों की स्थिति नियमतः सार्वकालिक है। क्योंकि ऐसा कोई काल नहीं कि जिसमें ये आनुपूर्वीद्रव्य न हों।

किसी भी एक आनुपूर्वीद्रव्य का आनुपूर्वी रूप में रहने का काल अनन्त नहीं है। क्योंकि पुद्गलसंयोग की उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की ही होती है, इससे अधिक नहीं।

अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों का भी एक और अनेक की अपेक्षा उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति काल आनुपूर्वीद्रव्यवत् जानना चाहिये।

यहाँ प्रयुक्त 'एवं दोन्नि वि' सूत्र के स्थान पर किसी-किसी प्रति में 'अणाणुपुव्वी दव्वाइं अवत्तव्वगदव्वाइं च एवं चेव भाणिअव्वाइं' पाठ है और तदनुरूप उसकी व्याख्या की है। लेकिन शब्दभेद होने पर भी दोनों के आशय में अंतर नहीं है, मात्र संक्षेप और विस्तार की अपेक्षा है।

अन्तरप्ररूपणा

१११. [१] णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाणमंतरं कालतो केवचिरं होति ?

एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च णत्थि अंतरं।

[१११-१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्यों का कालापेक्षया अंतर—व्यवधान कितना होता है ?

[१११-१ उ,] आयुष्मन् ! एक आनुपूर्वीद्रव्य की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्त काल का अंतर होता है, किन्तु अनेक द्रव्यों की अपेक्षा अंतर—विरहकाल नहीं है।

[२] णेगम-ववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाणं अंतरं कालतो केवचिरं होइ ?

एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च णत्थि अंतरं।

[१११-२ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत अनानुपूर्वीद्रव्यों का काल की अपेक्षा अंतर कितना होता है ?

[१११-२ उ.] आयुष्मन् ! एक अनानुपूर्वीद्रव्य की अपेक्षा अन्तरकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल प्रमाण है तथा अनेक अनानुपूर्वीद्रव्यों की अपेक्षा अंतर नहीं है।

[३] णेगम-ववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाणं अंतरं कालतो केवचिरं होति ?

एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं, नाणादव्वाइं पडुच्च णत्थि अंतरं।

[१११-३ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत अवक्तव्यद्रव्यों का कालापेक्षया अन्तर कितना है ?

[१११-३ उ.] आयुष्मन् ! एक अवक्तव्यद्रव्य की अपेक्षा अंतर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्त काल है, किन्तु अनेक द्रव्यों की अपेक्षा अन्तर नहीं है।

विवेचन—सूत्र के तीन विभागों में क्रमशः आनुपूर्वीद्रव्यों, अनानुपूर्वीद्रव्यों और अवक्तव्यद्रव्यों का एक और अनेक की अपेक्षा से कालापेक्षया अंतर बताया है कि आनुपूर्वी आदि द्रव्य आनुपूर्वी आदि स्वरूप का परित्याग करके पुनः उसी आनुपूर्वी स्वरूप को कितने काल के व्यवधान से प्राप्त करते हैं। वह इस प्रकार है।

एक आनुपूर्वीद्रव्य की अपेक्षा जघन्य अंतर एक समय का, उत्कृष्ट अंतर अनन्तकाल का है। नाना द्रव्यों की अपेक्षा अंतर नहीं होने का भाव इस प्रकार जानना चाहिये कि त्र्यणुक, चतुरणुक आदि आनुपूर्वीद्रव्यों में से कोई एक आनुपूर्वीद्रव्य स्वाभाविक अथवा प्रायोगिक परिणमन से खंड-खंड होकर आनुपूर्वी पर्याय से रहित हो जाए और पुनः वही द्रव्य एक समय के बाद स्वाभाविक आदि

परिणाम के निमित्त से उन्हीं परमाणुओं के संयोग से विवक्षित आनुपूर्वी रूप बन जाए तो इस प्रकार एक आनुपूर्वीद्रव्य की अपेक्षा आनुपूर्वी स्वरूप के परित्याग और पुनः उसी स्वरूप में आने के बीच में एक समय का जघन्य अंतर पड़ा। इसीलिये एक आनुपूर्वीद्रव्य की अपेक्षा जघन्य अंतरकाल एक समय का बताया है।

उत्कृष्ट अंतरकाल अनन्त काल इस प्रकार है—कोई एक विवक्षित आनुपूर्वीद्रव्य पूर्वोक्त रीति से आनुपूर्वीपर्याय से रहित हो गया और निर्गत वे परमाणु अन्य द्वयणुक, त्र्यणुक आदि से लेकर अनन्तप्रदेशीस्कन्ध पर्यन्त रूप अनन्त स्थानों में प्रत्येक उत्कृष्ट काल की स्थिति का अनुभव करते हुए संश्लिष्ट रहे। इस प्रकार प्रत्येक द्वयणुक आदि अनन्त स्थानों में अनन्त काल तक संश्लिष्ट होते-होते अनन्त काल समाप्त होने पर जब उन्हीं परमाणुओं द्वारा वही विवक्षित आनुपूर्वीद्रव्य पुनः निष्पन्न हो तब यह अनन्त काल का उत्कृष्ट अन्तर होता है।

नाना आनुपूर्वीद्रव्यों की अपेक्षा काल का अन्तर नहीं बताने का कारण यह है कि लोक में अनन्तानन्त आनुपूर्वीद्रव्य सर्वदा विद्यमान रहते हैं। इसलिये ऐसा कोई समय नहीं है कि जिसमें समस्त आनुपूर्वीद्रव्य अपनी आनुपूर्वीरूपता का एक साथ परित्याग कर देते हों।

एक अनानुपूर्वीद्रव्य का जघन्य अन्तर एक समय होने का और अनेक की अपेक्षा अन्तर नहीं होने का कथन तथा अवक्तव्यद्रव्यों का एक—अनेकापेक्षया जघन्य—उत्कृष्ट अन्तर आनुपूर्वी द्रव्यवत् है। लेकिन एक अनानुपूर्वी द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तर असंख्यात काल प्रमाण बताने का कारण यह है कि परमाणु रूप अनानुपूर्वीद्रव्य किसी भी स्कन्ध के साथ अधिक से अधिक असंख्यात काल तक संयुक्त अवस्था में रहता है। इसीलिये असंख्यात काल का उत्कृष्ट अन्तर जानना चाहिये। असंख्यात काल तक संयुक्त रहने में पुद्गलस्वभाव कारण है।

काल की तरह क्षेत्र की अपेक्षा भी अन्तर होता है। जैसे कि इस पृथ्वी से सूर्य का अन्तर आठ सौ योजन है। इसीलिये सूत्र में क्षेत्रगत अन्तर के परिहारार्थ काल पद का प्रयोग किया है कि यहाँ कालापेक्षया अन्तर का विचार करना अभीष्ट है, क्षेत्रकृत अन्तर का नहीं।

भागप्ररूपणा

११२. [१] णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं सेसदव्वाणं कइभागे होज्जा? किं संखेज्जइभागे होज्जा? असंखेज्जइभागे होज्जा? संखेज्जेसु भागेसु होज्जा? असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा?

नो संखेज्जइभागे होज्जा नो असंखेज्जइभागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा नियमा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा।

[११२-१ प्र.] भगवन्! नैगम-व्यवहारनयसंमत समस्त आनुपूर्वीद्रव्य शेष द्रव्यों के कितनेवें भाग हैं? क्या संख्यात भाग हैं? असंख्यात भाग हैं अथवा संख्यात भागों या असंख्यात भागों रूप हैं?

[११२-१ उ.] आयुष्मन्! आनुपूर्वीद्रव्य शेष द्रव्यों के संख्यात भाग, असंख्यात भाग अथवा संख्यात भागों रूप नहीं हैं, परन्तु नियमतः असंख्यात भागों रूप हैं।

[२] णेगम-ववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाइं सेसदव्वाणं कइभागे होज्जा ? किं संखेज्जइभागे होज्जा ? असंखेज्जइभागे होज्जा ? संखेज्जेसु भागेसु होज्जा ? असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा ?

नो संखेज्जइभागे होज्जा असंखेज्जइभागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा नो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा।

[११२-२ प्र.] भगवन्! नैगम-व्यवहारनयसंमत अनानुपूर्वीद्रव्य शेष द्रव्यों के कितनेवें भाग होते हैं ? क्या संख्यात भाग होते हैं ? असंख्यात भाग होते हैं ? संख्यात भागों रूप होते हैं ? अथवा असंख्यात भागों रूप होते हैं ?

[११२-२ उ.] आयुष्मन्! अनानुपूर्वीद्रव्य शेष द्रव्यों के संख्यात भाग नहीं होते हैं, संख्यात भागों अथवा असंख्यात भागों रूप नहीं होते हैं। किन्तु असंख्यात भाग होते हैं।

[३] एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि।

[३] अवक्तव्य द्रव्यों संबन्धी कथन भी उपर्युक्तानुरूप असंख्यात भाग समझना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में यह स्पष्ट किया है कि आनुपूर्वीद्रव्य (त्र्यणुकादि स्कन्ध) अनानुपूर्वीद्रव्य (परमाणु) और अवक्तव्यद्रव्य (द्वयणुकस्कन्ध) कितनवें भाग होते हैं ? इसका अभिप्राय यह है कि आनुपूर्वीद्रव्य, अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों से अधिक हैं या कम ? इसके उत्तर के लिये सूत्र में पद दिया—नियमा असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा। अर्थात् ये शेष द्रव्यों के असंख्यात भागों रूप अधिक हैं।

शेष द्रव्यों की अपेक्षा समस्त आनुपूर्वीद्रव्य अधिक इसलिये हैं कि अनानुपूर्वी द्रव्य परमाणु रूप है और अवक्तव्यद्रव्य द्वयणुक रूप है तथा आनुपूर्वीद्रव्य त्र्यणुक आदि स्कन्ध से लेकर अनन्ताणुकस्कन्ध पर्यन्त हैं। इसीलिये ये आनुपूर्वीद्रव्य शेष द्रव्यों की अपेक्षा असंख्यात भागों से अधिक हैं। यही कथन निम्नलिखित आगमिक उद्धरण से स्पष्ट है—

'एएसि णं भंते! परमाणुपोग्गलाणं संखिज्जपएसियाणं असंखेज्जपएसियाणं अणंतपए-सियाण य खंधाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा! सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा, परमाणुपोग्गला अणंतगुणा संखिज्जपएसिआ खंधा संखिज्जगुणा असंखेज्जपएसिया खंधा असंखेज्जगुणा।' [अनुयोग. वृत्ति प. ६६]

इस सूत्र में समस्त पुद्गल जाति की अपेक्षा से उसके असंख्यातप्रदेशीस्कन्ध असंख्यातगुणे कहे हैं और ये असंख्यातप्रदेशीस्कन्ध आनुपूर्वी में ही अन्तर्भूत होते हैं। अतएव जब सब आनुपूर्वीद्रव्य शेष समस्त द्रव्यों से भी असंख्यातगुणे हैं तो फिर अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों की अपेक्षा असंख्यातगुणे तो स्वयमेव सिद्ध हैं।

अनानुपूर्वीद्रव्य (परमाणु) आनुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों की अपेक्षा असंख्यातवें भाग हैं तथा अवक्तव्यद्रव्य आनुपूर्वी और अनानुपूर्वीद्रव्य की अपेक्षा असंख्यातवें भाग जानना चाहिये, जिसके लिये सूत्र में संकेत किया है—असंखेज्जइभागे होज्जा।

भावप्ररूपणा

११३. [१] णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कयरम्मि भावे होज्जा ? किं उदइए भावे होज्जा ? उवसमिए भावे होज्जा ? खाइए भावे होज्जा ? खाओवसमिए भावे होज्जा ? पारिणामिए भावे होज्जा ? सन्निवाइए भावे होज्जा ?

णियमा साइपारिणामिए भावे होज्जा।

[११३-१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्य किस भाव में वर्तते हैं ? क्या औदयिक भाव में, औपशमिक भाव में, क्षायिक भाव में, क्षयोपशमिक भाव में, पारिणामिक भाव में अथवा सान्निपातिक भाव में वर्तते हैं ?

[११३ उ.] आयुष्मन् ! समस्त आनुपूर्वीद्रव्य सादि पारिणामिक भाव में होते हैं।

[२] अणाणुपुव्वीदव्वाणि अवत्तव्वयदव्वाणि य एवं चेव भाणियव्वाणि।

[२] अनानुपूर्वीद्रव्यों और अवक्तव्यद्रव्यों के लिये भी इसी प्रकार जानना चाहिये। अर्थात् वे भी सादिपारिणामिक भाव में हैं।

विवेचन—आनुपूर्वी आदि द्रव्यों में सादिपारिणामिक भाव होता है, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

द्रव्य का विभिन्न रूपों में होने वाले परिणमन—परिवर्तन को परिणाम कहते हैं और यह परिणाम ही पारिणामिक है। अथवा परिणमन या उससे जो निष्पन्न हो उसे पारिणामिक कहते हैं।

यह पारिणामिकभाव सादि और अनादि के भेद से दो प्रकार का है। अनादि परिणमन तो लोकनियामक रूपी और अरूपी द्रव्यों में से धर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्यों का होता है और वह उनका स्वभावतः उस रूप में अनादि काल से होता चला आ रहा है और अनन्तकाल तक होता रहेगा। लेकिन रूपी पुद्‌गलद्रव्य में जो परिणमन होता है, वह सादि-परिणाम है। मेघपटल, इन्द्र-धनुष आदि पौद्‌गलिक द्रव्यों के परिणमन में अनादिता का अभाव है। क्योंकि पुद्‌गलों का जो विशिष्ट रूप में परिणमन होता है वह उत्कृष्ट रूप से भी असंख्यात काल तक ही स्थायी रहता है। इसलिये समस्त आनुपूर्वीद्रव्य सादिपारिणामिक भाव वाले हैं।

इसी प्रकार अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों में भी सादिपारिणामिक भाव जानना चाहिए।

अल्पबहुत्वप्ररूपणा

११४. [१] एएसि णं भंते। णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाणं अणाणुपुव्वीदव्वाणं अवत्तव्वयदव्वाण य दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठ-पएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोतमा ! सव्वत्थोवाइं णेगम-ववहाराणं अवत्तव्वयदव्वाइं दव्वट्ठयाए, अणाणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए विसेसाहियाइं, आणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं।

[११४-१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत आनुपूर्वीद्रव्यों, अनानुपूर्वीद्रव्यों और

अवक्तव्यद्रव्यों में से द्रव्य, प्रदेश और द्रव्यप्रदेश की अपेक्षा कौन द्रव्य किन द्रव्यों की अपेक्षा अल्प, अधिक, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११४-१ उ.] गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा नैगम-व्यवहारनयसम्मत अवक्तव्यद्रव्य सबसे स्तोक (अल्प) हैं, अवक्तव्यद्रव्यों की अपेक्षा अनानुपूर्वीद्रव्य, द्रव्य की अपेक्षा विशेषाधिक हैं और द्रव्यापेक्षा आनुपूर्वीद्रव्य अनानुपूर्वी द्रव्यों से असंख्यातगुणे होते हैं।

[२] पएसट्ठयाए णेगम-ववहाराणं सव्वत्थोवाइं अणाणुपुव्वीदव्वाइं अपएसट्ठयाए, अवत्तव्वयदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहियाइं, आणुपुव्वीदव्वाइं पएसट्ठयाए अणंतगुणाइं।

[२] प्रदेश की अपेक्षा नैगम-व्यवहारनयसंमत अनानुपूर्वीद्रव्य अप्रदेशी होने से सर्वस्तोक हैं, प्रदेशों की अपेक्षा अवक्तव्यद्रव्य अनानुपूर्वी द्रव्यों से विशेषाधिक और आनुपूर्वीद्रव्य अवक्तव्य द्रव्यों से अनन्तगुणे हैं।

[३] दव्वट्ठ-पएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं णेगम-ववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाइं दव्वट्ठयाए, अणाणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए अपएसट्ठयाए विसेसाहियाइं, अवत्तव्वगदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहियाइं, आणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं, ताइं चेव पएसट्ठयाए अणंतगुणाइं। से तं अणुगमे। से तं णेगम-ववहाराणं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी।

[३] द्रव्य और प्रदेश से अल्पबहुत्व नैगम-व्यवहारनयसम्मत अवक्तव्यद्रव्य—द्रव्य की अपेक्षा सबसे अल्प हैं। द्रव्य और अप्रदेशार्थता की अपेक्षा अनानुपूर्वीद्रव्य विशेषाधिक हैं, प्रदेश की अपेक्षा अवक्तव्यद्रव्य विशेषाधिक है, आनुपूर्वीद्रव्य द्रव्य की अपेक्षा असंख्यातगुण और वही प्रदेश की अपेक्षा अनन्तगुण हैं।

इस प्रकार से अनुगम का वर्णन पूर्ण हुआ एवं साथ ही नैगम-व्यवहारनयसंमत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी की वक्तव्यता भी पूर्ण हुई।

विवेचन—सूत्रकार ने नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का द्रव्य, प्रदेश और उभय की अपेक्षा अल्पबहुत्व बतलाया है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

द्रव्यार्थ से अवक्तव्यद्रव्य सर्वस्तोक, उनसे अनानुपूर्वीद्रव्य विशेषाधिक और उनसे आनुपूर्वीद्रव्य असंख्यातगुण होने में वस्तुस्वभाव कारण है। दूसरी बात यह है कि अनानुपूर्वी द्रव्य-परमाणु में एक ही और अवक्तव्यद्रव्य में द्विप्रदेशीस्कन्ध रूप एक स्थान ही लभ्य है, परन्तु आनुपूर्वीद्रव्य में त्र्यणुकस्कन्ध से लगाकर एकोत्तर वृद्धि से—एक-एक प्रदेश की उत्तरोत्तर वृद्धि होने से अनन्ताणुक स्कन्ध पर्यन्त अनन्त स्थान हैं। इसीलिये आनुपूर्वीद्रव्य, अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों की अपेक्षा असंख्यातगुणे बताये हैं।

प्रदेशों की अपेक्षा अनानुपूर्वीद्रव्य को सबसे कम बताने का कारण यह है कि यदि परमाणु रूप इन अनानुपूर्वी द्रव्यों में भी द्वितीय आदि प्रदेश मान लिये जायें तो प्रदेशार्थता से भी अनानुपूर्वीद्रव्यों की अवक्तव्यद्रव्यों से अधिकता मानी जा सकती है, परन्तु परमाणु अप्रदेशी है और यहाँ

प्रदेशार्थता की अपेक्षा अल्पवहुत्व का कथन किया है। अतः अनानुपूर्वीद्रव्य सर्वस्तोक हैं, यही सिद्धान्त युक्तियुक्त है।

यद्यपि अनानुपूर्वी द्रव्यों के अप्रदेशी होने से प्रदेशार्थता नहीं है, तथापि 'प्रकृष्टः देशः प्रदेशः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वसूक्ष्म देश अर्थात् पुद्गलास्तिकाय के निरंश भाग को प्रदेश कहते हैं और ऐसा प्रदेशत्व परमाणुद्रव्य में है। इसीलिये प्रदेशार्थता की अपेक्षा यहाँ अनानुपूर्वीद्रव्यों का विचार किया है।

अवक्तव्यद्रव्यों को अनानुपूर्वीद्रव्यों से प्रदेशार्थता की अपेक्षा विशेषाधिक कहने का कारण यह है कि अनानुपूर्वीद्रव्य एकप्रदेशी (अप्रदेशी) है जवकि अवक्तव्यद्रव्य द्विप्रदेशी है। इसीलिये अवक्तव्यद्रव्यों को प्रदेशापेक्षा अनानुपूर्वीद्रव्यों से विशेषाधिक कहा है।

आनुपूर्वीद्रव्य अवक्तव्यद्रव्यों की अपेक्षा प्रदेशार्थता से अनन्तगुणे इसलिये हैं कि इनके प्रदेश अवक्तव्यद्रव्यों के प्रदेशों से अनन्तगुणे तक हैं।

द्रव्य और प्रदेशरूप उभयार्थता की अपेक्षा अवक्तव्यद्रव्यों को सर्वस्तोक बताने का कारण यह है कि पूर्व में अवक्तव्यद्रव्यों में द्रव्यार्थता की अपेक्षा सर्वस्तोकता कही है और अनानुपूर्वीद्रव्यों को अवक्तव्यद्रव्यों से उभयार्थ की अपेक्षा जो कुछ अधिकता कही है वह द्रव्यार्थता से जानना चाहिये किन्तु अनानुपूर्वीद्रव्यों से अवक्तव्यद्रव्य प्रदेशार्थता की अपेक्षा विशेषाधिक हैं और यह अधिकता उनके द्विप्रदेशी होने के कारण जानना चाहिये।

आनुपूर्वीद्रव्यों के विषय में द्रव्य और प्रदेशार्थता की अपेक्षा जो पृथक्-पृथक् निर्देश किया है, वही उभयरूपता के लिये भी समझ लेना चाहिये कि द्रव्यार्थता की अपेक्षा असंख्यात गुणे और प्रदेशार्थता की अपेक्षा अनन्तगुण हैं।

इस प्रकार ये नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी विषयक विवेचनीय का कथन करने के वाद अव संग्रहनयसम्मत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी का विवेचन प्रारम्भ करते हैं।

संग्रहनयसम्मत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी प्ररूपणा

११५. से किं तं संगहस्स अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी ?

संगहस्स अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता। तं जहा—अट्ठपयपरूवणया १ भंगसमुक्कित्तणया २ भंगोवदंसणया ३ समोयारे ४ अणुगमे ५।

[११५ प्र.] भगवन्! संग्रहनयसम्मत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी का क्या स्वरूप है?

[११५ उ.] आयुष्मन्! संग्रहनयसम्मत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी पांच प्रकार की कही है। वे प्रकार हैं—१. अर्थपदप्ररूपणता, २. भंगसमुत्कीर्तनता, ३. भंगोपदर्शनता, ४. समवतार, ५. अनुगम।

विवेचन—संग्रहनयसम्मत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी की प्ररूपणा भी पूर्वोक्त नैगमव्यवहार-नयसम्मत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी की तरह पांच प्रकारों द्वारा करने का कथन सूत्र में किया है। इन अर्थपदप्ररूपणता आदि के लक्षण पूर्वोक्त अनुसार ही जानना चाहिये।

संग्रहनयसम्मत अर्थपदप्ररूपणता एवं प्रयोजन

११६. से किं तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया ?

संगहस्स अट्ठपयपरूवणया तिपएसिया आणुपुव्वी चउप्पएसिया आणुपुव्वी जाव दसपएसिया आणुपुव्वी संखिज्जपएसिया आणुपुव्वी असंखिज्जपएसिया आणुपुव्वी अणंतपदेसिया आणुपुव्वी, परमाणुपोग्गला अणाणुपुव्वी, दुपदेसिया अवत्तव्वए। से तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया।

[११६ प्र.] भगवन् ! संग्रहनयसम्मत अर्थपदप्ररूपणता का क्या स्वरूप है ?

[११६ उ.] आयुष्मन् ! संग्रहनयसम्मत अर्थपदप्ररूपणता का स्वरूप इस प्रकार है— त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी है, चतुष्प्रदेशी स्कन्ध आनुपूर्वी है यावत् दसप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी है, संख्यातप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी है, असंख्यातप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी है, अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी है। परमाणुपुद्गल अनानुपूर्वी हैं और द्विप्रदेशिक स्कन्ध अवक्तव्यक है।

संग्रहनयसम्मत अर्थपदप्ररूपणता का यह स्वरूप है।

विवेचन—संग्रहनय की दृष्टि से यह अर्थपदप्ररूपणता है। इसमें और पूर्व की नैगम-व्यवहार-नयसम्मत अर्थपदप्ररूपणता में यह अन्तर है कि नैगम-व्यवहारनय की अपेक्षा एक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध एक आनुपूर्वीद्रव्य है और अनेक त्रिप्रदेशिक स्कन्ध अनेक आनुपूर्वीद्रव्य हैं। इस प्रकार एकत्व और अनेकत्व दोनों का निर्देश किया है। यह कथन अनन्तप्रदेशी स्कन्ध पर्यन्त जानना चाहिये। किन्तु संग्रह-नय सामान्यवादी है और उसके अविशुद्ध एवं विशुद्ध यह दो प्रकार हैं। अतएव सामान्यवादी होने से अविशुद्ध संग्रहनय के मतानुसार समस्त त्रिप्रदेशिक स्कन्ध एक ही आनुपूर्वी है, क्योंकि सभी त्रिप्रदेशिक स्कन्ध यदि वे अपने त्रिप्रदेशित्व रूप सामान्य से भिन्न हैं तो द्विप्रदेशिक आदि स्कन्ध की तरह वे त्रिप्रदेशिक स्कन्ध नहीं कहला सकते हैं और यदि त्रिप्रदेशिकत्व रूप सामान्य से वे अभिन्न हैं तो वे सभी त्रिप्रदेशी स्कन्ध एक रूप ही हैं। इसी कारण सभी त्रिप्रदेशिक स्कन्ध एक ही आनुपूर्वी है, अनेक आनुपूर्वीद्रव्य नहीं हैं।

इसी प्रकार चतु:प्रदेशिक स्कन्ध से लेकर अनन्ताणुक स्कन्ध तक सब स्वतन्त्र, स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न चतुष्प्रदेशी आदि आनुपूर्वी हैं।

उक्त दृष्टि अविशुद्ध संग्रहनय की है। परन्तु विशुद्ध संग्रहनय के मतानुसार त्रिप्रदेशिक स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध पर्यन्त के स्कन्धों की जितनी भी आनुपूर्वियां हैं, वे सब आनुपूर्वित्व रूप सामान्य से अभिन्न होने के कारण एक ही आनुपूर्वी रूप हैं।

इसी प्रकार अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक के लिये समझना चाहिये कि अनानुपूर्वित्व रूप सामान्य से अभिन्न होने के कारण समस्त परमाणुपुद्गल रूप अनानुपूर्वियां एक ही अनानुपूर्वी हैं। अवक्तव्यकत्व रूप सामान्य से अभिन्न होने के कारण समस्त द्विप्रदेशिक स्कन्ध भी एक अवक्तव्यक रूप हैं।

११७. एयाए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए किं पओयणं ?

एयाए णं संगहस्स अट्ठपयपरूवणयाए संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया कीरइ।

[११७ प्र.] भगवन् ! संग्रहनयसम्मत इस अर्थपदप्ररूपणता का क्या प्रयोजन है ?

[११७ उ.] आयुष्मन् ! संग्रहनयसम्मत इस अर्थपदप्ररूपणता द्वारा संग्रहनयसम्मत भंग-समुत्कीर्तनता (भंगों का निर्देश) की जाती है।

विवेचन—इस सूत्र द्वारा संग्रहनयसम्मत अर्थपदप्ररूपणता का प्रयोजन स्पष्ट किया है कि इससे भंगसमुत्कीर्तनता रूप प्रयोजन सिद्ध होता है। इस भंगसमुत्कीर्तनता की व्याख्या निम्न प्रकार है—

संग्रहनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता एवं प्रयोजन

११८. से किं तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया ?

संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आणुपुव्वी १ अत्थि अणाणुपुव्वी २ अत्थि अवत्तव्वए ३ अहवा अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य ४ अहवा अत्थि आणुपुव्वी य अवत्तव्वए य ५ अहवा अत्थि अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य ६ अहवा अत्थि आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य ७। एवं एए सत्त भंगा। से तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया।

[११८ प्र.] भगवन् ! संग्रहनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता का क्या स्वरूप है ?

[११८ उ.] आयुष्मन् ! संग्रहनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता का स्वरूप इस प्रकार है—

१. आनुपूर्वी है, २. अनानुपूर्वी है, ३. अवक्तव्यक है। अथवा—४. आनुपूर्वी और अनानुपूर्वी है, ५. आनुपूर्वी और अवक्तव्यक है, ६. अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक है। अथवा—७. आनुपूर्वी-अनानुपूर्वी-अवक्तव्यक है।

इस प्रकार ये सात भंग होते हैं। यह प्ररूपणा संग्रहनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता का स्वरूप है।

११९. एयाए णं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओयणं ?

एयाए णं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणयाए संगहस्स भंगोवदंसणया कज्जति।

[११९ प्र.] भगवन् ! इस संग्रहनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता का क्या प्रयोजन है ?

[११९ उ.] आयुष्मन् ! इस संग्रहनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता के द्वारा भंगोपदर्शन किया जाता है।

विवेचन—इन दो सूत्रों में भंगसमुत्कीर्तनता का आशय और प्रयोजन स्पष्ट किया है।

भंगसमुत्कीर्तनता में मूल तीन पद हैं—आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्य। इनके वाच्यार्थ पूर्व में स्पष्ट किये जा चुके हैं। इन तीनों पदों के पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र तीन भंग, दो-दो पदों के संयोग से तीन भंग और तीनों पदों के संयोग से एक भंग बनता है। इस प्रकार तीनों पदों के स्वतन्त्र और संयोगज कुल सात भंग होते हैं।

इन भंगों के कथन द्वारा भंगोपदर्शनता रूप प्रयोजन सिद्ध होता है, अतएव अब भंगोपदर्शनता को स्पष्ट करते हैं।

संग्रहनयसम्मत भंगोपदर्शनता

१२०. से किं तं संगहस्स भंगोवदंसणया ?

भंगोवदंसणया तिपएसिया आणुपुव्वी १ परमाणुपोग्गला अणाणुपुव्वी २ दुपएसिया अवत्तव्वए ३ अहवा तिपएसिया य परमाणुपोग्गला य आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य ४ अहवा तिपएसिया य दुपएसिया य आणुपुव्वी य अवत्तव्वए य ५ अहवा परमाणुपोग्गला य दुपएसिया य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य ६, अहवा तिपएसिया य परमाणुपोग्गला य दुपएसिया य आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य अवत्तव्वए य ७। से तं संगहस्स भंगोवदंसणया।

[१२० प्र.] भगवन् ! संग्रहनयसम्मत भंगोपदर्शनता का क्या स्वरूप है ?

[१२० उ.] आयुष्मन् ! संग्रहनयसम्मत भंगोपदर्शनता का स्वरूप इस प्रकार है—त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी शब्द के वाच्यार्थ रूप में, परमाणुपुद्गल अनानुपूर्वी शब्द के वाच्यार्थ रूप में और द्विप्रदेशिक स्कन्ध अवक्तव्यक शब्द के वाच्यार्थ रूप में विवक्षित होते हैं। अथवा—

त्रिप्रदेशिक स्कन्ध और परमाणुपुद्गल आनुपूर्वी-अनानुपूर्वी शब्द के वाच्यार्थ रूप में, त्रिप्रदेशिक और द्विप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी-अवक्तव्यक शब्द के वाच्यार्थ रूप में तथा परमाणुपुद्गल और द्विप्रदेशिक स्कन्ध, अनानुपूर्वी-अवक्तव्यक शब्द के वाच्यार्थ रूप में विवक्षित होते हैं। अथवा—

त्रिप्रदेशिक स्कन्ध-परमाणुपुद्गल-द्विप्रदेशिक स्कन्ध आनुपूर्वी-अनानुपूर्वी-अवक्तव्यक शब्द के वाच्यार्थ रूप में विवक्षित होते हैं।

इस प्रकार से संग्रहनयसम्मत भंगोपदर्शनता का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—पूर्व सूत्र में भंगसमुत्कीर्तन के रूप में जिन संज्ञाओं का उल्लेख किया था, उन संज्ञाओं का वाच्यार्थ इस सूत्र में स्पष्ट किया है कि आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक शब्द के द्वारा यावन्मात्र त्रिप्रदेशिक आदि स्कन्ध, परमाणुपुद्गल और द्विप्रदेशिक स्कन्ध ग्रहण किये जाते हैं। अर्थात् यही इनके वाच्यार्थ हैं। इसी प्रकार द्विकसंयोगी और त्रिकसंयोगी पदों का वाच्यार्थ समझ लेना चाहिये।

समवतारप्ररूपणा

१२१. से किं तं समोयारे ? समोयारे संगहस्स आणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समोयरंति ? किं आणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति ? अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति ? अवत्तव्वयदव्वेहिं समोयरंति ?

संगहस्स आणुपुव्वीदव्वाइं आणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति, नो अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति, नो अवत्तव्वयदव्वेहिं समोयरंति। एवं दोण्णि वि सट्ठाणे सट्ठाणे समोयरंति। से तं समोयारे।

[१२१ प्र.] भगवन् ! समवतार का क्या स्वरूप है ? क्या संग्रहनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्य आनुपूर्वीद्रव्यों में समाविष्ट होते हैं ? अथवा अनानुपूर्वीद्रव्यों में समाविष्ट होते हैं ? या अवक्तव्यक-द्रव्यों में समाविष्ट होते हैं ?

[१२१ उ.] आयुष्मन् ! संग्रहनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्य आनुपूर्वीद्रव्यों में समवतरित होते हैं, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों में नहीं। इसी प्रकार दोनों भी—अनानुपूर्वीद्रव्य और अवक्तव्यकद्रव्य भी—स्वस्थान में ही समवतरित होते हैं।

यह समवतार का स्वरूप है।

विवेचन—समवतार सम्बन्धी स्पष्टीकरण नैगमव्यवहारनयसम्मत समवतार के प्रसंग में किया जा चुका है। तदनुरूप यहाँ भी समझ लेना चाहिये कि सजातीय का सजातीय में ही समावेश होता है। समावेश होना ही समवतार की परिभाषा है।

संग्रहनयसम्मत अनुगमप्ररूपणा

१२२. से किं तं अणुगमे ?

अणुगमे अट्ठविहे पन्नत्ते। तं जहा—

संतपयपरूवणया १ दव्वपमाणं २ च खेत्त ३ फुसणा ४ य।
कालो ५ य अंतरं ६ भाग ७ भाव ८ अप्पाबहुं नत्थि ॥ ९ ॥

[१२२ प्र.] भगवन् ! संग्रहनयसम्मत अनुगम का क्या स्वरूप है ?

[१२२ उ.] आयुष्मन् ! संग्रहनयसम्मत अनुगम आठ प्रकार का है। वह इस प्रकार—

(गाथार्थ) १. सत्पदप्ररूपणा, २. द्रव्यप्रमाण, ३. क्षेत्र, ४. स्पर्शना, ५. काल, ६. अन्तर, ७. भाग और ८. भाव। (किन्तु संग्रहनय सामान्यग्राही होने से) इसमें अल्पबहुत्व नहीं होता है।

विवेचन—सूत्र में अनुगम के आठ प्रकारों के नाम गिनाये हैं। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

सत्पदप्ररूपणा

१२३. संगहस्स आणुपुव्वीदव्वाइं किं अत्थि णत्थि ?

नियमा अत्थि। एवं दोण्णि वि।

[१२३ प्र.] भगवन् ! संग्रहनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्य हैं अथवा नहीं हैं ?

[१२३ उ.] आयुष्मन् ! नियमतः (निश्चित रूप से) हैं। इसी प्रकार दोनों (अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक) द्रव्यों के लिये भी समझना चाहिये।

विवेचन—इस सत्पदप्ररूपणा द्वारा यह प्ररूपित किया है कि ये आनुपूर्वी आदि पद असदर्थ-विषयक नहीं हैं। किन्तु जैसे स्तम्भ आदि पद स्तम्भ आदि रूप अपने वास्तविक अर्थ को विषय करते हैं, उसी प्रकार आनुपूर्वी आदि पद भी वास्तविक रूप में विद्यमान पदार्थ के वाचक हैं। इसी तथ्य को बताने के लिये सूत्र में कहा है—'नियमा अत्थि।'

द्रव्यप्रमाणप्ररूपणा

१२४. संगहस्स आणुपुव्वीदव्वाइं किं संखेज्जाइं असंखेज्जाइं अणंताइं ?

नो संखेज्जाइं नो असंखेज्जाइं नो अणंताइं, नियमा एगो रासी। एवं दोण्णि वि।

[१२४ प्र.] भगवन्! संग्रहनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्य संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं?

[१२४ उ.] आयुष्मन्! संग्रहनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्य संख्यात नहीं हैं, असंख्यात नहीं हैं और अनन्त भी नहीं हैं, परन्तु नियमतः एक राशि रूप हैं। इसी प्रकार दोनों—(अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक) द्रव्यों के लिये भी जानना चाहिये।

विवेचन—द्रव्यप्रमाणप्ररूपणा में आनुपूर्वी आदि पदों द्वारा कहे गये द्रव्यों की संख्या का निर्धारण होता है। यही बात सूत्र में स्पष्ट की है। संग्रहनय सामान्य को विषय करने वाला होने से उसके मत से संख्यात आदि भेद संभव नहीं हैं। किन्तु एक-एक राशि ही हैं। इसी बात का संकेत करने के लिये सूत्र में पद दिया है—नियमा एगो रासी। जिसका अर्थ यह है कि जैसे विशिष्ट एक परिणाम से परिणत एक स्कन्ध में तदारंभक परमाणुओं की बहुलता होने पर भी एकता की ही मुख्य रूप से विवक्षा होती है। उसी प्रकार आनुपूर्वीद्रव्य अनेक होने पर भी उनमें आनुपूर्वीत्व सामान्य एक होने से उन्हें संग्रहनय एक मानता है।

संग्रहनयसम्मत क्षेत्रप्ररूपणा

१२५. संगहस्स आणुपुव्वीदव्वाइं लोगस्स कतिभागे होज्जा? किं संखेज्जतिभागे होज्जा? असंखेज्जतिभागे होज्जा? संखेज्जेसु भागेसु होज्जा? असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा? सव्वलोए होज्जा?

नो संखेज्जतिभागे होज्जा नो असंखेज्जतिभागे होज्जा नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा नो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, नियमा सव्वलोए होज्जा? एवं दोण्णि वि।

[१२५ प्र.] भगवन्! संग्रहनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्य लोक के कितने भाग में हैं? क्या संख्यात भाग में हैं? असंख्यात भाग में हैं? संख्यात भागों में हैं? असंख्यात भागों में हैं? अथवा सर्वलोक में हैं?

[१२५ उ.] आयुष्मन्! समस्त आनुपूर्वीद्रव्य लोक के संख्यात भाग, असंख्यात भाग, संख्यात भागों या असंख्यात भागों में नहीं हैं किन्तु नियमतः सर्वलोक में हैं।

इसी प्रकार का कथन दोनों (अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक) द्रव्यों के लिए भी समझना चाहिये। अर्थात् ये दोनों भी समस्त लोक में हैं?

विवेचन—संग्रहनय की अपेक्षा आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का क्षेत्र सर्वलोक बताया है। उसका कारण यह है कि आनुपूर्वित्व आदि रूप सामान्य एक है और वह सर्वलोकव्यापी है। इसीलिये आनुपूर्वी आदि द्रव्यों की सत्ता सर्वलोक में है।

संग्रहनयसंमत स्पर्शनाप्ररूपणा

१२६. संगहस्स आणुपुव्वीदव्वाइं लोगस्स किं संखेज्जतिभागं फुसंति? असंखेज्जतिभागं फुसंति? संखेज्जे भागे फुसंति? असंखेज्जे भागे फुसंति? सव्वलोगं फुसंति?

नो संखेज्जतिभागं फुसंति नो असंखेज्जतिभागं फुसंति नो संखेज्जे भागे फुसंति नो असंखेज्जे भागे फुसंति, नियमा सव्वलोगं फुसंति। एवं दोन्नि वि।

[१२६ प्र.] भगवन् ! संग्रहनयसंमत आनुपूर्वीद्रव्य क्या लोक के संख्यात भाग का, असंख्यात भाग का, संख्यात भागों या असंख्यात भागों या सर्वलोक का स्पर्श करते हैं ?

[१२६ उ.] आयुष्मन् ! आनुपूर्वीद्रव्य लोक के संख्यात भाग का स्पर्श नहीं करते हैं, असंख्यात भाग का स्पर्श नहीं करते हैं, संख्यात भागों और असंख्यात भागों का भी स्पर्श नहीं करते हैं, किन्तु नियम से सर्वलोक का स्पर्श करते हैं ।

इसी प्रकार का कथन अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक रूप दोनों द्रव्यों के लिये भी समझना चाहिये ।

विवेचन—आनुपूर्वी आदि द्रव्यों की स्पर्शना का कारण पूर्वोक्त क्षेत्रप्ररूपणा के समान समझ लेना चाहिये । ये आनुपूर्वी आदि द्रव्य आनुपूर्वित्व आदि रूप सामान्य के सर्वव्यापी होने से सर्वलोकव्यापी हैं, उनकी सत्ता सर्वलोक में है । अतएव ये सभी नियमतः सर्वलोक का स्पर्श करते हैं ।

संग्रहनयसम्मत काल और अंतर की प्ररूपणा

१२७. संगहस्स आणुपुव्वीदव्वाइं कालओ केवचिरं होंति ?

सव्वद्धा । एवं दोण्णि वि ।

[१२७ प्र.] भगवन् ! संग्रहनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्य काल की अपेक्षा कितने काल तक (आनुपूर्वी रूप में) रहते हैं ?

[१२७ उ.] आयुष्मन् ! आनुपूर्वीद्रव्य आनुपूर्वी रूप में सर्वकाल रहते हैं । इसी प्रकार का कथन शेष दोनों द्रव्यों के लिये भी समझना चाहिये ।

१२८. संगहस्स आणुपुव्वीदव्वाणं कालतोकेवचिरं अंतरं होति ?

नत्थि अंतरं । एवं दोण्णि वि ।

[१२८ प्र.] भगवन् ! संग्रहनयसंमत आनुपूर्वीद्रव्यों का कालापेक्षया कितना अंतर-विरहकाल होता है ?

[१२८ उ.] आयुष्मन् ! कालापेक्षया आनुपूर्वीद्रव्यों में अंतर नहीं होता है । इसी प्रकार शेष दोनों द्रव्यों के लिये समझना चाहिये ।

विवेचन—इन दोनों सूत्रों में संग्रहनयमान्य समस्त आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का काल की अपेक्षा अवस्थान और अंतर का निरूपण किया है । जिसका आशय यह है—

आनुपूर्वित्व, अनानुपूर्वित्व और अवक्तव्यकत्व सामान्य का विच्छेद नहीं होने से इनका अवस्थान सर्वाद्धा-सार्वकालिक है और इसीलिये काल की अपेक्षा इनका विरहकाल भी नहीं है । इन दोनों बातों का निरूपण करने के लिये पद दिये हैं—'सव्वद्धा' और 'नत्थि अंतरं' । सारांश यह कि आनुपूर्वित्व आदि का कालत्रय में सत्त्व रहने के कारण विच्छेद न होने से उनका अवस्थान सार्वकालिक है और इसीलिये उनमें कालिक अंतर-विरहकाल भी संभव नहीं है ।

संग्रहनयसम्मत भागप्ररूपणा

१२९. संगहस्स आणुपुव्वीदव्वाइं सेसद वाणं कतिभागे होज्जा? किं संखेज्जतिभागे होज्जा? असंखेज्जतिभागे होज्जा? संखेज्जेसु भागेसु होज्जा? असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा?

नो संखेज्जतिभागे होज्जा नो असंखेज्जतिभागे होज्जा णो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा णो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, नियमा तिभागे होज्जा। एवं दोण्णि वि।

[१२९ प्र.] भगवन्! संग्रहनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्य शेष द्रव्यों के कितनेवें भाग प्रमाण होते हैं? क्या संख्यात भाग प्रमाण होते हैं या असंख्यात भाग प्रमाण होते हैं? संख्यात भागों प्रमाण अथवा असंख्यात भागों प्रमाण होते हैं?

[१२९ उ.] आयुष्मन्! संग्रहनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्य शेष द्रव्यों के संख्यात भाग, असंख्यात भाग, संख्यात भागों या असंख्यात भागों प्रमाण नहीं हैं, किन्तु नियमतः तीसरे भाग प्रमाण होते हैं।

इसी प्रकार दोनों (अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक) द्रव्यों के विषय में भी समझना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में भागप्ररूपणा का प्ररूपण किया। आशय यह है कि संग्रहनयमान्य समस्त आनुपूर्वी आदि द्रव्यों में से आनुपूर्वीद्रव्य नियम से शेष द्रव्यों के त्रिभाग प्रमाण हैं। क्योंकि अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों को मिलाकर जो राशि उत्पन्न होती है, उस राशि के तीन भाग करने पर जो तृतीय भाग आये तत्प्रमाण आनुपूर्वीद्रव्य हैं। क्योंकि यह तीन राशियों में से एक राशि है। इसी प्रकार अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों के लिये जानना कि वे भी तीसरे-तीसरे भाग प्रमाण हैं।

संग्रहनयसम्मत भावप्ररूपणा

१३०. संगहस्स आणुपुव्वीदव्वाइं कयरम्मि भावे होज्जा?

नियमा सादिपारिणामिए भावे होज्जा। एवं दोण्णि वि। अप्पाबहुं नत्थि। से तं अणुगमे। से तं संगहस्स अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी। से तं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी।

[१३० प्र.] भगवन्! संग्रहनयसंमत आनुपूर्वीद्रव्य किस भाव में होते हैं?
[१३० उ.] आयुष्मन्! आनुपूर्वीद्रव्य नियम से सादिपारिणामिक भाव में होते हैं।

यही कथन शेष दोनों (अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक) द्रव्यों के लिये भी समझना चाहिये।
राशिगत द्रव्यों में अल्पबहुत्व नहीं है। यह अनुगम का वर्णन है।

इस प्रकार से संग्रहनयसम्मत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी का कथन पूर्ण हुआ और साथ ही अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी की वक्तव्यता भी पूर्ण हुई।

विवेचन—सूत्रार्थ स्पष्ट है। संबन्धित विशेष वक्तव्य इस प्रकार है—

आनुपूर्वी आदि राशिगत द्रव्यों में अल्पबहुत्व नहीं है। क्योंकि संग्रहनय की दृष्टि से आनुपूर्वी आदि द्रव्यों में अनेकत्व नहीं है, सभी एक-एक द्रव्य हैं। जब अनेकत्व नहीं, सभी एक-एक हैं तो उनमें अल्पबहुत्व कैसे संभव होगा?

अल्पबहुत्व नहीं होने पर भी संग्रहनयमान्य अनुगम के प्रकरण में जो 'संगहस्य आणुपुव्वी-दव्वाइं किं संखिज्जाइं..........' आदि बहुवचनान्त पदों का प्रयोग किया गया है उसका कारण यह है कि संग्रहनय की अपेक्षा तो ये द्रव्य एक-एक हैं, परन्तु व्यवहारनय से बहुत भी हैं।

इस प्रकार से अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी का निरूपण समाप्त हुआ। अब पूर्व में जिस औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी को स्थाप्य मानकर वर्णन नहीं किया था, उसका कथन आगे किया जाता है।

औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वीनिरूपण

१३१. से किं तं ओवणिहिया दव्वाणुपुव्वी ?

ओवणिहिया दव्वाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३ य।

[१३१ प्र.] भगवन् ! औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१३१ उ.] आयुष्मन् ! औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी के तीन प्रकार कहे हैं, यथा—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी और ३. अनानुपूर्वी।

विवेचन—सूत्र में औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी के तीन भेद बताये हैं।

'उपनिधिर्निक्षेपो विरचनं प्रयोजनमस्या इत्यौपनिधिकी' अर्थात् किसी एक वस्तु को स्थापित करके उसके समीप पूर्वानुपूर्वी आदि के क्रम से अन्य वस्तुओं को स्थापित करना उपनिधि का अर्थ है। यह प्रयोजन जिसका हो, उसका नाम औपनिधिकी है। यह द्रव्यविषयक द्रव्यानुपूर्वी पूर्वानुपूर्वी आदि रूपों से तीन प्रकार की है।

पूर्वानुपूर्वी—विवक्षित धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यविशेष के समुदाय में जो पूर्व—प्रथम द्रव्य है, उससे प्रारंभ कर अनुक्रम से आगे-आगे के द्रव्यों की स्थापना अथवा गणना की जाती है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं। यथा—धर्मास्तिकाय से प्रारंभ कर क्रमानुसार कालद्रव्य तक गणना करना।

पश्चानुपूर्वी—उस द्रव्यविशेष के समुदाय में से अंतिम द्रव्य से लेकर विलोमक्रम से प्रथम द्रव्य तक जो आनुपूर्वी, परिपाटी निक्षिप्त की जाती है वह पश्चानुपूर्वी है।

अनानुपूर्वी—पूर्वानुपूर्वी एवं पश्चानुपूर्वी इन दोनों से भिन्न स्वरूप वाली आनुपूर्वी को अनानुपूर्वी कहते हैं।

अब यथाक्रम इन तीनों भेदों का निरूपण करते हैं।

पूर्वानुपूर्वी

१३२. से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी धम्मत्थिकाए १ अधम्मत्थिकाए २ आगासत्थिकाए ३ जीवत्थिकाए ४ पोग्गलत्थिकाए ५ अद्धासमए ६। से तं पुव्वाणुव्वी।

[१३२ प्र.] भगवन् ! पूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१३२ उ.] आयुष्मन् ! पूर्वानुपूर्वी का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—१. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. जीवास्तिकाय, ५. पुद्गलास्तिकाय, ६. अद्धाकाल । इस प्रकार अनुक्रम से निक्षेप करने को पूर्वानुपूर्वी कहते हैं ।

पश्चानुपूर्वी

१३३. से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी अद्धासमए ६ पोग्गलत्थिकाए ५ जीवत्थिकाए ४ आगासत्थिकाए ३ अधम्मत्थिकाए २ धम्मत्थिकाए १ । से तं पच्छाणुपुव्वी ।

[१३३ प्र.] भगवन् ! पश्चानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१३३ उ.] आयुष्मन् ! पश्चानुपूर्वी का स्वरूप इस प्रकार है कि ६. अद्धासमय, ५. पुद्गलास्तिकाय, ४. जीवास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, और १. धर्मास्तिकाय । इस प्रकार के विलोमक्रम से निक्षेपण करने को पश्चानुपूर्वी कहते हैं ।

अनानुपूर्वी

१३४. से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादियाए एगुत्तरियाए छगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो । से तं अणाणुपुव्वी ।

[१३४ प्र.] भगवन् ! अनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१३४ उ.] आयुष्मन् ! एक से प्रारंभ कर एक-एक की वृद्धि करने पर छह पर्यन्त स्थापित श्रेणी के अंकों में परस्पर गुणाकार करने से जो राशि आये, उसमें से आदि और अंत के दो रूपों (भंगों) को कम करने पर अनानुपूर्वी बनती है ।

विवेचन—इन तीन सूत्रों (१३२, १३३, १३४) में औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी के एक अपेक्षा से पूर्वानुपूर्वी आदि तीन भेदों का स्वरूप बतलाया है ।

धर्मास्तिकाय आदि के लक्षण प्रायः सुगम है कि गमन करते हुए जीवों और पुद्गलों की गति में सहायक द्रव्य को धर्मास्तिकाय और उनकी स्थिति में सहायक द्रव्य को अधर्मास्किाय, सभी द्रव्यों को अवस्थान-अवकाश देने में सहयोगी द्रव्य को आकाशास्तिकाय, चेतनापरिणाम युक्त द्रव्य को जीवास्तिकाय, पूरण-गलन स्वभाव वाले द्रव्य को पुद्गलास्तिकाय और पूर्वापर कोटि-विप्रमुक्त वर्तमान एक समय को अद्धासमय कहते हैं ।

षड्द्रव्यों की विशेषता—धर्मास्तिकाय आदि इन षड्द्रव्यों में से अद्धासमय एक समयात्मक होने से अस्ति रूप है किन्तु 'काय' नहीं है । शेष पांच द्रव्य प्रदेशों के संघात रूप होने से अस्तिकाय कहलाते हैं । जीवास्तिकाय सचेतन और शेष पांच अचेतन हैं । पुद्गलास्तिकाय रूपी-मूर्त और शेष पांच द्रव्य अमूर्तिक-अरूपी हैं ।

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन अस्तिकाय द्रव्य द्रव्यापेक्षा एक-एक द्रव्य हैं । जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय अनन्तद्रव्य हैं तथा काल अप्रदेशीद्रव्य है । जीव, धर्म, अधर्म ये तीन असंख्यात-

प्रदेशी हैं। आकाशास्तिकाय सामान्य से अनन्तप्रदेशी द्रव्य है। लोकाकाशरूप आकाश असंख्यात-प्रदेशी और अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है। पुद्गलास्तिकाय के संख्यात, असंख्यात अनन्त प्रदेश होते हैं। अणुरूप पुद्गल तो एक प्रदेशी है और स्कन्धात्मक पुद्गल दो प्रदेशों के संघात से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशों तक का समुदाय रूप हो सकता है।

धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन अस्तिकाय नित्य, अवस्थित एवं निष्क्रिय हैं और जीव, पुद्गल सक्रिय अस्तिकाय द्रव्य हैं।

षड् द्रव्यों का क्रमविन्यास—धर्म पद मांगलिक होने से सर्वप्रथम धर्मास्तिकाय का और तत्पश्चात् उसके प्रतिपक्षी अधर्मास्तिकाय का उपन्यास किया गया है। इनका आधार आकाश है, अतः इन दोनों के अनन्तर आकाशास्तिकाय का उल्लेख किया है, तत्पश्चात् आकाश की तरह अमूर्तिक होने से जीवास्तिकाय का न्यास किया है। जीव के भोगोपभोग में आने वाला होने से जीव के अनन्तर पुद्गलास्तिकाय का विन्यास किया है तथा जीव और अजीव का पर्याय रूप होने से सबसे अंत में अद्धासमय का उपन्यास किया है।

क्रमविन्यास की उक्त दृष्टि पूर्वानुपूर्वित्व में हेतु है। इसी क्रम को प्रतिलोम क्रम से—सबसे अंतिम अद्धासमय से प्रारंभ करके क्रमानुसार उल्लेख किये जाने पर पश्चानुपूर्वी कहलाती है। किन्तु अनानुपूर्वी में विवक्षित पदों के उक्त दोनों क्रमों की उपेक्षा करके संभवित भंगों से इन पदों की विरचना की जाती है। उसमें सबसे पहले एक का अंक रखकर एक-एक की उत्तरोत्तर वृद्धि छह संख्या तक होती है, जैसे १-२-३-४-५-६। फिर इनमें परस्पर गुणा करने पर बनने वाली अन्योन्याभ्यस्त राशि (१×२×३×४×५×६=७२०) में आदि एवं अंत्य भंगों को कम करने से अनानुपूर्वी बनती है, क्योंकि आद्य भंग पूर्वानुपूर्वी का और अंतिम भंग पश्चानुपूर्वी का है।

औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी का दूसरा प्रकार

१३५. अहवा ओवणिहिया दव्वाणुपुव्वी तिविहा पन्नत्ता। तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३।

[१३५] अथवा औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी तीन प्रकार की कही है। यथा—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी और ३. अनानुपूर्वी।

विवेचन—पूर्व सूत्र में सामान्य से धर्मास्तिकाय आदि षड् द्रव्यों की पूर्वानुपूर्वी आदि का कथन किया है। अब उसी को पुद्गलास्तिकाय पर घटित करने के लिये पुनः औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी के तीन भेदों का यहाँ उल्लेख किया है।

पूर्वानुपूर्वी आदि तीनों के लक्षण सामान्यतया पूर्ववत् हैं। लेकिन पुद्गलास्तिकाय की अपेक्षा क्रम से पुनः उनका निरूपण करते हैं—

पूर्वानुपूर्वी

१३६. से किं तं पुव्वाणुपुव्वी?

पुव्वाणुपुव्वी परमाणुपोग्गले दुपएसिए तिपएसिए जाव दसपएसिए जाव संखिज्जपएसिए असंखिज्जपएसिए अणंतपएसिए। से तं पुव्वाणुपुव्वी।

[१३६ प्र.] भगवन् ! पूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१३६ उ.] आयुष्मन् ! पूर्वानुपूर्वी का स्वरूप इस प्रकार है—परमाणुपुद्गल, द्विप्रदेशिक स्कन्ध, त्रिप्रदेशिक स्कन्ध, यावत् दशप्रदेशिक स्कन्ध, संख्यातप्रदेशिक स्कन्ध, असंख्यातप्रदेशिक स्कन्ध, अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध रूप क्रमात्मक आनुपूर्वी को पूर्वानुपूर्वी कहते हैं।

पश्चानुपूर्वी

१३७. से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी अणंतपएसिए असंखिज्जपएसिए संखिज्जपएसिए जाव दसपएसिए जाव तिपएसिए दुपएसिए परमाणुपोग्गले। से तं पच्छाणुपुव्वी।

[१३७ प्र.] भगवन् ! पश्चानुपूर्वी का स्वरूप क्या है ?

[१३७ उ.] आयुष्मन् ! पश्चानुपूर्वी का स्वरूप यह है—अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध, असंख्यातप्रदेशिक स्कन्ध, संख्यातप्रदेशिक स्कन्ध यावत् दशप्रदेशिक स्कन्ध यावत् त्रिप्रदेशिक स्कन्ध, द्विप्रदेशिक स्कन्ध, परमाणुपुद्गल। इस प्रकार का विपरीत क्रम से किया जाने वाला न्यास पश्चानुपूर्वी है।

अनानुपूर्वी

१३८. से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगाइयाए एगुत्तरियाए अणंतगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। से तं अणाणुपुव्वी। से तं ओवणिहिया दव्वाणुपुव्वी। से तं जाणगव्वइरित्ता दव्वाणुपुव्वी। से तं नोआगमओ दव्वाणुपुव्वी। से तं दव्वाणुपव्वी।

[१३८ प्र.] भगवन् ! अनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१३८ उ.] आयुष्मन् ! एक से प्रारंभ करके एक-एक की वृद्धि करने के द्वारा निर्मित अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध पर्यन्त की श्रेणी की संख्या को परस्पर गुणित करने से निष्पन्न अन्योन्याभ्यस्त राशि में से आदि और अंत रूप दो भंगों को कम करने पर अनानुपूर्वी बनती है।

यह औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी का वर्णन जानना चाहिये।

इस प्रकार से ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यानुपूर्वी का और साथ ही नोआगम द्रव्यानुपूर्वी तथा द्रव्यानुपूर्वी का भी वर्णन पूर्ण हुआ।

विवेचन—यहाँ पूर्वानुपूर्वी आदि रूप में पुद्गलास्तिकाय को उदाहृत करने का कारण यह है कि पूर्वानुपूर्वी आदि के विचार में परमाणु आदि द्रव्यों का परिपाटी रूप क्रम पुद्गल द्रव्यों की बहुलता के कारण संभव है। एक-एक द्रव्य रूप माने जाने से धर्म, अधर्म, आकाश इन तीनों अस्तिकाय द्रव्यों में पुद्गलास्तिकाय की तरह द्रव्यबाहुल्य नहीं है तथा जीवास्तिकाय में अनन्त जीवद्रव्यों की सत्ता होने के कारण यद्यपि द्रव्यबाहुल्य है, फिर भी परमाणु, द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी स्कन्ध यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध में जैसा पूर्वानुपूर्वी आदि रूप पूर्व-पश्चाद्भाव है, वैसा जीवद्रव्य में नहीं है। क्योंकि प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेश वाला होने से समस्त जीवों में तुल्यप्रदेशता है। परमाणु, द्विप्रदेशिक स्कन्ध आदि द्रव्यों में विषम प्रदेशता है, जिससे वहाँ पूर्व-पश्चाद्भाव है। अद्धासमय एक समय प्रमाण रूप है। इसीलिये उसमें भी पूर्वानुपूर्वी आदि संभव नहीं है।

इन सब कारणों से धर्मास्तिकाय आदि अन्य द्रव्यों को छोड़कर पुद्गलास्तिकाय को ही पूर्वानुपूर्वी आदि रूप से उदाहृत किया गया है।

इस प्रकार पूर्व में बताये गये द्रव्यानुपूर्वी के दो प्रकारों का पूर्ण रूप से कथन किया जा चुका है। अतः अब क्रमप्राप्त क्षेत्रानुपूर्वी का वर्णन प्रारंभ करते हैं।

क्षेत्रानुपूर्वी के प्रकार

१३९. से किं तं खेत्ताणुपुव्वी ?

खेत्ताणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—ओवणिहिया य अणोवणिहिया य।

[१३९ प्र.] भगवन् ! क्षेत्रानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१३९ उ.] आयुष्मन् ! क्षेत्रानुपूर्वी दो प्रकार की है। यथा—१. औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी और २. अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी।

१४०. तत्थ णं जा सा ओवणिहिया सा ठप्पा।

[१४०] इन दो भेदों में से औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी (अल्प विषय वाली होने से पश्चात् वर्णन किये जाने के कारण) स्थाप्य है।

१४१. तत्थ णं जा सा अणोवणिहिया सा दुविहा पन्नत्ता। तं जहा—णेगम-ववहाराणं १ संगहस्स य २।

[१४१] अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी दो प्रकार की कही गई है। यथा—१. नैगम-व्यवहारनय-संमत और २. संग्रहनयसंमत।

विवेचन—यह तीन सूत्र क्षेत्रानुपूर्वी के वर्णन की भूमिका रूप हैं। सूत्रोक्त क्रमानुसार इनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी

१४२. से किं तं णेगम-ववहाराणं अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी ?

णेगम-ववहाराणं अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता। तं जहा—अट्ठपयपरूवणया १ भंगसमुक्कित्तणया २ भंगोवदंसणया ३ समोयारे ४ अणुगमे ५।

[१४२ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१४२ उ.] आयुष्मन् ! इस उभयनयसम्मत अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी की प्ररूपणा के पांच प्रकार हैं। यथा—१. अर्थपदप्ररूपणता, २. भंगसमुत्कीर्तनता, ३. भंगोपदर्शनता, ४. समवतार, ५. अनुगम।

विवेचन—सूत्रोक्त अर्थपदप्ररूपणता आदि की लक्षण-व्याख्या द्रव्यानुपूर्वी के प्रसंग में किये गये वर्णन के समान जाननी चाहिये।

नैगम-व्यवहारनयसम्मत अर्थपदप्ररूपणा और प्रयोजन

१४३. से किं तं णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणया ?

णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणया तिपएसोगाढे आणुपुव्वी जाव दसपएसोगाढे आणुपुव्वी जाव संखिज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी असंखेज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी, एगपएसोगाढे अणाणुपुव्वी, दुपए-सोगाढे अवत्तव्वए, तिपएसोगाढा आणुपुव्वीओ जाव दसपएसोगाढा आणुपुव्वीओ जाव संखेज्जपए-सोगाढा आणुपुव्वीओ असंखिज्जपएसोगाढा आणुपुव्वीओ, एगपएसोगाढा अणाणुपुव्वीओ, दुपए-सोगाढा अवत्तव्वगाइं । से तं णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणया ।

[१४३ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत अर्थपदप्ररूपणता का क्या स्वरूप है ?

[१४३ उ.] आयुष्मन् ! उक्त नयद्वय-सम्मत अर्थपदप्ररूपणा का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—तीन आकाशप्रदेशों में अवगाढ द्रव्यस्कन्ध आनुपूर्वी है यावत् दस प्रदेशावगाढ द्रव्यस्कन्ध आनुपूर्वी है यावत् संख्यात आकाशप्रदेशों में अवगाढ द्रव्यस्कन्ध आनुपूर्वी है, असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ द्रव्यस्कन्ध आनुपूर्वी है ।

आकाश के एक प्रदेश में अवगाढ द्रव्य (पुद्गलपरमाणु) से लेकर यावत् असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध तक क्षेत्रापेक्षया अनानुपूर्वी कहलाता है ।

दो आकाशप्रदेशों में अवगाढ द्रव्य (दो, तीन या असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध भी) क्षेत्रापेक्षया अवक्तव्यक है ।

तीन आकाशप्रदेशावगाही अनेक-बहुत द्रव्यस्कन्ध आनुपूर्वियां हैं यावत् दसप्रदेशावगाही द्रव्यस्कन्ध आनुपूर्वियां हैं यावत् संख्यातप्रदेशावगाढ द्रव्यस्कन्ध आनुपूर्वियां हैं, असंख्यात प्रदेशावगाढ द्रव्यस्कन्ध आनुपूर्वियां हैं ।

एक प्रदेशावगाही पुद्गलपरमाणु आदि (अनेक) द्रव्य अनानुपूर्वियां हैं ।

दो आकाशप्रदेशावगाही द्व्यणुकादि द्रव्यस्कन्ध अवक्तव्यक हैं ।

यह नैगम-व्यवहारनयसंमत अर्थपदप्ररूपणता का स्वरूप जानना चाहिये ।

१४४. एयाए णं णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए किं पओयणं ?

एयाए णं णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया कीरति ।

[१४४ प्र.] भगवन् ! इस नैगम-व्यवहारनयसम्मत अर्थपदप्ररूपणता का क्या प्रयोजन है ?

[१४४ उ.] आयुष्मन् ! इस नैगम-व्यवहारनयसम्मत अर्थपदप्ररूपणता द्वारा नैगम-व्यवहार-नयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता की जाती है ।

विवेचन—इन दो सूत्रों में क्रमशः नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी के प्रथम भेद अर्थपदप्ररूपणता का स्वरूप एवं प्रयोजन बतलाया है । सूत्रार्थ स्पष्ट है । संबन्धित विशेष वक्तव्य इस प्रकार है—

क्षेत्रानुपूर्वी में क्षेत्र की प्रधानता है। त्र्यणुकादि रूप पुद्गलस्कन्धों के साथ उसका सीधा सम्बन्ध नहीं है। अतएव त्रिप्रदेशावगाही द्रव्यस्कन्ध से लेकर अनन्ताणुक पर्यन्त स्कन्ध यदि वे एक आकाशप्रदेश में स्थित हैं तो उनमें क्षेत्रानुपूर्वीरूपता नहीं है। फिर भी यहाँ जो त्रिप्रदेशावगाढ द्रव्यस्कन्ध को आनुपूर्वी कहा गया है, उसका तात्पर्य आकाश के तीन प्रदेशों में अवगाह रूप पर्याय से विशिष्ट द्रव्यस्कन्ध है। क्योंकि तीन पुद्गलपरमाणु वाले द्रव्यस्कन्ध आकाश रूप क्षेत्र के तीन प्रदेशों को भी रोककर रहते हैं। इसीलिये आकाश के तीन प्रदेशों में अवगाही द्रव्यस्कन्ध भी आनुपूर्वी कहे जाते हैं।

वैसे तो क्षेत्रानुपूर्वी का अधिकार होने से यहाँ क्षेत्र की मुख्यता है। परन्तु तदवगाढद्रव्य को क्षेत्रानुपूर्वीरूपता क्षेत्रावगाह रूप पर्याय की प्रधानता विवक्षित होने की अपेक्षा से है।

प्रसंग होने पर भी क्षेत्र की मुख्यता का परित्याग करके उपचार को प्रधानता देकर तदवगाही द्रव्य में क्षेत्रानुपूर्वी का विचार इसलिये किया गया है कि सत्पदप्ररूपणता आदि रूप वक्ष्यमाण विचार का विषय द्रव्य है और इसी के माध्यम से जिज्ञासुओं को समझाया जा सकता है तथा क्षेत्र नित्य, अवस्थित, अचल होने से प्राय: उसमें आनुपूर्वी आदि की कल्पना किया जाना सुगम नहीं है, इसीलिये क्षेत्रावगाही द्रव्य के माध्यम से क्षेत्रानुपूर्वी का विचार किया है।

सूत्रोक्त 'असंखेज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी—'असंख्येयप्रदेशावगाढ आनुपूर्वी' इस पद का अर्थ आकाश के असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ असंख्यात अणुओं वाला अथवा अनन्त अणुओं वाला द्रव्यस्कन्ध आनुपूर्वी है, ऐसा जानना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि एक पुद्गलपरमाणु आकाश के एक ही प्रदेश में अवगाढ होता है। परन्तु दो प्रदेश वाले स्कन्ध से लेकर असंख्यात प्रदेश वाले पुद्गलस्कन्धों में से प्रत्येक पुद्गलस्कन्ध कम से कम एक आकाशप्रदेश में और अधिक से अधिक जिस स्कन्ध में जितने प्रदेश-परमाणु हैं उतने ही आकाश के प्रदेशों में अवगाढ होता है, अनन्त आकाशप्रदेशों में नहीं। क्योंकि द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश में है और लोकाकाश के असंख्यात ही प्रदेश हैं।

अनानुपूर्वी और अवक्तव्य संबन्धी विवरण का आशय यह है कि एक आकाशप्रदेश में स्थित परमाणु और स्कन्ध क्षेत्र की अपेक्षा अनानुपूर्वी हैं तथा द्विप्रदेशावगाढ़ द्विप्रदेशिक आदि स्कन्ध क्षेत्र की अपेक्षा अवक्तव्यक है।

इस अर्थपदप्ररूपणा का प्रयोजन भंगसमुत्कीर्तनता है। अत: अब भंगसमुत्कीर्तनता का स्वरूप और प्रयोजन स्पष्ट करते हैं।

नैगम-व्यवहारनयसम्मत क्षेत्रानुपूर्वी-भंगसमुत्कीर्तनता एवं प्रयोजन

१४५. से किं तं णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया ?

णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आणुपुव्वी १ अत्थि अणाणुपुव्वी २ अत्थि अवत्तव्वए ३ एवं दव्वाणुपुव्वीगमेणं खेत्ताणुपुव्वीए वि ते चेव छव्वीसं भंगा भाणियव्वा, जाव से तं णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया।

[१४५ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता का क्या स्वरूप है ?

[१४५ उ.] आयुष्मन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत भंगसमुत्कीर्तनता का स्वरूप इस प्रकार है—१ आनुपूर्वी है, २ अनानुपूर्वी है, ३ अवक्तव्यक है इत्यादि द्रव्यानुपूर्वी के पाठ की तरह क्षेत्रानुपूर्वी के भी वही छब्बीस भंग हैं, यावत् इस प्रकार नैगमव्यवहारनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता का स्वरूप जानना चाहिये।

१४६. एयाए णं णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए किं पओयणं ?

एयाए णं णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणयाए णेगम-ववहाराणं भंगोवदंसणया कज्जति।

[१४६ प्र.] भगवन् ! इस नैगम-व्यवहारनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता का क्या प्रयोजन है ?

[१४६ उ.] आयुष्मन् ! इस नैगम-व्यवहारनयसम्मत भंगसमुत्कीर्तनता द्वारा नैगम-व्यवहारनयसम्मत भंगोपदर्शनता की जाती है।

विवेचन—सूत्र में नैगम-व्यवहारनयसम्मत क्षेत्रानुपूर्वी के छब्बीस भंग द्रव्यानुपूर्वी के भंगों के नामानुरूप होने का उल्लेख किया है। द्रव्यानुपूर्वी संबन्धी छब्बीस भंगों के नाम सूत्र १०१, १०३ में बताये गये हैं।

नैगम-व्यवहारनयसंमत भंगोपदर्शनता

१४७. से किं तं णेगम-ववहाराणं भंगोवदंसणया ?

णेगम-ववहाराणं भंगोवदंसणया तिपएसोगाढे आणुपुव्वी एगपएसोगाढे अणाणुपुव्वी दुपएसोगाढे अवत्तव्वए, तिपएसोगाढाओ आणुपुव्वीओ एगपएसोगाढाओ अणाणुपुव्वीओ दुपएसोगाढाइं अवत्तव्वयाइं, अहवा तिपएसोगाढे य एगपएसोगाढे य आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य, एवं तहा चेव दव्वाणुपुव्वीगमेणं छव्वीसं भंगा भाणियव्वा जाव से तं णेगम-ववहाराणं भंगोवदंसणया।

[१४७ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत भंगोपदर्शनता का क्या स्वरूप है ?

[१४७ उ.] आयुष्मन् ! तीन आकाशप्रदेशावगाढ त्र्यणुकादि स्कन्ध आनुपूर्वी पद का वाच्य हैं—आनुपूर्वी हैं। एक आकाशप्रदेशावगाही परमाणुसंघात अनानुपूर्वी तथा दो आकाशप्रदेशावगाही द्व्यणुकादि स्कन्ध क्षेत्रापेक्षा अवक्तव्यक कहलाता है।

तीन आकाशप्रदेशावगाही अनेक स्कन्ध 'आनुपूर्वियां' इस बहुवचनान्त पद के वाच्य हैं, एक एक आकाशप्रदेशावगाही अनेक परमाणुसंघात 'अनानुपूर्वियां' पद के तथा द्वि आकाशप्रदेशावगाही द्व्यणुक आदि अनेक द्रव्यस्कन्ध 'अवक्तव्यक' पद के वाच्य हैं।

अथवा त्रिप्रदेशावगाढस्कन्ध और एक प्रदेशावगाढस्कन्ध एक आनुपूर्वी और एक अनानुपूर्वी है। इस प्रकार द्रव्यानुपूर्वी के पाठ की तरह छब्बीस भंग यहाँ भी जानने चाहिये यावत् यह नैगम-व्यवहारनयसंमत भंगोपदर्शनता का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में भंगोपदर्शनता का स्वरूप स्पष्ट किया है। यहाँ बताये गये छब्बीस भंगों का वर्णन द्रव्यानुपूर्वी के अनुरूप है। लेकिन दोनों के वर्णन में यह भिन्नता है कि द्रव्यानुपूर्वी के प्रकरणगत आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक पदों के वाच्यार्थ त्रिप्रदेशिक आदि स्कन्ध, एक-प्रदेशी पुद्गलपरमाणु और द्विप्रदेशीस्कन्ध हैं जबकि इस क्षेत्रानुपूर्वी के प्रकरणगत भंगोपदर्शनता

में आकाश के तीन प्रदेशों में स्थित त्रिप्रदेशिक आदि स्कन्ध ही आनुपूर्वी शब्द के वाच्यार्थ माने हैं किन्तु एक या दो आकाशप्रदेशों में स्थित त्रिप्रदेशिक आदि स्कन्ध आनुपूर्वी शब्द के वाच्यार्थ नहीं हैं। क्योंकि यह पूर्व में कहा जा चुका है कि त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश में भी, दो प्रदेशों में भी और तीन प्रदेशों में भी अवगाढ हो सकता है। इसलिये क्षेत्रानुपूर्वी में यदि त्रिप्रदेशिक स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश में अवगाढ है तो वह क्षेत्र की अपेक्षा अनानुपूर्वी और यदि दो प्रदेशों में अवगाढ है तो अवक्तव्यक शब्द का वाच्य होगा।

इसी तरह असंख्यातप्रदेशिक स्कन्ध आकाश के एक, दो, तीन आदि प्रदेशों में और असंख्यात प्रदेशों में भी ठहर सकता है। अतः क्षेत्र की अपेक्षा यह असंख्याताणुक स्कन्ध भी एक प्रदेश में स्थित होने पर अनानुपूर्वी माना जाएगा और दो प्रदेशों में अवगाढ होने पर अवक्तव्यक तथा तीन से लेकर असंख्यात प्रदेशों तक में स्थित होने पर आनुपूर्वी माना जायेगा।

इस दृष्टि को ध्यान में रखकर क्षेत्र की अपेक्षा आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक इन एकवचनान्त एवं बहुवचनान्त पदों के असंयोग और संयोग से बनने वाले छब्बीस भंगों का वाच्यार्थ भंगोपदर्शनता में समझ लेना चाहिये।

नैगम-व्यवहारनयसंमत क्षेत्रानुपूर्वी की समवतारप्ररूपणा

१४८. [१] से किं तं समोयारे ? समोयारे णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समोयरंति ? किं आणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति ? अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति ? अवत्तव्वयदव्वेहिं समोयरंति ?

आणुपुव्वीदव्वाइं आणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति, नो अणाणुपुव्वीदव्वेहिं समोयरंति नो अवत्तव्वयदव्वेहिं समोयरंति।

[१४८-१ प्र.] भगवन् ! समवतार का क्या स्वरूप है ? नैगम-व्यवहारनयसंमत आनुपूर्वी द्रव्यों का समावेश कहाँ होता है ? क्या आनुपूर्वी द्रव्यों में, अनानुपूर्वी द्रव्यों में अथवा अवक्तव्यक द्रव्यों में समावेश होता है ?

[१४८-१ उ.] आयुष्मन् ! आनुपूर्वी द्रव्य आनुपूर्वी द्रव्यों में समाविष्ट होते हैं, किन्तु अनानुपूर्वी द्रव्यों और अवक्तव्यक द्रव्यों में समाविष्ट नहीं होते हैं।

[२] एवं तिण्णि वि सट्ठाणे समोयरंति त्ति भाणियव्वं। से तं समोयारे।

[२] इस प्रकार तीनों स्व-स्व स्थान में ही समाविष्ट होते हैं। यह समवतार का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में समवतार का स्वरूप बताया है। समवतार का अर्थ है समाविष्ट होना, एक का दूसरे में मिल जाना। यह समवतार स्वजाति रूप द्रव्यों में होता है, परजाति रूप में नहीं। यही समवतार का स्वरूप है।

नैगम-व्यवहारनयसंमत क्षेत्रानुपूर्वी-अनुगमप्ररूपणा

१४६. से किं तं अणुगमे ?

अणुगमे णवविहे पण्णत्ते । तं जहा—

संतपयपरूवणया १ दव्वपमाणं २ च खेत्त ३ फुसणा ४ य ।
कालो ५ य अंतरं ६ भाग ७ भाव ८ अप्पाबहुं ९ चेव ॥ १० ॥

[१४९ प्र.] भगवन् ! अनुगम का क्या स्वरूप है ?

[१४९ उ.] आयुष्मन् ! अनुगम नौ प्रकार का कहा है । यथा—(गाथार्थ) १ सत्पदप्ररूपणता, २ द्रव्यप्रमाण, ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शना, ५ काल, ६ अंतर, ७ भाग, ८ भाव और ९ अल्पबहुत्व ।

विवेचन—सूत्र में अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी संबन्धी अनुगम के भेदों के नाम गिनाये हैं । इन नौ भेदों के लक्षण पूर्वोक्त अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी-अनुगम के अनुरूप समझ लेना चाहिये । अब यथाक्रम इन नौ भेदों की वक्तव्यता का आशय स्पष्ट करते हैं ।

अनुगमसंबन्धी सत्पदप्ररूपणता

१५०. से किं तं संतपयपरूवणया ? णेगम-ववहाराणं खेत्ताणुपुव्वीदव्वाइं किं अत्थि णत्थि ? णियमा अत्थि । एवं दोण्णि वि ।

[१५० प्र.] भगवन् ! सत्पदप्ररूपणता का क्या स्वरूप है ? नैगम-व्यवहारनयसंमत क्षेत्रानुपूर्वीद्रव्य (सत्-अस्तित्व-रूप) हैं या नहीं ?

[१५० उ.] आयुष्मन् ! नियमतः हैं । इसी प्रकार दोनों—अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों के लिये भी समझना चाहिये कि वे भी नियमतः—निश्चित रूप से हैं ।

अनुगमसंबन्धी द्रव्यप्रमाण

१५१. णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं किं संखेज्जाइं असंखेज्जाइं अणंताइं ?

नो संखेज्जाइं नो अणंताइं, नियमा असंखेज्जाइं । एवं दोण्णि वि ।

[१५१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वी द्रव्य क्या संख्यात हैं, असंख्यात हैं, अथवा अनन्त हैं ?

[१५१ उ.] आयुष्मन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वी द्रव्य न तो संख्यात हैं और न अनन्त हैं किन्तु नियमतः असंख्यात हैं । इसी प्रकार दोनों—अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों के लिये भी समझना चाहिये ।

विवेचन—सूत्र में क्षेत्र की अपेक्षा आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का प्रमाण असंख्यात बतलाया है । क्योंकि आकाश के तीन प्रदेशों में स्थित द्रव्य क्षेत्र की अपेक्षा आनुपूर्वी रूप हैं और तीन आदि प्रदेश वाले स्कन्धों के आधारभूत क्षेत्रविभाग असंख्यातप्रदेशी लोक में असंख्यात हैं । इसलिये द्रव्य की अपेक्षा बहुत आनुपूर्वी द्रव्य भी आकाश रूप क्षेत्र के तीन प्रदेशों में तीन, चार, पांच, छह आदि से लेकर अनन्तप्रदेश(परमाणु)वाले अनेक आनुपूर्वीद्रव्य अवगाढ होकर रहते हैं । अतः ये सब द्रव्य तुल्य-

प्रदेशावगाही होने के कारण एक हैं। क्षेत्रानुपूर्वी में लोक के ऐसे त्रिप्रदेशात्मक विभाग असंख्यात हैं। इसलिये आनुपूर्वी द्रव्य भी तत्तुल्य संख्या वाले होने के कारण असंख्यात होते हैं।

इसी प्रकार आनुपूर्वी द्रव्य की तरह अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्य भी असंख्यात हैं। तात्पर्य यह है कि लोक के एक-एक प्रदेश में अवगाही अनेक द्रव्य क्षेत्र की अपेक्षा एक ही अनानुपूर्वी रूप हैं और असंख्यात इसलिये हैं कि लोक असंख्यातप्रदेशी है और लोक के एक-एक प्रदेश में ये एक-एक रहते हैं तथा दो प्रदेशों में स्थित वहुत भी द्रव्य क्षेत्र की अपेक्षा अवक्तव्यक द्रव्य हैं। क्योंकि आकाश के दो प्रदेश रूप विभाग असंख्यात होते हैं, इसलिये आधार की अपेक्षा तदवगाही द्रव्य भी असंख्यात हैं।

क्षेत्रानुपूर्वी की अनुगमान्तर्वर्ती क्षेत्रप्ररूपणा

१५२. [१] णेगम-ववहाराणं खेत्ताणुपुव्वीदव्वाइं लोगस्स कतिभागे होज्जा ? किं संखिज्जइभागे वा होज्जा ? असंखेज्जइभागे वा होज्जा ? जाव सव्वलोए वा होज्जा ?

एगदव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जइभागे वा होज्जा असंखेज्जइभागे वा होज्जा संखेज्जेसु वा भागेसु होज्जा असंखेज्जेसु वा भागेसु होज्जा देसूणे वा लोए होज्जा, णाणादव्वाइं पडुच्च णियमा सव्वलोए होज्जा।

[१५२-१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत क्षेत्रानुपूर्वी द्रव्य लोक के कितनेवें भाग में रहते हैं ? क्या संख्यातवें भाग में, असंख्यातवें भाग में यावत् सर्वलोक में रहते हैं ?

[१५२-१ उ.] आयुष्मन् ! एक द्रव्य की अपेक्षा लोक के संख्यातवें भाग में, असंख्यातवें भाग में, संख्यातभागों में, असंख्यातभागों में अथवा देशोन लोक में रहते हैं, किन्तु विविध द्रव्यों की अपेक्षा नियमत: सर्वलोकव्यापी हैं।

[२] अणाणुपुव्वीदव्वाणं पुच्छा, एगं दव्वं पडुच्च नो संखिज्जतिभागे होज्जा असंखिज्जतिभागे होज्जा नो संखेज्जेसु० नो असंखेज्जेसु० नो सव्वलोए होज्जा, नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा सव्वलोए होज्जा।

[१५२-२ प्र.] नैगम-व्यवहारनयसंमत अनानुपूर्वी द्रव्य के विषय में भी यही प्रश्न है।

[१५२-२ उ.] आयुष्मन् ! एक द्रव्य की अपेक्षा संख्यातवें भाग में, संख्यात भागों में, असंख्यात भागों में अथवा सर्वलोक में अवगाढ नहीं है किन्तु असंख्यातवें भाग में है तथा अनेक द्रव्यों की अपेक्षा सर्वलोक में व्याप्त हैं।

[३] एवं अवत्तव्वगदव्वाणि वि भाणियव्वाणि।

[३] अवक्तव्यक द्रव्यों के लिये भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में एक और अनेक द्रव्यों की अपेक्षा क्षेत्रानुपूर्वी के द्रव्यों की क्षेत्रप्ररूपणा की है। उसका आशय यह है—एक आनुपूर्वी द्रव्य द्रव्य की अपेक्षा तो लोक के संख्यातवें या असंख्यातवें भाग में, संख्यात भागों या असंख्यात भागों में रहता है और देशोन लोक में भी रहता है। इसका कारण

यह है कि स्कन्ध द्रव्यों की परिणमनशक्ति विचित्र प्रकार की होती है। अतः विचित्र प्रकार की परिणमनशक्ति वाले होने के कारण स्कन्ध द्रव्यों का अवगाह लोक के संख्यात आदि भागों में होता है। क्योंकि विशिष्ट क्षेत्र में अवगाह से उपलक्षित हुए स्कन्ध द्रव्यों को ही क्षेत्रानुपूर्वी रूप से कहा गया है।

प्रश्न—क्षेत्रानुपूर्वी के प्रसंग में एक द्रव्य की अपेक्षा आनुपूर्वी द्रव्य को देशोन लोक में अवगाढ होना बताया है किन्तु द्रव्यानुपूर्वी में अनन्तानन्त परमाणुओं से निष्पन्न एवं पुद्‌गलद्रव्य के सबसे बड़े स्कन्ध रूप अचित्त महास्कन्ध को सर्वलोकव्यापी कहा है। इस प्रकार अचित्त महास्कन्ध की अपेक्षा एक आनुपूर्वी द्रव्य समस्त लोक में व्याप्त होता है। अतः यहाँ (क्षेत्रानुपूर्वी में) जो एक आनुपूर्वी द्रव्य की अपेक्षा देशोन लोक में अवगाहना कही है, वह युक्तियुक्त कैसे है ?

उत्तर—इस जिज्ञासा के समाधान के लिये यह समझना चाहिये कि यह लोक आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों से सदा व्याप्त है, अशून्य है। अतएव यदि आनुपूर्वी द्रव्य को सर्वलोकव्यापी माना जाये तो फिर अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों के ठहरने के लिये स्थान न होने के कारण उनका अभाव मानना पड़ेगा। किन्तु जब देशोन लोक में एक आनुपूर्वी द्रव्य व्याप्त होकर रहता है, ऐसा मानते हैं तब अचित्त महास्कन्ध से पूरित हुए लोक में कम-से-कम एक प्रदेश और द्विप्रदेश ऐसे भी रह जाते हैं जो क्रमशः अनानुपूर्वी द्रव्य के विषयरूप से तथा अवक्तव्यक द्रव्य के विषयरूप से विवक्षित हो जाते हैं। इन एक और दो प्रदेशों में आनुपूर्वी द्रव्य का सद्‌भाव रहता है तो भी अप्रधान होने से उनकी नहीं किन्तु अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों की प्रधानता होने से विवक्षा की जाती है। इसीलिये एक आनुपूर्वी द्रव्य की अपेक्षा से देशोन लोक में अवगाहित कहा गया है।

सारांश यह है कि क्षेत्रानुपूर्वी में यदि लोक के समस्त प्रदेश आनुपूर्वी रूप मान लिये जायें तो उस स्थिति में अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक प्रदेश कौन से होंगे जिनमें अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्य ठहर सकें ? अतः यह मानना चाहिये कि क्षेत्रानुपूर्वी में एक प्रदेश अनानुपूर्वी का विषय है और दो प्रदेश अवक्तव्यक के विषय हैं। अतः अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों के विषयभूत प्रदेश को छोड़कर शेष समस्त प्रदेश आनुपूर्वी रूप हैं। इस प्रकार क्षेत्रानुपूर्वी में एक आनुपूर्वी द्रव्य की अपेक्षा देशोन समस्त लोक में आनुपूर्वी द्रव्य अवगाढ हैं, यह जानना चाहिए।

एक अनानुपूर्वी द्रव्य लोक के असंख्यातवें भाग में अवगाही इसलिये माना है कि अनानुपूर्वी रूप से वही द्रव्य विवक्षित हुआ है जो लोक के एक प्रदेश में अवगाढ हो और लोक का एक प्रदेश लोक का असंख्यातवाँ भाग है।

नाना अनानुपूर्वी द्रव्य सर्वलोकव्यापी इसलिये माने हैं कि एक-एक प्रदेश में अवगाढ अनानुपूर्वी द्रव्यों के भेद समस्त लोक को व्याप्त किये हुए हैं।

अवक्तव्यक द्रव्यों की वक्तव्यता भी अनानुपूर्वी द्रव्यों के समान कथन करने का आशय यह है कि एक अवक्तव्यक द्रव्य लोक के असंख्यातवें भाग में अवगाहित रहता है। क्योंकि लोक के प्रदेशद्वय में अवगाढ हुए द्रव्य को अवक्तव्यक द्रव्य रूप से कहा गया है और ये दो प्रदेश लोक के असंख्यात प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यातवें भाग रूप हैं तथा जितने भी अवक्तव्यक द्रव्य हैं वे सभी लोक के दो-दो प्रदेशों में रहने के कारण सर्वलोकव्यापी माने गये हैं।

एक ही क्षेत्र में परस्पर विरुद्ध आनुपूर्वी आदि व्यपदेश कैसे संगत ?—अनानुपूर्वी आदि द्रव्यों के सर्वलोकव्यापी होने पर भी एक ही क्षेत्र में आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक ये तीनों पृथक्-पृथक् विषय वाले होने पर भी इनकी संगति इस प्रकार है कि त्र्यादि प्रदेशों में अवगाढ आनुपूर्वी द्रव्य से एक प्रदेशावगाढ द्रव्य भिन्न है और इन दोनों से द्विप्रदेशावगाढ भिन्न है। इस प्रकार आधेय रूप अवगाहक द्रव्य के भेद से आधार रूप अवगाह्य क्षेत्र में व्यपदेशभेद होना युक्त ही है। क्योंकि भिन्न-भिन्न सहकारियों के संयोग से तत्तद् धर्म की अभिव्यक्ति होने पर अनन्त धर्मात्मक एक ही वस्तु में युगपत् व्यपदेशभेद होना देखा जाता है। जैसे खड्ग, कुन्त, कवच आदि से युक्त एक ही व्यक्ति को खड्गी, कुन्ती, कवची आदि कहते हैं।

अनुगमगत स्पर्शनाप्ररूपणा

१५३. [१] णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं लोगस्स किं संखेज्जइभागं फुसंति ? असंखेज्जति० २ जाव सव्वलोगं फुसंति ?

एगं दव्वं पडुच्च संखेज्जतिभागं वा फुसंति असंखेज्जतिभागं वा संखेज्जे वा भागे असंखेज्जे वा भागे देसूणं वा लोगं फुसंति, णाणादव्वाइं पडुच्च णियमा सव्वलोगं फुसंति।

[१५३-१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वी द्रव्य क्या (लोक के) संख्यातवें भाग का स्पर्श करते हैं ? या असंख्यातवें भाग का, संख्यातवें भागों का अथवा असंख्यातवें भागों का अथवा सर्वलोक का स्पर्श करते हैं ?

[१५३-१ उ.] आयुष्मन् ! एक द्रव्य की अपेक्षा संख्यातवें भाग का, असंख्यावें भाग का, संख्यातवें भागों का, असंख्यावें भागों का अथवा देशोन सर्व लोक का स्पर्श करते हैं किन्तु अनेक द्रव्यों की अपेक्षा तो नियमतः सर्वलोक का स्पर्श करते हैं।

[२] अणाणुपुव्वीदव्वाइं अवत्तव्वयदव्वाणि य जहा खेत्तं, नवरं फुसणा भाणियव्वा।

[२] अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों की स्पर्शना का कथन पूर्वोक्त क्षेत्र द्वार के अनुरूप समझना चाहिये, विशेषता इतनी है कि क्षेत्र के वदले यहाँ स्पर्शना (स्पर्श करता है) कहना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वी आदि द्रव्यों की स्पर्शना का निर्देश किया है। एक आनुर्वी आदि द्रव्य लोक के संख्यात आदि भाग से लेकर देशोन लोक का स्पर्श करते हैं। एक आनुपूर्वी द्रव्य की देशोन लोक की स्पर्शना कहने का कारण यह है कि यदि एक आनुपूर्वी द्रव्य समस्त लोक का स्पर्श करे तो अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों को रहने का अवकाश प्राप्त नहीं हो सकेगा और तव उन दोनों का अभाव मानना पड़ेगा। अतः इन दोनों द्रव्यों का सद्भाव बताने और इन्हें भी अवकाश प्राप्त होने के लिए एक आनुपूर्वी द्रव्य की स्पर्शना देशोन सर्व लोक बताई है।

शेप वर्णन पूर्वोक्त क्षेत्र प्ररूपणावत् है।

अनुगमगत कालप्ररूपणा

१५४. णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कालतो केवचिरं होति ?

एगदव्वं पडुच्च जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च सव्वद्धा। एवं दोण्णि वि।

[१५४ प्र.] भगवन्! नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वी द्रव्य काल की अपेक्षा कितने समय तक (आनुपूर्वी द्रव्य के रूप में) रहते हैं।

[१५४ उ.] आयुष्मन्! एक द्रव्य की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक रहते हैं। विविध द्रव्यों की अपेक्षा नियमतः (आनुपूर्वी द्रव्यों की स्थिति) सार्वकालिक है। इसी प्रकार दोनों—अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों की भी स्थिति जानना चाहिये।

विवेचन—प्रश्न किया गया है कि आनुपूर्वी आदि द्रव्य अपने-अपने रूप में कब तक रहते हैं? इसका उत्तर एक और अनेक द्रव्य को आश्रित करके दिया है। जिसका निष्कर्ष यह है एक द्रव्य की अपेक्षा तो कम से कम एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक एक आनुपूर्वी द्रव्य क्षेत्र में अवगाढ रहता है। यानी द्विप्रदेश या एक प्रदेश में अवगाहित हुआ द्रव्य परिणमन की विचित्रता से जब प्रदेशत्रय आदि में अवगाहित होता है, उस समय उसमें आनुपूर्वी ऐसा व्यपदेश हो जाता है। अब यदि वह द्रव्य एक समय तक वहाँ अवगाहित रहकर बाद में पहले की तरह दो प्रदेशों में या एक प्रदेश में अवगाहित हो जाए तब वह क्षेत्रापेक्षया आनुपूर्वी द्रव्य नहीं रहता, अतः उसकी स्थिति एक समय की है। लेकिन जब वही आनुपूर्वी द्रव्य असंख्यात काल तक तीन आदि आकाशप्रदेशों में अवगाढ रहकर पुनः द्विप्रदेशावगाढ या एकप्रदेशावगाही बनता है तब उस आनुपूर्वी द्रव्य की उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की होती है।

इसी प्रकार एक अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्य की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के विषय में समझना चाहिये।

एक आनुपूर्वी आदि द्रव्यों की उत्कृष्ट स्थिति अनन्त काल इसलिये नहीं है कि एक द्रव्य अधिक से अधिक असंख्यात काल तक ही एक रूप में अवगाढ रह सकता है।

अनेक आनुपूर्वी आदि तीनों द्रव्यों का अवस्थान सार्वकालिक मानने का कारण यह है कि ऐसा कोई भी समय नहीं है कि जिसमें कोई न कोई आनुपूर्वी आदि द्रव्य अवगाहित न हों।

अनुगमगत अन्तरप्ररूपणा

१५५. णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाणमंतरं कालतो केवचिरं होति?

तिण्णि वि एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च णत्थि अंतरं।

[१५५ प्र.] भगवन्! नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वी द्रव्यों का काल की अपेक्षा अन्तर कितने समय का है?

[१५५ उ.] आयुष्मन्! तीनों (आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों) का अन्तर एक द्रव्य की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल का है किन्तु अनेक द्रव्यों की अपेक्षा अन्तर नहीं है।

विवेचन—सूत्र में एक और अनेक द्रव्यों की अपेक्षा अन्तरप्ररूपणा की गई है।

प्रश्नोत्तर में भिन्नता क्यों ?—यद्यपि प्रश्न तो आनुपूर्वी द्रव्यों को आश्रित करके किया है लेकिन उत्तर में 'तिण्ण वि' तीनों को ग्रहण इसलिये किया है कि इन तीनों द्रव्यों का अन्तर समान है। जिसका भाव यह है कि जिस समय कोई एक आनुपूर्वी द्रव्य किसी एक विवक्षित क्षेत्र में एक समय तक अवगाढ रह कर किसी दूसरे क्षेत्र में अवगाहित हो जाता है और फिर पुनः अकेला या किसी दूसरे द्रव्य से संयुक्त होकर उसी विवक्षित आकाशप्रदेश में अवगाढ होता है तो उस समय उस एक आनुपूर्वी द्रव्य का अन्तरकाल-विरहकाल जघन्य एक समय है तथा जब वही द्रव्य अन्य क्षेत्र-प्रदेशों में असंख्यात काल तक अवगाढ रह कर मात्र उसी अथवा अन्य द्रव्यों से संयुक्त होकर पूर्व के ही अवगाहित क्षेत्रप्रदेश में अवगाहित होता है तब उत्कृष्ट विरहकाल असंख्यात काल होता है। अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों के लिये भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

विरहकाल अनन्तकालिक क्यों नहीं ?—यद्यपि द्रव्यानुपूर्वी में एक द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट विहरकाल अनन्तकाल का बताया है। परन्तु क्षेत्रानुपूर्वी में असंख्यात काल का इसलिये माना गया है कि द्रव्यानुपूर्वी में तो विवक्षितद्रव्य से दूसरे द्रव्य अनन्त हैं। अतः उनके साथ क्रम-क्रम से संयोग होने पर पुनः अपने स्वरूप की प्राप्ति में उसे अनन्त काल लग जाता है। परन्तु यहाँ (क्षेत्रानुपूर्वी में) विवक्षित अवगाहक्षेत्र से अन्य क्षेत्र असंख्यात प्रदेश प्रमाण ही है। इसलिये प्रतिस्थान में अवगाहना की अपेक्षा उसकी संयोगस्थिति असंख्यात काल है। जिससे विवक्षित प्रदेश से अन्य असंख्यात क्षेत्र में परिभ्रमण करता हुआ द्रव्य पुनः उसी विवक्षित प्रदेश में अन्य द्रव्य से संयुक्त होकर या अकेला ही असंख्यात काल के बाद अवगाहित होता है।

नाना द्रव्यों की अपेक्षा अंतर क्यों नहीं ?—सभी आनुपूर्वी द्रव्य एक साथ अपने स्वभाव को छोड़ते नहीं हैं। क्योंकि असंख्यात आनुपूर्वी द्रव्य सदैव विद्यमान रहते हैं। अतएव नाना द्रव्यों की अपेक्षा अंतर नहीं है। अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों के अंतर का विचार भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

अनुगमगत भागप्ररूपणा

१५६. णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं सेसदव्वाणं कतिभागे होज्जा ?

तिण्णि वि जहा दव्वाणुपुव्वीए।

[१५६ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत आनुपूर्वी द्रव्य शेष द्रव्यों के कितनेवें भाग प्रमाण होते हैं ?

[१५६ उ.] आयुष्मन् ! द्रव्यानुपूर्वी जैसा ही कथन तीनों द्रव्यों के लिये यहाँ भी समझना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में द्रव्यानुपूर्वी के अतिदेश द्वारा क्षेत्रानुपूर्वी के द्रव्यों की भागप्ररूपणा का कथन किया है। इसका भाव यह है कि अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों की अपेक्षा आनुपूर्वी द्रव्य असंख्यात भागों से अधिक हैं तथा शेष द्रव्य आनुपूर्वी द्रव्यों के असंख्यातवें भागप्रमाण हैं।

आनुपूर्वी द्रव्य असंख्यात भागाधिक कैसे ?—आनुपूर्वी द्रव्य को असंख्यात भागों से अधिक मानने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

यह पूर्व में कहा है कि तीन आदि प्रदेशों में स्थित द्रव्य आनुपूर्वी हैं, एक-एक प्रदेश में स्थित अनानुपूर्वी और दो-दो प्रदेशों में स्थित द्रव्य अवक्तव्यक हैं और ये तीनों द्रव्य सर्वलोकव्यापी हैं। अतः विचार करने पर आनुपूर्वी द्रव्य सबसे अल्प सिद्ध होते हैं। वह इस प्रकार—लोक असंख्यातप्रदेशी हैं। लेकिन उन असंख्यात प्रदेशों को असत्कल्पना से ३० मानकर उन प्रदेशों के स्थान पर ३० रखें। इन तीस प्रदेशों में एक-एक अनानुपूर्वी द्रव्य अवगाहित है, अतः अनानुपूर्वी द्रव्यों की संख्या ३० तथा एक-एक अवक्तव्यक द्रव्य लोक के दो-दो प्रदेशों में अवगाढ होने के कारण उनकी संख्या १५ तथा आनुपूर्वी द्रव्य लोक के तीन-तीन प्रदेशों में अवगाढ होने से उनकी संख्या १० आती है। बहुत से आनुपूर्वी द्रव्य तीन से लेकर असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ हैं, अतः उनकी संख्या और भी कम होनी चाहिए। इस प्रकार विचार करने पर वे कम ही प्राप्त होते हैं।

उत्तर यह है कि जो आकाशप्रदेश एक आनुपूर्वी द्रव्य से अवगाढ होते हैं, वे ही यदि अन्य आनुपूर्वी द्रव्यों से अवगाढ नहीं हों तो पूर्वोक्त कथन युक्तिसंगत माना जा सकता है, परन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि एक आनुपूर्वी द्रव्य में जो तीन आकाशप्रदेश उपयुक्त होते हैं, वे ही तीन प्रदेश अन्य-अन्य आनुपूर्वी द्रव्यों द्वारा भी अवगाढ होते हैं। इसलिये लोक का एक-एक प्रदेश अनेक त्रिकसंयोगी आनुपूर्वी द्रव्यों का आधार होता है। इसी प्रकार से चतुःसंयोगी यावत् असंख्यात संयोगी आनुपूर्वी द्रव्यों के विषयों में भी जानना चाहिये।

इस प्रकार एक-एक आकाशप्रदेश अनेकानेक त्रि-अणुकादि आनुपूर्वी द्रव्यों से संयुक्त होता है। आनुपूर्वी द्रव्य रूप आधेय के भेद से प्रत्येक प्रदेश रूप आधार का भी भेद हो जाता है। क्योंकि आकाशप्रदेश जिस स्वरूप से एक आधेय से उपयुक्त होते हैं, उसी स्वरूप से वे दूसरे आधेय से उपयुक्त नहीं होते हैं। यदि ऐसा ही माना जाये कि आकाशप्रदेश जिस स्वरूप से एक आधेय से संयुक्त होते हैं, उसी स्वरूप से वे अन्य आधेय से भी संयुक्त होते हैं तो एक आधार में उनकी अवगाहना होने से उन अनेक आधेयों में घट में घट के स्वरूप की तरह एकता प्रसक्त होगी। इसलिये अपने स्वरूप की अपेक्षा से असंख्यातप्रदेशी लोक में जितने भी त्रिकसंयोगादि से लेकर असंख्यात संयोग पर्यन्त के संयोग हैं, उतने ही आनुपूर्वी द्रव्य हैं। ये आनुपूर्वी द्रव्य तीन आदि संयोगों के बहुत होने के कारण बहुसंख्या वाले हैं और अवक्तव्यक द्रव्य द्विक संयोगों के कम होने के कारण कम हैं तथा अनानुपूर्वीद्रव्य लोकप्रदेशों की संख्या के बराबर होने के कारण उनसे भी कम ही हैं।

अनुगमगत भावप्ररूपणा

१५७. णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाइं कयरम्मि भावे होज्जा ?
तिन्नि वि णियमा सादिपारिणामिए भावे होज्जा।

[१५७ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत आनुपूर्वीद्रव्य किस भाव में वर्तते हैं ?

[१५७ उ.] आयुष्मन् ! तीनों ही (आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी, अवक्तव्यक) द्रव्य नियमतः सादि पारिणामिक भाव में वर्तते हैं।

विवेचन—सूत्रार्थ सुगम है। इस भावप्ररूपणा का तात्पर्य यह है कि तीन आदि प्रदेशों में आनुपूर्वी द्रव्यों का अवगाहपरिणाम, एक प्रदेश में अनानुपूर्वी द्रव्यों का अवगाहपरिणाम और द्विप्रदेशों

में अवक्तव्यक द्रव्यों का अवगाहपरिणाम सादि है। इसलिये ये सव द्रव्य सादिपारिणामिक भाववर्ती हैं।[1]

अनुगमगत अल्पबहुत्वप्ररूपणा

१५८. [१] एएसि णं भंते ! णेगम-ववहाराणं आणुपुव्वीदव्वाणं अणाणुपुव्वीदव्वाणं अवत्तव्वयदव्वाण य दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवाइं णेगम-ववहाराणं अवत्तव्वयदव्वाइं दव्वट्ठयाए, अणाणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए विसेसाहियाइं, आणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं।

[१५८-१ प्र.] भगवन् ! इन नैगम-व्यवहारनयसंमत आनुपूर्वी द्रव्यों, अनानुपूर्वी द्रव्यों और अवक्तव्यक द्रव्यों में कौन द्रव्य किन द्रव्यों से द्रव्यार्थता, प्रदेशार्थता और द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थता की अपेक्षा अल्प, वहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[१५८-१ उ.] गौतम ! नैगम-व्यवहारनयसंमत अवक्तव्यक द्रव्य द्रव्यार्थता की अपेक्षा सव से अल्प हैं। द्रव्यार्थता की अपेक्षा अनानुपूर्वी द्रव्य अवक्तव्यक द्रव्यों से विशेषाधिक हैं और आनुपूर्वी द्रव्य द्रव्यार्थता की अपेक्षा अनानुपूर्वी द्रव्यों से असंख्यातगुण हैं।

[२] पएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं णेगम-ववहाराणं अणाणुपुव्वीदव्वाइं अपएसट्ठयाए, अवत्तव्वयदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहियाइं, आणुपुव्वीदव्वाइं पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं।

[२] प्रदेशार्थता की अपेक्षा नैगम-व्यवहारनयसंमत अनानुपूर्वीद्रव्य अप्रदेशी होने के कारण सर्वस्तोक हैं। प्रदेशार्थता की अपेक्षा अवक्तव्यक द्रव्य अनानुपूर्वी द्रव्यों से विशेपाधिक हैं और आनुपूर्वी द्रव्य प्रदेशार्थता की अपेक्षा अवक्तव्यक द्रव्यों से असंख्यातगुण हैं।

[३] दव्वट्ठ-पएसट्ठयाए सव्वत्थोवाइं णेगम-ववहाराणं अवत्तव्वयदव्वाइं दव्वट्ठयाए, अणाणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए अपएसट्ठयाए विसेसाहियाइं, अवत्तव्वयदव्वाइं पएसट्ठयाए विसेसाहियाइं, आणुपुव्वीदव्वाइं दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं, ताइं चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणाइं। से तं अणुगमे। से तं णेगम-ववहाराणं अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी।

[३] द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थता की अपेक्षा में नैगम-व्यवहारनयसंमत अवक्तव्यक द्रव्य द्रव्यार्थ से सवसे अल्प है, (क्योंकि पूर्व में द्रव्यार्थता से अवक्तव्यक द्रव्यों में सर्वस्तोकता वताई है।) द्रव्यार्थता और अप्रदेशार्थता की अपेक्षा अनानुपूर्वी द्रव्य अवक्तव्यक द्रव्यों से विशेषाधिक हैं। अवक्तव्यक द्रव्य

---

१. किन्हीं किन्हीं प्रतियों में 'तिन्निवि णियमा सादिपारिणामिए भावे होज्जा' के स्थान पर 'णियमा साइ-पारिणामिए भावे होज्जा। एवं दोण्णिवि' पाठ है।

प्रदेशार्थता की अपेक्षा विशेषाधिक हैं। आनुपूर्वी द्रव्य द्रव्यार्थता की अपेक्षा असंख्यातगुण है और उसी प्रकार प्रदेशार्थता की अपेक्षा भी असंख्यातगुण हैं।

इस प्रकार से अनुगम की वक्तव्यता जानना चाहिये तथा इसके साथ ही नैगम-व्यवहारनय-संमत अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी का वर्णन पूर्ण हुआ।

विवेचन—सूत्र में क्षेत्रानुपूर्वी के अनुगमगत अल्पबहुत्व का निर्देश किया है। यहाँ यह जानना चाहिये—

द्रव्यों की गणना को द्रव्यार्थता तथा प्रदेशों की गणना को प्रदेशार्थता एवं द्रव्यों तथा प्रदेशों दोनों की गणना को द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थता या उभयार्थता कहते हैं।

आनुपूर्वी में विशिष्ट द्रव्यों के अवगाह से उपलक्षित हुए नभःप्रदेशों में यह तीन नभःप्रदेशों का समुदाय है, यह चार नभःप्रदेशों का समुदाय है, इत्यादि रूप नभःप्रदेशसमुदाय द्रव्य हैं और इन समुदायों के जो आरंभक हैं वे प्रदेश हैं।

अनानुपूर्वी में एक-एक प्रदेश-अवगाढ द्रव्य से उपलक्षित सकल आकाशप्रदेश पृथक्-पृथक् प्रत्येक द्रव्य हैं। एक-एक प्रदेश रूप द्रव्य में अन्य प्रदेशों का रहना असंभव होने से यहाँ प्रदेश संभव नहीं हैं।

अवक्तव्यकों में लोक में जितने-जितने दो-दो प्रदेशों के योग हैं, उतने प्रत्येक द्रव्य हैं और इन द्विकयोगों को प्रारंभ करने वाले प्रदेश हैं।

शेष अल्पबहुत्व का कथन सुगम है। इस वर्णन के साथ नैगम-व्यवहारनयसंमत अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी का कथन समाप्त हुआ।

अब क्रमप्राप्त संग्रहनयसंमत अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी का वर्णन प्रारंभ करते हैं।

संग्रहनयसंमत अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वीप्ररूपणा

१५९. से किं तं संगहस्स अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी ?

जहेव दव्वाणुपुव्वी तहेव खेत्ताणुपुव्वी णेयव्वा। से तं संगहस्स अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी। से तं अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी।

[१५९ प्र.] भगवन्! संग्रहनयसंमत अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी का क्या स्वरूप है?

[१५९ उ.] आयुष्मन्! पूर्वोक्त संग्रहनयसंमत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी की तरह इस क्षेत्रानुपूर्वी का भी स्वरूप जानना चाहिवे।

इस प्रकार से संग्रहनयसंमत अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी की और साथ ही अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी की वक्तव्यता समाप्त हुई।

विवेचन—सूत्र में संग्रहनयसम्मत अनौपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी के अतिदेश द्वारा क्षेत्रानुपूर्वी के वर्णन करने का संकेत किया है। लेकिन किसी-किसी प्रति में इस संक्षिप्त कथन से सम्बन्धित सूत्रपाठ इस प्रकार है—

से किं तं संगहस्स अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी ?

संगहस्स अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—अत्थपयपरूवणया १, भंगसमुक्कित्तणया २, भंगोवदंसणया ३, समोयारे ४, अणुगमे ५।

से किं तं संगहस्स अत्थपयपरूवणया ?

संगहस्स अत्थपयपरूवणया तिपएसोगाढे आणुपुव्वी चउप्पएसोगाढे आणुपुव्वी, जाव दसपए-सोगाढे आणुपुव्वी, संखिज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी, असंखिज्जपएसोगाढे आणुपुव्वी, एगपएसोगाढे अणाणुपुव्वी, दुप्पएसोगाढे अवत्तव्वए। से तं संगहस्स अत्थपयपरूवणया।

एयाए णं संगहस्स अत्थपयपरूवणयाए किं पओयणं ?

संगहस्स अत्थपयपरूवणयाए संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ।

से किं तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया ?

संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आणुपुव्वी, अत्थि अणाणुपुव्वी, अत्थि अवत्तव्वए। अहवा अत्थि आणुपुव्वी अणाणुपुव्वी य, एवं जहा दव्वाणुपुव्वीए संगहस्स तहा भाणियव्वं जाव से तं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणया। एयाए णं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणयाए किं पयोयणं ?

एयाए णं संगहस्स भंगसमुक्कित्तणयाए संगहस्स भंगोवदंसणया कज्जइ।

से किं तं संगहस्स भंगोवदंसणया ?

संगहस्स भंगोवदंसणया तिप्पएसोगाढे आणुपुव्वी, एगपएसोगाढे अणाणुपुव्वी, दुप्पएसोगाढे अवत्तव्वए। अहवा तिप्पएसोगाढे य एगपएसोगाढे य आणुपुव्वी य अणाणुपुव्वी य, एवं जहा दव्वाणु-पुव्वीए संगहस्स तहा खेत्ताणुपुव्वीए वि भाणियव्वं जाव से तं संगहस्स भंगोवदंसणया।

से किं तं समोयारे ? समोयारे संगहस्स आणुपुव्वीदव्वाइं कहिं समोयरंति ? किं आणुपुव्वी-दव्वेहिं समोयरंति ? अणाणुपुव्वीदव्वेहिं ? अवत्तव्वगदव्वेहिं ? तिण्णिवि सट्ठाणे समोयरंति। से तं समोयारे।

से किं तं अणुगमे ? अणुगमे अट्ठविहे पण्णत्ते, तं जहा—संतपयपरूवणया जाव अप्पाबहुं नत्थि।

संगहस्स आणुपुव्वीदव्वाइं किं अत्थि णत्थि ?

णियमा अत्थि। एवं तिण्णि वि सेसगदाराइं जहा दव्वाणुपुव्वीए संगहस्स तहा खेत्ताणुपुव्वीए वि भाणियव्वाइं जाव से तं अणुगमे। से तं संगहस्स अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी। से तं अणोवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी।

इन सूत्रों का अर्थ—पूर्वोक्त द्रव्यानुपूर्वीगत पाठ की तरह जानना चाहिए।

अब क्षेत्रानुपूर्वी के दूसरे भेद औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी की प्ररूपणा प्रारम्भ करते हैं। इसके दो प्रकार हैं—विशेष और सामान्य। बहुवक्तव्य होने से पहले विशेषापेक्षया वर्णन करते हैं।

औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी की विशेष प्ररूपणा

१६०. से किं तं ओवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी ?

ओवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३।

[१६० प्र.] भगवन् ! औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१६० उ.] आयुष्मन् ! औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी के तीन भेद हैं। वे इस प्रकार—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी और ३. अनानुपूर्वी।

१६१. से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी अहोलोए १ तिरियलोए २ उड्ढलोए ३। से तं पुव्वाणुपुव्वी।

[१६१ प्र.] भगवन् ! पूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१६१ उ.] आयुष्मन् ! १. अधोलोक, २. तिर्यक्‌लोक और ३. ऊर्ध्वलोक, इस क्रम से (क्षेत्र-लोक का) निर्देश करने को पूर्वानुपूर्वी कहते हैं।

१६२. से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी उड्ढलोए ३ तिरियलोए २ अहोलोए १। से तं पच्छाणुपुव्वी।

[१६२ प्र.] भगवन् ! पश्चानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१६२ उ.] आयुष्मन् ! पूर्वानुपूर्वी के क्रम के विपरीत १. ऊर्ध्वलोक, २. तिर्यक्‌लोक, ३. अधोलोक, इस प्रकार का क्रम पश्चानुपूर्वी है।

१६३. से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादियाए एगुत्तरियाए तिगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। से तं अणाणुपुव्वी।

[१६३ प्र.] भगवन् ! अनानुपूर्वी किसे कहते हैं ?

[१६३ उ.] आयुष्मन् ! एक से प्रारम्भ कर एकोत्तर वृद्धि द्वारा निर्मित तीन पर्यन्त की श्रेणी में परस्पर गुणा करने पर निष्पन्न अन्योन्याभ्यस्त राशि में से आद्य और अंतिम दो भंगों को छोड़कर जो राशि उत्पन्न हो वह अनानुपूर्वी है।

विवेचन—इन तीन सूत्रों में औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी का स्वरूप बतलाया है।

औपनिधिकी द्रव्यानुपूर्वी के प्रकरण में जैसे द्रव्यानुपूर्वी का अधिकार होने से धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों को पूर्वानुपूर्वी आदि रूप में उदाहृत किया है, वैसे ही यहाँ क्षेत्रानुपूर्वी का प्रकरण होने से अधोलोक आदि क्षेत्र पूर्वानुपूर्वी आदि के रूप में उदाहृत हुए हैं।

अधोलोक आदि भेद का कारण—लोक के अधोलोक आदि तीन भेद होने का मुख्य आधार मध्यलोक के बीचोंबीच स्थित सुमेरुपर्वत है। इसके नीचे का भाग अधोलोक और ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक तथा दोनों के बीच में मध्यलोक है। मध्यलोक का तिर्छा विस्तार अधिक होने से इसे तिर्यक्‌लोक भी कहते हैं।

अधोलोक आदि का प्रारम्भ कहाँ से ?—जैन भूगोल के अनुसार लोक ऊपर से नीचे तक लम्बाई में चौदह राजू है और विस्तार में अनियत है। यह धर्मास्तिकाय आदि षड्द्रव्यों से व्याप्त है।

इस रत्नप्रभा पृथ्वी पर बहु सम भूभाग वाले मेरुपर्वत के मध्य में आकाश के दो-दो प्रदेशों के वर्ग (प्रतर) में आठ रुचक प्रदेश हैं। उनमें से एक अधस्तन प्रतर से लेकर नीचे के नौ सौ योजन गहराई को छोड़कर उससे नीचे अधोलोक है। इसी प्रकार उपरितन प्रतर से लेकर ऊपर के नौ सौ योजन छोड़कर ऊपर कुछ कम सात राजू लम्बा ऊर्ध्वलोक है। इन अधोलोक और ऊर्ध्वलोक के बीच में अठारह सौ योजन प्रमाण ऊँचाई वाला तिर्यग्लोक-मध्यलोक है।

अधोलोक आदि नामकरण का हेतु—सामान्य रूप से तो मेरुपर्वत से नीचे का भाग अधोलोक, ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक और बराबर समरेखा में तिर्छा फैला क्षेत्र तिर्यग्लोक-मध्यलोक के नामकरण का हेतु है। लेकिन विशेषापेक्षया कारण यह है—'अधः' शब्द अशुभ अर्थ का वाचक है। अतएव क्षेत्रस्वभाव से अधिकतर अशुभ द्रव्यों का परिणमन अधोलोक संज्ञा का हेतु है तथा 'ऊर्ध्व' शब्द शुभ अर्थ का वाचक है। अतएव ऊर्ध्वलोक में क्षेत्र-प्रभाव से द्रव्यों का परिणमन प्रायः शुभ हुआ करता है। अतएव शुभ परिणाम वाले द्रव्यों के सम्बन्ध से ऊर्ध्वलोक यह नाम है। तिर्यक् शब्द का एक अर्थ मध्यम भी होता है। अतः इस मध्यलोक में क्षेत्र-प्रभाव से प्रायः मध्यम परिणाम वाले द्रव्य होते हैं। इसलिये इन मध्यम परिणाम रूप द्रव्यों के संयोग वाले लोक का नाम मध्यलोक या तिर्यक्‌लोक है। अथवा अधोलोक और ऊर्ध्वलोक के मध्य में स्थित होने से यह मध्यलोक कहलाता है।

अधोलोक आदि का क्रमविन्यास—सूत्र में सर्वप्रथम अधोलोक के उपन्यास का कारण यह है कि वहाँ पर प्रायः जघन्य परिणाम वाले द्रव्यों का ही सम्बन्ध रहा करता है। इसीलिए जिस प्रकार चौदह गुणस्थानों में जघन्य होने से सर्वप्रथम मिथ्यात्वगुणस्थान का उपन्यास किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी जघन्य होने से अधोलोक का सर्वप्रथम उपन्यास किया है तथा मध्यम परिणाम वाले द्रव्यों के संबन्ध के कारण तत्पश्चात् तिर्यक्‌लोक का और उत्कृष्ट परिणाम वाले द्रव्यों के संबन्ध के कारण अन्त में ऊर्ध्वलोक का उपन्यास किया है।

यह कथन पूर्वानुपूर्वी की अपेक्षा जानना चाहिये। पश्चानुपूर्वी में पूर्वानुपूर्वी का व्युत्क्रम (विपरीत क्रम) है। अनानुपूर्वी में इन तीन पदों के छह भंग होते हैं।

अनानुपूर्वी में आदि और अंत भंग छोड़ने का कारण यह है कि आदि का भंग पूर्वानुपूर्वी का और अंतिम भंग पश्चानुपूर्वी का है।

अब पूर्वोक्त औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी का लोकत्रयापेक्षा पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं।

अधोलोकक्षेत्रानुपूर्वी

१६४. अहोलोयखेत्ताणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३।

[१६४] अधोलोकक्षेत्रानुपूर्वी तीन प्रकार की कही है। यथा—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी, ३. अनानुपूर्वी।

१६५. से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी रयणप्पभा १ सक्करप्पभा २ वालुयप्पभा ३ पंकप्पभा ४ धूमप्पभा ५ तमप्पभा ६ तमतमप्पभा ७। से तं पुव्वाणुपुव्वी।

[१६५ प्र.] भगवन्! अधोलोकक्षेत्रपूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१६५ उ.] आयुष्मन्! १. रत्नप्रभा. २. शर्कराप्रभा, ३. बालुकाप्रभा, ४. पंकप्रभा, ५. धूमप्रभा, ६. तमःप्रभा, ७. तमस्तमःप्रभा, इस क्रम से (सात नरकभूमियों के) उपन्यास करने को अधोलोकक्षेत्रपूर्वानुपूर्वी कहते हैं।

१६६. से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी तमतमा ७ जाव रयणप्पभा १। से तं पच्छाणुपुव्वी।

[१६६ प्र.] भगवन्! अधोलोकक्षेत्रपश्चानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१६६ उ.] आयुष्मन्! तमस्तमःप्रभा से लेकर यावत् रत्नप्रभा पर्यन्त व्युत्क्रम से (नरकभूमियों का) उपन्यास करना अधोलोकपश्चानुपूर्वी कहलाती है।

१६७. से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादियाए एगुत्तरियाए सत्तगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो। से तं अणाणुपुव्वी।

[१६७ प्र.] भगवन्! अधोलोकक्षेत्रअनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१६७ उ.] आयुष्मन्! अधोलोकक्षेत्रअनानुपूर्वी का स्वरूप इस प्रकार है—आदि में एक स्थापित कर सात पर्यन्त एकोत्तर वृद्धि द्वारा निर्मित श्रेणी में परस्पर गुणा करने से निष्पन्न राशि में से प्रथम और अन्तिम दो भंगों को कम करने पर यह अनानुपूर्वी बनती है।

विवेचन—प्रस्तुत चार सूत्रों में अधोलोकक्षेत्रानुपूर्वी का वर्णन किया है। अधोलोक में रत्नप्रभा आदि सात नरकपृथ्वियां हैं।

रत्नप्रभा आदि नाम का कारण—पहली नरकपृथ्वी का नाम रत्नप्रभा इसलिये है कि वहाँ नारक जीवों के आवास स्थानों से अतिरिक्त स्थानों में इन्द्रनील आदि अनेक प्रकार के रत्नों की प्रभा—कान्ति का सद्भाव है। शर्कराप्रभा नामक द्वितीय पृथ्वी में शर्करा-पाषाणखंड जैसी प्रभा है। बालुकाप्रभा में बालू-रेती जैसी प्रभा है। चौथी पंकप्रभापृथ्वी में कीचड़ जैसी प्रभा है।

धूमप्रभा, तम:प्रभा और तमस्तम:प्रभा पृथ्वियों में क्रमशः धूम-धुंआ, अंधकार और गाढ़ अंधकार जैसी प्रभा है। इसी कारण सातों नरकपृथ्वियां सार्थक नाम वाली हैं।

अनानुपूर्वी में एक आदि सात पर्यन्त सात अंकों का परस्पर गुणा करने पर ५०४० भंग होते हैं। इनमें से आदि का भंग पूर्वानुपूर्वी और अंतिम भंग पश्चानुपूर्वी रूप होने से इन दो को छोड़कर शेष ५०३८ भंग अनानुपूर्वी के हैं।

तिर्यग् (मध्य) लोकक्षेत्रानुपूर्वी

१६८. तिरियलोयखेत्ताणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३।

[१६८] तिर्यग् (मध्य) लोकक्षेत्रानुपूर्वी के तीन भेद कहे गये हैं। वे इस प्रकार—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी, ३. अनानुपूर्वी।

१६९. से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी—

जंबुद्दीवे लवणे धायइ-कालोय-पुक्खरे वरुणे।
खीर-घय-खोय-नंदी-अरुणवरे कुंडले रुयगे॥ ११॥
जंबुद्दीवाओ खलु निरंतरा, सेसया असंखइमा।
भुयगवर-कुसवरा वि य कोंचवराऽऽभरणमाईया॥ १२॥
आभरण-वत्थ-गंधे उप्पल-तिलये य पउम-निहि-रयणे।
वासहर-दह-णदीओ विजया वक्खार-कप्पिंदा॥ १३॥
कुरु-मंदर-आवासा कूडा नक्खत्त-चंद सूरा य।
देवे नागे जक्खे भूये य सयंभुरमणे य॥ १४॥

से तं पुव्वाणुपुव्वी।

[१६९. प्र.] भगवन् ! मध्यलोकक्षेत्रपूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१६९. उ.] आयुष्मन् ! मध्यलोकक्षेत्रपूर्वानुपूर्वी का स्वरूप इस प्रकार है—

जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखंडद्वीप, कालोदधिसमुद्र, पुष्करद्वीप, (पुष्करोद) समुद्र, वरुणद्वीप, वरुणोदसमुद्र, क्षीरद्वीप, क्षीरोदसमुद्र, घृतद्वीप, घृतोदसमुद्र, इक्षुवरद्वीप, इक्षुवरसमुद्र, नन्दीद्वीप, नन्दीसमुद्र, अरुणवरद्वीप, अरुणवरसमुद्र, कुण्डलद्वीप, कुण्डलसमुद्र, रुचकद्वीप, रुचकसमुद्र। ११।

जम्बूद्वीप से लेकर ये सभी द्वीप-समुद्र विना किसी अन्तर के एक दूसरे को घेरे हुए स्थित हैं। इनके आगे असंख्यात-असंख्यात द्वीप-समुद्रों के अनन्तर भुजगवर तथा इसके अनन्तर असंख्यात द्वीप-समुद्रों के पश्चात् कुशवरद्वीप समुद्र है और इसके बाद भी असंख्यात द्वीप-समुद्रों के पश्चात् क्रौंचवर द्वीप है। पुन: असंख्यात द्वीप-समुद्रों के पश्चात् आभरणों आदि के सदृश शुभ नाम वाले द्वीप-समुद्र हैं। १२। यथा—

आभरण, वस्त्र, गंध, उत्पल, तिलक, पद्म, निधि, रत्न, वर्षधर, ह्रद, नदी, विजय, वक्षस्कार, कल्पेन्द्र। १३।

कुरु, मंदर, आवास, कूट, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्यदेव, नाग, यक्ष, भूत आदि के पर्यायवाचक नामों वाले द्वीप-समुद्र असंख्यात हैं और अन्त में स्वयंभूरमणद्वीप एवं स्वयंभूरमणसमुद्र है। यह मध्य-लोकक्षेत्रपूर्वानुपूर्वी की वक्तव्यता है।

१७०. से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी सयंभुरमणे य भूए य जाव जंबुद्दीवे। से तं पच्छाणुपुव्वी।

[१७० प्र.] भगवन् ! मध्यलोकक्षेत्रपश्चानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१७० उ.] आयुष्मन् ! स्वयंभूरमणसमुद्र, भूतद्वीप आदि से लेकर जम्बूद्वीप पर्यन्त व्युत्क्रम से द्वीप-समुद्रों के उपन्यास करने को मध्यलोकक्षेत्रपश्चानुपूर्वी कहते हैं।

१७१. से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादियाए एगुत्तरियाए असंखेज्जगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो। से तं अणाणुपुव्वी।

[१७१ प्र.] भगवन् ! मध्यलोकक्षेत्रअनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१७१ उ.] आयुष्मन् ! मध्यलोकक्षेत्रअनानुपूर्वी की वक्तव्यता इस प्रकार है—एक से प्रारम्भ कर असंख्यात पर्यन्त की श्रेणी स्थापित कर उनका परस्पर गुणाकार करने पर निष्पन्न राशि में से आद्य और अन्तिम इन दो भंगों को छोड़कर मध्य के समस्त भंग मध्यलोकक्षेत्रअनानुपूर्वी कहलाते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में मध्यलोकक्षेत्रानुपूर्वी का निरूपण किया है।

मध्यलोकवर्ती असंख्यात द्वीप-समुद्रों के मध्य में पहला द्वीप जम्बूद्वीप है और उसके बाद यथाक्रम से आगे-आगे समुद्र और द्वीप हैं। उनमें प्रथम द्वीप का नाम जम्बूवृक्ष से उपलक्षित होने से जम्बूद्वीप है और असंख्यात द्वीप-समुद्रों के अन्त में स्वयंभूरमण नामक समुद्र है। ये सभी द्वीप-समुद्र दूने-दूने विस्तार वाले, पूर्व-पूर्व द्वीप समुद्र को वेष्टित किये हुए और चूड़ी के आकार वाले हैं। लेकिन जम्बूद्वीप लवणसमुद्र से घिरा हुआ थाली के आकार का है। इसके द्वारा अन्य कोई समुद्र वेष्टित नहीं है। इन असंख्यात द्वीप-समुद्रों की निश्चित संख्या अढ़ाई उद्धार सागरोपम के समयों की संख्या के बराबर है। मध्यलोक का भी मध्य यह जम्बूद्वीप एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा है और इसके भी मध्य में एक लाख योजन ऊंचा सुमेरुपर्वत है जो अधो, मध्य एवं ऊर्ध्व लोक के विभाग का कारण है।

गाथोक्त पुष्कर से लेकर स्वयंभूरमण तक के शब्द क्रमशः उस-उस नाम वाले द्वीप और समुद्र दोनों के वाचक जानना चाहिए।

गाथोक्त द्वीप संख्या में भिन्नता—गाथा में नन्दीश्वरद्वीप के अनन्तर अरुणवर, कुंडल और रुचक इन तीन नामों का उल्लेख है, लेकिन अनुयोगद्वारचूर्णि में अरुणवर, अरुणावास, कुण्डलवर

शंखवर, रुचकवर इन पांच नामों को गिनाया है। इस प्रकार चूर्णि के मत से रुचकवर का क्रम तेरहवां और गाथानुसार ग्यारहवां है।

समुद्रीय जलों का स्वाद—लवणसमुद्र लवण के समान रस वाले जल से पूरित है। कालोद एवं पुष्करोद का जल शुद्धोदक के रस-समान रस वाला है। वारुणोद वारुणीरसवत्, क्षीरोद क्षीर-रस जैसे, घृतोद घृत जैसे तथा इक्षुरससमुद्र इक्षुरस जैसे स्वाद से युक्त जल वाला है। इसके बाद के अन्तिम स्वयंभूरमणसमुद्र को छोड़कर शेष सभी समुद्र इक्षुरस जैसे स्वाद वाले जल से युक्त हैं। स्वयंभूरमणसमुद्र के जल का स्वाद शुद्ध जल जैसा है।

सभी द्वीप-समुद्रों का नामोल्लेख क्यों नहीं—सूत्रकार ने असंख्यात द्वीप-समुद्रों के नामों में से कतिपय का तो उल्लेख किया किन्तु उनके अतिरिक्त अंतरालवर्ती शेष द्वीप-समुद्रों का नामोल्लेख इसलिये नहीं किया है कि वे असंख्यात हैं किन्तु लोक में शंख, ध्वज, कलश, स्वस्तिक, श्रीवत्स, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि जितने भी पदार्थों के शुभ नाम हो सकते हैं, उन सबसे उपलक्षित अन्तरालवर्ती द्वीप-समुद्रों के नाम जान लेना चाहिये।

ऊर्ध्वलोकक्षेत्रानुपूर्वी

१७२. उड्ढलोगखेत्ताणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३।

[१७२] ऊर्ध्वलोकक्षेत्रानुपूर्वी तीन प्रकार की है। वह इस रूप से—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी, ३. अनानुपूर्वी।

१७३. से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी सोहम्मे १ ईसाणे २ सणंकुमारे ३ माहिंदे ४ बंभलोए ५ लंतए ६ महासुक्के ७ सहस्सारे ८ आणते ९ पाणते १० आरणे ११ अच्चुते १२ गेवेज्जविमाणा १३ अणुत्तरविमाणा १४ ईसिपब्भारा १५। से तं पुव्वाणुपुव्वी।

[१७३ प्र.] भगवन् ! ऊर्ध्वलोकक्षेत्रविषयक पूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१७३ उ.] आयुष्मन् ! १. सौधर्म, २. ईशान, ३. सनत्कुमार, ४. माहेन्द्र, ५. ब्रह्मलोक, ६. लान्तक, ७. महाशुक्र, ८. सहस्रार, ९. आनत, १०. प्राणत, ११. आरण, १२. अच्युत, १३. ग्रैवेयक-विमान, १४. अनुत्तरविमान, १५. ईषत्प्राग्भारापृथ्वी, इस क्रम से ऊर्ध्वलोक के क्षेत्रों का उपन्यास करने को ऊर्ध्वलोकक्षेत्रपूर्वानुपूर्वी कहते हैं।

१७४. से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी ईसिपब्भारा १५ जाव सोहम्मे १। से तं पच्छाणुपुव्वी।

[१७४ प्र.] भगवन् ! ऊर्ध्वलोकक्षेत्रपश्चानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१७४ उ.] आयुष्मन् ! ईषत्प्राग्भाराभूमि से सौधर्म कल्प तक के क्षेत्रों का व्युत्क्रम से उपन्यास करने को ऊर्ध्वलोकक्षेत्रपश्चानुपूर्वी कहते हैं।

१७५. से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादिगाए एगुत्तरियाए पण्णरसगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो। से तं अणाणुपुव्वी।

[१७५ प्र.] भगवन् ! ऊर्ध्वलोकक्षेत्रअनानुपूर्वी किसे कहते हैं ?

[१७५ उ.] आयुष्मन् ! आदि में एक रखकर एकोत्तरवृद्धि द्वारा निर्मित पन्द्रह पर्यन्त की श्रेणी में परस्पर गुणा करने पर प्राप्त राशि में से आदि और अंत के दो भंगों को कम करने पर शेष भंगों को ऊर्ध्वलोकक्षेत्रअनानुपूर्वी कहते हैं।

विवेचन—यहाँ ऊर्ध्वलोकक्षेत्रानुपूर्वी का स्वरूप स्पष्ट किया है।

सर्वप्रथम सौधर्मकल्प का उपन्यास इसलिये किया है कि वह प्ररूपणकर्त्ता से सर्वाधिक निकट है। सौधर्मनाम का कारण यह है कि उस क्षेत्र सम्बन्धी (बत्तीस लाख) विमानों में सौधर्मावतंसक-विमान सर्वश्रेष्ठ है और वह इस विमान से युक्त है। इसी प्रकार से ईशान से लेकर अच्युत तक के कल्पों के ईशानावतंसक आदि विमानों के लिये भी समझना चाहिये कि उन-उन कल्पों में वे-वे विमान सर्वश्रेष्ठ हैं, अतएव ये कल्प उन्हीं नामों वाले हैं।

सौधर्म से लेकर अच्युत पर्यन्त के बारह देवलोकों में इन्द्र, सामानिक आदि वर्गात्मक भेद होने से वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं।

ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान कल्पातीत संज्ञक हैं। इनमें इन्द्र आदि भेदरूप कल्प नहीं पाया जाता है।

लोक रूप पुरुष की ग्रीवा के स्थानापन्न विमानों की ग्रैवेयक संज्ञा है। इनकी कुल संख्या नौ है और अधो, मध्य और ऊर्ध्व इन तीन वर्गों में ये तीन-तीन की संख्या में स्थित हैं।

अनुत्तरविमान अन्य देवविमानों से अनुत्तर-श्रेष्ठतम होने से अनुत्तर कहलाते हैं। यह अनुत्तर विमान कुल पांच हैं, जिनके नाम विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध हैं। ये विजयादि अपराजित पर्यन्त चार विमान पूर्वादि चार दिशाओं में एक-एक स्थित हैं और इनके बीच में सर्वार्थसिद्ध विमान है। विजयादि पांचों विमानों में सम्यग्दृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं और निश्चित रूप से वे मुक्तिपद प्राप्ति के अधिकारी होते हैं।

नव ग्रैवेयक तक विमानों में मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों तरह के जीव उत्पन्न हो सकते हैं।

ईषत्प्राग्भारापृथ्वी अपने प्रान्तभाग में भाराक्रान्त पुरुष की तरह कुछ झुकी हुई होने से ईषत्प्राग्भारा कहलाती है। इसे सिद्धशिला भी कहते हैं।

ऊर्ध्वलोकक्षेत्र संबन्धी पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी और अनानुपूर्वी संबन्धी विशेष वक्तव्यता अन्य आगमों से समझ लेनी चाहिये।

अब प्रकारान्तर से औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी का वर्णन है।

औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी के वर्णन का द्वितीय प्रकार

१७६. अहवा ओवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३।

[१७६] अथवा औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी तीन प्रकार की कही गई है। यथा—१ पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी और ३. अनानुपूर्वी।

१७७. से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी एगपएसोगाढे दुपएसोगाढे जाव दसपएसोगाढे जाव असंखेज्जपएसोगाढे। से तं पुव्वाणुपुव्वी।

[१७७ प्र.] भगवन् ! (औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी संबन्धी) पूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१७७ उ.] आयुष्मन् ! एकप्रदेशावगाढ, द्विप्रदेशावगाढ यावत् दसप्रदेशावगाढ यावत् असंख्यातप्रदेशावगाढ के क्रम से क्षेत्र के उपन्यास को पूर्वानुपूर्वी कहते हैं।

१७८. से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी असंखेज्जपएसोगाढे जाव एगपएसोगाढे। से तं पच्छाणुपुव्वी।

[१७८ प्र.] भगवन् ! पश्चानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१७८ उ.] आयुष्मन् ! असंख्यातप्रदेशावगाढ यावत् एकप्रदेशावगाढ रूप में व्युत्क्रम से क्षेत्र का उपन्यास पश्चानुपूर्वी है।

१७९. से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादियाए एगुत्तरियाए असंखेज्जगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। से तं अणाणुपुव्वी। से तं ओवणिहिया खेत्ताणुपुव्वी। से तं खेत्ताणुपुव्वी।

[१७९ प्र.] भगवन् ! अनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१७९ उ.] आयुष्मन् ! एक से प्रारंभ कर एकोत्तर वृद्धि द्वारा असंख्यात प्रदेश पर्यन्त की स्थापित श्रेणी का परस्पर गुणा करने से निष्पन्न राशि में से आद्य और अंतिम इन दो रूपों को कम करने पर क्षेत्रविषयक अनानुपूर्वी बनती है।

इस प्रकार से औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी की एवं साथ ही क्षेत्रानुपूर्वी की वक्तव्यता समाप्त हुई जानना चाहिये।

विवेचन—इन चार सूत्रों में सामान्य से औपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी का विवेचन करके क्षेत्रानुपूर्वी की वक्तव्यता का उपसंहार किया है।

लोकाकाश असंख्यात प्रदेशप्रमाण है। अतः एकप्रदेश रूप क्षेत्र से प्रारंभ करके क्रमशः असंख्यात प्रदेश पर्यन्त के क्षेत्र का पूर्वानुपूर्वी आदि के रूप में उल्लेख किया है।

अब क्षेत्रानुपूर्वी के अनन्तर क्रमप्राप्त कालानुपूर्वी का वर्णन प्रारंभ करते हैं।

कालानुपूर्वीप्ररूपणा

१८०. से किं तं कालाणुपुव्वी ?

कालाणुपुव्वी दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—ओवणिहिया य १ अणोवणिहिया य २।

[१८० प्र.] भगवन् ! कालानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१८० उ.] आयुष्मन् ! कालानुपूर्वी के दो प्रकार हैं, यथा—१ औपनिधिकी और २ अनौपनिधिकी।

१८१. तत्थ णं जा सा ओवणिहिया सा ठप्पा।

[१८१] इनमें से (अल्प विषय वाली होने से अभी विवेचन न करने के कारण) औपनिधिकी कालानुपूर्वी स्थाप्य है। तथा—

१८२. तत्थ णं जा सा अणोवणिहिया सा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—णेगम-ववहाराणं १ संगहस्स य २।

[१८२] अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी दो प्रकार की कही गई है—१ नैगम-व्यवहारनयसंमत और २ संग्रहनयसम्मत।

विवेचन—यह सूत्रत्रय कालानुपूर्वी के वर्णन करने की भूमिका रूप हैं। अब सूत्रगत संकेतानुसार प्रथम नैगम-व्यवहारनयसंमत अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी का विवेचन प्रारंभ करते हैं।

नैगम-व्यवहारनयसंमत अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी

१८३. से किं तं णेगम-ववहाराणं अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी ?

णेगम-ववहाराणं अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता। तं जहा—अट्ठपयपरूवणया १ भंगसमुक्कित्तणया २ भंगोवदंसणया ३ समोतारे ४ अणुगमे ५।

[१८३ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१८३ उ.] आयुष्मन् ! (नैगम-व्यवहारनयसंमत) अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी के पांच प्रकार कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—अर्थपदप्ररूपणता, २ भंगसमुत्कीर्तनता, ३ भंगोपदर्शनता, ४ समवतार, ५ अनुगम।

विवेचन—सूत्रोक्त अर्थपदप्ररूपणता आदि के लक्षण पूर्व में बतलाये जा चुके हैं। अतएव प्रसंगानुरूप अब उनका मंतव्य स्पष्ट करते हैं।

(क) अर्थपदप्ररूपणता

१८४. से किं तं णेगम-ववहाराणं अट्ठपदपरूवणया ?

णेगम-ववहाराणं अट्ठपदपरूवणया तिसमयट्ठिईए आणुपुव्वी जाव दससमयट्ठिईए आणुपुव्वी संखेज्जसमयट्ठिईए आणुपुव्वी असंखेज्जसमयट्ठितीए आणुपुव्वी।

एगसमयट्ठितीए अणाणुपुव्वी।

दुसमयट्ठिईए अवत्तव्वए।

तिसमयट्ठितीयाओ आणुपुव्वीओ जाव संखेज्जसमयट्ठितीयाओ आणुपुव्वीओ असंखेज्जसमयट्ठितीयाओ आणुपुव्वीओ।

एगसमयट्ठितीयाओ अणाणुपुव्वीओ। दुसमयट्ठिईयाइं अवत्तव्वयाइं। से तं णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणया।

[१८४ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत अर्थपदप्ररूपणता का क्या स्वरूप है ?

[१८४ उ.] आयुष्मन् ! (नैगम-व्यवहारनयसंमत) अर्थपदप्ररूपणता का स्वरूप इस प्रकार है—तीन समय की स्थिति वाला द्रव्य आनुपूर्वी है यावत् दस समय, संख्यात समय, असंख्यात समय की स्थितिवाला द्रव्य आनुपूर्वी है।

एक समय की स्थिति वाला द्रव्य अनानुपूर्वी है।

दो समय की स्थिति वाला द्रव्य अवक्तव्यक है।

तीन समय की स्थिति वाले अनेक द्रव्य आनुपूर्वियां हैं यावत् संख्यातसमयस्थितिक, असंख्यातसमयस्थितिक द्रव्य आनुपूर्वियां हैं।

एक समय की स्थिति वाले अनेक द्रव्य अनेक अनानुपूर्वियां हैं।

दो समय की स्थिति वाले अनेक द्रव्य अनेक अवक्तव्यक रूप हैं।

इस प्रकार से नैगम-व्यवहारनयसंमत अर्थपदप्ररूपणता का स्वरूप जानना चाहिये।

१८५. एयाए णं णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए जाव भंगसमुक्कित्तणया कज्जति।

[१८५] इस नैगम-व्यवहारनयसंमत अर्थपदप्ररूपणता के द्वारा यावत् भंगसमुत्कीर्तनता की जाती है।

विवेचन—इन दो सूत्रों में नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी के पहले भेद अर्थपदप्ररूपणता का आशय और प्रयोजन बताया है।

अर्थपदप्ररूपणता के प्रसंग में प्रयुक्त आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी एवं अवक्तव्यक शब्द के अर्थ पूर्व में स्पष्ट किये जा चुके हैं। अतएव काल के वर्णन के प्रसंग में जिस द्रव्य की स्थिति कम से कम तीन समय की है, वह त्रिसमयस्थितिक द्रव्य आनुपूर्वी है। ऐसा द्रव्य परमाणु, द्विप्रदेशिक, त्रिप्रदेशिक यावत् संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध भी हो सकता है। परन्तु उसकी स्थिति कम से कम तीन समय की होनी चाहिये। अधिक-से-अधिक असंख्यात समय की स्थिति वाला द्रव्य भी आनुपूर्वी रूप कहा जाएगा।

यद्यपि क्षेत्रानुपूर्वी की तरह कालानुपूर्वी के प्रसंग में भी उल्लेख तो द्रव्यविशेष का हैं, परन्तु यहाँ समयत्रय आदि रूप कालपर्याय से युक्त द्रव्य ग्रहण किये हैं। इस प्रकार काल की तीन आदि समय रूप पर्याय और उन पर्यायों वाले द्रव्य में अभेद का उपचार करके एवं कालपर्याय को प्रधान मानकर कालपर्यायविशिष्ट द्रव्य में कालानुपूर्वी जानना चाहिये।

अनन्तसामयिक कालानुपूर्वी क्यों नहीं ?—सूत्र में तीन समय से लेकर असंख्यात समय की स्थिति वाले द्रव्य को कालापेक्षया आनुपूर्वी रूप में ग्रहण किया है, क्योंकि स्वभाव से ही किसी भी द्रव्य की अनन्त समय की स्थिति नहीं होती है। अर्थात् ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं जिसकी स्थिति अनन्त समय की हो। इसीलिये अनन्त समय की स्थिति वाली कालानुपूर्वी का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।

अनानुपूर्वी और अवक्तव्य विषयक विशेषता—आनुपूर्वी में तो त्रिसमयस्थितिक से लेकर असंख्यातसमयस्थितिक पर्यन्त परमाणु आदि द्रव्यों को आनुपूर्वी के रूप में ग्रहण किया है। अर्थात्

आनुपूर्वी में आद्य इकाई तीन समय है और चरम असंख्यात समय है। लेकिन अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक में यह विशेषता है—

अनानुपूर्वी में द्रव्य चाहे परमाणु से लेकर अनन्ताणुक रूप हो, लेकिन उसकी स्थिति यदि एक समय की है तो वह कालापेक्षया अनानुपूर्वी है। इसी प्रकार यदि उसकी स्थिति दो समय प्रमाण है—वह दो समय की स्थिति वाला है तो वह अवक्तव्यक द्रव्य है।

एक-बहुवचनान्तता का कारण—सूत्रकार ने एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा आनुपूर्वी आदि का निर्देश किया है। उसका कारण यह है कि तीन आदि समयों की स्थिति वाले आनुपूर्वी द्रव्य एक-एक व्यक्ति रूप भी हैं और अनेक—अनन्त व्यक्ति रूप भी हैं। इसीलिये तीन आदि समय की स्थिति वाले एक द्रव्य को एक आनुपूर्वी, एक समय की स्थिति वाले एक द्रव्य को एक अनानुपूर्वी और द्विसमय की स्थिति वाले एक द्रव्य को एक अवक्तव्यक कहा है। लेकिन जब वही आनुपूर्वी आदि द्रव्य विशेष-भेद की विवक्षा से अनेक-व्यक्ति रूप होते हैं तब बहुवचन की अपेक्षा आनुपूर्वियों, अनानुपूर्वियों और अवक्तव्यकों रूप कहलाते हैं।[1]

सूत्र में अर्थपदप्ररूपणता के प्रयोजन रूप में भंगसमुत्कीर्तनता का संकेत किया है, अतः अब भंगसमुत्कीर्तनता का निर्देश करते हैं।

(ख) भंगसमुत्कीर्तनता

१८६. से किं तं णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया ?

णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया अत्थि आणुपुव्वी अत्थि अणाणुपुव्वी अत्थि अवत्तव्वए, एवं दव्वाणुपुव्विगमेणं कालाणुपुव्वीए वि ते चेव छव्वीसं भंगा भाणियव्वा जाव से तं णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया।

[१८६ प्र.] भगवन्! नैगम-व्यवहारनयसंमत भंगसमुत्कीर्तनता का क्या स्वरूप है ?

[१८६ उ.] आयुष्मन्! आनुपूर्वी है, अनानुपूर्वी है, अवक्तव्यक है, इस प्रकार द्रव्यानुपूर्वीवत् कालानुपूर्वी के भी २६ भंग जानना चाहिये यावत् यह नैगम-व्यवहारनयसंमत भंगसत्कीर्तनता का स्वरूप है।

१८७. एयाए णं णेगम-ववहाराणं जाव किं पओयणं ?

एयाए णं णेगम-ववहाराणं जाव भंगोवदंसणया कज्जति।

[१८७ प्र.] भगवन्! इस नैगम-व्यवहारनयसंमत यावत् (भंगसमुत्कीर्तनता का) क्या प्रयोजन है ?

[१८७ उ.] आयुष्मन्! इस नैगम-व्यवहारनयसंमत यावत् (भंगसमुत्कीर्तनता) से भंगोपदर्शनता की जाती है।

---

१. सूत्र संख्या १८५ के स्थान पर किसी-किसी प्रति में निम्नलिखित सूत्र पाठ है—
एआए णं नैगम-व्यवहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए किं पओअणं ? एआए णं णेगम-ववहाराणं अट्ठपयपरूवणयाए णेगम-ववहाराणं भंगसमुक्कित्तणया कज्जइ।

विवेचन—इस सूत्रपाठ की व्याख्या स्पष्ट है। द्रव्यानुपूर्वी की तरह कालानुपूर्वी के प्रसंग में भी छब्बीस भंग जानना चाहिये। वे छब्बीस भंग इस प्रकार हैं—

आनुपूर्वी आदि एकवचनान्त तीन पद के असंयोगी तीन भंग हैं और इसी प्रकार बहुवचनान्त पद के तीन भंग बनते हैं। इस प्रकार पृथक्-पृथक् छह भंग हो जाते हैं और संयोगपक्ष में इन तीनों पदों के द्विसंयोगी भंग तीन होते हैं। इनमें एक-एक भंग में दो-दो का संयोग होने पर एकवचन और बहुवचन को लेकर चार-चार भंग हो जाते हैं। इस प्रकार तीनों भंगों के द्विकसंयोगी कुल भंग बारह बनते हैं तथा त्रिकसंयोग में एकवचन और बहुवचन को लेकर आठ भंग बनते हैं। इस प्रकार सब भंग मिलाकर (६+१२+८=२६) छब्बीस होते हैं। द्रव्यानुपूर्वी के प्रसंग में इनके नाम बताये जा चुके हैं। तदनुसार यहाँ भी वही नाम समझ लेना चाहिये।

अब प्रयोजनरूप में संकेतित भंगोपदर्शनता का निरूपण करते हैं।

(ग) भंगोपदर्शनता

१८८. से किं तं णेगम-ववहाराणं भंगोवदंसणया ?

णेगम-ववहाराणं भंगोवदंसणया तिसमयट्ठितीए आणुपुव्वी एगसमयट्ठितीए अणाणुपुव्वी अणाणुपुव्वी दुसमयट्ठितीए अवत्तव्वए, तिसमयट्ठितीयाओ आणुपुव्वीओ एगसमयट्ठितीयाओ अणाणुपुव्वीओ दुसमयट्ठितीयाइं अवत्तव्वयाइं। एवं दव्वाणुगमेणं ते चेव छव्वीसं भंगा भाणियव्वा, जाव से तं णेगम-ववहाराणं भंगोवदंसणया।

[१८८ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत भंगोपदर्शनता का क्या स्वरूप है ?

[१८८ उ.] आयुष्मन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत भंगोपदर्शनता का स्वरूप इस प्रकार है— त्रिसमयस्थितिक एक-एक परमाणु आदि द्रव्य आनुपूर्वी है, एक समय की स्थिति वाला एक-एक परमाणु आदि द्रव्य अनानुपूर्वी है और दो समय की स्थिति वाला परमाणु आदि द्रव्य अवक्तव्यक है। तीन समय की स्थिति वाले अनेक द्रव्य 'आनुपूर्वियां' इस पद के वाच्य हैं। एक समय की स्थिति वाले अनेक द्रव्य 'अनानुपूर्वियां' तथा दो समय की स्थिति वाले द्रव्य 'अवक्तव्य' पद के वाच्य हैं। इस प्रकार यहाँ भी द्रव्यानुपूर्वी के पाठानुरूप छब्बीस भंगों के नाम जानने चाहिए, यावत् यह भंगोपदर्शनता का आशय है।

विवेचन—सूत्रार्थ का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तीन समय की स्थिति वाला, एक समय की स्थिति वाला और दो समय की स्थिति वाला एक-एक व्यक्ति रूप परमाणु आदि अनन्ताणुक पर्यन्त द्रव्य क्रमशः आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक है। यह तो हुआ एकवचनापेक्षा आनुपूर्वी आदि पद का वाच्यार्थ, लेकिन जब यही तीन समय आदि की स्थिति वाले पूर्वोक्त द्रव्यव्यक्ति अनेक रूप में विवक्षित होते हैं तब वे 'आनुपूर्वियां' आदि बहुवचनान्त पद के वाच्य हो जाते हैं।

यह असंयोग पक्ष में एकवचन के तीन और बहुवचन के तीन, कुल छह भंगों का कथन है।

लेकिन प्रस्तुत सूत्र में संयोगज भंगों की वाच्यार्थरूपता का उल्लेख नहीं किया है। उन भंगों को द्रव्यानुपूर्वी के समान समझ लेना चाहिए।

यह भंगोपदर्शनता की वक्तव्यता है। अब समवतार का कथन करते हैं।

(घ) समवतार

१८९. से किं तं समोयारे ? समोयारे णेगम-ववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं कहिं समोयरंति ? जाव तिण्णि वि सट्ठाणे सट्ठाणे समोयरंति त्ति भाणियव्वं । से तं समोयारे ।

[१८९ प्र.] भगवन् ! समवतार का क्या स्वरूप है ? नैगम-व्यवहारनयसंमत अनेक आनुपूर्वी द्रव्यों का कहाँ समवतार (अन्तर्भाव) होता है ? यावत्—

[१८९ उ.] तीनों ही स्व-स्व स्थान में समवतरित होते हैं। इस प्रकार समवतार का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में समवतार संबन्धी आशय का संकेत मात्र किया है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

समवतार अर्थात् उन-उन द्रव्यों का स्व-स्व जातीय द्रव्यों में अन्तर्भूत होना। इस अपेक्षा पूर्वपक्ष के रूप में निम्नलिखित प्रश्न हैं—

क्या नैगम-व्यवहारनयसंमत समस्त आनुपूर्वीद्रव्य आनुपूर्वीद्रव्यों में या अनानुपूर्वीद्रव्यों में या अवक्तव्यकद्रव्यों में अन्तर्भूत होते हैं ?

इसी प्रकार के तीन-तीन प्रश्न अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्य-विषयक भी जानना चाहिये। इस तरह कुल नौ प्रश्न हैं। जिनका उत्तर इस प्रकार है—

१. नैगम-व्यवहारनयसंमत सभी आनुपूर्वीद्रव्य आनुपूर्वीद्रव्यों में ही समाविष्ट होते हैं। किन्तु अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्यों में समाविष्ट नहीं होते हैं।

२. नैगम-व्यवहारनयमान्य समस्त अनानुपूर्वीद्रव्य अपनी जाति (अनानुपूर्वीद्रव्य) में अन्तर्भूत होते हैं। उनका विजातीय आनुपूर्वी या अवक्तव्य द्रव्यों में अन्तर्भाव नहीं होता है।

३. नैगम-व्यवहारनयसंमत अवक्तव्यद्रव्य अवक्तव्यकद्रव्यों में ही अन्तर्भूत होते हैं, अन्य आनुपूर्वी आदि द्रव्यों में नहीं।

सारांश यह कि आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक ये तीनों ही प्रकार के द्रव्य अपने-अपने स्थान (जाति) में ही अन्तर्भूत होते हैं।

(ङ) अनुगम

१९०. से किं तं अणुगमे ?

अणुगमे णवविहे पण्णत्ते । तं जहा—
संतपयपरूवणया १ जाव अप्पाबहुं चेव ९ ॥ १५ ॥

[१९० प्र.] भगवन् ! अनुगम का क्या स्वरूप है ?

[१९० उ.] आयुष्मन् ! अनुगम नौ प्रकार का कहा है। वे प्रकार हैं—१ सत्पदप्ररूपणा यावत् ९ अल्पबहुत्व।

विवेचन—सूत्र में अनुगम के नौ प्रकारों में से पहले सत्पदप्ररूपणता और अंतिम अल्पबहुत्व का नामोल्लेख द्वारा और शेष का ग्रहण जाव—यावत् पद द्वारा किया है। उन सभी नौ प्रकारों के नाम अनुक्रम से इस प्रकार हैं—

१. सत्पदप्ररूपणता, २. द्रव्यप्रमाण, ३. क्षेत्र, ४. स्पर्शना, ५. काल, ६. अंतर, ७. भाग, ८. भाव, ९. अल्पबहुत्व। इन नौ प्रकारों के लक्षण पूर्व कथनानुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिये। इनकी वक्तव्यता इस प्रकार है—

(ङ १) सत्पदप्ररूपणता

१९१. णेगम-ववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं अत्थि णत्थि ?

नियमा तिण्णि वि अत्थि।

[१९१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत आनुपूर्वी द्रव्य हैं या नहीं हैं ?

[१९१ उ.] आयुष्मन् ! नियमतः ये तीनों द्रव्य हैं।

विवेचन—सूत्र में अनुगम के प्रथम भेद सत्पदप्ररूपणता का आशय स्पष्ट किया है।

विद्यमान पदार्थविषयक पद की प्ररूपणा को सत्पदप्ररूपणता कहते हैं। अतएव जब ऐसा प्रश्न किया जाता है कि नैगम-व्यवहारनयसंमत आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी एवं अवक्तव्य द्रव्य हैं या नहीं ? तब इसका उत्तर दिया जाता है—नियमा तिण्णि वि अत्थि—ये तीनों द्रव्य सदैव अस्ति रूप हैं—नियमतः ये तीनों द्रव्य हैं।

यही सत्पदप्ररूणता की वक्तव्यता का आशय है।

(ङ २) द्रव्यप्रमाण

१९२. णेगम-ववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं किं संखेज्जाइं असंखेज्जाइं अणंताइं ?

तिण्णि वि नो संखेज्जाइं, असंखेज्जाइं, नो अणंताइं।

[१९२ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वी आदि द्रव्य संख्यात हैं, असंख्यात है या अनन्त हैं ?

[१९२ उ.] आयुष्मन् ! तीनों द्रव्य संख्यात और अनन्त नहीं हैं, परन्तु असंख्यात हैं।

विवेचन—सूत्र में आनुपूर्वी आदि द्रव्यों को असंख्यात बताया है। इसका कारण यह है कि लोक में द्रव्य तो अनन्त हैं, किन्तु तीन समय आदि की स्थिति वाले प्रत्येक परमाणु आदि की समयत्रयादि रूप स्थिति एक ही है। क्योंकि यहाँ काल की प्रधानता है और द्रव्यबहुत्व की गौणता। इसलिये तीन समय, चार समय आदि की, एक समय की और दो समय की स्थिति वाले जितने भी परमाणु आदि अनन्त द्रव्य हैं वे सब अपनी-अपनी स्थिति की अपेक्षा से एक ही आनुपूर्वी आदि द्रव्य रूप हैं अर्थात् तीन समय की स्थिति वाले अनन्त द्रव्य एक ही आनुपूर्वी हैं। इसी प्रकार चार समय की स्थिति वाले अनन्त द्रव्य एक आनुपूर्वी हैं यावत् दस समय की स्थिति वाले एक आनुपूर्वी हैं, इत्यादि।

अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्य असंख्यात कैसे ?—यद्यपि एक समय की स्थिति वाले और दो समय की स्थिति वाले द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्य अनन्त हैं। लेकिन लोक के असंख्यात प्रदेश हैं, अतः उनके अवगाह भेद असंख्यात हैं। इसलिये एक समय की स्थिति वाले और दो समय की स्थिति वाले जितने भी द्रव्य हैं, उनमें से एक-एक द्रव्य में अवगाहना के भेद से भिन्नता है। अतएव इस भिन्नता की

विवक्षा की वजह से प्रत्येक द्रव्य असंख्यात हैं। तात्पर्य यह है कि लोक असंख्यातप्रदेशी है, अतः लोक में एक समय की स्थिति वाले और दो समय की स्थिति वाले द्रव्यों के रहने के स्थान असंख्यात हैं। अतः उन असंख्यात आधार रूप स्थानों में ये द्रव्य रहते हैं। इसलिये एक समय की और दो समय की स्थिति वाले प्रत्येक द्रव्य में असंख्याततता सिद्ध है।

(ङ ३, ४) क्षेत्र और स्पर्शना प्ररूपणा

१९३. णेगम-ववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं लोगस्स किं संखेज्जइभागे होज्जा ?० पुच्छा।

एगदव्वं पडुच्च लोगस्स संखेज्जतिभागे वा होज्जा जाव असंखेज्जेसु वा भागेसु होज्जा देसूणे वा लोए होज्जा, नाणादव्वाइं पडुच्च नियमा-सव्वलोए होज्जा। एवं अणाणुपुव्वि-अवत्तव्वयदव्वाणि भाणियव्वाणि जहा णेगम-ववहाराणं खेत्ताणुपुव्वीए।

[१९३ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनेक आनुपूर्वी द्रव्य क्या लोक के संख्यात भाग में रहते हैं ? इत्यादि प्रश्न है।

[१९३ उ.] आयुष्मन् ! एक द्रव्य की अपेक्षा (समस्त आनुपूर्वीद्रव्य) लोक के संख्यात भाग में रहते हैं यावत् असंख्यात भागों रहते हैं अथवा देशोन लोक में रहते हैं। किन्तु अनेक द्रव्यों की अपेक्षा नियमतः सर्वलोक में रहते हैं।

समस्त अनानुपूर्वी द्रव्यों और अवक्तव्य द्रव्यों की वक्तव्यता भी नैगम-व्यवहारनयसम्मत क्षेत्रानुपूर्वी के समान है।

१९४. एवं फुसणा कालाणुपुव्वीए वि तहा चेव भाणितव्वा।

[१९४] इस कालानुपूर्वी में स्पर्शनाद्वार का कथन तथैव (क्षेत्रानुपूर्वी जैसा ही) जानना चाहिये।

विवेचन—इन दो सूत्रों में अनुगम के क्षेत्र और स्पर्शना इन दो द्वारों का निरूपण किया है।

क्षेत्रद्वार में आनुपूर्वी-त्रयादि समय की स्थिति वाले द्रव्य का लोक के संख्यात आदि भागों में रहना उन-उन भागों में उनका अवगाह सम्भवित होने की अपेक्षा जानना चाहिये तथा तीन आदि समय की स्थिति वाले सूक्ष्म परिणामयुक्त स्कन्ध के देशोन लोक में अवगाहित होने पर एक आनुपूर्वी द्रव्य देशोन लोकवर्ती होता है।

आनुपूर्वी द्रव्य सर्वलोकव्यापी इसलिये नहीं कि सर्वलोकव्यापी तो अचित्त महास्कन्ध ही होता है और वह अचित्त महास्कन्ध एक समय तक ही सर्वलोकव्यापी रहता है। तदनन्तर उसका संकोच—उपसंहार हो जाता है। उसे काल की अपेक्षा आनुपूर्वी द्रव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आनुपूर्वी द्रव्य कम से कम तीन समय की स्थिति वाला ही होता है।

यदि अचित्त महास्कन्ध को सर्वलोकव्यापी माना जाये तो फिर अनानुपूर्वी और अवक्तव्य द्रव्यों के ठहरने का स्थान न होने के कारण उनका अभाव मानना पड़ेगा। लेकिन देशोन लोक में उसकी स्थिति मानने पर लोक में कम से कम एक प्रदेश ऐसा भी रहेगा जिसमें अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्य के ठहरने के लिये स्थान मिल जाता है।

इसी प्रकार से एक अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्य के लिये समझना चाहिये कि वे लोक के असंख्यात भाग में रहते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

क्षेत्रानुपूर्वी की तरह कालानुपूर्वी में भी एक अनानुपूर्वी और एक अवक्तव्य द्रव्य लोक के असंख्यातवें भाग में रहता है। काल की अपेक्षा क्रमशः जिसकी एक समय और दो समय की स्थिति है, वह क्षेत्र की अपेक्षा भी एक और दो प्रदेश में स्थित होता है और वे प्रदेश लोक के असंख्यातवें भाग हैं।

दो आदेश मलधारीयावृत्ति में निम्नलिखित दो आदेशान्तरों का उल्लेख है—१. आएसंतरेण वा सव्वपुच्छासु होज्जा। २. महाखंधवज्जमन्नदव्वेसु आइल्ला चउपुच्छासु होज्जा।

प्रथम आदेश का संकेत अनानुपूर्वी के अवगाढ होने के प्रसंग में किया है। वह प्रकारान्तर से सूत्रोक्त संख्येय आदि पांचों पृच्छाओं में लभ्य है। तात्पर्य यह हुआ कि एक समय की स्थिति वाले अनानुपूर्वीद्रव्य में से कोई एक द्रव्य लोक के संख्यात भाग में, कोई एक असंख्यात भाग में, कोई एक संख्यात भागों में कोई एक असंख्यात भागों में और कोई एक सर्वलोक में रहता है तथा नाना अनानुपूर्वीद्रव्यों की अपेक्षा वे सर्वलोक में भी रहते हैं। क्योंकि एक समय की स्थिति वाले अनानुपूर्वी द्रव्यों का सर्वत्र सत्त्व है।

एक अनानुपूर्वीद्रव्य का सर्वलोक में रहना अचित्त महास्कन्ध की दंड, कपाट आदि अवस्थाओं की अपेक्षा जानना चाहिए। क्योंकि ये दंडादि अवस्थायें आकार भेद से परस्पर भिन्न-भिन्न हैं और एक-एक समयवर्ती हैं। अतः एक-एक समयवर्ती होने के कारण वे पृथक्-पृथक् अनानुपूर्वीद्रव्य हैं।

दूसरे आदेश का सम्बन्ध अवक्तव्यद्रव्य से है। दो समय की स्थिति वाला कोई एक अवक्तव्यकद्रव्य लोक के संख्यातवें भाग में, कोई असंख्यातवें भाग में, कोई संख्यात भागों में और कोई असंख्यात भागों में अवगाढ होता है, किन्तु सर्वलोक में अवगाढ नहीं होता है। क्योंकि सर्वलोक में अवगाढ तो महास्कन्ध होता है और वह दो समयों की स्थिति वाला नहीं है। इसी कारण अवक्तव्यकद्रव्य के विषय में पांचवाँ विकल्प सम्भव नहीं है। नाना अवक्तव्यकद्रव्यों की सर्वलोक-व्यापिता स्वतः सिद्ध ही है।

स्पर्शना के लिये क्षेत्रानुपूर्वीवत् समझने के संकेत का तात्पर्य यह है कि क्षेत्रानुपूर्वी की तरह कालानुपूर्वी में भी एक-एक आनुपूर्वीद्रव्य लोक के संख्यातवें भाग, असंख्यातवें भाग, संख्यात भागों, असंख्यात भागों अथवा देशोन लोक का और अनेक द्रव्यों की अपेक्षा सर्वलोक का स्पर्श करते हैं। तथा—

एक-एक अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्य लोक के मात्र असंख्यातवें भाग का स्पर्श करते हैं। किन्तु संख्यातवें भाग, संख्यातवें भागों, असंख्यातवें भागों और देशोन लोक का स्पर्श नहीं करते हैं। विविध द्रव्यों की अपेक्षा नियमतः सर्वलोक का स्पर्श जानना चाहिये।

(ङ ५) कालप्ररूपणा

१९५. [१] णेगम-ववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं कालतो केवचिरं होंति ?

एगं दव्वं पडुच्च जहण्णेणं तिण्णि समया उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च सव्वद्धा।

[१९५-१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वीद्रव्य कालापेक्षा (आनुपूर्वी रूप में) कितने काल तक रहते हैं।

[१९५-१ उ.] आयुष्मन् ! एक आनुपूर्वीद्रव्य की अपेक्षा जघन्य स्थिति तीन समय की और उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात काल की है। अनेक आनुपूर्वीद्रव्यों की अपेक्षा स्थिति सर्वकालिक है।

[२] णेगम-ववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाइं कालओ केवचिरं होंति ?

एगदव्वं पडुच्च अजहण्णमणुक्कोसेणं एक्कं समयं, नाणादव्वाइं पडुच्च सव्वद्धा।

[१९५-२ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसंमत अनानुपूर्वीद्रव्य कालापेक्षा (अनानुपूर्वी रूप में) कितने काल तक रहते हैं ?

[१९५-२ उ.] आयुष्मन् ! एक द्रव्यापेक्षया तो अजघन्य और अनुत्कृष्ट स्थिति एक समय की तथा अनेक द्रव्यों की अपेक्षा सर्वकालिक है।

[३] णेगम-ववहाराणं अवत्तव्वयदव्वाइं कालतो केवचिरं होंति ?

एगं दव्वं पडुच्च अजहण्णमणुक्कोसेणं दो समया, नाणादव्वाइं पडुच्च सव्वद्धा।

[१९५-३ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत अवक्तव्यकद्रव्य कालापेक्षया (अवक्तव्यक रूप में) कितने काल रहते हैं ?

[१९५-३ उ.] आयुष्मन् ! एक द्रव्य की अपेक्षा अजघन्य-अनुत्कृष्ट स्थिति दो समय की है और अनेक द्रव्यों की अपेक्षा स्थिति सर्वकालिक है।

विवेचन—यहाँ अनुगम के पांचवें कालद्वार की प्ररूपणा की है।

एक आनुपूर्वीद्रव्य की जघन्य स्थिति तीन समय और उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात समय की बताने का कारण यह है कि आनुपूर्वीद्रव्यों में तीन समय की स्थिति वाले द्रव्य सबसे कम हैं और वे तीन समय तक ही आनुपूर्वी के रूप में रहते हैं। इसलिये एकवचनान्त आनुपूर्वी द्रव्यों की जघन्य स्थिति तीन समय प्रमाण कही है और असंख्यात समय की स्थिति कहने का कारण यह है कि वह द्रव्य असंख्यात काल के बाद आनुपूर्वी रूप में रहता ही नहीं है।

नाना आनुपूर्वीद्रव्यों की अपेक्षा स्थिति सर्वकालिक इसलिये है कि नाना आनुपूर्वी द्रव्यों का सदैव सद्भाव रहता है।

एक-एक अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्य की स्थिति मात्र क्रमशः एक समय और दो समय प्रमाण होने से इन दोनों के विषय में जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा विचार किया जाना सम्भव नहीं होने से अजघन्य और अनुत्कृष्ट काल स्थिति एक और दो समय की बतलाई है। क्योंकि एक समय की स्थिति वाला द्रव्य अनानुपूर्वी और दो समय की स्थिति वाला द्रव्य अवक्तव्यक है। नाना अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक द्रव्य सर्वकाल में सम्भव होने से उनकी स्थिति सर्वाद्धा प्रमाण है।

(ङ ६.) अन्तरप्ररूपणा

१९६. [१] णेगम-ववहाराणं आणुपुव्विदव्वाणमंतरं कालतो केवचिरं होति ?

एगदव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं दो समया, नाणादव्वाइं पडुच्च नत्थि अंतरं।

[१९६-१ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वी द्रव्यों का कालापेक्षया अन्तर कितने समय का होता है ?

[१९६-१ उ.] आयुष्मन् ! एक द्रव्य की अपेक्षा जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर दो समय है। किन्तु अनेक द्रव्यों की अपेक्षा अन्तर नहीं है।

[२] णेगम-ववहाराणं अणाणुपुव्विदव्वाणं अंतरं कालतो केवचिरं होति ?

एगदव्वं पडुच्च जहण्णेणं दो समया उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च णत्थि अंतरं।

[१९६-२ प्र.] भगवन् ! कालापेक्षया नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनानुपूर्वी द्रव्यों का अन्तर कितने समय का होता है ?

[१९६-२ उ.] आयुष्मन् ! एक द्रव्य की अपेक्षा जघन्य अन्तर दो समय का और उत्कृष्ट असंख्यात काल का है। अनेक द्रव्यों की अपेक्षा अन्तर नहीं है।

[३] णेगम-ववहाराणं अवत्तव्वगदव्वाणं पुच्छा।

एगदव्वं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, णाणादव्वाइं पडुच्च णत्थि अंतरं।

[१९६-३] अनानुपूर्वीद्रव्यों की तरह नैगम-व्यवहारनयसम्मत अवक्तव्यकद्रव्यों के विषय में भी प्रश्न है।

एक द्रव्य की अपेक्षा अवक्तव्यकद्रव्यों का अन्तर एक समय का और उत्कृष्ट असंख्यात काल प्रमाण है। अनेक द्रव्यों की अपेक्षा अन्तर नहीं है।

विवेचन—यहाँ आनुपूर्वी आदि द्रव्यों का अन्तर-विरहकाल बतलाया है। वे अपने आनुपूर्वी आदि रूपों को छोड़कर अन्य परिमाण से परिणत होकर पुनः उसी रूप में कितने समय वाद परिणत हो जाते हैं ?

एक आनुपूर्वीद्रव्य का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर क्रमशः एक और दो समय वताने का कारण यह है कि यदि तीन समय की स्थिति वाला कोई विवक्षित एक आनुपूर्वीद्रव्य आनुपूर्वी रूप अपने परिणाम को छोड़कर किसी दूसरे परिणाम से एक समय तक परिणत रहकर पुनः उसी परिणाम से तीन समय की स्थिति वाला वन जाता है तव जघन्य अन्तर एक समय का होता है और जिस समय वही द्रव्य दो समय तक परिणामान्तर से परिणत वना रहकर वाद में तीन समय की स्थिति वाला बनता है तो उस दशा में उत्कृष्ट दो समय का अन्तर होता है। यदि परिणामान्तर से परिणत वना हुआ वह द्रव्य क्षेत्रादि संबन्ध के भेद से दो समय से अधिक समय तक भी रहता है तो उस समय भी वह उस स्थिति में भी आनुपूर्वित्व का अनुभवन करता है और तव वह अन्तर ही नहीं होता है।

नाना द्रव्यों की अपेक्षा अन्तर नहीं कहने का कारण यह है कि तीन समय की स्थिति वाले कोई न कोई द्रव्य लोक में सर्वदा रहते हैं।

अनानुपूर्वी द्रव्यों में एक द्रव्य की अपेक्षा जघन्य दो समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल का अन्तर बताने का कारण यह है कि एक समय की स्थिति वाला एक अनानुपूर्वी द्रव्य जिस समय किसी अन्य रूप में दो समय तक परिणत रहकर बाद में पुनः उसी अपनी स्थिति में आ जाता है तब जघन्य से दो समय का अन्तर माना जाता है और यदि परिणामान्तर से परिणत हुआ एक समय तक रहता है तो वह अन्तर ही नहीं होता है। क्योंकि उस स्थिति में भी वह एक समय की स्थिति वाला होने से अनानुपूर्वी रूप ही है और यदि दो समय के बाद भी परिणामान्तर से परिणत बना रहता है तो जघन्यता नहीं है। जब वही द्रव्य असंख्यात काल तक परिणामान्तर से परिणत रहकर पुनः एक समय की स्थिति वाले परिणाम को प्राप्त करता है तब उत्कृष्ट असंख्यात काल का अन्तर होता है।

नाना द्रव्यों की अपेक्षा अन्तर न कहने का कारण यह है कि लोक में सर्वदा उनका सद्भाव रहा करता है।

एकवचनान्त अवक्तव्यद्रव्य के जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर के लिये यह समझना चाहिये कि दो समय की स्थिति वाला कोई अवक्तव्यकद्रव्य परिणामान्तर से परिणत हुआ एक समय तक रहता है और बाद में पुनः वह दो समय की स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब विरहकाल जघन्य रूप में एक समय है और जब दो समय की स्थिति वाला कोई अवक्तव्यद्रव्य असंख्यात काल तक परिणामान्तर से परिणत रहकर पुनः दो समय की अपनी पूर्व स्थिति में आता है तब उसका अन्तर असंख्यात काल का माना जाता है।

नाना अवक्तव्यद्रव्यों का लोक में सर्वदा सद्भाव पाये जाने से अन्तर नहीं है।

(ङ ७) भागद्वार

१९७. णेगम-ववहाराणं आणुपुव्विदव्वाइं सेसदव्वाणं कइभागे होज्जा ? पुच्छा।

जहेव खेत्ताणुपुव्वीए।

[१९७ प्र.] भगवन् ! नैगम-व्यवहारनयसम्मत आनुपूर्वी द्रव्य शेष द्रव्यों के कितनेवें भाग प्रमाण हैं ?

[१९७ उ.] आयुष्मन् ! यहाँ कालानुपूर्वी के प्रसंग में तीनों द्रव्यों के लिये क्षेत्रानुपूर्वी जैसा ही कथन समझना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में कालानुपूर्वी के भागद्वार का वर्णन करने लिये क्षेत्रानुपूर्वी के भागद्वार का अतिदेश किया है और क्षेत्रानुपूर्वी के प्रसंग में द्रव्यानुपूर्वी का अतिदेश किया है। आशय यह हुआ कि द्रव्यानुपूर्वी के भागद्वार की तरह इस कालानुपूर्वी के भागद्वार की भी वक्तव्यता जाननी चाहिये। संक्षेप में वह इस प्रकार है—

समस्त आनुपूर्वीद्रव्य शेष द्रव्यों की अपेक्षा असंख्यातभागों से अधिक—असंख्यातगुणित हैं और शेष द्रव्य—अनानुपूर्वी एवं अवक्तव्यक द्रव्य—इनकी अपेक्षा असंख्यातभाग न्यून हैं, इसका कारण यह है कि अनानुपूर्वी एक समय की स्थिति रूप एक स्थान को और अवक्तव्यकद्रव्य द्विसमय की स्थिति रूप एक स्थान को ही प्राप्त है, किन्तु आनुपूर्वीद्रव्य तीन-चार-पांच आदि समय की स्थिति रूप स्थानों से लेकर असंख्यात समय तक की स्थिति रूप स्थानों को प्राप्त करता है। इस प्रकार आनुपूर्वीद्रव्य शेष द्रव्यों की अपेक्षा असंख्यातभागों से अधिक और शेष दो द्रव्य उसकी अपेक्षा असंख्यातभाग न्यून होते हैं।

(ङ ८,९) भाव और अल्पबहुत्व द्वार

१९८. भावो वि तहेव । अप्पाबहुं पि तहेव नेयव्वं जाव से तं अणुगमे । से तं णेगम-ववहाराणं अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी ।

[१९८] भावद्वार और अल्पवहुत्व का भी कथन क्षेत्रानुपूर्वी जैसा ही समझना चाहिये यावत् अनुगम का यह स्वरूप है ।

इस प्रकार नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी का वर्णन पूर्ण हुआ ।

विवेचन—सूत्र में क्षेत्रानुपूर्वी की भाव और अल्पवहुत्व की प्ररूपणा की तरह कालानुपूर्वी के भी इन दोनों द्वारों का कथन करने का उल्लेख करते हुए अनुगम और नैगम-व्यवहारनयसम्मत अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी के वर्णन की समाप्ति की सूचना दी गई है ।

भाव और अल्पबहुत्व प्ररूपणा का सारांश इस प्रकार है—

आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी और अवक्तव्यक ये तीनों द्रव्य सादि पारिणामिक भाव वाले हैं ।

इनका अल्पवहुत्व इस प्रकार जानना चाहिये—समस्त अवक्तव्यद्रव्य स्वभाव से ही कम होने से शेष दो द्रव्यों की अपेक्षा अल्प हैं । अनानुपूर्वीद्रव्य अवक्तव्यकद्रव्यों की अपेक्षा विशेषाधिक तथा आनुपूर्वीद्रव्य इन दोनों द्रव्यों की अपेक्षा असंख्यातगुण अधिक हैं । यह असंख्यातगुणाधिकता पूर्वोक्त भागद्वार की तरह यहाँ जानना चाहिये ।

इस प्रकार नैगम-व्यवहारनयसंमत अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी का वर्णन करने के पश्चात् अब संग्रहनयमान्य अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी का विचार किया जाता है ।

संग्रहनयमान्य अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी

१९९. से किं तं संगहस्स अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी ?

संगहस्स अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा—अट्ठपयपरूवणया १ भंगसमुक्कित्तणया २ भंगोवदंसणया ३ समोतारे ४ अणुगमे ५ ।

[१९९ प्र.] भगवन् ! संग्रहनयसंमत अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[१९९ उ.] आयुष्मन् ! संग्रहनयसम्मत अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी पांच प्रकार की है । वे प्रकार हैं—१. अर्थपदप्ररूपणता, २. भंगसमुत्कीर्तनता, ३. भंगोपदर्शनता, ४. समवतार और ५. अनुगम ।

विवेचन—अर्थपदप्ररूपणता आदि के लक्षण पूर्व में कहे जा चुके हैं । आगे उनके आशय का निर्देश करते हैं ।

संग्रहनयसंमत अर्थपदप्ररूपणता आदि

२००. से किं तं संगहस्स अट्ठपयपरूवणया ?

संगहस्स अट्ठपयपरूवणया एयाइं पंच वि दाराइं जहा खेत्ताणुपुव्वीए संगहस्स तहा कालाणुपुव्वीए वि भाणियव्वाणि, णवरं ठितीअभिलावो जाव से तं संगहस्स अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी । से तं अणोवणिहिया कालाणुपुव्वी ।

[२०० प्र.] भगवन् ! संग्रहनयसम्मत अर्थपदप्ररूपणता का क्या स्वरूप है ?

[२०० उ.] आयुष्मन् ! इन पांचों द्वारों का कथन संग्रहनयसम्मत क्षेत्रानुपूर्वी की तरह समझ लेना चाहिये। विशेष यह कि 'प्रदेशावगाढ' के बदले 'स्थिति' कहना चाहिये यावत् इस प्रकार से संग्रहनयसंमत अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी और अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी का वर्णन हुआ।

विवेचन—सूत्र में संग्रहनयसंमत अनौपनिधिकी क्षेत्रानुपूर्वी के अतिदेश द्वारा कालानुपूर्वी के पांच पदों का वर्णन किया है। क्षेत्रानुपूर्वी संबन्धी इन पांच पदों का विस्तार से वर्णन पूर्व में किया गया है। तदनुसार प्रदेशावगाढता के स्थान पर 'समयस्थितिक' पद का प्रयोग करके जैसा-का-तैसा वर्णन यहाँ समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार से समस्त अनौपनिधिकी कालानुपूर्वी का वर्णन करने के अनन्तर अब अल्प-वक्तव्य होने से स्थाप्य मानी गई औपनिधिकी कालानुपूर्वी की व्याख्या करते हैं।

औपनिधिकी कालानुपूर्वी : प्रथम प्रकार

२०१. [१] से किं तं ओवणिहिया कालाणुपुव्वी ?

ओवणिहिया कालाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३।

[२०१-१ प्र.] भगवन् ! औपनिधिकी कालानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०१-१ उ.] आयुष्मन् ! औपनिधिकी कालानुपूर्वी के तीन प्रकार हैं—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी और ३. अनानुपूर्वी।

[२] से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी एगसमयठितीए दुसमयठितीए तिसमयठितीए जाव दससमयठितीए जाव संखेज्ज-समयठितीए असंखेज्जसमयठितीए। से तं पुव्वाणुपुव्वी।

[२०१-२ प्र.] भगवन् ! पूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०१-२ उ.] आयुष्मन् ! पूर्वानुपूर्वी का स्वरूप इस प्रकार है—एक समय की स्थिति वाले, दो समय की स्थिति वाले, तीन समय की स्थिति वाले यावत् दस समय की स्थिति वाले यावत् संख्यात समय की स्थिति वाले, असंख्यात समय की स्थिति वाले द्रव्यों का अनुक्रम से उपन्यास करने को (औपनिधिकी) पूर्वानुपूर्वी कहते हैं।

[३] से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी असंखेज्जसमयठितीए जाव एक्कसमयठितीए। से तं पच्छाणुपुव्वी।

[२०१-३ प्र.] भगवन् ! पश्चानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०१-३ उ.] आयुष्मन् ! असंख्यात समय की स्थिति वाले से लेकर एक समय पर्यन्त की स्थिति वाले द्रव्यों का—व्युत्क्रम से उपन्यास करना पश्चानुपूर्वी है।

[४] से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादियाए एगुत्तरियाए असंखेज्जगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो। से तं अणाणुपुव्वी।

[२०१-४ प्र.] भगवन् ! अनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०१-४ उ.] आयुष्मन् ! अनानुपूर्वी का स्वरूप इस प्रकार जानना कि एक से लेकर असंख्यात पर्यन्त एक-एक की वृद्धि द्वारा निष्पन्न श्रेणी में परस्पर गुणाकार करने से प्राप्त महाराशि में से आदि और अंत के दो भंगों से न्यून भंग अनानुपूर्वी हैं।

विवेचन—सूत्र में औपनिधिकी कालानुपूर्वी का वर्णन किया गया है। सूत्र का आशय स्पष्ट है कि आदि से प्रारंभ कर अंत तक का क्रम पूर्वानुपूर्वी, व्युत्क्रम से—अन्त से प्रारंभ कर आदि तक का क्रम पश्चानुपूर्वी तथा अनुक्रम एवं व्युत्क्रम से आदि और अंत के दो स्थानों को छोड़कर शेष सभी बीच के भंग अनानुपूर्वी रूप हैं। आदि भंग पूर्वानुपूर्वी और अंतिम भंग पश्चानुपूर्वी रूप होने से इनको ग्रहण न करने का कथन किया है।

अब प्रकारान्तर से औपनिधिकी कालानुपूर्वी का वर्णन करते हैं।

औपनिधिकी कालानुपूर्वी : द्वितीय प्रकार

२०२. [१] अहवा ओवणिहिया कालाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३।

[२०२-१] अथवा औपनिधिकी कालानुपूर्वी तीन प्रकार की कही गई है। जैसे—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी, ३. अनानुपूर्वी।

[२] से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी समए आवलिया आणापाणू थोवे लवे मुहुत्ते दिवसे अहोरत्ते पक्खे मासे उदू अयणे संवच्छरे जुगे वाससए वाससहस्से वाससतसहस्से पुव्वंगे पुव्वे तुडियंगे तुडिए अडडंगे अडडे अववंगे अववे हूहुयंगे हूहुए उप्पलंगे उप्पले पउमंगे पउमे णलिणंगे णलिणे अत्थनिउरंगे अत्थनिउरे अउयंगे अउए नउयंगे नउए पउयंगे पउए चूलियंगे चूलिए सीसपहेलियंगे सीसपहेलिया पलिओवमे सागरोवमे ओसप्पिणी उस्सप्पिणी पोग्गलपरियट्टे तीतद्धा अणागतद्धा सव्वद्धा। से तं पुव्वाणुपुव्वी।

[२०२-२ प्र.] भगवन् ! पूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०२-२ उ.] आयुष्मन् ! समय, आवलिका, आनप्राण, स्तोक, लव, मुहूर्त, दिवस, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, वर्षशत, वर्षसहस्र, वर्षशतसहस्र, पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित, अडडांग, अडड, अववांग, अवव, हुहुकांग, हुहुक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनिपुरांग, अर्थनिपुर, अयुतांग, अयुत, नयुतांग, नयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका, पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, पुद्गलपरावर्त, अतीताद्धा, अनागताद्धा, सर्वाद्धा रूप क्रम से पदों का उपन्यास करना काल संबन्धी पूर्वानुपूर्वी है।

[३] से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी सव्वद्धा अणागतद्धा जाव समए । से तं पच्छाणुपुव्वी ।

[२०२-३ प्र.] भगवन् ! पश्चानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०२-३ उ.] आयुष्मन् ! सर्वाद्धा, अनागताद्धा यावत् समय पर्यन्त व्युत्क्रम से पदों की स्थापना करना पश्चानुपूर्वी है ।

[४] से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादियाए एगुत्तरियाए अणंतगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणे । से तं अणाणुपुव्वी । से तं ओवणिहिया कालाणुपुव्वी । से तं कालाणुपुव्वी ।

[२०२-४ प्र.] भगवन् ! अनानुपूर्वी का स्वरूप क्या है ?

[२०२-४ उ.] आयुष्मन् ! इन्हीं की (समयादि की) एक से प्रारंभ कर एकोत्तर वृद्धि द्वारा सर्वाद्धा पर्यन्त की श्रेणी स्थापित कर परस्पर गुणाकार से निष्पन्न राशि में से आद्य और अंतिम दो भंगों को कम करने के बाद बचे शेष भंग अनानुपूर्वी हैं ।

इस प्रकार से औपनिधिकी कालानुपूर्वी और साथ ही कालानुपूर्वी का वर्णन पूर्ण हुआ ।

विवेचन—सूत्र में प्रकारान्तर से औपनिधिकी कालानुपूर्वी का स्वरूप बताया है और अंत में कालानुपूर्वी के वर्णन की समाप्ति का संकेत किया है ।

सूत्रोक्त औपनिधिकी कालानुपूर्वी की वक्तव्यता का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

औपनिधिकी कालानुपूर्वी के दोनों प्रकारों के अवान्तर भेदों के नाम समान हैं । प्रथम प्रकार में काल और द्रव्य का अभेदोपचार करके समयनिष्ठ द्रव्य का कालानुपूर्वी के रूप में और दूसरे प्रकार में कालगणना के क्रम का कथन किया है ।

समय काल का सबसे सूक्ष्म अंश और काल गणना की आद्य इकाई है । इससे समस्त आवलिका आदि रूप काल संज्ञाओं की निष्पत्ति होती है । इसीलिये सूत्रकार ने सर्वप्रथम इसका उपन्यास किया है । समय आदि का वर्णन आगे किया जाएगा ।

समय से लेकर सर्वाद्धा पर्यन्त अनुक्रम से उपन्यास पूर्वानुपूर्वी, व्युत्क्रम से उपन्यास पश्चानुपूर्वी एवं पूर्वानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी गणना के आद्य भंग को छोड़कर यथेच्छ किसी भी भंग से उपन्यास करना अनानुपूर्वी रूप है ।

इस प्रकार समग्र रूप से कालानुपूर्वी का वर्णन करने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त उत्कीर्तानुपूर्वी का निरूपण करते हैं ।

उत्कीर्तनानुपूर्वीनिरूपण

२०३. [१] से किं तं उक्कित्तणाणुपुव्वी ?

उक्कित्तणाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३ ।

[२०३-१ प्र.] भगवन् ! उत्कीर्तनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०३-१ उ.] आयुष्मन् ! उत्कीर्तनानुपूर्वी के तीन प्रकार हैं। यथा—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी, ३. अनानुपूर्वी ।

[२] से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी उसभे १ अजिए २ संभवे ३ अभिणंदणे ४ सुमती ५ पउमप्पभे ६ सुपासे ७ चंदप्पहे ८ सुविही ९ सीतले १० सेज्जंसे ११ वासुपुज्जे १२ विमले १३ अणंते १४ धम्मे १५ संती १६ कुंथू १७ अरे १८ मल्ली १९ मुणिसुव्वए २० णमी २१ अरिट्ठणेमी २२ पासे २३ वद्धमाणे २४। से तं पुव्वाणुपुव्वी ।

[२०३-२ प्र.] भगवन् ! पूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०३-२ उ.] आयुष्मन् ! पूर्वानुपूर्वी का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—१. ऋषभ, २. अजित, ३. संभव, ४. अभिनन्दन, ५. सुमति, ६. पद्मप्रभ, ७. सुपार्श्व, ८. चन्द्रप्रभ, ९. सुविधि, १०. शीतल, ११. श्रेयांस, १२. वासुपूज्य, १३. विमल, १४. अनन्त, १५. धर्म, १६. शांति, १७. कुन्थु, १८. अर, १९. मल्लि, २०. मुनिसुव्रत, २१. नमि, २२. अरिष्टनेमि, २३. पार्श्व, २४. वर्धमान, इस क्रम से नामोच्चारण करने को पूर्वानुपूर्वी कहते हैं।

[३] से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी वद्धमाणे २४ पासे २३ जाव उसभे १। से तं पच्छाणुपुव्वी ।

[२०३-३ प्र.] भगवन् ! पश्चानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०३-३ उ.] आयुष्मन् ! व्युत्क्रम से अर्थात् वर्धमान, पार्श्व से प्रारंभ करके प्रथम ऋषभ पर्यन्त नामोच्चारण करना पश्चानुपूर्वी है।

[४] से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादियाए एगुत्तरियाए चउवीसगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणे। से तं अणाणुपुव्वी। से तं उक्कित्तणाणुपुव्वी ।

[२०३-४ प्र.] भगवन् ! अनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०३-४ उ.] आयुष्मन् ! इन्हीं की (ऋषभ से वर्धमान पर्यन्त की) एक से लेकर एक-एक की वृद्धि करके चौवीस संख्या की श्रेणी स्थापित कर परस्पर गुणाकार करने से जो राशि बनती है उसमें से प्रथम और अंतिम भंग को कम करने पर शेष भंग अनानुपूर्वी हैं।

विवेचन—सूत्र में उत्कीर्तनापूर्वी की व्याख्या की है।

नाम के उच्चारण करने को उत्कीर्तन कहते हैं और इस उत्कीर्तन की परिपाटी उत्कीर्तनानुपूर्वी कहलाती है।

ऋषभ, अजित आदि का क्रम से वर्धमान पर्यन्त परिपाटी रूप में नामोच्चारण करना उत्कीर्तनानुपूर्वी का प्रथम भेद पूर्वानुपूर्वी है।

इन ऋषभ आदि के नामोच्चारण में ऋषभनाथ सबसे प्रथम उत्पन्न हुए हैं, इसलिये उनका प्रथम नामोच्चारण किया है। तदनन्तर जिस क्रम से अजित आदि हुए उसी क्रम से उनका उच्चारण किया है। पश्चानुपूर्वी में वर्धमान को आदि करके ऋषभ पद को अंत में उच्चारित किया जाता है। एक से लेकर चौवीस अंकों का परस्पर गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो, उसमें आदि-अंत के दो भंगों को कम करने पर शेष रहे भंग अनानुपूर्वी हैं।

ऋषभ आदि के उत्कीर्तन का कारण—इस शास्त्र में आवश्यक का प्रकरण होने पर भी अनानुपूर्वी में सामायिक आदि का उत्कीर्तन न कहकर प्रकरणवाह्य ऋषभ आदि का उत्कीर्तन करने का कारण यह है कि यह शास्त्र सर्वव्यापक है। इसी बात का समर्थन करने के लिये ऋषभ आदि का उत्कीर्तन किया है और उनके नाम का उच्चारण करना इसलिये युक्त है कि वे तीर्थकर्ता हैं। इनके नाम का उच्चारण करने वाला श्रेय को प्राप्त कर लेता है।

शेष सूत्रस्थ पदों की व्याख्या सुगम्य है।

गणनानुपूर्वी प्ररूपणा

२०४. [१] से किं तं गणणाणुपुव्वी ?

गणणाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३।

[२०४-१ प्र.] भगवन् ! गणनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०४-१ उ.] आयुष्मन् ! गणनानुपूर्वी के तीन प्रकार हैं। वे इस तरह—१. पूर्वानुपूर्वी २. पश्चानुपूर्वी ३. अनानुपूर्वी।

[२] से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी एक्को दस सयं सहस्सं दससहस्साइं सयसहस्सं दससयसहस्साइं कोडी दस कोडीओ कोडीसयं दसकोडीसयाइं से तं पुव्वाणुपुव्वी।

[२०४-२ प्र.] भगवन् ! पूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०४-२ उ.] आयुष्मन् ! एक, दस, सौ, सहस्र (हजार), दस सहस्र, शतसहस्र (लाख), दसशतसहस्र, कोटि (करोड़), दस कोटि, कोटिशत (अरब), दस कोटिशत (दस अरब), इस प्रकार से गिनती करना पूर्वानुपूर्वी है।

[३] से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी दसकोडिसयाइं जाव एक्को। से तं पच्छाणुपुव्वी।

[२०४-३ प्र.] भगवन् ! पश्चानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०४-३ उ.] आयुष्मन् ! दस अरब से लेकर व्युत्क्रम से एक पर्यन्त की गिनती करना पश्चानुपूर्वी है।

[४] से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादियाए एगुत्तरियाए दसकोडिसयगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। से तं अणाणुपुव्वी। से तं गणणाणुपुव्वी।

[२०४-४ प्र.] भगवन् ! अनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ।

[२०४-४ उ.] आयुष्मन् ! इन्हीं को एक से लेकर दस अरब पर्यन्त की एक-एक वृद्धि वाली श्रेणी में स्थापित संख्या का परस्पर गुणा करने पर जो भंग हों, उनमें से आदि और अंत के दो भंगों को कम करने पर शेष रहे भंग अनानुपूर्वी हैं ।

विवेचन—प्रस्तुत में सप्रभेद गणनानुपूर्वी का स्वरूप बतलाया है ।

गिनती करने की पद्धति को गणनानुपूर्वी कहते हैं । 'एक' यह गणना का आदि स्थान है और इसके बाद क्रमशः पूर्व-पूर्व को दस गुणा करते जाने पर उत्तर-उत्तर की दस, सौ, हजार आदि की संख्याएँ प्राप्त होती हैं ।

इनमें पूर्वानुपूर्वी एक से प्रारंभ होती है और पश्चानुपूर्वी इसके विपरीत उत्कृष्ट से प्रारंभ कर जघन्यतम गणनास्थान में पूर्ण होती है । अनानुपूर्वी में जघन्य और उत्कृष्ट पद रूप अनुक्रम एवं व्युत्क्रम छोड़ करके यथेच्छ क्रम का अनुसरण किया जाता है ।

अब क्रमप्राप्त संस्थानानुपूर्वी का स्वरूप बतलाते हैं ।

संस्थानानुपूर्वीप्ररूपणा

२०५. [१] से किं तं संठाणाणुपुव्वी ?

संठाणाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३ ।

[२०५-१ प्र.] भगवन् ! संस्थानापूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०५-१ उ.] आयुष्मन् ! संस्थानापूर्वी के तीन प्रकार हैं—१. पूर्वानुपूर्वी २. पश्चानुपूर्वी ३. अनानुपूर्वी ।

[२] से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी समचउरंसे १ णग्गोहमंडले २ सादी ३ खुज्जे ४ वामणे ५ हुंडे ६ । से तं पुव्वाणुपुव्वी ।

[२०५-२ प्र.] भगवन् ! पूर्वानुपूर्वी किसे कहते हैं ?

[२०५-२ उ.] आयुष्मन् ! १. समचतुरस्रसंस्थान, २. न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, ३. सादिसंस्थान, ४. कुब्जसंस्थान, ५. वामनसंस्थान, ६. हुंडसंस्थान के क्रम से संस्थानों के विन्यास करने को पूर्वानुपूर्वी कहते हैं ।

[३] से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी हुंडे ६ जाव समचउरंसे १ । से तं पच्छाणुपुव्वी ।

[२०५-३ प्र.] भगवन् ! पश्चानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०५-३ उ.] आयुष्मन् ! हुंडसंस्थान से लेकर समचतुरस्रसंस्थान तक व्युत्क्रम से संस्थानों का उपन्यास करना पश्चानुपूर्वी है ।

[४] से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादियाए एगुत्तरियाए छगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणे। से तं अणाणुपुव्वी। से तं संठाणाणुपुव्वी।

[२०५-४ प्र.] भगवन् ! अनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०५-४ प्र.] आयुष्मन् ! एक से लेकर छह तक की एकोत्तर वृद्धि वाली श्रेणी में स्थापित संख्या का परस्पर गुणाकार करने पर निष्पन्न राशि में से आदि और अन्त रूप दो भंगों को कम करने पर शेष भंग अनानुपूर्वी हैं।

इस प्रकार से संस्थानानुपूर्वी का स्वरूप जानना चाहिए।

विवेचन—सूत्र में संस्थानानुपूर्वी का स्वरूप बतलाया है।

संस्थान, आकार और आकृति, ये समानार्थक शब्द हैं। इन संस्थानों की परिपाटी संस्थानानुपूर्वी कहलाती है।

यद्यपि ये संस्थान जीव और अजीव सम्बन्धी होने से दो प्रकार के हैं, तथापि यहाँ जीव से संबद्ध और उसमें भी पंचेन्द्रिय जीव संबन्धी ग्रहण किये गये हैं।

ये संस्थान समचतुरस्र आदि के भेद से छह प्रकार के हैं। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. समचतुरस्रसंस्थान—'समा चतस्रोऽस्रयो यत्र तत् समचतुरस्रम्' यह इसकी व्युत्पत्ति है। तात्पर्य यह हुआ कि जिस संस्थान में नाभि से ऊपर के और नीचे के समस्त अवयव सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार अपने-अपने प्रमाण से युक्त हों—हीनाधिक न हों, वह समचतुरस्रसंस्थान है। इस संस्थान में शरीर के नाभि से ऊपर और नीचे के सभी अंग-प्रत्यंग प्रमाणोपेत होते हैं। आरोह-परिणाह (उतार-चढ़ाव) अनुरूप होता है। इस संस्थान वाला शरीर अपने अंगुल से एक सौ आठ अंगुल ऊंचाई वाला होता है, यह संस्थान सर्वोत्तम होता है।

समस्त संस्थानों में मुख्य, शुभ होने से इस संस्थान का प्रथम उपन्यास किया है।

२. न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान—न्यग्रोध के समान विशिष्ट प्रकार के शरीराकार को न्यग्रोध-परिमंडलसंस्थान कहते हैं। न्यग्रोध वटवृक्ष का नाम है। इसके समान जिसका मंडल (आकार) हो अर्थात् जैसे न्यग्रोध-वटवृक्ष ऊपर में संपूर्ण अवयवों वाला होता है और नीचे वैसा नहीं होता। इसी प्रकार यह संस्थान भी नाभि से ऊपर विस्तार वाला और नाभि से नीचे हीन प्रमाण वाला होता है। इस प्रकार का संस्थान न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान कहलाता है।

३. सादिसंस्थान—'आदिना सह यद् वर्तते तत् सादि।' अर्थात् नाभि से नीचे का उत्सेध नाम का देहभाग यहाँ आदि शब्द से ग्रहण किया गया है। अतएव नाभि से नीचे का भाग जिस संस्थान में विस्तार वाला और नाभि से ऊपर का भाग हीन होता है, वह संस्थान सादि है। यद्यपि समस्त शरीर आदि सहित होते हैं, तो भी यहाँ सादि विशेषण यह बतलाने के लिए प्रयुक्त किया है इस संस्थान में नाभि के नीचे के अवयव आद्य संस्थान जैसे होते हैं, नाभि से ऊपर के अवयव वैसे नहीं होते।

४. कुब्जसंस्थान—जिस संस्थान में सिर, ग्रीवा, हाथ, पैर तो उचित प्रमाण वाले हों,

किन्तु हृदय, पीठ और उदर प्रमाण-विहीन हों, वह कुब्जसंस्थान है। अर्थात् पीठ, पेट आदि में कूबड हो ऐसा संस्थान कुब्जसंस्थान कहलाता है।

५. **वामनसंस्थान**—जिस संस्थान में वक्षस्थल, उदर और पीठ लक्षणयुक्त प्रमाणोपेत हों और बाकी के अवयव लक्षणहीन हों, उसका नाम वामनसंस्थान है। यह संस्थान कुब्ज से विपरीत होता है। सामान्य व्यवहार में ऐसे संस्थान वाले को बौना या वामनिया कहा जाता है।

६. **हुंडसंस्थान**—जिस संस्थान में समस्त शरीरावयव प्रायः लक्षणविहीन हों।

किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने संस्थानों के क्रम में वामन को चौथा और कुब्ज को पांचवाँ स्थान दिया है। समचतुरस्रसंस्थान समस्त लक्षणों से युक्त होने से मुख्य है और शेष में यथाक्रम लक्षणों से हीनता होने के कारण अशुभता है।

इस प्रकार संस्थानानुपूर्वी की वक्तव्यता पूर्ण हुई। अब शेष रहे दो आनुपूर्वीभेदों में से पहले समाचारी-आनुपूर्वी का विचार करते हैं।

समाचारी-आनुपूर्वीप्ररूपणा

२०६. [१] से किं तं सामायारीआणुपुव्वी ?

सामायारीआणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३।

[२०६-१ प्र.] भगवन्! समाचारी-आनुपूर्वी का क्या स्वरूप है?

[२०६-१ उ.] आयुष्मन्! समाचारी-आनुपूर्वी तीन प्रकार की है—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी, ३. अनानुपूर्वी।

[२] से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी—

इच्छा १ मिच्छा २ तहक्कारो ३ आवसिया ४ य निसीहिया ५।
आपुच्छणा ६ य पडिपुच्छा ७ छंदणा ८ य निमंतणा।
उवसंपया य काले १० सामायारी भवे दसविहा ३॥ १६॥

से तं पुव्वाणुपुव्वी।

[२०६-२ प्र.] भगवन्! पूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है?

[२०६-२ उ.] आयुष्मन्! पूर्वानुपूर्वी का स्वरूप इस प्रकार है—

१. इच्छाकार, २. मिथ्याकार, ३. तथाकार, ४. आवश्यकी, ५. नैषेधिकी, ६. आप्रच्छना, ७. प्रतिप्रच्छना, ८. छंदना, ९. निमंत्रणा, १०. उपसंपद्। यह दस प्रकार की समाचारी है।

उक्त क्रम से इन पदों की स्थापना करना पूर्वानुपूर्वी है।

[३] से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी उवसंपया १० जाव इच्छा १। से तं पच्छाणुपुव्वी।

[२०६-३ प्र.] भगवन् ! पश्चानुपूर्वी का स्वरूप क्या है ?

[२०६-३ उ.] आयुष्मन् ! उपसंपद् से लेकर इच्छाकार पर्यन्त व्युत्क्रम से स्थापना करना समाचारी सम्बन्धी पश्चानुपूर्वी है।

[४] से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादियाए एगुत्तरियाए दसगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। से तं अणाणुपुव्वी। से तं सामायारीआणुपुव्वी।

[२०६-४ प्र.] भगवन् ! अनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०६-४ उ.] आयुष्मन् ! एक से लेकर दस पर्यन्त एक-एक की वृद्धि द्वारा श्रेणी रूप में स्थापित संख्या का परस्पर गुणाकार करने से प्राप्त राशि में से प्रथम और अन्तिम भंग को कम करने पर शेष रहे भंग अनानुपूर्वी हैं।

इस प्रकार से समाचारी-आनुपूर्वी का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्रार्थ सुगम है। शिष्टजनों द्वारा आचरित क्रियाकलाप रूप आचार की परिपाटी समाचारी-आनुपूर्वी है और उस समाचारी का इच्छाकार आदि के क्रम से उपन्यास करना पूर्वानुपूर्वी आदि है। इच्छाकार आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

१. **इच्छाकार**—विना किसी दबाव के आन्तरिक प्रेरणा से व्रतादि के आचरण करने की इच्छा करना इच्छाकार है।

२. **मिथ्याकार**—अकृत्य का सेवन हो जाने पर पश्चात्ताप द्वारा मैंने यह मिथ्या—असत आचरण किया, ऐसा विचार करना मिथ्याकार कहलाता है।

३. **तथाकार**—गुरु के वचनों को 'तहत' कहकर स्वीकार करना—गुरु-आज्ञा को स्वीकार करना।

४. **आवश्यकी**—आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाने पर गुरु से निवेदन करना।

५. **नैषेधिकी**—कार्य करके वापस आने पर अपने प्रवेश की सूचना देना।

६. **आप्रच्छना**—किसी भी कार्य को करने के लिये गुरुदेव से आज्ञा लेना—पूछना।

७. **प्रतिप्रच्छना**—कार्य को प्रारंभ करते समय पुनः गुरुदेव से पूछना अथवा किसी कार्य के लिये गुरुदेव ने मना कर दिया हो तब थोड़ी देर बाद कार्य की अनिवार्यता बताकर पुनः पूछना।

८. **छंदना**—अन्य सांभोगिक साधुओं से अपना लाया आहार आदि ग्रहण करने के लिये निवेदन करना।

९. **निमन्त्रणा**—आहारादि लाकर आपको दूंगा, ऐसा कहकर अन्य साधुओं को निमंत्रित करना।

१०. **उपसंपत्**—श्रुतादि की प्राप्ति के अर्थ अन्य साधु की आधीनता स्वीकार करना।

इच्छाकारादि का उपन्यासक्रम—धर्म का आचरण स्वेच्छामूलक है। इसके लिये पर की आज्ञा कार्यकारी नहीं होती है। इसलिये इच्छा प्रधान होने से सर्वप्रथम इच्छाकार का उपन्यास किया है।

व्रतादिकों में स्खलना होने पर 'मिथ्या दुष्कृत' दिया जाता है। अतः इच्छाकार के बाद मिथ्याकार का पाठ रखा है।

इच्छाकार और मिथ्याकार ये दोनों गुरुवचनों पर विश्वास रखने पर शक्य हैं, अतः मिथ्याकार के बाद तथाकार का विन्यास किया है।

गुरुवचन को स्वीकार करके भी शिष्य का कर्त्तव्य है कि जब वह उपाश्रय से बाहर जाए तो आज्ञा लेकर जाए। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये तथाकार के बाद आवश्यकी का पाठ रखा है।

बाहर गया हुआ शिष्य नैषेधिकी पूर्वक ही उपाश्रय में प्रवेश करे। यह संकेत करने के लिये आवश्यकी के बाद नैषेधिकी का उपन्यास किया है।

उपाश्रय में प्रविष्ट शिष्य जो कुछ भी करे वह गुरु की आज्ञा लेकर करे। यह बताने के लिए नैषेधिकी के बाद आप्रच्छना का पाठ रखा है।

किसी कर्त्तव्य कार्य को करने के लिये शिष्य गुरु से आज्ञा ले और वे उस कार्य को न करने की आज्ञा दें और कार्य अत्यावश्यक हो तो कार्य प्रारंभ करने के पूर्व पुनः गुरु से आज्ञा ले, यह बताने के लिए आप्रच्छना के अनन्तर प्रतिप्रच्छना का विन्यास किया है।

गुरु की आज्ञा प्राप्त कर अशनादि लाने वाला शिष्य उसके परिभोग के लिये अन्य साधुओं को सादर आमंत्रित करे, इस बात को बताने के लिये प्रतिप्रच्छना के बाद छंदना का पाठ रखा है।

गृहीत आहारादि में ही छन्दना होती है, परन्तु अगृहीत आहारादि में निमंत्रणा होती है, इसीलिये छन्दना के बाद निमंत्रणा का विन्यास किया है।

इच्छाकार से लेकर निमंत्रणा तक की सभी समाचारी गुरुमहाराज की निकटता के बिना नहीं की जा सकती है। इसका संकेत करने के लिये सबसे अंत में उपसंपत् का उपन्यास किया है।

समाचारी-आनुपूर्वी का यह स्वरूप है।

अब आनुपूर्वी के अंतिम भेद भावानुपूर्वी का कथन करते हैं।

भावानुपूर्वीप्ररूपणा

२०७. [१] से किं तं भावाणुपुव्वी ?

भावाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी १ पच्छाणुपुव्वी २ अणाणुपुव्वी ३।

[२०७-१ प्र.] भगवन् ! भावानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०७-१ उ.] आयुष्मन् ! भावानपूर्वी तीन प्रकार की है। यथा—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चानुपूर्वी, ३. अनानुपूर्वी।

[२] से किं तं पुव्वाणुपुव्वी ?

पुव्वाणुपुव्वी उदइए १ उवसमिए २ खतिए ३ खओवसमिए ४ पारिणामिए ५ सन्निवातिए ६। से तं पुव्वाणुपुव्वी।

[२०७-२ प्र.] भगवन् ! पूर्वानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०७-२ उ.] आयुष्मन् ! १. औदयिकभाव, २. औपशमिकभाव, ३. क्षायिकभाव, ४. क्षायोपशमिकभाव ५. पारिणामिकभाव, ६. सान्निपातिकभाव, इस क्रम से भावों का उपन्यास करना पूर्वानुपूर्वी है।

[३] से किं तं पच्छाणुपुव्वी ?

पच्छाणुपुव्वी सन्निवातिए ६ जाव उदइए १। से तं पच्छाणुपुव्वी।

[२०७-३ प्र.] भगवन् ! पश्चानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०७-३ उ.] आयुष्मन् ! सान्निपातिकभाव से लेकर औदयिकभाव पर्यन्त भावों की व्युत्क्रम से स्थापना करना पश्चानुपूर्वी है।

[४] से किं तं अणाणुपुव्वी ?

अणाणुपुव्वी एयाए चेव एगादियाए एगुत्तरियाए छगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो। से तं अणाणुपुव्वी। से तं भावाणुपुव्वी। से तं आणुपुव्वी त्ति पदं समत्तं।

[२०७-४ प्र.] भगवन् ! अनानुपूर्वी का क्या स्वरूप है ?

[२०७-४ उ.] आयुष्मन् ! एक से लेकर एकोत्तर वृद्धि द्वारा छह पर्यन्त की श्रेणी में स्थापित संख्या का परस्पर गुणाकार करने पर प्राप्त राशि में से प्रथम और अंतिम भंग को कम करने पर शेष रहे भंग अनानुपूर्वी हैं।

इस प्रकार से भाव-अनानुपूर्वी का वर्णन पूर्ण हुआ और इसके साथ ही उपक्रम के आनुपूर्वी नामक प्रथम भेद की वक्तव्यता भी समाप्त हुई।

विवेचन—सूत्र में भावानुपूर्वी का स्वरूप बतलाया है। वस्तु के परिणाम (पर्याय) को भाव कहते हैं। प्रस्तुत भाव अन्तःकरण की परिणतिविशेष रूप हैं। भाव जीव और अजीव दोनों में पाये जाते हैं, परन्तु प्रसंग होने से यहाँ जीव से संबद्ध भावों को ग्रहण किया है, अर्थात् ये औदयिक आदि भाव जीव के परिणामविशेष हैं। इन परिणाम रूप भावों की परिपाटी को भावानुपूर्वी कहते हैं।

भावों का क्रमविन्यास—इस शास्त्र में नारकादि चारों गतियां औदयिकभाव रूप से कही जाने वाली हैं और औदयिकभाव रूप नरकादि गतियों के होने पर ही शेष औपशमिक आदि भाव यथासंभव उत्पन्न होते हैं। इसी कारण उसका सर्वप्रथम उपन्यास किया है और इसके बाद अवशिष्ट पांच भावों का।

अवशिष्ट पांच भावों में भी औपशमिक भाव अल्प विषय वाला है। इसलिये प्रथम औपशमिक भाव का और औपशमिक की अपेक्षा अधिक विषय वाला होने से औपशमिक के बाद क्षायिकभाव का विन्यास किया है। इसके अनन्तर विषयों की तरतमता का आश्रय करके क्रम से क्षायोपशमिक और पारिणामिक भाव का पाठ रखा है। इन पूर्वोक्त भावों के द्विकादि संयोगों से सान्निपातिकभाव उत्पन्न होता है। इससिये अव से अंत में सान्निपातिकभाव का उपन्यास किया गया है।

इस प्रकार का क्रमविन्यास पूर्वानुपूर्वी रूप है और व्युत्क्रम पश्चानुपूर्वी है और आदि तथा अंत भंग को छोड़कर शेष भंग अनानुपूर्वी हैं।

इस प्रकार से भावानुपूर्वी का वर्णन जानना चाहिये। पूर्व में नामानुपूर्वी से लेकर भावानुपूर्वी तक जो दस आनुपूर्वियों के नाम गिनाये थे, उनका वर्णन समाप्त हो चुका है, यह सूचना सूत्र में 'से तं आणुपुव्वी' पद द्वारा दी गई है तथा 'आणुपुव्वि त्ति पदं समत्तं' पद द्वारा यह बतलाया है कि उपक्रम के प्रथम भेद आनुपूर्वी की वक्तव्यता भी समाप्त हुई। अब उपक्रम के दूसरे भेद नाम का वर्णन करते हैं।

नामाधिकार की भूमिका

२०८. से किं तं णामे ?

णामे दसविहे पण्णत्ते। तं जहा—एगणामे १ दुणामे २ तिणामे ३ चउणामे ४ पंचणामे ५ छणामे ६ सत्तणामे ७ अट्ठणामे ८ णवणामे ९ दसणामे १०।

[२०८ प्र.] भगवन् ! नाम का क्या स्वरूप है ?

[२०८ उ.] आयुष्मन् ! नाम के दस प्रकार हैं। वे इस तरह—१. एक नाम, २. दो नाम, ३. तीन नाम, ४. चार नाम, ५. पांच नाम, ६. छह नाम, ७. सात नाम, ८. आठ नाम, ९. नौ नाम, १०. दस नाम।

विवेचन—उपक्रम के द्वितीय भेद नाम की प्ररूपणा की भूमिका रूप यह सूत्र है।

नाम का लक्षण—जीव, अजीव रूप किसी भी वस्तु का अभिधायक—वाचक शब्द नाम कहलाता है।[1]

इस नाम के एक, दो, तीन आदि प्रकारों से दस भेद हैं। जिस एक नाम से समस्त पदार्थों का कथन हो जाए, वह एक नाम है। जैसे सत्। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो सत्ता से विहीन हो अतः इस सत् नाम से लोकवर्ती समस्त पदार्थों का युगपत् कथन हो जाने से सत् एक नाम का उदाहरण है।

इसी प्रकार जिन दो, तीन, चार, यावत् दस नामों से समस्त विवक्षित पदार्थ कहने योग्य बनते हैं वे क्रमशः दो से लेकर दस नाम तक जानना चाहिए।

अब क्रम से एक, दो आदि नामों के स्वरूप का निर्देश करते हैं।

१. एकनाम

२०९. से किं तं एगणामे ?

एगणामे—

णामाणि जाणि काणि वि दव्वाण गुणाण पज्जवाणं च।
तेसिं आगमनिहसे नामं ति परूविया सण्णा॥ १७॥

से तं एगणामे।

---

१. जं वत्थुणोभिहाणं पज्जयभेयाणुसारि तं णामं।
पइभेअं जं नमई पइभेअं जाइ जं भणिअं॥ अनुयोगवृत्ति, पत्र १०४

[२०९ प्र.] भगवन्! एकनाम का क्या स्वरूप है?

[२०९ उ.] आयुष्मन्! द्रव्यों, गुणों एवं पर्यायों के जो कोई नाम लोक में रूढ़ हैं, उन सबकी 'नाम' ऐसी एक संज्ञा आगम रूप निकष (कसौटी) में कही गई है। १७।

यह एकनाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में एकनाम का स्वरूप बतलाया है।

जीव, अजीव भेद विशिष्ट द्रव्यों के जैसे जीव, जन्तु, आत्मा, प्राणी, आकाश, नभस्, तारापथ व्योम, अम्बर इत्यादि और गुणों के यथा ज्ञान, बुद्धि, बोध इत्यादि तथा रूप, रस, गंध इत्यादि तथा नारकत्व आदि पर्यायों के जैसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य आदि, एक गुण कृष्ण, दो गुण कृष्ण इत्यादि लोक में रूढ़ सभी नाम 'नामत्व' इस सामान्य पद से गृहीत हो जाने से वे एक नाम कहलाते हैं।

सारांश यह है कि संसार में द्रव्यों, गुणों, पर्यायों के सभी लोकरूढ़ नाम यद्यपि पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु नामत्व सामान्य की अपेक्षा वे सब नाम एक ही हैं।

आगम की निकषरूपता—जैसे सोना, चांदी आदि के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान निकषपट्ट (कसौटी) से होता है, उसी प्रकार जीवादि पदार्थों के स्वरूप का परिज्ञान आगम—शास्त्र से। अतः उनके स्वरूप के परिज्ञान का हेतु होने से सूत्रकार ने आगम को निकष की उपमा से उपमित किया है।

२. द्विनाम

२१०. से किं तं दुणामे?

दुणामे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—एगक्खरिए य १ अणेगक्खरिए य।

[२१० प्र.] भगवन्! द्विनाम का क्या स्वरूप है?

[२१० उ.] आयुष्मन्! द्विनाम के दो प्रकार हैं—१. एकाक्षरिक और २. अनेकाक्षरिक।

२११. से किं तं एगक्खरिए?

एगक्खरिए अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—ह्रीः श्रीः धीः स्त्री। से तं एगक्खरिए।

[२११ प्र.] भगवन्! एकाक्षरिक द्विनाम का क्या स्वरूप है?

[२११ उ.] आयुष्मन्! एकाक्षरिक द्विनाम के अनेक प्रकार हैं। जैसे कि ह्री (लज्जा अथवा देवता विशेष), श्री (लक्ष्मी अथवा देवता विशेष), धी (बुद्धि), स्त्री आदि एकाक्षरिक नाम हैं।

२१२. से किं तं अणेगक्खरिए?

अणेगक्खरिए अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—कण्णा वीणा लता माला। से तं अणेगक्खरिए।

[२१२ प्र.] भगवन्! अनेकाक्षरिक द्विनाम का क्या स्वरूप है?

[२१२ उ.] आयुष्मन्! अनेकाक्षरिक नाम के भी अनेक प्रकार हैं। यथा—कन्या, वीणा, लता, माला आदि अनेकाक्षरिक द्विनाम हैं।

विवेचन—सूत्र में द्विनाम का स्वरूप उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है।

द्विनाम का तात्पर्य है दो अक्षरों से बना हुआ नाम। किसी भी वस्तु का उच्चारण अक्षरों के

माध्यम से होता है। अतः एक अक्षर से निष्पन्न नाम को एकाक्षरिक और एक से अधिक-अनेक अक्षरों से निष्पन्न होने वाले नाम को अनेकाक्षरिक कहते हैं।

श्री, ह्री आदि नामों के अतिरिक्त इसी प्रकार के अन्य नामों को भी एकाक्षरिक नाम समझना चाहिये तथा वीणा, माला आदि दो अक्षरों के योग से निष्पन्न नामों की तरह बलाका, पताका आदि तीन अक्षरों या इनसे अधिक अक्षरों से निष्पन्न नामों को अनेकाक्षरिक नाम में अन्तर्हित जानना चाहिए।

इन एकाक्षर और अनेकाक्षरों से निष्पन्न नाम से विवक्षित समस्त वस्तुसमूह का प्रतिपादन किये जाने से यह द्विनाम कहलाता है।

नाम के द्वारा वस्तु वाच्य होती है। अतः अब प्रकारान्तर से वस्तुमुखेन द्विनाम का निरूपण करते हैं—

२१३. अहवा दुनामे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—जीवनामे य १ अजीवनामे य २।

[२१३] अथवा द्विनाम के दो प्रकार कहे गये हैं। यथा—१. जीवनाम और २. अजीवनाम।

२१४. से किं तं जीवणामे ?

जीवणामे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—देवदत्तो जण्णदत्तो विण्हुदत्तो सोमदत्तो। से तं जीवनामे।

[२१४ प्र.] भगवन् ! जीवनाम का क्या स्वरूप है ?

[२१४ उ.] आयुष्मन् ! जीवनाम के अनेक प्रकार कहे गये हैं। जैसे—देवदत्त, यज्ञदत्त, विष्णुदत्त, सोमदत्त इत्यादि। यह जीवनाम का स्वरूप है।

२१५. से किं तं अजीवनामे ?

अजीवनामे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—घडो पडो कडो रहो। से तं अजीवनामे।

[२१५ प्र.] भगवन् ! अजीवनाम का क्या स्वरूप है ?

[२१५ उ.] आयुष्मन् ! अजीवनाम भी अनेक प्रकार के हैं। यथा—घट, पट, कट, रथ इत्यादि। यह अजीवनाम हैं।

विवेचन—नाम के द्वारा वाच्य पदार्थ दो प्रकार के हैं— जीव और अजीव। जिसमें चेतना पाई जाती है उसे जीव कहते हैं। अथवा तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप द्रव्यप्राणों तथा ज्ञान, दर्शन आदि भावप्राणों से जो जीता था, जीता है और जीवित रहेगा वह जीव है। जिसमें जीव का गुण, धर्म, स्वभाव नहीं पाया जाता है उसे अजीव कहते हैं।

यह दोनों प्रकार के पदार्थ लोक में सदैव पाये जाते हैं। अतः लोकव्यवहार चलाने के लिये उनकी जो पृथक्-पृथक् संज्ञाएं निर्धारित की जाती हैं, उनका द्विनाम में अन्तर्भाव कर लिया जाता है।

किन्तु जीव और अजीव कहने मात्र से लोक-व्यवहार नहीं चलता है। क्योंकि एक शब्द से इष्ट अर्थ का ग्रहण और अनिष्ट का परिहार नहीं किया जा सकता है। तथा ये जीव और अजीव

पदार्थ अनेक हैं। अतः उन सब का बोध कराने के लिये प्रकारान्तर से पुनः द्विनाम का निरूपण करते हैं।

२१६. [१] अहवा दुनामे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—विसेसिए य १ अविसेसिए य २।

[२१६-१] अथवा अपेक्षादृष्टि से द्विनाम के और भी दो प्रकार हैं। यथा—१. विशेपित और अविशेपित।

विवेचन—सूत्र में द्विनाम का एक और रूप स्पष्ट किया है। अविशेपित-अभेद-सामान्य और विशेपित-भेद-विशिष्ट की अपेक्षा भी द्विनाम के दो प्रकार हैं। इन दो प्रकारों के होने का कारण यह है—उत्तरापेक्षया पूर्व अविशेष और भेदप्रधान होने से उत्तर विशेष हैं। जो निम्नलिखित सूत्रों से स्पष्ट है—

[२] अविसेसिए दव्वे, विसेसिए जीवदव्वे य अजीवदव्वे य।

[२१६-२] द्रव्य यह अविशेपित नाम है और जीवद्रव्य एवं अजीवद्रव्य ये विशेपित नाम हैं।

[३] अविसेसिए जीवदव्वे, विसेसिए णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे।

[२१६-३] जीवद्रव्य को अविशेपित नाम माने जाने पर नारक, तिर्यंचयोनिक, मनुष्य और देव ये विशेपित नाम हैं।

[४] अविसेसिए णेरइए, विसेसिए रयणप्पभाए सक्करप्पभाए वालुयप्पभाए पंकप्पभाए धूमप्पभाए तमाए तमतमाए। अविसेसिए रयणप्पभापुढविणेरइए, विसेसिए पज्जत्तए य अपज्जत्तए य। एवं जाव अविसेसिए तमतमापुढविणेरइए, विसेसिए पज्जत्तए य अपज्जत्तए य।

[२१६-४] नारक अविशेपित नाम है और रत्नप्रभा का नारक, शर्कराप्रभा का नारक, वालुकाप्रभा का नारक, पंकप्रभा का नारक, धूमप्रभा का नारक, तमःप्रभा का नारक, तमस्तमःप्रभा का नारक यह विशेपित द्विनाम हैं।

रत्नप्रभा का नारक, इस नाम को अविशेपित माना जाए तो रत्नप्रभा का पर्याप्त नारक और रत्नप्रभा का अपर्याप्त नारक विशेषित नाम होंगे यावत् तमस्तमःप्रभापृथ्वी के नारक को अविशेपित मानने पर उसके पर्याप्त और अपर्याप्त ये विशेषित नाम कहलाएँगे।

[५] अविसेसिए तिरिक्खजोणिए, विसेसिए एगिंदिए बेइंदिए तेइंदिए चउरिंदिए पंचिंदिए।

[२१६-५] तिर्यंचयोनिक इस नाम को अविशेषित माना जाए तो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ये पांच विशेपित नाम हैं।

[६] अविसेसिए एगिंदिए, विसेसिए पुढविकाइए आउकाइए तेउकाइए वाउकाइए वणस्सइकाइए।

अविसेसिए पुढविकाइए, विसेसिए सुहुमपुढविकाइए य बादरपुढविकाइए य।

अविसेसिए सुहुमपुढविकाइए, विसेसिए पज्जत्तयसुहुमपुढविकाइए य अपज्जत्तयसुहुमपुढविकाइए य।

अविसेसिए वादरपुढविकाइए, विसेसिए पज्जत्तयबादरपुढविकाइए य अपज्जत्तयबादरपुढविकाइए य।

एवं आउ. तेउ. वाउ. वणस्सती. य अविसेसिए य पज्जत्तय-अपज्जयभेदेहिं भाणियव्वा।

[२१६-६] एकेन्द्रिय को अविशेषित नाम माना जाये तो पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय ये विशेषित नाम हैं।

यदि पृथ्वीकाय नाम को अविशेषित माना जाये तो सूक्ष्मपृथ्वीकाय और बादरपृथ्वीकाय यह विशेषित नाम हैं।

सूक्ष्मपृथ्वीकाय नाम को अविशेषित मानने पर पर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकाय और अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकाय यह विशेषित नाम हैं।

बादरपृथ्वीकाय नाम अविशेषित है तो पर्याप्त बादरपृथ्वीकाय और अपर्याप्त बादरपृथ्वीकाय यह विशेषित नाम हैं।

इसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय इन नामों को अविशेषित नाम माने जाने पर अनुक्रम से उनके पर्याप्त और अपर्याप्त ये विशेषित नाम हैं।

[७] अविसेसिए वेइंदिए, विसेसिए पज्जत्तयबेइंदिए य अपज्जत्तयबेइंदिए य। एवं तेइंदिय-चउरिंदिया वि भाणियव्वा।

[२१६-७] यदि द्वीन्द्रिय को अविशेषित नाम माना जाये तो पर्याप्त द्वीन्द्रिय और अपर्याप्त द्वीन्द्रिय विशेषित नाम हैं। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के लिये भी जानना चाहिए।

[८] अविसेसिए पंचेंदियतिरिक्खजोणिए, विसेसिए जलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए थलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य।

[२१६-८] पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक को अविशेषित नाम मानने पर जलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक, स्थलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक, खेचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक विशेषित नाम हैं।

[९] अविसेसिए जलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए, विसेसिए सम्मुच्छिमजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य गब्भवक्कंतियजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य।

अविसेसिए सम्मुच्छिमजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए, विसेसिए पज्जत्तयसम्मुच्छिमजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य अपज्जत्तयसम्मुच्छिमजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य।

अविसेसिए गब्भवक्कंतियजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए, विसेसिए पज्जत्तयगब्भवक्कंतियजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य।

[२१६-९] जलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक अविशेषित नाम है तो सम्मूच्छिम जलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक और गर्भव्युत्क्रान्तिक जलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक यह विशेषित नाम हैं।

संमूच्छिम जलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक अविशेषित नाम है तो उसके पर्याप्त संमूच्छिम जलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक, अपर्याप्त संमूच्छिम जलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक ये दो भेद विशेषित नाम हैं।

गर्भव्युत्क्रान्तिक जलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक यह नाम अविशेषित है और पर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्तिक जलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक तथा अपर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्तिक जलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक नाम विशेषित हैं।

[१०] अविसेसिए थलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए, विसेसिए चउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य परिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य।

अविसेसिए चउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए, विसेसिए सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य।

अविसेसिए सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए, विसेसिए पज्जत्तयसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य अपज्जत्तयसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य।

अविसेसिए गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए, विसेसिए पज्जत्तयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य।

अविसेसिए परिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए, विसेसिए उरपरिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य भुयपरिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य।

एवं सम्मुच्छिमा पज्जत्ता अपज्जत्ता य, गब्भवक्कंतिया वि पज्जत्ता अपज्जत्ता य भाणियव्वा।

[२१६-१०] थलचर पंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक को अविशेषित नाम माने जाने पर चतुष्पद थलचर पंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक, परिसर्प थलचर पंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक विशेषित नाम हैं।

यदि चतुष्पद थलचर पंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक को अविशेषित माना जाये तो सम्मूर्च्छिम चतुष्पद थलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक और गर्भव्युत्क्रान्तिक चतुष्पद थलचर पंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक ये भेद विशेषित नाम हैं।

सम्मूर्च्छिम चतुष्पद थलचर पंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक यह अविशेषित नाम हो तो पर्याप्त सम्मूर्च्छिम चतुष्पद थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक और अपर्याप्त सम्मूर्च्छिम चतुष्पद थलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक विशेषित नाम हैं।

यदि गर्भव्युत्क्रान्तिक चतुष्पद थलचर पंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक नाम को अविशेषित माना जाये तो पर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्तिक चतुष्पद थलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक और अपर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्तिक चतुष्पद थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक ये विशेषित नाम हैं।

यदि परिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक यह अविशेषित नाम है तो उसके भेद उरपरिसर्प थलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक और भुजपरिसर्प थलचर पंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक नाम विशेषित नाम हैं।

इसी प्रकार संमूर्च्छिम पर्याप्त और अपर्याप्त तथा गर्भव्युत्क्रान्तिक पर्याप्त, अपर्याप्त का कथन कर लेना चाहिये।

[११] अविसेसिए खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए, विसेसिए सम्मुच्छिमखहयरपंचेंदिय-तिरिक्खजोणिए य गब्भवक्कंतियखहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य।

अविसेसिए सम्मुच्छिमखहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए, विसेसिए पज्जत्तयसम्मुच्छिमखहयर-पंचेंदियतिरिक्खजोणिए य अपज्जत्तयसमुच्छिमखहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य।

अविसेसिए गब्भवक्कंतियखहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए, विसेसिए पज्जत्तयगब्भवक्कं-तियखहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियखहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणिए य।

[२१६-११] खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक अविशेषित नाम है तो संमूर्च्छिम खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक और गर्भव्युत्क्रान्तिक खेचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक विशेषित नाम रूप हैं।

यदि संमूर्छिम खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक नाम को अविशेषित नाम माना जाये तो पर्याप्त संमूर्च्छिम खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक और अपर्याप्त संमूर्च्छिम खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक रूप उसके भेद विशेषित नाम हैं।

इसी प्रकार गर्भव्युत्क्रान्तिक खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक नाम को अविशेषित माना जाये तो पर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्तिक खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक और अपर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्तिक खेचर पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक ये नाम विशेषित नाम कहे जायेंगे।

[१२] अविसेसिए मणुस्से, विसेसिए सम्मुच्छिममणूसे य गब्भवक्कंतियमणुस्से य।

अविसेसिए सम्मुच्छिममणूसे, विसेसिए पज्जत्तयसम्मुच्छिममणूसे य अपज्जत्तग-सम्मुच्छिममणूसे य।

अविसेसिए गब्भवक्कंतियमणूसे, विसेसिए पज्जत्तयगब्भवक्कंतियमणूसे य अपज्जत्तयगब्भ-वक्कंतियमणूसे य।

[२१६-१२] मनुष्य इस नाम को अविशेषित (सामान्य) नाम माना जाये तो संमूर्च्छिम मनुष्य और गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्य यह नाम विशेषित कहलायेंगे।

संमूर्च्छिम मनुष्य को अविशेषित नाम मानने पर पर्याप्त संमूर्च्छिम मनुष्य और अपर्याप्त संमूर्च्छिम मनुष्य यह दो नाम विशेषित नाम हैं।

यदि गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्य को अविशेषित माना जाये तो पर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्य और अपर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्य नाम विशेषित रूप हो जायेंगे।

[१३] अविसेसिए देवे, विसेसिए भवणवासी वाणमंतरे जोइसिए वेमाणिए य।

अविसेसिए भवणवासी, विसेसिए असुरकुमारे एवं नाग. सुवण्ण. विज्जु. अग्गि. दीव. उदधि. दिसा. वात. थणियकुमारे।

सव्वेसिं पि अविसेसिय-विसेसिय-पज्जत्तय-अपज्जत्तयभेया भाणियव्वा।

[२१६-१३] देव नाम को अविशेषित मानने पर उसके अवान्तर भेद भवनवासी, वाणव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक यह देवनाम विशेषित कहलायेंगे।

यदि उक्त देवभेदों में से भवनवासी नाम को अविशेषित माना जाये तो असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार, और स्तनितकुमार ये नाम विशेषित हैं।

इन सब नामों में से भी प्रत्येक को यदि अविशेषित माना जाये तो उन सबके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद विशेषित नाम कहलाएँगे।

[१४] अविसेसिए वाणमंतरे, विसेसिए पिसाए भूते जक्खे रक्खसे किण्णरे किंपुरिसे महोरगे गंधव्वे।

एतेसिं पि अविसेसिय-विसेसिय-पज्जत्तय-अपज्जत्तयभेय भाणियव्वा।

[२१६-१४] वाणव्यंतर इस नाम को अविशेषित मानने पर पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, ये नाम विशेषित नाम हैं।

इन सबमें से भी प्रत्येक को अविशेषित नाम माना जाये तो उनके पर्याप्त अपर्याप्त भेद विशेषित नाम कहलायेंगे।

[१५] अविसेसिए जोइसिए, विसेसिए चंदे सूरे गहे नक्खत्ते तारारूवे।

एतेसिं पि अविसेसिय-विसेसिय-पज्जत्तय-अपज्जत्तयभेया भाणियव्वा।

[२१६-१५] यदि ज्योतिष्क नाम को अविशेषित माना जाये तो चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारारूप नाम विशेषित कहे जायेंगे।

इनमें से भी प्रत्येक को अविशेषित नाम माना जाये तो उनके पर्याप्त, अपर्याप्त भेद विशेषित नाम हैं। जैसे कि पर्याप्त चन्द्र, अपर्याप्त चन्द्र आदि।

[१६] अविसेसिए वेमाणिए, विसेसिए कप्पोवगे य कप्पातीतए य।

अविसेसिए कप्पोवए, विसेसिए सोहम्मए ईसाणए सणंकुमारए माहिंदए बंभलोगए लंतयए महासुक्कए सहस्सारए आणयए पाणयए आरणए अच्चुतए।

एतेसिं पि अविसेसिय-विसेसिय-पज्जत्तय-अपज्जत्तयभेदा भाणियव्वा।

[२१६-१६] यदि वैमानिक देवपद को अविशेषित नाम माना जाये तो उसके कल्पोपपन्न और कल्पातीत यह दो प्रकार विशेषित नाम हैं।

कल्पोपपन्न को अविशेषित नाम मानने पर सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लांतक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत विमानवासी देव नाम विशेषित नाम रूप हैं।

यदि इनमें से प्रत्येक को अविशेषित नाम माना जाये तो उनके पर्याप्त, अपर्याप्त रूप भेद विशेषित नाम कहलायेंगे।

[१७] अविसेसिए कप्पातीतए, विसेसिए गेवेज्जए य अणुत्तरोववाइए य।

अविसेसिए गेवेज्जए, विसेसिए हेट्ठिमगेवेज्जए मज्झिममेवेज्जए उवरिमगेवेज्जए।

अविसेसिए हेट्ठिमगेवेज्जए, विसेसिए हेट्ठिमहेट्ठिमगेवेज्जए हेट्ठिममज्झिमगेवेज्जए हेट्ठिम-उवरिमगेवेज्जए।

अविसेसिए मज्झिमगेवेज्जए, विसेसिए मज्झिमहेट्ठिमगेवेज्जए मज्झिममज्झिमगेवेज्जए मज्झिमउवरिमगेवेज्जए।

अविसेसिए उवरिमगेवेज्जए, विसेसिए उवरिमहेट्ठिमगेवेज्जए उवरिममज्झिमगेवेज्जए उवरि-मउवरिमगेवेज्जए।

एतेसिं पि सव्वेसिं अविसेसिय-विसेसिय-पज्जत्तय-अपज्जत्तयभेदा भाणियव्वा।

[२१६-१७] यदि कल्पातीत को अविशेषित नाम माना जाये तो ग्रैवेयकवासी और अनुत्तरोपपातिक देव विशेषित नाम हो जाएँगे।

ग्रैवयकवासी को अविशेपित नाम मानने पर अधस्तनग्रैवेयक, मध्यमग्रैवेयक, उपरितनग्रैवेयक ये नाम विशेपित नाम रूप होंगे।

जब अधस्तनग्रैवेयक को अविशेषित नाम माना जायेगा तब अधस्तन-अधस्तन ग्रैवेयक, अधस्तन-मध्यम ग्रैवेयक, अधस्तन-उपरितन ग्रैवेयक नाम विशेषित नाम कहलायेंगे।

अविशेपित नाम के रूप में मध्यमग्रैवेयक को मानने पर मध्यम-अधस्तन ग्रैवेयक, मध्यम-मध्यम ग्रैवेयक, मध्यम-उपरिम ग्रैवेयक नाम विशेषित नाम होंगे।

यदि उपरिम ग्रैवेयक को अविशेषित नाम माना जाए तो उपरिम-अधस्तन ग्रैवेयक, उपरिम-मध्यम ग्रैवेयक, उपरिम-उपरिम ग्रैवेयक ये नाम विशेपित नाम कहलायेंगे।

इन सबको भी अविशेषित नाम माना जाये तो उनके पर्याप्त और अपर्याप्त ये विशेषित नाम कहलायेंगे।

[१८] अविसेसिए अणुत्तरोववाइए, विसेसिए विजयए वेजयंतए जयंतए अपराजियए सव्वट्ठसिद्धए।

एतेसिं पि सव्वेसिं अविसेसिय-विसेसिय-पज्जत्तय-अपज्जत्तयभेदा भाणियव्वा।

[२१६-१८] यदि अनुत्तरोपपातिक देव इस नाम को अविशेषित नाम कहा जाये तो विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्धविमानदेव विशेषित नाम कहलायेंगे।

इन सबको भी अविशेषित नाम की कोटि में ग्रहण किया जाए तो प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद विशेषित नाम रूप हैं।

[१९] अविसेसिए अजीवदव्वे, विसेसिए धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अद्धासमए य।

अविसेसिए पोग्गलत्थिकाए विसेसिए परमाणुपोग्गले दुपएसिए जाव अणंतपएसिए। से तं दुनामे।

[२१६-१९] यदि अजीवद्रव्य को अविशेषित नाम माना जाये तो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय, ये विशेषित नाम होंगे।

यदि पुद्गलस्तिकाय को भी अविशेषित नाम माना जाये तो परमाणुपुद्गल, द्विप्रदेशिक यावत् अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध, यह नाम विशेषित कहलायेंगे।

इस प्रकार से द्विनाम का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—इन सूत्रों में अविशेषित और विशेषित इन दो अपेक्षाओं से द्विनाम का वर्णन किया है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। संग्रहनय सामान्य अंश को और व्यवहारनय विशेष को प्रधानता देकर स्वीकार करता है। संग्रहनय द्वारा गृहीत अविशेषित—सामान्य-एकत्व में व्यवहारनय विधिपूर्वक भेद करता है। इन दोनों नयों की दृष्टि से ये नाम अविशेषित और विशेषित बन जाते हैं। इनमें पूर्व-पूर्व अविशेषित—सामान्य और उत्तरोत्तर विशेषित—विशेष नाम हैं।

सूत्रार्थ सुगम है। सामान्य-विशेष नामों के द्वारा जीव और अजीव द्रव्यों के इस प्रकार भेद करना चाहिये।

कतिपय पारिभाषिक शब्द—सूत्र में आगत प्राय: सभी शब्द पारिभाषिक हैं। लेकिन उनमें से यहाँ कतिपय विशेष शब्दों के ही अर्थ प्रस्तुत करते हैं।

संमूर्च्छिम जीव वे हैं जो तथाविहकर्म के उदय से गर्भ के बिना ही उत्पन्न हो जाते हैं। व्युत्क्रान्ति का तात्पर्य उत्पत्ति है। अत: जिन जीवों की उत्पत्ति गर्भजन्म से होती है वे गर्भव्युत्क्रान्तिक जीव हैं। जो सरकते हैं, वे परिसर्प कहलाते हैं। ये जीव भुजपरिसर्प और उरपरिसर्प के भेद से दो प्रकार के हैं। सर्पादिक जीव छाती से सरकने वाले होने से उरपरिसर्प कहलाते हैं और जो जीव भुजाओं से सरकते हैं, वे भुजपरिसर्प हैं। जैसे गोधा, नकुल आदि।

इस प्रकार से द्विनाम की वक्तव्यता जानना चाहिये।

त्रिनाम

२१७. से किं तं तिनामे ?

तिनामे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—दव्वणामे १ गुणणामे २ पज्जवणामे य ३।

[२१७ प्र.] भगवन् ! त्रिनाम का क्या स्वरूप है ?

[११७ उ.] आयुष्मन् ! त्रिनाम के तीन भेद हैं। वे इस प्रकार—१. द्रव्यनाम, २. गुणनाम और ३ पर्यायनाम।

विवेचन—तीन विकल्प वाला नाम त्रिनाम है। सूत्र में द्रव्य, गुण और पर्याय को त्रिनाम का उदाहरण बतलाया है।

द्रव्य, गुण, पर्याय का लक्षण—उन-उन पर्यायों को जो प्राप्त करता है उसका नाम द्रव्य है। यह द्रव्य शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है। इस अर्थ के परिप्रेक्ष्य में जैन दार्शनिकों ने द्रव्य की व्याख्या दो प्रकार से की है—जो गुण और पर्याय का आधार हो तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव वाला हो, उसे द्रव्य कहते हैं। त्रिकाल स्थायी स्वभाव वाले असाधारण धर्म को गुण और प्रति समय पलटने वाली अवस्था को अथवा गुणों के विकार को पर्याय कहते हैं। गुण ध्रुव और पर्यायें

उत्पाद-व्यय रूप हैं। इन द्रव्य, गुण और पर्याय के नाम को क्रमशः द्रव्यनाम, गुणनाम और पर्यायनाम कहते हैं।

क्रम से अब इन तीनों का स्वरूप बतलाते हैं।

(क) द्रव्यनाम

२१८. से किं तं दव्वणामे ?

दव्वणामे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—धम्मत्थिकाए १ अधम्मत्थिकाए २ आगासत्थिकाए ३ जीवत्थिकाए ४ पोग्गलत्थिकाए ५ अद्धासमए ६ अ। से तं दव्वणामे।

[२१८ प्र.] भगवन्! द्रव्यनाम का क्या स्वरूप है?

[२१८ उ.] आयुष्मन्! द्रव्यनाम छह प्रकार का है। यथा—१. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. जीवास्तिकाय, ५. पुद्गलास्तिकाय, ६. अद्धासमय।

विवेचन—सूत्र में द्रव्यनाम के रूप में विश्व के मौलिक उपादानभूत छह द्रव्यों के नाम बताये हैं।

इन छह द्रव्यों में धर्मास्तिकाय से लेकर पुद्गलास्तिकाय पर्यन्त पांच मुख्य द्रव्य हैं और अद्धासमय की अभिव्यक्ति प्रायः पुद्गलों के माध्यम से होने के कारण उसकी विशेष स्थिति है। वर्तना, परिणमन, परत्व-अपरत्व आदि रूपों के द्वारा उसका बोध होता है।

धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य ही मूर्त है। अर्थात् ऐन्द्रियिक अनुभूति योग्य होने के साथ रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणों से युक्त है, जबकि शेष द्रव्य अमूर्त्त-अरूपी होने से इन्द्रियगम्य नहीं हैं। इसी दृष्टि से प्रथम धर्म से लेकर जीव पर्यन्त अमूर्त्त द्रव्यों का और इनके बाद मूर्त पुद्गल का निर्देश किया है।

धर्म से लेकर पुद्गल पर्यन्त द्रव्यों के साथ अस्तिकाय विशेषण इसलिये दिया है कि ये द्रव्य अस्ति—त्रिकालावस्थायी होने के साथ-साथ काय—बहुप्रदेशी हैं। 'अस्ति' शब्द यहाँ प्रदेशों का वाचक है, अतएव प्रदेशों के काय-पिण्ड रूप द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। अद्धासमय का अस्तित्व वर्त्तमान समय रूप होने से उसके साथ 'काय' विशेषण नहीं लगाया है।

(ख) गुणनाम

२१९. से किं तं गुणणामे ?

गुणणामे पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—वण्णणामे १ गंधणामे २ रसणामे ३ फासणामे ४ संठाणणामे ५।

[२१९ प्र.] भगवन्! गुणनाम का क्या स्वरूप है?

[२१९ उ.] आयुष्मन्! गुणनाम के पांच प्रकार कहे हैं। जिनके नाम हैं—१. वर्णनाम, २. गंधनाम, ३. रसनाम, ४. स्पर्शनाम, ५. संस्थाननाम।

विवेचन—सूत्र में बताए गए गुणनाम के पांचों भेद पुद्गलद्रव्य में पाये जाते हैं। यद्यपि धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के अपने-अपने गुण हैं, परन्तु पुद्गलद्रव्य के सिवाय शेष द्रव्यों के अमूर्त होने से उनके गुण भी अमूर्त हैं। इस कारण संभवतः उनका उल्लेख नहीं किया गया है।

इन वर्णनाम आदि के लक्ष इस प्रकार हैं—

वर्णनाम—जिसके द्वारा वस्तु अलंकृत, अनुरंजित की जाये उसे वर्ण कहते हैं। इस वर्ण का नाम वर्णनाम है। वर्ण चक्षुरिन्द्रिय का विषय है।

गंधनाम—जो सूँघा जाये वह गंध है। यह घ्राणेन्द्रिय का विषय है। इस गंध के नाम को गंधनाम कहते हैं।

रसनाम—जो चखा जाता है वह रस है। यह रसनेन्द्रिय का विषय है। रस का जो नाम वह रसनाम है।

स्पर्शनाम—जो स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा स्पर्श करने पर जाना जाए वह स्पर्श है और इस स्पर्श का नाम स्पर्शनाम है।

संस्थाननाम—आकार, आकृति को संस्थान कहते हैं। इस संस्थान के नाम को संस्थाननाम कहते हैं।

गुणनाम के इन पांचों भेदों का वर्णन इस प्रकार है—

वर्णनाम

२२०. से किं तं वण्णनामे ?

वण्णनामे पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—कालवण्णनामे १ नीलवण्णनामे २ लोहियवण्णनामे ३ हालिद्दवण्णनामे ४ सुक्किलवण्णनामे ५। से तं वण्णनामे।

[२२० प्र.] भगवन् ! वर्णनाम का क्या स्वरूप है ?

[२२० उ.] आयुष्मन् ! वर्णनाम के पांच भेद हैं। वे इस प्रकार—१. कृष्णवर्णनाम २. नीलवर्णनाम ३. लोहित (रक्त) वर्णनाम ४. हारिद्र (पीत) वर्णनाम ५. शुक्लवर्णनाम। यह वर्णनाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में वर्णनाम के पांच मूल भेदों के नाम वताये हैं। काले, पीले, नीले आदि वर्ण (रंग) के स्वरूप को सभी जानते हैं। कत्थई, धूसर आदि और भी वर्ण के जो अनेक प्रकार के हैं, वे इन कृष्ण आदि पाँच मौलिक वर्णों के संयोग से निष्पन्न होने के कारण स्वतन्त्र वर्ण नहीं हैं। इसलिये उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया है।

गंधनाम

२२१. से किं तं गंधनामे ?

गंधनामे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—सुरभिगंधनामे य १ दुरभिगंधनामे य २। से तं गंधनामे।

[२२१ प्र.] भगवन् ! गंधनाम का क्या स्वरूप है ?

[२२१ उ.] आयुष्मन् ! गंधनाम के दो प्रकार हैं। यथा—१. सुरभिगंधनाम २. दुरभिगंधनाम। यह गंधनाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में गंधनाम के मूल दो भेदों का संकेत किया है। जो गंध अपनी ओर आकृष्ट करती है, वह सुरभिगंध और जो विमुख करती है, वह दुरभिगंध है। इन दोनों के संयोगज और भी अनेक भेद हो सकते हैं, परन्तु इन दोनों की प्रधानता होने से उनका पृथक् निर्देश नहीं किया है।

रसनाम

२२२. से किं तं रसनामे ?

रसनामे पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—तित्तरसणामे १ कडुयरसणामे २ कसायरसणामे ३ अंबिलरसणामे ४ महुररसणामे य ५। से तं रसनामे।

[२२२ प्र.] भगवन् ! रसनाम का क्या स्वरूप है ?

[२२२ उ.] आयुष्मन् ! रसनाम के पांच भेद हैं। जैसे—१. तिक्तरसनाम २. कटुकरसनाम ३. कषायरसनाम ४. आम्लरसनाम ५. मधुररसनाम।

इस प्रकार से रसनाम का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर के भेद से रस के पांच प्रकार बतलाये है। इन रसों के गुण, धर्म, स्वभाव इस प्रकार हैं—

१. तिक्तरस कफ, अरुचि, पित्त, तृषा, कुष्ठ, विष, ज्वर आदि विकारों को नष्ट करने वाला है। यह रस प्रायः नीम आदि में पाया जाता है।

२. गले के रोग का उपशमक, काली मिर्च आदि में पाया जाने वाला रस कटुकरस है।

३. जो रक्तदोष आदि का नाशक है, ऐसा आंवला, बहेड़ा आदि में पाया जाने वाला रस कषायरस है। यह स्वभावतः रूक्ष, शीत एवं रोचक होता है।

४. इमली आदि में रहा हुआ रस आम्लरस है। यह जठराग्नि का उद्दीपक है। पित्त और कफ का नाश करता है, रुचिवर्धक है। लोकभाषा में इसको खट्टा रस कहते हैं।

५. पित्तादि का शमन करने वाला रस मधुर रस है। यह रस बालक, वृद्ध और क्षीण शक्ति वालों को लाभदायक होता है तथा खांड, शक्कर आदि मीठे पदार्थों में पाया जाता है।

स्पर्शनाम

२२३. से किं तं फासणामे ?

फासणामे अट्ठविहे पण्णत्ते। तं जहा—कक्खडफासणामे १ मउयफासणामे २ गरुयफासणामे ३ लहुयफासणामे ४ सीतफासणामे ५ उसिणफासणामे ६ णिद्धफासणामे ७ लुक्खफासणामे ८। से तं फासणामे।

[२२३ प्र.] भगवन् ! स्पर्शनाम का क्या स्वरूप है ?

[२२३ उ.] आयुष्मन् ! स्पर्शनाम के आठ प्रकार कहे हैं। उनके नाम हैं—१. कर्कशस्पर्शनाम २. मृदुस्पर्शनाम ३. गुरुस्पर्शनाम ४. लघुस्पर्शनाम ५. शीतस्पर्शनाम ६. उष्णस्पर्शनाम ७. स्निग्धस्पर्शनाम ८. रूक्षस्पर्शनाम।

यह स्पर्शनाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में स्पर्शनाम के आठ प्रकारों का उल्लेख किया है। इन आठ प्रकारों में से

प्रत्येक के साथ नाम शब्द जोड़ देने पर पूरा नाम हो जाता है। जैसे कर्कशस्पर्शनाम, मृदुस्पर्शनाम यावत् रूक्षस्पर्शनाम।

पाषाण आदि में कर्कश—खुरदरास्पर्श रहता है। कोमल स्पर्श मृदुस्पर्श कहलाता है। यह वेत्र आदि में पाया जाता है। जो अधःपतन का कारण हो और लोहे के गोलक आदि में पाया जाता है, वह गुरुस्पर्श है। जो स्पर्श प्रायः ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् गमन में कारण हो और अर्कतूल (आक की रुई) आदि में पाया जाता है, वह लघुस्पर्श है। शीतलता—ठंडेपन का अनुभव कराने में जो हेतु है तथा वर्फ आदि में पाया जाता है, वह शीतस्पर्श है। जो उष्णता—गर्मी का बोधक, आहारादि के पकाने का कारण हो एवं अग्नि आदि के रहता है वह उष्णस्पर्श है। परस्पर मिले हुए पुद्गलद्रव्यों के संश्लिष्ट होने का जो कारण हो और तेलादि पदार्थों में पाया जाये वह स्निग्धस्पर्श है। जो पुद्गल द्रव्यों के परस्पर अवन्ध का कारण हो, ऐसा भस्मादि का स्पर्श रूक्षस्पर्श है। इन स्पर्शों का जो नाम वह तत्तत् नाम वाला स्पर्शनाम समझना चाहिए।

स्पर्श के उक्त आठ भेदों के संयोगज स्पर्शों का भी इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाने से उनका पृथक् निर्देश नहीं किया है।

संस्थाननाम

२२४. से किं तं संठाणणामे ?

संठाणणामे पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—परिमंडलसंठाणणामे १ वट्टसंठाणणामे २ तंससंठाणणामे ३ चउरंससंठाणणामे ४ आयतसंठाणणामे ५। से तं संठाणणामे। से तं गुणणामे।

[२२४ प्र.] भगवन् ! संस्थाननाम का क्या स्वरूप है ?

[२२४ उ.] आयुष्मन् ! संस्थाननाम के पांच प्रकार कहे गये हैं। यथा—१. परिमण्डलसंस्थाननाम, २. वृत्तसंस्थाननाम, ३. त्र्यस्रसंस्थाननाम, ४. चतुरस्रसंस्थाननाम, ५. आयतसंस्थाननाम।

यह संस्थाननाम का स्वरूप है। इस प्रकार से यह गुणनाम की व्याख्या समाप्त हुई जानना चाहिए।

विवेचन—सूत्र में संस्थाननाम के भेदों को वतलाकर गुणनाम की वक्तव्यता की समाप्ति की सूचना दी है।

संस्थान के पांच भेदों का स्वरूप प्रसिद्ध है। जो थाली, सूर्य या चन्द्रमण्डल के समान गोल हो, बीच में किंचिन्मात्र भी खाली स्थान न हो, ऐसा संस्थान परिमण्डलसंस्थान कहलाता है। जब कि वृत्तसंस्थान चूडी के समान (बीच में खाली) गोल होता है। तीन कोण (कोने) वाले संस्थान को त्र्यस्र—त्रिभुज या तिकोना संस्थान कहते हैं। तीनों भुजाओं की लम्बाई चौड़ाई की भिन्नता से यह संस्थान अनेक प्रकार का हो सकता है। चतुरस्रसंस्थान में चारों कोण एवं लम्बाई-चौड़ाई समान होती है, जबकि आयतसंस्थान में चारों कोण समान होने पर भी लम्बाई अधिक और चौड़ाई कम होती है।

इस प्रकार आकारों की भिन्न-भिन्नरूपता से संस्थाननाम के मुख्य पांच भेद हैं। इनके सिवाय

और जो भी भिन्न-भिन्न आकृतियां सम्भव हैं, उनका इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाने से पांच से अधिक मौलिक संस्थान सम्भव नहीं हैं।

इस प्रकार से गुणनाम की वक्तव्यता का आशय जानना चाहिये।

पर्यायनाम

२२५. से किं तं पज्जवनामे ?

पज्जवनामे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—एगगुणकालए दुगुणकालए जाव अणंतगुणकालए, एगगुणनीलए दुगुणनीलए जाव अणंतगुणनीलए, एवं लोहिय-हालिद्द-सुक्किला वि भाणियव्वा।

एगगुणसुरभिगंधे दुगुणसुरभिगंधे जाव अणंतगुणसुरभिगंधे एवं दुरभिगंधो वि भाणियव्वो।

एगगुणतित्ते दुगुणतित्ते जाव अणंतगुणतित्ते, एवं कडुय-कसाय-अंबिल-महुरा वि भाणियव्वा।

एगगुणकक्खडे दुगुणकक्खडे जाव अणंतगुणकक्खडे, एवं मउय-गरुय-लहुय-सीत-उसिण-णिद्ध-लुक्खा वि भाणियव्वा। से तं पज्जवणामे।

[२२५ प्र.] भगवन्! पर्यायनाम का क्या स्वरूप है ?

[२२५ उ.] आयुष्मन्! पर्यायनाम के अनेक प्रकार हैं। यथा—एकगुण (अंश) काला, द्विगुणकाला यावत् अनन्तगुणकाला, एकगुणनीला, द्विगुणनीला यावत् अनन्तगुणनीला तथा इसी प्रकार लोहित (रक्त), हारिद्र (पीत) और शुक्लवर्ण की पर्यायों के नाम भी समझना चाहिए।

एकगुणसुरभिगंध, द्विगुणसुरभिगंध यावत् अनन्तगुणसुरभिगंध, इसी प्रकार दुरभिगंध के विषय में भी कहना चाहिए।

एकगुणतिक्त, द्विगुणतिक्त यावत् अनन्तगुणतिक्त, इसी प्रकार कटुक, कषाय, अम्ल एवं मधुर रस की पर्यायों के लिये भी कहना चाहिए।

एकगुणकर्कश, द्विगुणकर्कश यावत् अनन्तगुणकर्कश, इसी प्रकार मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष स्पर्श की पर्यायों की वक्तव्यता है।

यह पर्यायनाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में पर्यायनाम की व्याख्या की है। पर्याय का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। पर्याय द्रव्य के समान सर्वदा स्थायी—ध्रुव रूप न होकर उत्पत्ति-विनाश रूपों के माध्यम से परिवर्तित होती रहती है।

प्रस्तुत प्रसंग में गुणों को माध्यम बनाकर पर्याय का स्वरूप बताया है। पर्याय एकगुण (अंश) कृष्ण आदि रूप हैं। अर्थात् जिस परमाणु आदि द्रव्य में कृष्णगुण का एक अंश हो वह परमाणु आदि द्रव्य एकगुणकृष्णवर्ण आदि वाला है। इसी प्रकार दो आदि अंश से लेकर अनन्त अंशों तक के लिये जानना चाहिये। ये सभी अंश पर्याय हैं।

पुद्गलास्तिकाय के दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध। इनमें से स्कन्धों में तो पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस और आठ स्पर्श कुल मिलाकर बीस गुण और परमाणुओं में कर्कश, मृदु, गुरु, लघु ये चार स्पर्श नहीं होने से कुल सोलह गुण पाये जाते हैं तथा एक परमाणु में शेष रहे शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष

इन चार स्पर्शों में से भी एक समय में अविरोधी दो स्पर्श तथा एक वर्ण, एक गंध, एक रस, इस प्रकार कुल पाँच गुण और उनके पर्याय सम्भव हैं।

ये वर्ण आदि गुण मूर्त वस्तु—पुद्गल से कभी विलग नहीं होते हैं किन्तु इनके एक, दो आदि रूप अंश रूपान्तरित होते रहते हैं। तभी द्रव्य के अवस्थान्तर होने का बोध होता है। जैसे—किसी परमाणु में सर्वजघन्य (एकगुण) कृष्णादि गुण हैं, वे दो अंश कृष्णादि गुणों के आने पर निवृत्त हो जाते हैं। इसीलिये कृष्णादि गुणों के ये एक, दो, तीन यावत् संख्यात, असंख्यात और अनन्त अंश सब पर्याय हैं।

पुद्गलास्तिकाय के गुण-पर्यायों का उल्लेख क्यों ? जैसे ये वर्ण, गंध आदि गुण और इनके अंश रूप पर्याय पुद्गलास्तिकाय में पाए जाते हैं, उन्हीं प्रकार धर्मास्तिकाय आदि में भी गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व आदि गुण और प्रत्येक में अनन्त अगुरुलघु रूप पर्याय पाए जाते हैं। परन्तु अमूर्त होने से उनका उल्लेख नहीं करके इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होने से पुद्गल की द्रव्य, गुण और पर्यायरूपता का ही यहाँ उल्लेख किया है।

इस प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय के भेद से त्रिनाम की व्याख्या करने के बाद अब प्रकारान्तर से पुनः त्रिनाम की एक और व्याख्या करते हैं।

त्रिनाम की व्याख्या का दूसरा प्रकार

२२६. तं पुण णामं तिविहं इत्थी १ पुरिसं २ णपुंसगं ३ चेव।
एएसिं तिण्हं पि य अंतम्मि परूवणं वोच्छं॥ १८॥
तत्थ पुरिसस्स अंता आ ई ऊ ओ य होंति चत्तारि।
ते चेव इत्थियाए हवंति ओकारपरिहीणा॥ १९॥
अं ति य इं ति य उं ति य अंता उ णपुंसगस्स बोद्धव्वा।
एतेसिं तिण्हं पि य वोच्छामि निदंसणे एत्तो॥ २०॥
आकारंतो राया ईकारंतो गिरी य सिहरी य।
ऊकारंतो विण्हू दुमो ओअंताओ पुरिसाणं॥ २१॥
आकारंता माला ईकारंता सिरी य लच्छी य।
ऊकारंता जंबू वहू य अंता उ इत्थीणं॥ २२॥
अंकारंतं धन्नं इंकारंतं नपुंसकं अच्छिं।
उंकारंतं पीलुं महुं च अंता णपुंसाणं॥ २३॥

से तं तिणामे।

[२२६] उस त्रिनाम के पुनः तीन प्रकार हैं। जैसे—१ स्त्रीनाम २ पुरुषनाम और ३ नपुंसकनाम। इन तीनों प्रकार के नामों का बोध उनके अन्त्याक्षरों द्वारा होता है। ॥१८॥

पुरुषनामों के अंत में 'आ, ई, ऊ, ओ' इन चार में से कोई एक वर्ण होता है तथा स्त्रीनामों के अंत में 'ओ' को छोड़कर शेष तीन (आ, ई, ऊ) वर्ण होते हैं ॥१९॥

जिन शब्दों के अन्त में अं, इं या उं वर्ण हो, उनको नपुंसकलिंग वाला समझना चाहिये । अब इन तीनों के उदाहरण कहते हैं ॥२०॥

आकारान्त पुरुष नाम का उदाहरण राया (राजा) है ।.ईकारान्त का उदाहरण गिरी (गिरि) तथा सिहरी (शिखरी) हैं । ऊकारान्त का उदाहरण विण्हू (विष्णु) और ओकारान्त का दुमो (द्रुमो-वृक्ष) है ॥२१॥

स्त्रीनाम में 'माला' यह पद आकारान्त का, सिरी (श्री) और लच्छी (लक्ष्मी) पद ईकारान्त, जम्बू (जामुन वृक्ष), वहू (वधू) ऊकारान्त नारी जाति के (नामों के) उदाहरण हैं ॥२२॥

धन्नं (धान्य) यह प्राकृतपद अंकारान्त नपुंसक नाम का उदाहरण है । अच्छिं (अक्षि) यह इंकारान्त नपुंसकनाम का तथा पीलुं (पीलु-वृक्ष विशेष) महुं (मधु) ये उंकारान्त नपुंसकनाम के पद हैं । २३

इस प्रकार यह त्रिनाम का स्वरूप है ।

विवेचन—सूत्र में प्रकारान्तर से त्रिनाम का स्वरूप स्पष्ट किया है । द्रव्यादि सम्बन्धी नाम स्त्री, पुरुष और नपुंसक लिंग के भेद से तीन प्रकार के हैं और इन तीनों लिंगों का बोध उन-उन नामों के अन्त में आगत आकारादि वर्णों द्वारा होता है ।

प्राकृत भाषा की तरह संस्कृत में भी लिंगापेक्षया शब्दों के तीन प्रकार हैं, लेकिन हिन्दी में पुरुष और स्त्री लिंग शब्द ही माने गये हैं । अतः हिन्दी में त्रिनामता नहीं है ।

इस प्रकार व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से लिंगानुसार यह त्रिनाम का स्वरूप जानना चाहिये ।

चतुर्नाम

२२७. से किं तं चतुणामे ?

चतुणामे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—आगमेणं १ लोवेणं २ पयईए ३ विगारेणं ४ ।

[२२७ प्र.] भगवन् ! चतुर्नाम का क्या स्वरूप है ?

[२२७ उ.] आयुष्मन् ! चतुर्नाम के चार प्रकार हैं । यथा—१. आगमनिष्पन्ननाम २. लोपनिष्पन्ननाम ३. प्रकृतिनिष्पन्ननाम ४. विकारनिष्पन्ननाम ।

२२८. से किं तं आगमेणं ?

आगमेणं पद्मानि पयांसि कुण्डानि । से तं आगमेणं ।

[२२८ प्र.] भगवन् ! आगमनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२२८ उ.] आयुष्मन् ! पद्मानि, पयांसि, कुण्डानि आदि ये सब आगमनिष्पन्ननाम हैं ।

२२९. से किं तं लोवेणं ?

लोवेणं ते अत्र तेऽत्र, पटो अत्र पटोऽत्र, घटो अत्र घटोऽत्र, रथो अत्र रथोऽत्र । से तं लोवेणं ।

[२२९ प्र.] भगवन् ! लोपनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२२९ उ.] आयुष्मन् ! ते+अत्र—तेऽत्र, पटो+अत्र—पटोऽत्र, घटो+अत्र—घटोऽत्र, रथो+अत्र—रथोऽत्र, ये लोपनिष्पन्ननाम हैं ।

२३०. से किं तं पगतीए ?

अग्नी एतौ, पटू इमौ, शाले एते, माले इमे । से तं पगतीए ।

[२३० प्र.] भगवन् ! प्रकृतिनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२३० उ.] आयुष्मन् ! अग्नी एतौ, पटू इमौ, शाले एते, माले इमे इत्यादि प्रयोग प्रकृतिनिष्पन्न नाम हैं।

२३१. से किं तं विकारेणं ?

विकारेणं दण्डस्य अग्रं दण्डाग्रम्, सा आगता साऽऽगता, दधि इदं दधीदम्, नदी ईहते नदीहते, मधु उदकं मधूदकम्, बहु ऊहते बहूहते। से तं विकारेणं। से तं चउणामे।

[२३१ प्र.] भगवन् ! विकारनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२३१ उ.] आयुष्मन् ! दण्डस्स+अग्रं—दण्डाग्रम्, सा+आगता—साऽऽगता, दधि+इदं—दधीदं, नदी+ईहते—नदीहते, मधु+उदकं—मधूदकं, बहु+ऊहते—वहूहते, ये सब विकारनिष्पन्न-नाम हैं।

इस प्रकार से यह चतुर्नाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र २२७ से २३१ तक पांच सूत्रों में आपेक्षिक निष्पन्नताओं द्वारा चतुर्नाम का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। आगम, लोप, प्रकृति और विकार इन चार कारणों से निष्पन्न होने से चतुर्नाम के चार प्रकार हैं। इन आगमनिष्पन्न आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

आगमनिष्पन्न—किसी वर्ण के आगम—प्राप्ति से निष्पन्न पद आगमनिष्पन्न कहलाते हैं। जैसे पद्मानि इत्यादि। इनमें 'धुट्स्वराद् घुटि नुः (कातंत्रव्याकरण सूत्र २४) सूत्र द्वारा आगम का विधान होने से पद्मानि आदि शब्द आगमनिष्पन्न के उदाहरण हैं। इसी प्रकार 'संस्कार' इत्यादि शब्दों के लिये जानना चाहिये कि इनमें सुट का आगम होने से 'संस्कार' यह आगमनिष्पन्न नाम हैं।

लोपनिष्पन्न—किसी वर्ण के लोप-अपगम से जो शब्द निष्पन्न होते हैं उन्हें लोपनिष्पन्ननाम कहते हैं। जैसे ते+अत्र—तेऽत्र इत्यादि। इन शब्दों में 'एदोत्परः पदान्ते' (कातंत्रव्याकरण सूत्र ११५) सूत्र द्वारा अकार का लोप होने से यह लोपनिष्पन्न नाम हैं। इसी प्रकार मनस्+ईषा—मनीषा (बुद्धि), भ्रमतीति भ्रूः इत्यादि शब्द सकार, मकार आदि वर्णों के लोप से निष्पन्न होने के कारण लोपनिष्पन्ननाम हैं।

प्रकृतिनिष्पन्न—जो प्रयोग जैसे हैं उनका वैसा ही रूप रहना प्रकृतिभाव है। अतः जिन प्रयोगों में प्रकृतिभाव होने से किसी प्रकार का विकार (परिवर्त्तन) न होकर मूल रूप में ही रहते हैं, उन्हें प्रकृतिनिष्पन्ननाम कहते हैं। ये प्रयोग व्याकरणिक विभक्ति आदि से संयुक्त होते हैं। जैसे—'अग्नी एतौ' इत्यादि शब्द। यहाँ 'द्विवचनमनौ' (का. सू. ६२) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव का विधान किये जाने से सन्धि नहीं हुई। यह प्रकृतिनिष्पन्ननाम का उदाहरण है।

विकारनिष्पन्न—किसी वर्ण का वर्णान्तर के रूप में होने को विकार कहते हैं। विकार से निष्पन्न होने वाला नाम विकारनिष्पन्ननाम कहलाता है। अर्थात् जिस नाम में किसी एक वर्ण के स्थान पर दूसरे वर्ण का प्रयोग होता है वह विकारनिष्पन्ननाम है। जैसे 'दंडस्य+अग्रम्—दंडाग्रम्' आदि। इन उदाहरणों में, 'समानः सवर्णे दीर्धीभवति परश्च लोपम् (का. २४) सूत्र द्वारा आकार रूप

दीर्घ वर्णात्मक विकार किये जाने से ये विकारनिष्पन्ननाम के उदाहरण हैं। इसी प्रकार अन्यान्य विकारनिष्पन्न नामों का विचार स्वयं कर लेना चाहिये।

शब्दशास्त्र की दृष्टि से सभी शब्द प्रकृति प्रत्यय आगम आदि किसी-न-किसी एक से निष्पन्न होते हैं। डित्थ, डवित्थ आदि अव्युत्पन्न माने गये शब्द भी शाकटायन के मत से व्युत्पन्न हैं और उनका इन आगम आदि चार नामों में से किसी न किसी एक में समावेश हो जाता है। यह चतुर्नाम की व्याख्या है।

पंचनाम

२३२. से किं तं पंचनामे ?

***पंचनामे पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—नामिकं १ नैपातिकं २ आख्यातिकं ३ औपसर्गिकं ४* मिश्रं ५ च। अश्व इति नामिकम्, खल्विति नैपातिकम्, धावतीत्याख्यातिकम्, परि इत्यौपसर्गिकम्, संयत इति मिश्रम्। से तं पंचनामे।**

[२३२ प्र.] भगवन् ! पंचनाम का क्या स्वरूप है ?

[२३२ उ.] आयुष्मन् ! पंचनाम पांच प्रकार का है। वे पांच प्रकार हैं—१ नामिक, २ नैपातिक, ३ आख्यातिक, ४ औपसर्गिक और ५ मिश्र। जैसे 'अश्व' यह नामिकनाम का, 'खलु' नैपातिकनाम का, 'धावति' आख्यातिकनाम का, 'परि' औपसर्गिक और 'संयत' यह मिश्रनाम का उदाहरण है।

यह पंचनाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में पंचनाम के पांच प्रकारों का निर्देश किया है। इन नामिक आदि पांचों में समस्त शब्दों का संग्रह हो जाने से ये पंचनाम कहे जाते हैं। क्योंकि शब्द या तो किसी वस्तु का वाचक होता है अथवा निपात से, क्रिया की मुख्यता से, उपसर्गों से, संज्ञा (नाम) के साथ उपसर्ग के संयोग से अपने अभिधेय-वाच्य का बोध कराता है। जैसे—'अश्व' शब्द वस्तु का वाचक होने से नामिक है। 'खलु' शब्द निपातों में पठित होने से नैपातिक है। क्रिया-प्रधान होने से 'धावति' यह तिङन्त पद आख्यातिक है। 'परि' यह प्र, परा, अप्, सम् आदि उपसर्गों में पठित होने से औपसर्गिक है तथा 'संयतः' यह सुबन्त पद सम् उपसर्ग और यत् धातु—इन दोनों के संयोग से बना होने के कारण मिश्र है।

इस प्रकार से यह पंचनाम का स्वरूप है।

छहनाम

२३३. से किं तं छनामे ?

छनामे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—उदइए १ उवसमिए २ खइए ३ खओवसमिए ४ पारिणामिए ५ सन्निवातिए ६।

[२३३ प्र.] भगवन् ! छहनाम का क्या स्वरूप है ?

[२३३ उ.] आयुष्मन् ! छहनाम के छह प्रकार कहे हैं। वे ये हैं—१. औदयिक, २. औपशमिक, ३. क्षायिक, ४. क्षायोपशमिक, ५. पारिणामिक और ६. सान्निपातिक।

विवेचन—यहाँ छहनाम के प्रकरण में नाम और नामवाले अर्थों में अभेदोपचार करके छह भावों की प्ररूपणा की है।

सूत्रोक्त उदइए-औदयिक आदि से औदयिकभाव, औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिक-भाव, पारिणामिकभाव और सान्निपातिकभाव इस प्रकार समग्र पद का ग्रहण किया गया है। इन औदयिकभाव आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

१. औदयिकभाव—ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों के विपाक का अनुभव करने को उदय कहते हैं। इस उदय का अथवा उदय से निष्पन्नभाव (पर्याय) का नाम औदयिकभाव है।

२. औपशमिकभाव—सत्ता में रहते हुए भी कर्मों का उदय में नहीं रहना अर्थात् आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रकट न होना या प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार के कर्मोदय का रुक जाना उपशम है। जैसे भस्मराशि से आच्छादित अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार इस उपशम अवस्था में कर्मों का उदय नहीं होता है, किन्तु वे सत्ता में स्थित रहते हैं। इस उपशम का नाम ही औपशमिकभाव है। अथवा इस उपशम से निष्पन्न भाव को औपशमिकभाव कहते हैं। यह भाव सादि-सान्त है।

३. क्षायिकभाव—कर्म के आत्यन्तिक विनाश होने को क्षय कहते हैं। यह क्षय ही क्षायिक है। अथवा क्षय से जो भाव उत्पन्न होता है वह क्षायिकभाव है। सारांश यह कि कर्म के आत्यन्तिक क्षय से प्रकट होने वाला भाव क्षायिकभाव है। यह भाव सादि-अनन्त है।

४. क्षायोपशमिकभाव—कर्मों का क्षय और उपशम होना क्षयोपशम है। यह क्षयोपशम ही क्षायोपशमिकभाव है। अथवा क्षयोपशम से जो भाव उत्पन्न होता है वह क्षायोपशमिकभाव है। यह भाव कुछ बुझी हुई और कुछ नहीं बुझी हुई अग्नि के समान जानना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि इस क्षयोपशम में कितनेक सर्वघातिस्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और कितनेक सर्वघातिस्पर्धकों का सदवस्था रूप उपशम होता है और देशघाति प्रकृति का उदय रहता है। इसीलिये इस भाव को कुछ बुझी हुई और कुछ नहीं बुझी हुई अग्नि की उपमा दी है।

क्षयोपशम में कर्म के उदयावलिप्रविष्ट मंद रसस्पर्धकों का क्षय और अनुदीयमान रसस्पर्धकों की सर्वघातिनी विपाकशक्ति का निरोध या देशघाति रूप में परिणमन होता है।

यद्यपि क्षयोपशम में कुछ कर्मों का उदय रहता है किन्तु उनकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाने के कारण वे जीव के गुणों को घातने में समर्थ नहीं होते हैं। पूर्णशक्ति के साथ कर्मों का उदय में न आकर क्षीणशक्ति होकर उदय में आना ही यहाँ क्षय या उदयाभावी क्षय और सत्तागत सर्वघाति कर्मों का उदय में न आना ही सदवस्थारूप उपशम कहलाता है।

यद्यपि देशघाती कर्मों का उदय होने की अपेक्षा यहाँ औदयिक भाव भी माना जा सकता है किन्तु गुण के प्रकट होने वाले अंश की अपेक्षा इसे क्षायोपशमिकभाव कहा है।

५. **पारिणामिकभाव**—अमुक-अमुक रूप से वस्तुओं का परिणमन होना परिणाम और यह परिणाम ही पारिणामिकभाव है। अथवा उस परिणाम से जो भाव उत्पन्न होता है वह पारिणामिकभाव है। अथवा जिसके कारण मूल वस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो, वस्तु का स्वभाव में ही परिणत होते रहना पारिणामिकभाव है।

६. **सान्निपातिकभाव**—इन पांचों भावों में से दो-तीन आदि भावों का मिलना सन्निपात है, यह सन्निपात ही सान्निपातिकभाव है। अथवा इस सन्निपात से जो भाव उत्पन्न होता है, वह सान्निपातिकभाव कहलाता है।

अब इन भावों का विस्तार से स्वरूप निरूपण करते हैं।

औदयिकभाव

२३४. से किं तं उदइए ?

उदइए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—उदए य १ उदयनिप्फण्णे य २।

[२३४ प्र.] भगवन् ! औदयिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२३४ उ.] आयुष्मन् ! औदयिकभाव दो प्रकार का है। जैसे—१. औदयिक और २. उदयनिष्पन्न।

२३५. से किं तं उदए ?

उदए अट्ठण्हं कम्मपगडीणं उदएणं। से तं उदए।

[२३५ प्र.] भगवन् ! औदयिक का क्या स्वरूप है ?

[२३५ उ.] आयुष्मन् ! ज्ञानावरणादिक आठ कर्मप्रकृतियों के उदय से होने वाला औदयिकभाव है।

२३६. से किं तं उदयनिप्फण्णे ?

उदयनिप्फण्णे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—जीवोदयनिप्फन्ने य १ अजीवोदयनिप्फन्ने य २।

[२३६ प्र.] भगवन् ! उदयनिष्पन्न औदयिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२३६ उ.] आयुष्मन् ! उदयनिष्पन्न औदयिकभाव के दो प्रकार हैं—१. जीवोदयनिष्पन्न, २. अजीवोदयनिष्पंन्न।

विवेचन—ये तीन सूत्र औदयिकभाव निरूपण की भूमिका हैं। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का उदय और कर्मों के उदय से होने वाला भाव-पर्याय औदयिकभाव है। इन दोनों भेदों में परस्पर कार्यकारणभाव है। ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का उदय होने पर तज्जन्य अवस्थायें उत्पन्न होने से कर्मोदय कारण है और तज्जन्य अवस्थायें कार्य हैं एवं उन-उन अवस्थाओं के होने पर विपाकोन्मुखी कर्मों का उदय होता है, इस दृष्टि से अवस्थायें कारण हैं और विपाकोन्मुख कर्मोदय कार्य है।

उदयनिष्पन्न के जीवोदयनिष्पन्न और अजीवोदयनिष्पन्न भेद मानने का कारण यह है कि कर्मोदय के जीव और अजीव यह दो माध्यम हैं। अतः कर्मोदयजन्य जो अवस्थायें साक्षात् जीव को प्रभावित करती हैं अथवा कर्म के उदय से जो पर्यायें जीव में निष्पन्न होती हैं, वे जीवोदयनिष्पन्न और अजीव के माध्यम से जिन अवस्थाओं का उदय होता है, वे अजीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव हैं।

जीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव

२३७. से किं तं जीवोदयनिप्फन्ने ?

जीवोदयनिप्फन्ने अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे, पुढविकाइए जाव वणस्सइकाइए, तसकाइए, कोहकसायी जाव लोहकसायी, इत्थीवेदए पुरिसवेदए णपुंसगवेदए, कण्हलेसे एवं नील० काउ० तेउ० पम्ह० सुक्कलेसे, मिच्छादिट्ठी अविरए अण्णाणी आहारए छउमत्थे सजोगी संसारत्थे असिद्धे। से तं जीवोदयनिप्फन्ने।

[२३७ प्र.] भगवन् ! जीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२३७ उ.] आयुष्मन् ! जीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव अनेक प्रकार का कहा गया है। यथा—नैरयिक, तिर्यंचयोनिक, मनुष्य, देव, पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक, क्रोधकषायी यावत् लोभकषायी, स्त्रीवेदी, पुरुपवेदी, नपुंसकवेदी, कृष्णलेश्यी, नील-कापोत-तेज-पद्म-शुक्ललेश्यी, मिथ्यादृष्टि, अविरत, अज्ञानी, आहारक, छद्मस्थ, सयोगी, संसारस्थ, असिद्ध।

यह जीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव का स्वरूप है।

अजीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव

२३८. से किं तं अजीवोदयनिप्फन्ने ?

अजीवोदयनिप्फन्ने चोद्दसविहे पण्णत्ते। तं जहा—ओरालियं वा सरीरं १ ओरालियसरीरपयोगपरिणामियं वा दव्वं २ वेउव्वियं वा सरीरं ३ वेउव्वियसरीरपयोगपरिणामियं वा दव्वं ४ एवं आहारगं सरीरं ६ तेयगं सरीरं ८ कम्मगं सरीरं च भाणियव्वं १० पयोगपरिणामिए वण्णे ११ गंधे १२ रसे १३ फासे १४। से तं अजीवोदयनिप्फण्णे। से तं उदयनिप्फण्णे। से तं उदए।

[२३८ प्र.] भगवन् ! अजीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२३८ उ.] आयुष्मन् ! अजीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव चौदह प्रकार का कहा है। यथा—१. औदारिकशरीर, २. औदारिकशरीर के व्यापार से परिणामितगृहीत द्रव्य, ३. वैक्रियशरीर, ४. वैयिक्रशरीर के प्रयोग से परिणामित द्रव्य, इसी प्रकार ५-६ आहारकशरीर और आहारकशरीर के व्यापार से परिणामित द्रव्य, ७-८ तैजसशरीर और तैजसशरीर के व्यापार से परिणामित द्रव्य, ९-१० कार्मणशरीर और कार्मणशरीर के व्यापार से परिणामित द्रव्य तथा ११-१४ पांचों शरीरों के व्यापार से परिणामित वर्ण, गंध, रस, स्पर्श द्रव्य।

इस प्रकार से यह अजीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव तथा उदयनिष्पन्न और औदयिक दोनों प्रकार के औदयिकभावों की प्ररूपणा जानना चाहिये।

विवेचन—इन दो सूत्रों में जीवोदयनिष्पन्न और अजीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव का निरूपण किया है। कर्मों के उदय से जीव में उदित होने वाला भाव जीवोदयनिष्पन्न और अजीव के माध्यम से उदित होने वाला भाव अजीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव है।

जीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव में नारक आदि चार गतियां, क्रोधादि चार कषाय, तीन वेद, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, छह लेश्यायें, असंयम, संसारित्व, असिद्धत्व आदि परिगणित किये गये हैं, क्योंकि

ये सब भाव कर्म के उदय से जीव में ही निष्पन्न होते हैं। जैसे कि गतिनामकर्म के उदय से मनुष्य-गति आदि गतियां उत्पन्न होती हैं और इन गतियों का उदय होने पर जीव मनुष्य, तिर्यंच आदि कहलाता है। इसी प्रकार क्रोधादि चारों कषायों का उदय कषायचारित्रमोहनीयकर्मजन्य है तथा नोकषायचारित्रमोहनीय का उदय होने पर स्त्री आदि वेदत्रिक, हास्यादि नोकषाय निष्पन्न होते हैं। मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से मिथ्यादर्शन और ज्ञानावरण के उदय से अज्ञान होता है। लेश्याएं कषायानुरंजित योगप्रवृत्ति रूप हैं और योग शरीरनामकर्म के उदय के फल हैं। चारित्रमोहनीय के सर्वघातिस्पर्धकों के उदय से असंयतभाव तथा किसी भी कर्म का उदय रहने तक असिद्धत्वभाव एवं संसारस्थत्वभाव होता है। इसी प्रकार कर्मोदय से जीव में जो भी अन्य पर्याय निष्पन्न हों, वे सब जीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव रूप हैं।

सूत्रकार द्वारा सूत्र में जीवोदयनिष्पन्न के रूप में किये गये कतिपय नामों का उल्लेख उपलक्षण मात्र है। अतः इनके समान ही निद्रा, निद्रानिद्रा आदि निद्रापंचक प्रभृति जो भी जीव के स्वाभाविक गुणों के घातक कर्म हैं, उन सबके उदय से उत्पन्न पर्यायों को जीवोदयनिष्पन्न औदयिक-भावरूप समझना चाहिये।

अजीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव के भी अनेक प्रकार बताये हैं। जैसे औदारिक आदि शरीर। इन शरीरादि को अजीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव इसलिये कहा है कि यद्यपि नारकत्व आदि पर्यायों की तरह औदारिक आदि शरीर भी जीव के होते हैं, लेकिन औदारिक आदि शरीरनामकर्मों का विपाक मुख्यतया शरीर रूप परिणत पुद्‌गलों में होने से इन्हें पुद्‌गलविपाकी प्रकृतियों में परिगणित किया है और पुद्‌गल अजीव है। अतः इनको अजीवोदयनिष्पन्न औदयिकभाव रूप माना जाता है।

औपशमिकभाव

२३९. से किं तं उवसमिए ?

उवसमिए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—उवसमे य १ उवसमनिप्फण्णे य २।

[२३९ प्र.] भगवन्! औपशमिकभाव का क्या स्वरूप है?

[२३९ उ.] आयुष्मन्! औपशमिकभाव दो प्रकार का है। वह इस प्रकार—१. उपशम और २. उपशमनिष्पन्न।

२४०. से किं तं उवसमे ?

उवसमे मोहणिज्जस्स कम्मस्स उवसमेणं। से तं उवसमे।

[२४० प्र.] भगवन्! उपशम (औपशमिक) का क्या स्वरूप है?

[२४० उ.] आयुष्मन्! मोहनीयकर्म के उपशम से होने वाले भाव को उपशम (औपशमिक) भाव कहते हैं।

२४१. से किं तं उवसमनिप्फण्णे ?

उवसमनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—उवसंतकोहे जाव उवसंतलोभे उवसंतपेज्जे उवसंतदोसे उवसंतदंसणमोहणिज्जे उवसंतचरित्तमोहणिज्जे उवसंतमोहणिज्जे उवसमिया सम्मत्तलद्धी उवसमिया चरित्तलद्धी उवसंतकसायछउमत्थवीतरागे। से तं उवसमनिप्फण्णे। से तं उवसमिए।

[२४१ प्र.] भगवन् ! उपशमनिष्पन्न औपशमिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२४१ उ.] आयुष्मन् ! उपशमनिष्पन्न औपशमिकभाव के अनेक प्रकार हैं। जैसे कि उपशांतक्रोध यावत् उपशांतलोभ, उपशांतराग, उपशांतद्वेष, उपशांतदर्शनमोहनीय, उपशांतचारित्र-मोहनीय, उपशांतमोहनीय, औपशमिक सम्यक्त्वलब्धि, औपशमिक चारित्रलब्धि, उपशांतकषाय छद्मस्थवीतराग आदि उपशमनिष्पन्न औपशमिकभाव हैं।

इस प्रकार से औपशमिकभाव का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्रकार ने इन तीन सूत्रों में औपशमिकभाव का स्वरूप बतलाया है। उपशम से होने वाला औपशमिक भाव दो प्रकार का है। एक प्रकार का औपशमिक भाव तो वह है जो मोहनीयकर्म के उपशम से होता है।

मोहनीयकर्म दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार का है। दर्शनमोहनीय के उदय से जीव आत्मस्वरूप का दर्शन, श्रद्धान करने में असमर्थ रहता है। उसकी श्रद्धा-प्रतीति यथार्थ नहीं होती है और चारित्रमोहनीय के उदय रहते जीव आत्मस्वरूप में स्थिर नहीं हो पाता है। दर्शनमोहनीय के तीन भेदों और चारित्रमोहनीय के २५ भेदों को मिलाने से मोहनीयकर्म के अट्ठाईस भेद हैं। मोहनीयकर्म का पूर्ण उपशम ग्यारहवें गुणस्थान में होता है।

दर्शनमोहनीय के उपशम से सम्यक्त्वलब्धि की और चारित्रमोहनीय के उपशम से चारित्र-लब्धि की प्राप्ति होती है। यह बतलाने के लिये सूत्र में उवसमिया सम्मत्तलद्धी, उवसमिया चारित्रलद्धी यह दो पद दिये हैं।

दूसरे उपशमनिष्पन्न औपशमिकभाव के अनेक भेद दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के अनेक प्रभेदों के उपशांत होने की अपेक्षा से जानना चाहिये। इसीलिये उपशांतक्रोध आदि का निर्देश किया है।

उपशांतकषायछद्मस्थवीतराग—इसमें उपशांतकषाय, छद्मस्थ और वीतराग, यह तीन शब्द हैं। अर्थात् कषाय के उपशांत हो जाने से राग-द्वेष का सर्वथा उदय नहीं है, किन्तु छद्म (ज्ञानावरण आदि आवरणभूत घातिकर्म) अभी शेष हैं। इस प्रकार की स्थिति उपशांतकषायछद्-मस्थवीतराग कहलाती है। इसमें मोहनीयकर्म की सत्ता तो है, किन्तु उदय नहीं होने से शरद् ऋतु में होने वाले सरोवर के जल की तरह मोहनीयकर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले जीव के निर्मल परिणाम होते हैं।

क्षायिकभाव

२४२. से किं तं खइए ?

खइए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा – खए य १ खयनिप्फण्णे य २।

[२४२ प्र.] भगवन् ! क्षायिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२४२ उ.] आयुष्मन् ! क्षायिकभाव दो प्रकार का कहा गया है। यथा—१. क्षय और २. क्षयनिष्पन्न।

२४३. से किं तं खए ?

खए अट्ठण्हं कम्मपगडीणं खएणं । से तं खए ।

[२४३ प्र.] भगवन् ! क्षय-क्षायिकभाव किसे कहते हैं ?

[२४३ उ.] आयुष्मन् ! आठ कर्मप्रकृतियों के क्षय से होने वाला भाव क्षायिक है ।

२४४. से किं तं खयनिप्फण्णे ?

खयनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा—उप्पण्णणाणदंसणधरे-अरहा जिणे केवली खीणआभिणिबोहियणाणावरणे खीणसुयणाणावरणे खीणओहिणाणावरणे खीणमणपज्जवणाणावरणे खीणकेवलणाणावरणे अणावरणे णिरावरणे खीणावरणे णाणावरणिज्जकम्मविप्पमुक्के, केवलदंसी सव्वदंसी खीणनिद्दे खीणनिद्दानिद्दे खीणपयले खीणपयलापयले खीणथीणगिद्धे खीणचक्खुदंसणावरणे खीणअचक्खुदंसणावरणे खीणओहिदंसणावरणे खीणकेवलदंसणावरणे अणावरणे निरावरणे खीणावरणे दरिसणावरणिज्जकम्मविप्पमुक्के, खीणसायवेयणिज्जे खीणअसायवेयणिज्जे अवेयणे निव्वेयणे खीणवेयणे सुभाऽसुभवेयणिज्जकम्मविप्पमुक्के, खीणकोहे जाव खीणलोभे खीणपेज्जे खीणदोसे खीणदंसणमोहणिज्जे खीणचरित्तमोहणिज्जे अमोहे निम्मोहे खीणमोहे मोहणिज्जकम्मविप्पमुक्के, खीणणेरइयाउए खीणतिरिक्खजोणियाउए खीणमणुस्साउए खीणदेवाउए अणाउए निराउए खीणाउए आउयकम्मविप्पमुक्के, गति-जाति-सरीरंगोवंग-बंधण-संघात-संघतण-अणेगबोंदिविंदसंघायविप्पमुक्के, खीणसुभनामे खीणासुभणामे अणामे णिण्णामे खीणनामे सुभाऽसुभणामकम्मविप्पमुक्के, खीणउच्चागोए, खीणणीयागोए अगोए निग्गोए खीणगोए सुभाऽसुभगोत्तकम्मविप्पमुक्के, खीणदाणंतराए खीणलाभंतराए खीणभोगंतराए खीणुवभोगंतराए खीणविरियंतराए अणंतराए णिरंतराए खीणंतराए अंतराइयकम्मविप्पमुक्के, सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिणिव्वुए अंतगडे सव्वदुक्खप्पहीणे । से तं खयनिप्फण्णे । से तं खइए ।

[२४४ प्र.] भगवन् ! क्षयनिष्पन्न क्षायिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२४४ उ.] आयुष्मन् ! क्षयनिष्पन्न क्षायिकभाव अनेक प्रकार का कहा है । यथा—उत्पन्नज्ञानदर्शनधारी, अर्हत्, जिन, केवली, क्षीणआभिनिबोधिकज्ञानावरण वाला, क्षीणश्रुतज्ञानावरण-वाला, क्षीणअवधिज्ञानावरण वाला, क्षीणमनःपर्ययज्ञानावरण वाला, क्षीणकेवलज्ञानावरण वाला, अविद्यमान आवरण वाला, निरावरण वाला, क्षीणावरण वाला, ज्ञानावरणीयकर्मविप्रमुक्त, केवलदर्शी, सर्वदर्शी, क्षीणनिद्र, क्षीणनिद्रानिद्र, क्षीणप्रचल, क्षीणप्रचलाप्रचल, क्षीणस्त्यानगृद्धि, क्षीणचक्षुदर्शनावरण वाला, क्षीणअचक्षुदर्शनावरण वाला, क्षीणअवधिदर्शनावरण वाला, क्षीणकेवलदर्शनावरण वाला, अनावरण, निरावरण, क्षीणावरण, दर्शनावरणीयकर्मविप्रमुक्त, क्षीणसातावेदनीय, क्षीण-असातावेदनीय, अवेदन, निर्वेदन, क्षीणवेदन, शुभाशुभ-वेदनीयकर्मविप्रमुक्त, क्षीणक्रोध यावत् क्षीणलोभ, क्षीणराग, क्षीणद्वेष, क्षीणदर्शनमोहनीय, क्षीणचारित्रमोहनीय, अमोह, निर्मोह, क्षीणमोह, मोहनीयकर्मविप्रमुक्त, क्षीणनरकायुष्क, क्षीणतिर्यंचायुष्क, क्षीणमनुष्यायुष्क, क्षीणदेवायुष्क, अनायुष्क, निरायुष्क, क्षीणायुष्क, आयुकर्मविप्रमुक्त, गति-जाति-शरीर-अंगोपांग-बंधन-संघात-संहनन-अनेक-शरीरवृन्दसंघातविप्रमुक्त, क्षीण-शुभनाम, क्षीण-सुभगनाम, अनाम, निर्नाम, क्षीणनाम, शुभाशुभ-

नामकर्मविप्रमुक्त, क्षीण-उच्चगोत्र, क्षीण-नीचगोत्र, अगोत्र, निर्गोत्र, क्षीणगोत्र, शुभाशुभगोत्रकर्म-विप्रमुक्त, क्षीण-दानान्तराय, क्षीण-लाभान्तराय, क्षीण-भोगान्तराय, क्षीण-उपभोगान्तराय, क्षीण-वीर्यान्तराय, अनन्तराय, निरंतराय, क्षीणान्तराय, अंतरायकर्मविप्रमुक्त, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत्त, अंतकृत, सर्वदुःखप्रहीण ।

यह क्षयनिष्पन्न क्षायिकभाव का स्वरूप है। इस प्रकार से क्षायिकभाव की वक्तव्यता जानना चाहिये ।

विवेचन—यहाँ क्षय और क्षयनिष्पन्न भावों का स्वरूप निरूपण किया है ।

क्षायिकभाव अपने-अपने उत्तरभेदों सहित ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के सर्वथा अपगम रूप है और क्षयनिष्पन्न क्षायिक भावों के रूप में जो नाम गिनाये हैं, वे क्षय से उत्पन्न हुई आत्मा की निज स्वाभाविक अवस्थाएँ हैं । कर्मों के नष्ट होने पर आत्मा का जो मौलिक रूप प्रकट होता है, उसी के ये वाचक हैं । जैसे केवलज्ञानावरण के नष्ट होने पर आत्मा में केवलज्ञानगुण प्रकट हो जाता है और मतिज्ञान आदि चार क्षायोपशमिक ज्ञान क्षायिक रूप हो जाते हैं—केवलज्ञान में अन्तर्हित हो जाते हैं, तब क्षीणकेवलज्ञानावरण ऐसा जो नाम होता है वह नाम, स्थापना या द्रव्यनिक्षेप रूप नहीं होता किन्तु भावनिक्षेप रूप होता है । इसी प्रकार शेष नामों के लिये भी जानना चाहिये ।

यद्यपि सूत्रोक्त नामों का वर्गीकरण आवश्यक नहीं है, सभी नाम निष्कर्मा आत्मा के बोधक हैं । तथापि सुगमबोध के लिये उन नामों के तीन वर्ग इस प्रकार हो सकते हैं—

१. प्रथम वर्ग उन नामों का है जिनसे कर्मों के सर्वथा क्षीण होने पर आत्मा को संबोधित किया जाता है । ये नाम हैं—उत्पन्नज्ञान-दर्शनधारी, अर्हत्, जिन, केवली ।

२. दूसरे वर्ग में वे नाम हैं जो पांच प्रकार के ज्ञानावरणकर्म, नौ प्रकार के दर्शनावरणकर्म, दो प्रकार के वेदनीयकर्म, अट्ठाईस प्रकार के मोहनीयकर्म, चार प्रकार के आयुष्यकर्म, बयालीस प्रकार के नामकर्म, दो प्रकार के गोत्रकर्म और पांच प्रकार के अंतरायकर्म के क्षय से निष्पन्न हैं। इन नामों का उल्लेख क्षीण-आभिनिबोधिकज्ञानावरण से अन्तरायकर्मविप्रमुक्त पद तक किया है तथा सर्वथा कर्मप्रकृतियों के क्षय से सिद्धावस्था प्राप्त होने से यह कथन सिद्ध भगवान् की अपेक्षा जानना चाहिये ।

३. तीसरे वर्ग के नामों में सर्वथा कर्मक्षय होने पर सम्भव आत्मा की अवस्था का निरूपण किया है । इसके द्योतक शब्द सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत्त, अंतकृत और सर्वदुःखप्रहीण हैं ।

पदसार्थक्य—सूत्रगत सभी पद पारिभाषिक हैं। इनमें से अधिकांश के लक्षण पंचसंग्रह, कर्मप्रकृति आदि कर्मग्रन्थों से जानकर और उनके साथ क्षीण शब्द जोड़ने पर ज्ञात हो सकते हैं। किन्तु कुछ पद ऐसे हैं कि पर्यायवाची होने से उनमें शब्दनय की अपेक्षा भेद नहीं है किन्तु समभिरूढ-नय की अपेक्षा उनके वाच्यार्थ में भेद हो जाता है । ऐसे पदों का यहाँ उल्लेख किया जाता है—

अणावरणे निरावरणे खीणावरणे—वर्तमान में आत्मा अविद्यमान आवरणवाला होने से अनावरण रूप है, किन्तु भविष्य में पुनः कर्मसंयोग होने की सम्भावना का निराकरण करने के लिए

निरावरण पद दिया है और कर्मसंयोग न होना तभी सम्भव है जब कर्म निःसत्ताक हो जाएं। यह बताने के लिये क्षीणावरण पद दिया है।

अवेयणे निव्वेयणे खीणवेयणे—अवेदन का अर्थ है वेदना (अनुभूति) रहित किन्तु 'अ' उपसर्ग अल्प, ईषद् अर्थ में भी प्रयुक्त होने से अवेदन का अर्थ अल्पवेदन भी हो सकता है। अतः इस असंगत अर्थ का निराकरण करने के लिये 'निर्वेदन' पद प्रयुक्त किया है। आशय यह कि सर्वथा वेदनारहित को निर्वेदन समझना चाहिये और वर्तमान की यह निर्वेदन रूप अवस्था कालान्तरस्थायी भी है, इसका बोधक 'क्षीणवेदन' पद है।

अमोहे निम्मोहे खीणमोहे—अमोह अर्थात् अपगत मोहनीयकर्म वाला। परन्तु अमोह का एक अर्थ अल्प मोह वाला भी संभव होने से उसका निराकरण करने के लिये 'निर्मोह' पद दिया है। निःशेष रूप से मोहकर्म रहित ऐसा निर्मोही अमोह पद का वाच्य है। ऐसा निर्मोही भी कालान्तर में मोहोदययुक्त बन सकता है, जैसे उपशांतमोहवाला। इस आशंका को निर्मूल करने के लिये क्षीणमोह पद दिया है कि अपुनर्भव रूप मोहोदयवाला जीव अमोह, निर्मोह नाम से यहाँ ग्रहण किया गया है।

इसी प्रकार अणामे, निण्णामे, खीणनामे, अगोए, निग्गोए, खीणगोए, अणंतराए, णिरंतराए, खीणंतराए पदों की सार्थकता का विचार नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म की अपेक्षा कर लेना चाहिये।

अणाउए निराउए खीणाउए—तद्भवसंबन्धी आयु के क्षय होने पर भी जीव अनायुष्क कहलाता है। अतः ऐसे अनायुष्क का निराकरण करने के लिये—जिसका आयुकर्म निःशेष रूप से समाप्त हो चुका है ऐसे अनायुष्क का ग्रहण करने के लिये निरायुष्क पद दिया है। ऐसी निरायुष्क अवस्था जीव की शैलेशी दशा में हो जाती है। वहाँ संपूर्ण रूप से निरायुष्कता तो नहीं है किन्तु किंचिन्मात्र आयु अवशिष्ट होने पर भी उपचार से उसे निरायुष्क कहते हैं। अतः इस आशंका को दूर करने के लिये 'क्षीणायुष्क' पद रखा है, अर्थात् संपूर्ण रूप से जिसका आयुकर्म क्षीण हो चुकता है वही अनायुष्क, निरायुष्क नाम वाला कहलाता है।

उपर्युक्त पदों की सार्थकता तो ज्ञानावरण आदि पृथक्-पृथक् कर्म के क्षय की अपेक्षा जानना चाहिये और आठों कर्मों के सर्वथा नष्ट होने पर निष्पन्न पदों की सार्थकता इस प्रकार है—

सिद्ध—समस्त प्रयोजन सिद्ध हो जाने से सिद्ध यह नाम निष्पन्न होता है। **बुद्ध**—बोध स्वरूप हो जाने से बुद्ध, **मुक्त**—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहबंधन से छूट जाने पर मुक्त, **परिनिर्वृत्त**—सर्व प्रकार से, सब तरफ से शीतीभूत हो जाने से परिनिर्वृत्त, **अन्तकृत्**—संसार के अंतकारी होने से अन्तकृत् और **सर्वदुःखप्रहीण**—शारीरिक एवं मानसिक समस्त दुःखों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने से सर्वदुःखप्रहीण नाम निष्पन्न होता है।

इस प्रकार से क्षायिक और क्षयनिष्पन्न क्षायिकभाव की वक्तव्यता का आशय जानना चाहिये।

क्षायोपशमिकभाव

२४५. से किं तं खओवसमिए ?

खओवसमिए दुविहे पन्नत्ते। तं जहा—खओवसमे य १ खओवसमनिप्फन्ने य २।

[२४५ प्र.] भगवन् ! क्षायोपशमिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२४५ उ.] आयुष्मन् ! क्षायोपशमिकभाव दो प्रकार का है। वह इस प्रकार—१. क्षयोपशम और २. क्षयोपशमनिष्पन्न।

२४६. से किं तं खओवसमे ?

खओवसमे चउण्हं घाइकम्माणं खओवसमेणं। तं जहा—नाणावरणिज्जस्स १ दंसणावरणिज्जस्स २ मोहणिज्जस्स ३ अंतराइयस्स ४। से तं खओवसमे।

[२४६ प्र.] भगवन् ! क्षयोपशम का क्या स्वरूप है ?

[२४६ उ.] आयुष्मन् ! १. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. मोहनीय और ४. अन्तराय, इन चार घातिकर्मों के क्षयोपशम को क्षयोपशमभाव कहते हैं।

२४७. से किं तं खओवसमनिप्फन्ने ?

खओवसमनिप्फन्ने अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—खओवसमिया आभिणिबोहियणाणलद्धी जाव खओवसमिया मणपज्जवणाणलद्धी, खओवसमिया मतिअण्णाणलद्धी खओवसमिया सुयअण्णाणलद्धी खओवसमिया विभंगणाणलद्धी, खओवसमिया चक्खुदंसणलद्धी एवमचक्खुदंसणलद्धी ओहिदंसणलद्धी, एवं सम्मद्दंसणलद्धी मिच्छादंसणलद्धी सम्मामिच्छादंसणलद्धी, खओवसमिया सामाइयचरित्तलद्धी एवं छेदोवट्ठावणलद्धी परिहारविसुद्धियलद्धी सुहुमसंपराइयलद्धी एवं चरित्ताचरित्तलद्धी, खओवसमिया दाणलद्धी एवं लाभ० भोग० उवभोग० खओवसमिया वीरियलद्धी एवं पंडियवीरियलद्धी बालवीरियलद्धी बालपंडियवीरियलद्धी, खओवसमिया सोइंदियलद्धी जाव खओवसमिया फासिंदियलद्धी, खओवसमिए आयारधरे एवं सूयगडधरे ठाणधरे समवायधरे विवाहपण्णतिधरे एवं नायाधम्मकहा० उवासगदसा० अंतगडदसा० अणुत्तरोववाइयदसा० पण्हावागरण० खओवसमिए विवागसुयधरे खओवसमिए दिट्ठिवायधरे, खओवसमिए णवपुव्वी जाव चोद्दसपुव्वी, खओवसमिए गणी खओवसमिए वायए। से तं खओवसमनिप्फण्णे। से तं खओवसमिए।

[२४७ प्र.] भगवन् ! क्षयोपशमनिष्पन्न क्षायोपशमिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२४७ उ.] आयुष्मन् ! क्षयोपशमनिष्पन्न क्षायोपशमिकभाव अनेक प्रकार का है। यथा—क्षायोपशमिकी आभिनिबोधिकज्ञानलब्धि यावत् क्षायोपशमिकी मनःपर्यायज्ञानलब्धि, क्षायोपशमिकी मति-अज्ञानलब्धि, क्षायोपशमिकी श्रुत-अज्ञानलब्धि, क्षायोपशमिकी विभंगज्ञानलब्धि, क्षायोपशमिकी चक्षुदर्शनलब्धि, इसी प्रकार अचक्षुदर्शनलब्धि, अवधिदर्शनलब्धि, सम्यग्दर्शनलब्धि, मिथ्यादर्शनलब्धि, सम्यग्मिथ्यादर्शनलब्धि, क्षायोपशमिकी सामायिकचारित्रलब्धि, छेदोपस्थापनालब्धि, परिहारविशुद्धिलब्धि, सूक्ष्मसंपरायिकलब्धि, चारित्राचारित्रलब्धि, क्षायोपशमिकी दान-लाभ-भोग-उपभोगलब्धि, क्षायोपशमिकी वीर्यलब्धि, पंडितवीर्यलब्धि, बालवीर्यलब्धि, बालपंडितवीर्यलब्धि, क्षायोपशमिकी श्रोत्रेन्द्रियलब्धि यावत् क्षायोपशमिकी स्पर्शनेन्द्रियलब्धि, क्षायोपशमिक आचारांगधारी, सूत्रकृतांगधारी, स्थानांगधारी, समवायांगधारी, व्याख्याप्रज्ञप्तिधारी, ज्ञाताधर्मकथांगधारी, उपासकदशांगधारी, अन्तकृद्दशांगधारी, अनुत्तरोपपातिकदशांगधारी, प्रश्नव्याकरणधारी, क्षायोपशमिक

विपाकश्रुतधारी, क्षायोपशमिक दृष्टिवादधारी, क्षायोपशमिक नवपूर्वधारी यावत् चौदहपूर्वधारी, क्षायोपशमिक गणी, क्षायोपशमिक वाचक। ये सब क्षयोपशमनिष्पन्नभाव हैं।

यह क्षायोपशमिकभाव का स्वरूप है।

विवेचन—यहाँ सप्रभेद क्षायोपशमिकभाव का स्वरूप स्पष्ट किया है। एक तो तत्तत्—अमुक-अमुक कर्म का क्षयोपशम ही क्षायोपशमिक है और दूसरा क्षयोपशमनिष्पन्नभाव क्षायोपशमिक है। विवक्षित ज्ञानादि गुणों का घात करने वाले उदयप्राप्त कर्म का क्षय– सर्वथा अपगम और अनुदीर्ण उन्हीं कर्मों का उपशम—विपाक की अपेक्षा उदयाभाव, इस प्रकार के क्षय से उपलक्षित उपशम को क्षयोपशम कहते हैं और इस क्षयोपशम से निष्पन्न पर्याय क्षयोपशमनिष्पन्नभाव है।

जिस कर्म में सर्वघाती और देशघाती ये दोनों प्रकार के स्पर्धक (अंश) पाये जाते हैं, उनका क्षयोपशम होता है। किन्तु जिनमें केवल देशघातीस्पर्धक ही पाये जाते हैं ऐसे हास्यादि नवनोकषाय और जिनमें मात्र सर्वघातीस्पर्धक ही पाये जाते हैं, ऐसे केवलज्ञानावरण आदि कर्मों का क्षयोपशम नहीं होता है।

यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वघाती ही हैं किन्तु इन्हें अपेक्षाकृत देशघाती मान लिये जाने से अनन्तानुबंधी आदि कषायों का क्षयोपशम माना जाता है तथा अघाति कर्मों में देशघाति और सर्वघाति रूप विकल्प न होने से उनका क्षयोपशम संभव नहीं है।

इस प्रकार से यह क्षयोपशम की सामान्य भूमिका जानना चाहिये। किस-किस कर्म के क्षयोपशम से कौन-कौन से भाव प्रकट होते हैं, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

आभिनिबोधिकज्ञान अर्थात् मतिज्ञान। इस ज्ञान की प्राप्ति का नाम आभिनिबोधिकज्ञानलब्धि है। यह मतिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होने के कारण क्षायोपशमिकी है। इसी प्रकार श्रुतज्ञानलब्धि, अवधिज्ञानलब्धि और मनःपर्यायज्ञानलब्धि तत्तत् ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होने के कारण क्षयोपशमनिष्पन्न हैं।

केवलज्ञान और केवलदर्शन भी लब्धिरूप हैं। किन्तु केवलज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के क्षय से प्राप्त होने के कारण यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया है। वे क्षयनिष्पन्नलब्धि हैं।

मति-अज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से मति-अज्ञान, श्रुत-ज्ञानावरण के क्षयोपशम से श्रुत-अज्ञान, विभंग-ज्ञानावरण के क्षयोपशम से विभंगज्ञान की प्राप्ति होने से इन्हें क्षायोपशमिकी मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभंगज्ञानलब्धि कहा है। यहाँ अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं किन्तु मिथ्याज्ञान समझना चाहिए।

क्षायोपशमिकी चक्षुदर्शनलब्धि, अचक्षुदर्शनलब्धि, अवधिदर्शनलब्धि क्रमशः चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होने के कारण क्षयोपशम-निष्पन्न हैं।

सम्यग्दर्शनलब्धि, मिथ्यादर्शनलब्धि, सम्यग्मिथ्यादर्शनलब्धि की प्राप्ति मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होने के कारण क्षयोपशमनिष्पन्न हैं।

सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय नामक चार चारित्रलब्धियां

चारित्रमोहनीयकर्म के क्षयोपशम से तथा चारित्राचारित्रलब्धि (देशचारित्रलब्धि) अनन्तानुबंधी एवं अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से प्राप्त होती है।

दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य लब्धि दानान्तराय आदि पांच अन्तरायकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होने के कारण क्षयोपशमनिष्पन्न हैं।

पंडितवीर्यलब्धि, बालवीर्यलब्धि एवं बालपंडितवीर्यलब्धि की प्राप्ति वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से होती है।

श्रोत्रेन्द्रिय से लेकर स्पर्शनेन्द्रिय तक की पांच इन्द्रियलब्धियां भावेन्द्रिय की अपेक्षा जानना चाहिये। वे मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण के क्षयोपशम से होती हैं। इसी प्रकार आचारांग आदि बारह अंगों को धारण करने और वाचक रूप लब्धियां श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से होती हैं। अतः ये क्षायोपशमिक हैं।

क्षायोपशमिक और उपशमभाव में अन्तर—क्षय और उपशम का संयोगज रूप क्षयोपशम है। उदयप्राप्त कर्म का क्षय और अनुदीर्ण उसी कर्म का विपाक की अपेक्षा से उदयाभाव इस प्रकार के क्षय से उपलक्षित उपशम क्षयोपशम कहलाता है। यही स्थिति औपशमिकभाव की भी है। वहाँ भी उदयप्राप्त कर्म का सर्वथा क्षय और अनुदयप्राप्त कर्म का न क्षय और न उदय किन्तु उपशम है। इस प्रकार सामान्य से दोनों में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता है। फिर भी दोनों में अन्तर है। वह यह कि क्षयोपशमभाव में कर्म का जो उपशम है वह विपाक की अपेक्षा से है, प्रदेश की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि प्रदेश की अपेक्षा से तो वहाँ कर्म का उदय रहता है। परन्तु औपशमिकभाव में विपाक और प्रदेश दोनों की अपेक्षा उपशम जानना चाहिये। औपशमिकभाव में कर्म का न विपाकोदय होता है और न प्रदेशोदय ही होता है। इसीलिये क्षायोपशमिक और औपशमिक ये दोनों पृथक्-पृथक् भाव माने गये हैं।

क्षयोपशम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घाति कर्मो का ही होता है, अन्य कर्मो का नहीं, जब कि करणसाध्य उपशम सिर्फ मोहनीयकर्म का ही होता है।

इस प्रकार से क्षायोपशमिकभाव की वक्तव्यता जानना चाहिये।

पारिणामिकभाव

२४८. से किं तं पारिणामिए ?

पारिणामिए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—सादिपारिणामिए य १ अणादिपारिणामिए य २।

[२४८ प्र] भगवन् ! पारिणामिकभाव किसे कहते हैं ?

[२४८ उ.] आयुष्मन् ! पारिणामिकभाव के दो प्रकार हैं। यथा—१. सादिपारिणामिक, २. अनादिपारिणामिक।

२४९. से किं तं सादिपारिणामिए ?

सादिपारिणामिए अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—

जुण्णसुरा जुण्णगुलो जुण्णघयं जुण्णतंदुला चेव।
अब्भा य अब्भरुक्खा संझा गंधव्वणगरा य ॥ २४ ॥

उक्कावाया दिसादाघा गज्जियं विज्जू णिग्घाया जूवया जक्खादित्ता धूमिया महिया रयुग्घाओ चंदोवरागा सूरोवरागा चंदपरिवेसा सूरपरिवेसा पडिचंदया पडिसूरया इंदधणू उदगमच्छा कविहसिया अमोहा वासा वासधरा गामा णगरा घरा पव्वता पायाला भवणा निरया रयणप्पभा सक्करप्पभा वालुयप्पभा पंकप्पभा धूमप्पभा तमा तमतमा सोहम्मे ईसाणे जाव आणए पाणए आरणे अच्चुए गेवेज्जे अणुत्तरोववाइया ईसीपब्भारा परमाणुपोग्गले दुपदेसिए जाव अणंतपदेसिए। से तं सादिपारिणामिए।

[२४९ प्र.] भगवन्! सादिपारिणामिकभाव का क्या स्वरूप है?

[२४९ उ.] आयुष्मन्! सादिपारिणामिकभाव के अनेक प्रकार हैं। जैसे—

जीर्ण सुरा, जीर्ण गुड़, जीर्ण घी, जीर्ण तंदुल, अभ्र, अभ्रवृक्ष, संध्या, गंधर्वनगर। १२४

तथा—

उल्कापात, दिग्दाह, मेघगर्जना, विद्युत, निर्घात्, यूपक, यक्षादिप्त, धूमिका, महिका, रजोद्धात, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, चन्द्रपरिवेष, सूर्यपरिवेष, प्रतिचन्द्र, प्रतिसूर्य, इन्द्रधनुष, उदकमत्स्य, कपिहसित, अमोघ, वर्ष (भरतादि क्षेत्र), वर्षधर (हिमवानादि पर्वत), ग्राम, नगर, घर, पर्वत, पातालकलश, भवन, नरक, रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, तमस्तमःप्रभा, सौधर्म, ईशान, यावत् आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, ग्रैवेयक, अनुत्तरोपपातिक देव-विमान, ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी, परमाणुपुद्गल, द्विप्रदेशिक स्कन्ध से लेकर अनन्त प्रदेशिक स्कन्ध सादि-पारिणामिकभाव रूप हैं।

२५०. से किं अणादिपारिणामिए?

अणादिपारिणामिए धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अद्धासमए लोए अलोए भवसिद्धिया अभवसिद्धिया। से तं अणादिपारिणामिए। से तं पारिणामिए।

[२५० प्र.] भगवन्! अनादिपारिणामिकभाव का क्या स्वरूप है?

[२५० उ.] आयुष्मन्! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, अद्धासमय, लोक, अलोक, भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक, ये अनादि पारिणामिक हैं।

यह पारिणामिकभाव का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में पारिणामिक भाव का निरूपण किया है। वह सादि और अनादि के भेद से दो प्रकार का है।

पारिणामिकभाव का लक्षण व विशेषता—द्रव्य के मूल स्वभाव का परित्याग न होना और पूर्व अवस्था का विनाश तथा उत्तर अवस्था की उत्पत्ति होती रहना परिणमन-परिणाम है। अर्थात् स्वरूप में स्थित रहकर उत्पन्न तथा नष्ट होना परिणाम है। ऐसे परिणाम को अथवा इस परिणाम से जो निष्पन्न हो उसे पारिणामिक कहते हैं।

पारिणामिकभाव के कारण ही जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, उसी रूप में उसका परिणमन-परिवर्तन होता है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में स्वभावस्थ रहते हुए ही परिवर्तन होता है। वह न तो सर्वथा तदवस्थ नित्य है और न सर्वथा क्षणिक ही।

परिणाम के इस लक्षण द्वारा द्रव्य और गुण में एकान्त भेद एवं द्रव्य को सर्वथा अविकृत और गुणों को उत्पन्न-विनष्ट मानने वाले नैयायिक आदि दर्शनों का तथा वस्तुमात्र को क्षणस्थायी—निरन्वय विनाशी मानने वाले बौद्धदर्शन के मंतव्यों का निराकरण किया गया है।

यह पारिणामिकभाव सादि और अनादि के भेद से दो प्रकार का है।

सादिपारिणामिक संबन्धी स्पष्टीकरण—सादिपारिणामिक के अनेक प्रकारों की सादिता का कारण यह है--

सुरा, गुड़, घृत और तंदुलों की नव्य और जीर्ण, इन दोनों अवस्थाओं में अनुगत होने पर भी उनमें नवीनता पर्याय के निवृत्त होने पर जीर्णता रूप पर्याय उत्पन्न होता है। इसलिये सादिपारिणामिक के उदाहरण रूप में जीर्ण विशेषण से विशिष्ट सुरा आदि पदों को रखा है। जीर्णता उपलक्षण है, अतः इसी प्रकार से नव्य विशेषण के लिये भी समझना चाहिये।

भरतादि क्षेत्र सादिपारिणामिक कैसे ?—भरतादि क्षेत्र, हिमवान् आदि वर्षधर पर्वत, नरकभूमियां एवं देवविमान अपने आकार मात्र से अवस्थित रहने के कारण शाश्वत अवश्य हैं किन्तु वे पौद्‌गलिक हैं और पुद्‌गलद्रव्य परिणमनशील होने से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल बाद उसमें अवश्य परिणमन होता है। तब विलग हुए उन पुद्‌गलस्कन्धों के स्थान में दूसरे-दूसरे स्कन्ध मिलकर उस-उस रूप परिणत हो जाते हैं। इसलिये वर्षधरादिकों को सादिपारिणामिकता के रूप में उदाहृत किया है। मेघ आदि में तो कुछ काल पर्यन्त ही रहने से सादिरूपता स्वयंसिद्ध है।

धर्मास्तिकाय आदि षड् द्रव्य, लोक, अलोक, भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक अनादिपारिणामिकभाव इसलिये है कि वे स्वभावतः अनादि काल से उस-उस रूप से परिणत हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे।

सूत्रगत कठिन शब्दों के अर्थ—**अब्भा**—अभ्र, मेघ। **अब्भरुक्खा**—अभ्रवृक्ष—वृक्षाकार में परिणत हुए मेघ। **संझा**—संध्या—दिनरात्रि का संधिकाल। **गंधव्वणगरा**—गंधर्वनगर--उत्तम प्रासाद से शोभित नगर की आकृति जैसे आकाश में बने हुए पुद्‌गलों का परिणमन। **उक्कावाया**—उल्कापात—आकाशप्रदेश से गिरता हुआ तेजपुंज। **दिसादाघा**—दिग्दाह—किसी एक दिशा की ओर आकाश में जलती हुई अग्नि का आभास होना—दिखाई देना। **गज्जिय**—गर्जित-मेघ की गर्जना। **विज्जू**—विद्युत—बिजली। **णिग्घाया**--निर्घात—गाज (बिजली) गिरना। **जूवया**—यूपक—शुक्लपक्ष सम्बन्धी प्रथम तीन दिन का बाल चन्द्र। **जक्खादित्ता**—यक्षादीप्त—आकाश में दिखाई देती हुई पिशाचाकृति अग्नि। **धूमिया**—धूमिका—आकाश में रूक्ष और विरल दिखाई पड़ती हुई धुएँ जैसी एक प्रकार की धूमस। **महिया**—महिका—जलकणयुक्त धूमस, कुहरा। **रयुग्घाओ**—रजोद्‌घात—आकाश में धूलि का उड़ना, आंधी। **चंदोवरागा सूरोवरागा**—चन्दोपराग, सूर्योपराग—चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण। **चंदपरिवेसा सूरपरिवेसा**—चन्द्रपरिवेश, सूर्यपरिवेश—चन्द्र और सूर्य के चारों ओर गोलाकार में परिणत हुए पुद्‌गल परमाणुओं का मण्डल। **पडिचंदया, पडिसूरया**—प्रतिचन्द्र, प्रतिसूर्य—उत्पात आदि का सूचक द्वितीय चन्द्र और द्वितीय सूर्य का दिखाई पड़ना। **इंदधणु**—इन्द्रधनुष—आकाश में नील-पीत आदि वर्ण विशिष्ट धनुषाकार आकृति। **उदगमच्छ**—**उदकमत्स्य**—इन्द्रधनुष के खण्ड, टुकड़े। **कविहसिया**—कपिहसिता—कभी-कभी आकाश में सुनाई पड़ने वाली अति कर्णकटु ध्वनि। **अमोहा**—अमोघ—उदय और अस्त के समय सूर्य की किरणों द्वारा उत्पन्न रेखा-विशेष। **वासा**—वर्ष—भरतादि क्षेत्र, **वासधरा**—वर्षधर—हिमवान् आदि पर्वत। शेष शब्दों के अर्थ सुगम हैं।

सान्निपातिकभाव

२५१. से किं तं सण्णिवाइए ?

सण्णिवाइए एतेसिं चेव उदइय-उवसमिय-खइय-खओवसमिय-पारिणामियाणं भावाणं दुयसंजोएणं तियसंजोएणं चउक्कसंजोएणं पंचगसंजोएणं जे निप्पज्जंति सव्वे से सन्निवाइए नामे। तत्थ णं दस दुगसंजोगा, दस तिगसंजोगा, पंच चउक्कसंजोगा, एक्के पंचगसंजोगे।

[२५१ प्र.] भगवन् ! सान्निपातिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५१ उ.] आयुष्मन् ! औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक, इन पांचों भावों के द्विकसंयोग, त्रिकसंयोग, चतुःसंयोग और पंचसंयोग से जो भाव निष्पन्न होते हैं वे सब सान्निपातिकभाव नाम हैं।

उनमें से द्विकसंयोगज दस, त्रिकसंयोगज दस, चतुःसंयोगज पांच और पंचसंयोगज एक भाव हैं। इस प्रकार सब मिलाकर ये छब्बीस सान्निपातिकभाव हैं।

विवेचन—सूत्र में सान्निपातिकभाव का स्वरूप बतलाया है। पूर्वोक्त औदयिक आदि पांच भावों में से दो आदि भावों के मिलने से जो-जो भाव निष्पन्न होते हैं, वे सब सान्निपातिकभाव हैं।

इन औदयिक आदि पांच भावों के द्विक, त्रिक, चतुष्क और पंच संयोगज छब्बीस भंगों में से जीवों में कुल छह भंग पाये जाते हैं। शेष बीस प्ररूपणा मात्र के लिये ही हैं।

सान्निपातिकभाव दो आदि भावों के संयोगजरूप हैं। अतः अब यथाक्रम उन द्विकसंयोगज आदि सान्निपातिकभावों का निरूपण करते हैं।

द्विकसंयोगज सान्निपातिकभाव

२५२. तत्थ णं जे से दस दुगसंजोगा ते णं इमे—अत्थि णामे उदइए उवसमनिप्पण्णे[1] १ अत्थि णामे उदइए खयनिप्पण्णे २ अत्थि णामे उदइए खओवसमनिप्पण्णे ३ अत्थि णामे उदइए पारिणामियनिप्पण्णे ४ अत्थि णामे उवसमिए खयनिप्पण्णे ५ अत्थि णामे उवसमिए खओवसमनिप्पण्णे ६ अत्थि णामे उवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ७ अत्थि णामे खइए खओवसमनिप्पन्ने ८ अत्थि णामे खइए पारिणामिग्रनिप्पन्ने ९ अत्थि णामे खयोवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने १०।

[२५२] दो-दो के संयोग से निष्पन्न दस भंगों के नाम इस प्रकार हैं—

१. औदयिक-औपशमिक के संयोग से निष्पन्न भाव २. औदयिक-क्षायिक के संयोग से निष्पन्न भाव ३. औदयिक-क्षायोपशमिक के संयोग से निष्पन्न भाव ४. औदयिक-पारिणामिक के संयोग से निष्पन्न भाव ५. औपशमिक-क्षायिक के संयोग से निष्पन्न भाव ६. औपशमिक-क्षायोपशमिक के संयोग से निष्पन्न भाव ७. औपशमिक-पारिणामिक के संयोग से निष्पन्न भाव ८. क्षायिक-क्षायोपशमिक के संयोग से निष्पन्न भाव ९. क्षायिक-पारिणामिक के संयोग से निष्पन्न भाव तथा १०. क्षायोपशमिक-पारिणामिक के संयोग से निष्पन्न भाव।

२५३. कतरे से नामे उदइए उवसमनिप्पन्ने ?

उदए त्ति मणूसे उवसंता कसाया, एस णं से णामे उदइए उवसमनिप्पन्ने १।

---

१. पाठान्तर—निप्फण्णे।

कतरे से नामे उदइए खयनिप्पन्ने ?

उदए त्ति मणूसे खतियं सम्मत्तं, एस णं से नामे उदइए खयनिप्पन्ने २।

कतरे से णामे उदइए खयोवसमनिप्पन्ने ?

उदए त्ति मणूसे खयोवसमियाइं इंदियाइं, एस णं से णामे उदइए खयोवसमनिप्पन्ने ३।

कतरे से णामे उदइए पारिणामियनिप्पन्ने ?

उदए त्ति मणूसे पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उदइए पारिणामियनिप्पन्ने ४।

कयरे से णामे उवसमिए खयनिप्पन्ने ?

उवसंता कसाया खइयं सम्मत्तं, एस णं से णामे उवसमिए खयनिप्पन्ने ५।

कयरे से णामे उवसमिए खओवसमनिप्पण्णे ?

उवसंता कसाया खओवसमियाइं इंदियाइं, एस णं से णामे उवसमिए खओवसमनिप्पन्ने ६।

कयरे से णामे उवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ?

उवसंता कसाया पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ७।

कतरे से णामे खइए खओवसमियनिप्पन्ने ?

खइयं सम्मत्तं खयोवसमियाइं इंदियाइं, एस णं से णामे खइए खयोवसमनिप्पन्ने ८।

कतरे से णामे खइए पारिणामियनिप्पन्ने ?

खइयं सम्मत्तं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे खइए पारिणामियनिप्पन्ने ९।

कतरे से णामे खयोवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ?

खयोवसमियाइं इंदियाइं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे खयोवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने १०।

[२५३ प्र.] भगवन्! औदयिक-औपशमिकभाव के संयोग से निष्पन्न भंग का स्वरूप क्या है?

उत्तर—आयुष्मन्! औदयिक-औपशमिकभाव के संयोग से निष्पन्न भंग का यह स्वरूप है—औदयिकभाव में मनुष्यगति और औपशमिकभाव में उपशांतकषाय को ग्रहण करने रूप औदयिक-औपशमिकभाव है। १

प्रश्न—भगवन्! औदयिक-क्षायिकनिष्पन्नभाव का क्या स्वरूप है?

उत्तर—आयुष्मन्! औदयिकभाव में मनुष्यगति और क्षायिकभाव में क्षायिक सम्यक्त्व का ग्रहण औदयिकक्षायिकभाव है। २।

प्रश्न—भगवन्! औदयिक-क्षायोपशमिकनिष्पन्नभाव का क्या स्वरूप है?

उत्तर—आयुष्मन्! औदयिकभाव में मनुष्यगति और क्षायोपशमिकभाव में इन्द्रियां जानना चाहिये। यह औदयिक-क्षायोपशमिकभाव का स्वरूप है। ३

प्रश्न—भगवन् ! औदयिक-पारिणामिकभाव के संयोग से निष्पन्न भंग का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—आयुष्मन् ! औदयिकभाव में मनुष्यगति और पारिणामिकभाव में जीवत्व को ग्रहण करना औदयिक-पारिणामिकभाव का स्वरूप है। ४

प्रश्न—भगवन् ! औपशमिक-क्षयसंयोगनिष्पन्नभाव का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—आयुष्मन् ! उपशांतकषाय और क्षायिक सम्यक्त्व यह औपशमिक-क्षायिकसंयोगज भाव का स्वरूप है। ५

प्रश्न—भगवन् ! औपशमिक-क्षयोपशमनिष्पन्नभाव के संयोग का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—आयुष्मन् ! औपशमिकभाव में उपशांतकषाय और क्षयोपशमनिष्पन्न में इन्द्रियां यह औपशमिक-क्षयोपशमनिष्पन्नभाव का स्वरूप है। ६

प्रश्न—भगवन् ! औपशमिक-पारिणामिकसंयोगनिष्पन्नभाव का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—आयुष्मन् ! औपशमिकभाव में उपशांतकषाय और पारिणामिकभाव में जीवत्व यह औपशमिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव का स्वरूप है। ७

प्रश्न—भगवन् ! क्षायिक और क्षयोपशमनिष्पन्नभाव का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—आयुष्मन् ! क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक इन्द्रियां यह क्षायिक-क्षायोपशमिक-निष्पन्नभाव का स्वरूप जानना चाहिये। ८

प्रश्न—भगवन् ! क्षायिक और पारिणामिकनिष्पन्न का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—आयुष्मन् ! क्षायिकभाव में क्षायिक सम्यक्त्व और पारिणामिकभाव में जीवत्व का ग्रहण क्षायिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव का स्वरूप है। ९

प्रश्न—भगवन् ! क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावसंयोगज का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—आयुष्मन् ! क्षायोपशमिकभाव में इन्द्रियां और पारिणामिकभाव में जीवत्व को ग्रहण किया जाये तो यह क्षायोपशमिक-पारिणामिकभाव का स्वरूप है। १०

इस प्रकार से यह द्विकसंयोगी सान्निपातिक भाव के दस भंगों का स्वरूप है।

विवेचन—इन दो सूत्रों में से पहले में द्विकसंयोगी दस सान्निपातिकभावों के नाम और दूसरे में 'कतरे से नामे.......' प्रश्न और 'एस णं से णामे.......' उत्तर द्वारा उन-उन भावों का उदाहरण सहित स्वरूप स्पष्ट किया है।

इन दस संयोगज नामों में औदयिक के साथ उत्तरवर्ती औपशमिक आदि चार भावों में से एक-एक को जोड़ने से चार भंग औपशमिक के साथ, क्षायिक आदि तीन भावों के संयोग से तीन भंग, क्षायिक के साथ क्षायोपशमिक आदि दो भावों के संयोग से दो भंग और क्षायोपशमिक के साथ अंतिम पारिणामिकभाव को जोड़ने से एक भंग बनता है। कुल मिलाकर इनका जोड़ (४+३+२+१=१०) दस है।

इन दस भंगों की स्वरूपव्याख्या के प्रसंग में उल्लिखित मनुष्य, उपशांतकषाय, क्षायिक

सम्यक्त्व आदि नाम उपलक्षण रूप हैं। अतः इनमें अन्य जिन-जिन कर्मप्रकृतियों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप स्थिति वनती हो उन सवका ग्रहण कर लेना चाहिये।

यद्यपि द्विकसंयोगी-सान्निपातिकभाव के दस भंग वतलाये हैं, लेकिन इनमें से मात्र क्षायिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न एक नौवां भंग ही सिद्ध भगवान् की अपेक्षा घटित होता है। सिद्ध भगवान् में क्षायिक सम्यक्त्व और पारिणामिकभाव रूप जीवत्व है। इसके अतिरिक्त शेष नौ भंग केवल प्ररूपणामात्र ही हैं। क्योंकि सिद्धों के सिवाय सभी संसारी जीवों में कम से कम यह तीन भाव तो होते ही हैं—औदयिक—वह गति जिसमें वे हैं, क्षायोपशमिक—यथायोग्य इन्द्रिय और पारिणामिक—जीवत्व।

इस प्रकार से द्विकसंयोगी दस सान्निपातिक भावों की वक्तव्यता जानना चाहिये।

त्रिकसंयोगज सान्निपातिकभाव

२५४. तत्थ णं जे ते दस तिगसंजोगा ते णं इमे—अत्थि णामे उदइए उवसमिए खयनिप्पन्ने १, अत्थि णामे उदइए उवसमिए खओवसमनिप्पन्ने २, अत्थि णामे उदइए उवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ३, अत्थि णामे उदइए खइए खओवसमनिप्पन्ने ४, अत्थि णामे उदइए खइए पारिणामियनिप्पन्ने ५, अत्थि णामे उदइए खयोवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ६, अत्थि णामे उवसमिए खइए खओवसमनिप्पन्ने ७, अत्थि णामे उवसमिए खइए पारिणामियनिप्पन्ने ८, अत्थि णामे उवसमिए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ९, अत्थि णामे खइए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने १०।

[२५४] वहाँ (सान्निपातिकभाव में) त्रिकसंयोगज दस भंग इस प्रकार हैं—१. औदयिक-औपशमिक-क्षायिकनिष्पन्नभाव, २. औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिकनिष्पन्नभाव, ३. औदयिक-औपशपिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव, ४. औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकनिष्पन्नभाव, ५. औदयिक-क्षायिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव, ६. औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव, ७. औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकनिष्पन्नभाव, ८. औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव, ९. औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव, १०. क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव।

२५५. कतरे से णामे उदइए उवसमिए खयनिप्पन्ने? उदए त्ति मणूसे उवसंता कसाया खइयं सम्मत्तं, एस णं से णामे उदइए उवसमिए खयनिप्पन्ने १।

[२५५-१ प्र] भगवन्! औदयिक-औपशमिक-क्षायिकनिष्पन्नभाव का क्या स्वरूप है?

[२५५-१ उ.] आयुष्मन्! मनुष्यगति औदयिकभाव, उपशांतकषाय औपशमिकभाव और क्षायिकसम्यक्त्व क्षायिकभाव यह औदयिक-औपशमिक-क्षायिकनिष्पन्नभाव का स्वरूप है। १

कतरे से णामे उदइए उवसमिए खयोवसमियनिप्पने? उदए त्ति मणूसे उवसंता कसाया खयोवसमियाइं इंदियाइं, एस णं से णामे उदइए उवसमिए खओवसमनिप्पन्ने २।

[२५५-२ प्र.] भगवन्! औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिकनिष्पन्नभाव का क्या स्वरूप है?

[२५५-२ उ.] आयुष्मन् ! मनुष्यगति औदयिकभाव, उपशांतकषाय औपशमिक और इन्द्रियां क्षायोपशमिकभाव, इस प्रकार औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिकनिष्पन्नभाव का स्वरूप जानना चाहिये। २।

कयरे से णामे उदइए उवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ? उदए त्ति मणूसे उवसंता कसाया पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उदइए उवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ३।

[२५५-३ प्र.] भगवन् ! औदयिक-औपशमिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५५-३ उ.] आयुष्मन् ! मनुष्यगति औदयिक, उपशांतकषाय औपशमिक और जीवत्व पारिणामिक भाव, इस प्रकार से औदयिक-औपशमिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव का स्वरूप है। ३

कयरे से णामे उदइए खइए खओवसमनिप्पन्ने ? उदए त्ति मणूसे खइयं सम्मत्तं खओवसमियाइं इंदियाइं, एस णं से णामे उदइए खइए खओवसमनिप्पन्ने ४।

[२५५-४ प्र.] भगवन् ! औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५५-४ उ.] आयुष्मन् ! मनुष्यगति औदयिक, क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिकभाव और इन्द्रियां क्षायोपशमिकभाव यह औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का स्वरूप है। ४।

कतरे से णामे उदइए खइए पारिणामियनिप्पन्ने ? उदए त्ति मणूसे खइयं सम्मत्तं पारिणामिए जीवे, एस णं से नामे उदइए खइए पारिणामियनिप्पन्ने ५।

[२५५-५ प्र.] भगवन् ! औदयिक-क्षायिक-पारिणामिकनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५५-५ उ.] आयुष्मन् ! मनुष्यगति औदयिकभाव, क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिकभाव और जीवत्व पारिणामिकभाव इस प्रकार का औदयिक-क्षायिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिक-भाव का स्वरूप है। ५

कतरे से णामे उदइए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ? उदए त्ति मणूसे खओवसमियाइं इंदियाइं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उदइए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ६।

[२५५-६ प्र.] भगवन् ! औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५५-६ उ.] आयुष्मन् ! मनुष्यगति औदयिक, इन्द्रियां क्षायोपशमिक और जीवत्व पारिणामिक, यह औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का स्वरूप जानना चाहिये। ६

कतरे से णामे उवसमिए खइए खओवसमनिप्पन्ने ? उवसंता कसाया खइयं सम्मत्तं खओवसमियाइं इंदियाइं, एस णं से णामे उवसमिए खइए खओवसमनिप्पन्ने ७।

[२५५-७ प्र.] भगवन् ! औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकनिष्पन्नभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५५-७ उ.] आयुष्मन् ! उपशांतकषाय औपशमिकभाव, क्षायिकसम्यक्त्व क्षायिकभाव, इन्द्रियां क्षायोपशमिकभाव, यह औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकनिष्पन्न सान्निपातिकभाव है। ७।

कतरे से णामे उवसमिए खइए पारिणामियनिप्पन्ने ? उवसंता कसाया खइयं सम्मत्तं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उवसमिए खइए पारिणामियनिप्पन्ने ८ ।

[२५५-८ प्र.] भगवन् ! औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिकनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५५-८ उ.] आयुष्मन् ! उपशांतकषाय औपशमिकभाव, क्षायिकसम्यक्त्व क्षायिकभाव, जीवत्व पारिणामिकभाव, यह औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का स्वरूप जानना चाहिये । ८

कतरे से णामे उवसमिए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ? उवसंता कसाया खओवसमियाइं इंदियाइं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उवसमिए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ९ ।

[२५५-९ प्र.] भगवन् ! औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५५-९ उ.] आयुष्मन् ! उपशांतकषाय औपशमिकभाव, इन्द्रियां क्षायोपशमिक और जीवत्व पारिणामिक, इस प्रकार से यह औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न-सान्निपातिकभाव का स्वरूप जानना चाहिये । ९

कतरे से णामे खइए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ? खइयं सम्मत्तं खओवसमियाइं इंदियाइं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे खइए खयोवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने १० ।

[२५५-१० प्र.] भगवन् ! क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५५-१० उ.] आयुष्मन् ! क्षायिकसम्यक्त्व क्षायिकभाव, इन्द्रियां क्षायोपशमिकभाव और जीवत्व पारिणामिकभाव, इस प्रकार का क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिक-भाव का स्वरूप है । १०

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों द्वारा तीन भावों के संयोग से निष्पन्न दस सान्निपातिकभावों के भंग और और उनके स्वरूप का निरूपण किया है ।

त्रिकसंयोगज भावों के औदयिक और औपशमिक इन दो भावों को परिपाटी से निक्षिप्त करके अवशिष्ट क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन तीन भावों में से एक-एक भाव का उनके साथ संयोग करने पर प्रथम तीन भाव निष्पन्न हुए हैं । उनमें भी पहला औदयिक-औपशमिक-क्षायिकसान्निपातिकभाव इस प्रकार घटित करना चाहिये कि यह मनुष्य उपशांतक्रोधादि कषाय वाला होकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि है । मनुष्य से मनुष्यगति को ग्रहण किया है और मनुष्यगतिनामकर्म के उदय से मनुष्य होने से गति औदयिकभाव है । उपशांतक्रोधादि कषाय कहने से औपशमिकभाव तथा क्षायिकसम्यक्त्व से क्षायिकभाव घटित होता है । इसी प्रकार से शेष दो भंगों में से पहले औदयिक-औपशमिक, क्षायोपशमिक-सान्निपातिकभाव में मनुष्य, उपशांतकषाय, पंचेन्द्रिय तथा दूसरे औदयिक-औपशमिकपारिणामिकसान्निपातिकभाव में मनुष्य, उपशांतकषाय, जीवत्व को घटित कर लेना चाहिये ।

तत्पश्चात् औपशमिकभाव को विलग कर औदयिक और क्षायिक भाव को ग्रहण किया जाय तब क्षायोपशामिक एवं पारिणामिक भावों में से एक-एक का ग्रहण करने पर त्रिसंयोगी सान्निपातिकभाव के दो भंग इस प्रकार बनते हैं—१. औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक और २. औदयिक-क्षायिक-पारिणामिक। पहले का दृष्टान्त है—क्षीणकषायी, मनुष्य, इन्द्रिय वाला और दूसरे का दृष्टान्त—क्षायिक सम्यक्त्वी, मनुष्य, जीव है। इन भावों को पूर्ववत् घटित कर लेना चाहिये।

केवल औदयिकभाव का ग्रहण और औपशमिक एवं क्षायिक भाव का परित्याग किये जाने पर छठा त्रिसंयोगी—औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकसान्निपातिकभंग बनता है। इसका उदाहरण है—मनुष्य मनोयोगी जीव है।

यहाँ तक तो औदयिकभाव संयोग में ग्रहण किया गया है। लेकिन औदयिकभाव को छोड़कर शेष औपशमिकादि चार भावों में से एक-एक का परित्याग किये जाने पर इस प्रकार चार भंग बनते हैं— १. औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकसान्निपातिकभाव २. औपशमिक-क्षायिक-परिणामिक-सान्निपातिकभाव ३. औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकसान्निपातिकभाव और ४. क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकसान्निपातिकभाव। इन चारों के सूत्रोक्त उदाहरण स्वयं घटित कर लेना चाहिये।

इन दस संयोगज भंगों में से पांचवां और छठा भंग जीवों में पाया जाता है। यथा—औदयिक-क्षायिक-पारिणामिकभावों के संयोग से निष्पन्न पांचवां सान्निपातिकभाव मनुष्यगति औदयिक, ज्ञान-दर्शन-चारित्र क्षायिक और जीवत्व पारिणामिक रूप होने से यह भंग केवलियों में घटित होता है। इन तीन भावों के अतिरिक्त अन्य भाव उनमें नहीं हैं। क्योंकि उपशम मोहनीयकम का होता है और वे मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय कर चुके हैं तथा केवलियों का ज्ञान इन्द्रियातीत-अतीन्द्रिय होने से उनमें क्षायोपशमिकभाव भी नहीं है।

औदयिक, क्षायोपशमिक एवं पारिणाणामिक इन तीन भावों से निष्पन्न छठा भंग नारकादि चारों गति के जीवों में होता है। क्योंकि उनमें नारकादि गतियां औदयिकी हैं, इन्द्रियां क्षायोपशमिक-भाव और जीवत्व पारिणामिकभाव है।

इनके अतिरिक्त शेष आठ भंगों की कहीं पर भी संभावना नहीं होने से प्ररूपणामात्र समझना चाहिए।

इस प्रकार त्रिकसंयोगी दस सान्निपातिकभावों की वक्तव्यता है।

चतुःसंयोगज सान्निपातिकभाव

२५६. तत्थ णं जे ते पंच चउक्कसंयोगा ते णं इमे—अत्थि णामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमनिप्फन्ने १ अत्थि णामे उदइए उवसमिए खइए पारिणामियनिप्फन्ने २ अत्थि णामे उदइए उवसमिए खयोवसमिए पारिणामियनिप्फन्ने ३ अत्थि णामे उदइए खइए खओवसमिए पारिणामिय-निप्फन्ने ४ अत्थि णामे उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामियनिप्फन्ने ५।

[२५६] चार भावों के संयोग से निष्पन्न सान्निपातिकभाव के पांच भंगों के नाम इस प्रकार हैं—१ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकनिष्पन्नभाव, २ औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव, ३ औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव, ४ औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव, ५ औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव।

२५७. कतरे से णामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमनिप्पन्ने ? उदए त्ति मणूसे उवसंता कसाया खइयं सम्मत्तं खओवसमियाइं इंदियाइं, एस णं से णामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमनिप्पन्ने १।

[२५७-१ प्र.] भगवन् ! औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५७-१ उ.] आयुष्मन् ! औदयिकभाव में मनुष्य, औपशमिकभाव में उपशांतकषाय, क्षायिकभाव में क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायोपशमिकभाव में इन्द्रियां, यह औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का स्वरूप है। १

कतरे से नामे उदइए उवसमिए खइए पारिणामियनिप्पन्ने ? उदए त्ति मणूसे उवसंता कसाया खइयं सम्मत्तं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उदइए उवसमिए खइए पारिणामियनिप्पन्ने २।

[२५७-२ प्र.] भगवन् ! औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५७-२ उ.] आयुष्मन् ! औदयिकभाव में मनुष्यगति, औपशमिकभाव में उपशांतकषाय, क्षायिकभाव में क्षायिकसम्यक्त्व और पारिणामिकभाव में जीवत्व, यह औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का स्वरूप है। २

कतरे से णामे उदइए उवसमिए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ? उदए त्ति मणूसे उवसंता कसाया खओवसमियाइं इंदियाइं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उदइए उवसमिए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ३।

[२५७-३ प्र.] भगवन् ! औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५७-३ उ.] आयुष्मन् ! औदयिकभाव में मनुष्यगति, औपशमिकभाव में उपशांतकषाय, क्षायोपशमिकभाव में इन्द्रियां और पारिणामिकभाव में जीवत्व, इस प्रकार से औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव के तृतीय भंग का स्वरूप जानना चाहिये। ३

कतरे से णामे उदइए खइए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ? उदए त्ति मणूसे खइयं सम्मत्तं खओवसमियाइं इंदियाइं पारिणामिए जीवे, एस णं से नामे उदइए खइए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ४।

[२५७-४ प्र.] भगवन् ! औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव किसे कहते हैं ?

[२५७-४ उ.] आयुष्मन् ! औदयिकभाव में मनुष्यगति, क्षायिकभाव में क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायोपशमिकभाव में इन्द्रियां और पारिणामिकभाव में जीवत्व, यह औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का स्वरूप है। ४

कतरे से नामे उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ? उवसंता कसाया खइयं सम्मत्तं खओवसमियाइं इंदियाइं पारिणामिए जीवे, एस णं से नामे उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ५ ।

[२५७-५ प्र.] भगवन् ! औपशमिक - क्षायिक - क्षायोपशमिक - पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का स्वरूप क्या है ?

[२५७-५ उ.] आयुष्मन् ! औपशमिकभाव में उपशांतकषाय, क्षायिकभाव में क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायोपशमिकभाव में इन्द्रियां और पारिणामिकभाव में जीवत्व, यह औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का स्वरूप है। ५

विवेचन—इन दो सूत्रों में चतुःसंयोगी सान्निपातिकभाव के पांच भंगों के नाम और उनके स्वरूप बतलाये हैं।

स्वरूप बताने के प्रसंग में उदाहरणार्थ प्रयुक्त मनुष्यगति, क्षायिकसम्यक्त्व, इन्द्रियां, जीवत्व आदि उपलक्षण रूप होने से उस-उस भाव रूप में अन्यान्य गतियों आदि का भी ग्रहण समझ लेना चाहिये।

इन चतुःसंयोगी पांचों भंगों में पांचवें पारिणामिकभाव को छोड़ने और शेष चार भावों का संयोग करने पर प्रथम भंग, चौथे क्षायोपशमिकभाव को छोड़कर शेष चार भावों के संयोग से दूसरा भंग, तीसरे क्षायिक भाव को छोड़कर बाकी के चार भावों के संयोग से तीसरा भंग, दूसरे औपशमिकभाव को छोड़कर शेष चार भावों के संयोग से चौथा भंग और पहले औदयिकभाव को छोड़कर शेष चार भावों के संयोग से पांचवां भंग निष्पन्न जानना चाहिये।

इन पांचों भंगों में से तृतीय और चतुर्थ ये दो भंग ही जीव में घटित होते हैं, शेष तीन नहीं। घटित होने वाले भंगों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक और पारिणामिक इन चार भावों के संयोग से निष्पन्न तृतीय भंग नारक आदि चारों गतियों में होता है। क्योंकि विवक्षित गति औदयिकी है तथा प्रथम सम्यक्त्व के लाभकाल में उपशमभाव होने से और मनुष्यगति में उपशमश्रेणी में भी औपशमिक सम्यक्त्व होने से औपशमिकभाव है। इन्द्रियां क्षायोपशमिकभाव और जीवत्व पारिणामिकभाव रूप हैं। इस प्रकार यह तृतीय भंग सर्व गतियों में पाया जाता है।

सूत्र में प्रयुक्त इस तृतीय भंग के उदाहरण रूप में 'उदए त्ति मणूसे उवसंता कसाया' पाठ इस बात को स्पष्ट करने के लिये है कि उपशमश्रेणी में मनुष्यत्व का उदय और कषायों का उपशम होता है। अथवा सूत्रोक्त पाठ उपलक्षण रूप होने से यथायोग्य गति आदि का ग्रहण समझ लेना चाहिये।

औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक और पारिणामिकभावों का संयोगज रूप चौथा भंग भी तृतीय भंग की तरह नरकादि चारों गतियों में संभव है। परन्तु विशेषता यह है कि तृतीय भंगोक्त उपशमसम्यक्त्व के स्थान पर यहाँ क्षायिक सम्यक्त्व समझना चाहिये। क्षायिक सम्यक्त्व नारक, तिर्यंच और देव इन गतियों में तो पूर्वप्रतिपन्न जीव को और मनुष्यगति में पूर्वप्रतिपन्न और प्रतिपद्यमान को भी होता है। इसी कारण यह चतुर्थ भंग चारों गतियों में संभव है।

इस प्रकार चतु:संयोगी सान्निपातिकभावों की प्ररूपणा जानना चाहिये। अब अंतिम पंचसंयोगी सान्निपातिकभाव का निरूपण करते हैं।

पंचसंयोगी सान्निपातिकभाव

२५८. तत्थ णं जे से एक्के पंचकसंजोगे से णं इमे—अत्थि नामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने १।

[२५८] पंचसंयोगज सान्निपातिकभाव का एक भंग इस प्रकार है—औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकनिष्पन्नभाव।

२५९. कतरे से नामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने ? उदए त्ति मणूसे उवसंता कसाया खइयं सम्मत्तं खओवसमियाइं इंदियाइं पारिणामिए जीवे, एस णं से णामे उदइए उवसमिए खइए खओवसमिए पारिणामियनिप्पन्ने। से तं सन्निवाइए। से तं छण्णामे।

[२५९ प्र.] भगवन् ! औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का क्या स्वरूप है ?

[२५९ उ.] आयुष्मन् ! औदयिकभाव में मनुष्यगति, औपशमिकभाव में उपशांतकषाय, क्षायिकभाव में क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायोपशमिकभाव में इन्द्रियां और पारिणामिकभाव में जीवत्व, यह औदयिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभावनिष्पन्न सान्निपातिकभाव का स्वरूप है।

इस प्रकार से सान्निपातिकभाव और साथ ही षड्नाम का वर्णन समाप्त हुआ।

विवेचन—इस सूत्र में पांच भावों के संयोग से निष्पन्न सान्निपातिकभाव का कथन करने के साथ षड्नाम की वक्तव्यता की समाप्ति का संकेत किया है।

इस पंचसंयोगज सान्निपतिकभाव में औदयिक आदि पारिणामिक भाव पर्यन्त पांचों भावों का समावेश हो जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य भावों के न होने से यहाँ एक ही भंग बनता है। यह भंग क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर उपशमश्रेणी पर आरोहण करने वाले मनुष्य में पाया जाता है। इसी का संकेत करने के लिये सूत्र में मनुष्य,उपशांतकषाय आदि को उदाहृत किया है।

जीव में प्राप्त सान्निपातिकभाव-निरूपण का सारांश

औदयिक आदि पांच मूल भावों के संयोग से निष्पन्न सान्निपातिकभाव के द्विकसंयोगी दस, त्रिकसंयोगी दस, चतुष्कसंयोगी पांच और पंचसंयोगी एक कुल छव्वीस भंगों में से जीवों में सिर्फ द्विकसंयोगी एक, त्रिकसंयोगी दो, चतुष्कसंयोगी दो और पंचसंयोगी एक, इस प्रकार छह भंग पाये जाते हैं। शेष भंग प्ररूपणामात्र के लिए ही हैं।

जीवों में प्राप्त भंगों का कारण सहित स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. क्षायिक और पारिणामिकभाव से निष्पन्न द्विकसंयोगी भंग सिद्ध जीवों में पाया जाता है। क्योंकि उनमें पारिणामिकभाव जीवत्व और क्षायिकभाव अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि हैं।

२. औदयिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिकभाव के संयोग से निष्पन्न त्रिसंयोगी भेद चातुर्गतिक संसारी जीवों में पाया जाता है। क्योंकि उनमें गतियां औदयिक रूप, भावेन्द्रियां क्षायोपशमिक रूप और जीवत्व आदि पारिणामिकभाव रूप हैं।

३. औदयिक-क्षायिक-पारिणामिक के संयोग से निष्पन्न त्रिसंयोगी भंग भवस्थ केवलियों में पाया जाता है। वह इस प्रकार है—औदयिकभाव मनुष्यगति, क्षायिकभाव केवलज्ञान आदि और पारिणामिकभाव जीवत्व रूप से उनमें है।

४. औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक के संयोग से निष्पन्न चतु:संयोगी भंग चतुर्गतिक जीवों में पाया जाता है। इसमें गति औदयिकभाव, क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिकभाव, भावेन्द्रियां क्षायोपशमिकभाव और जीवत्व पारिणामिकभाव रूप है।

५. औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक के संयोग वाला चतु:संयोगी भंग भी चारों गतियों में पाया जाता है। इसका आशय भी पूर्वोक्त चतु:संयोगी भंग के अनुरूप है। विशेष इतना है कि क्षायिकभाव के स्थान पर औपशमिकभाव में औपशमिक सम्यक्त्व का ग्रहण करना चाहिये।

६. पंचसंयोगी सान्निपातिकभाव औदयिक आदि पंच भावों का संयोग रूप है और वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणी में वर्तमान मनुष्यों में पाया जाता है। वह इस प्रकार मनुष्यगति औदयिकभाव, क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिकभाव, औपशमिक चारित्र औपशमिकभाव, भावेन्द्रियां क्षायोपशमिकभाव रूप और जीवत्व पारिणामिकभाव रूप जानना चाहिये।

इस प्रकार छह नाम के रूप में छह भावों का निरूपण करने के अनन्तर अब क्रमप्राप्त सप्त-नाम की प्ररूपणा करते हैं।

सप्तनाम

२६०. [१] से किं तं सत्तनामे ?

सत्तनामे सत्त सरा पण्णत्ता। तं जहा—

सज्जे १ रिसभे २ गंधारे ३ मज्झिमे ४ पंचमे सरे ५।
धेवए ६ चेव णेसाए ७ सरा सत्त वियाहिया ॥ २५ ॥

[२६०-१ प्र.] भगवन् ! सप्तनाम का क्या स्वरूप है ?

[२६०-१ उ.] आयुष्मन् ! सप्तनाम सात प्रकार के स्वर रूप है। स्वरों के नाम इस प्रकार हैं—१. षड्ज, २. ऋषभ, ३. गांधार, ४. मध्यम, ५. पंचम, ६. धैवत और ७. निषाद, ये सात स्वर जानना चाहिये। २५

विवेचन—सूत्र में सप्तनाम के रूप में सात स्वरों का वर्णन किया है। वह इसलिये कि पुरुषों की बहत्तर और स्त्रियों की चौसठ कलाओं में शकुनिरुत गीत, संगीत, वाद्यवादन आदि का समावेश किया गया है और वे स्वर ध्वनिविशेषात्मक हैं। सात स्वरों के लक्षण इस प्रकार हैं—

१. षड्ज—छह से जन्य। अर्थात् स्वरोत्पत्ति के कारणभूत कंठ, वक्षस्थल, तालु, जिह्वा, दन्त और नासिका इन छह स्थानों के संयोग से उत्पन्न होने वाले स्वर को षड्ज कहते हैं।

२. ऋषभ—ऋषभ का अर्थ बैल है। अतः नाभि से उत्थित और कंठ एवं शिर से समाहत होकर (टकराकर) ऋषभ के समान गर्जना रूप स्वर।

३. गांधार—गंधवाहक स्वर। नाभि से समुत्थित एवं कंठ व हृदय से समाहत तथा नाना प्रकार की गंधों का वाहक स्वर गांधार कहलाता है।

४. मध्यम—शरीर के मध्यभाग से उत्पन्न होने वाला स्वर। अर्थात् शरीर के मध्यभाग—नाभिप्रदेश में उत्पन्न हुई और उरस् एवं हृदय से समाहत होकर पुनः नाभिस्थान में आई हुई वायु द्वारा जो उच्चनाद होता है, वह मध्यम स्वर है।

५. पंचम—जिस स्वर में नाभिस्थान से उत्पन्न वायु वक्षस्थल, हृदय, कंठ और मस्तक में व्याप्त होकर स्वर रूप में परिणत हो, उसे पंचम स्वर कहते हैं।

६. धैवत—पूर्वोक्त सभी स्वरों का अनुसंधान करने वाला स्वर धैवत कहलाता है।

७. निषाद—सभी स्वरों का अभिभव करने वाला स्वर। यह स्वर समस्त स्वरों का पराभव करने वाला है। आदित्य (सूर्य) इसका स्वामी कहलाता है।

संगीतशास्त्र में इन स्वरों का बोध कराने के लिये—'सरेगमपधनी' पद दिया है। पदोक्त एक-एक अक्षर पृथक्-पृथक् स्वर का बोधक है। जैसे 'स' षड्ज स्वर का बोधक है। इसी प्रकार शेष रे-ग-म-प-ध-नीअक्षर ऋषभ आदि स्वरों के बोधक हैं।

ये सातों स्वर जीव और अजीव दोनों पर आश्रित हैं। अर्थात् जीव और अजीव के माध्यम से इनका प्रादुर्भाव हो सकता है।

स्वर सात ही क्यों—यद्यपि स्वरोत्पत्ति के साधन जीभ आदि त्रस—द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में पाये जाते हैं और इन जीवों के असंख्यात होने से स्वरों की संख्या भी असंख्यात है। फिर भी उन सभी स्वरों का सामान्य रूप से इन षड्ज आदि सात स्वरों में अन्तर्भाव हो जाने से मौलिक स्वरों की संख्या सात से अधिक नहीं है।

सप्त स्वरों के स्वरस्थान

[२] एएसि णं सत्तण्हं सराणं सत्त सरट्ठाणा पण्णत्ता। तं जहा—

सज्जं च अग्गजीहाए १ उरेण रिसहं सरं २।
कंठुग्गतेण गंधारं ३ मज्झजीहाए मज्झिमं ४ ॥ २६ ॥
नासाए पंचमं बूया ५ दंतोट्ठेण य धेवतं ६।
भमुहक्खेवेण णेसायं ७ सरट्ठाणा वियाहिया ॥ २७ ॥

[२६०-२] इन सात स्वरों के सात स्वर (उच्चारण) स्थान कहे गये हैं। वे स्थान इस प्रकार हैं—

१. जिह्वा के अग्रभाग से षड्जस्वर का उच्चारण करना चाहिए।
२. वक्षस्थल से ऋषभस्वर उच्चरित होता है।
३. कंठ से गांधारस्वर उच्चरित होता है।
४. जिह्वा के मध्यभाग से मध्यमस्वर का उच्चारण करे।
५. नासिका से पंचमस्वर का उच्चारण करना चाहिए।
६. दंतोष्ठ-संयोग से धैवतस्वर का उच्चारण करना चाहिए।
७. मूर्धा (भ्रुकुटि ताने हुए शिर) से निषाद स्वर का उच्चारण करना चाहिए। २६, २७

विवेचन—यहाँ सूत्रकार ने षड्ज आदि सात स्वरों के पृथक्-पृथक् स्वर-उच्चारणस्थानों का कथन किया है।

स्वरस्थान का लक्षण व मानने का कारण—मूल उद्गमस्थान नाभि से उत्थित अविकारी स्वर में विशेषता के जनक जिह्वा आदि अंग स्वरस्थान हैं।

यद्यपि षड्ज आदि समस्त स्वरों के उच्चारण करने में सामान्यतया जिह्वाग्र, कंठ आदि स्थानों की अपेक्षा होती है तथापि विशेष रूप से एक-एक स्वर जिह्वाग्रभागादिक रूप स्थानों में से एक-एक स्थान को प्राप्त कर ही अभिव्यक्त होता है। इसी अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये षड्ज आदि स्वरों का पृथक्-पृथक् एक-एक स्वरस्थान माना गया है। जैसे वक्षस्थल से ऋषभस्वर उच्चरित होता है, इसका यह अर्थ हुआ कि ऋषभस्वर का उच्चारणस्थान वक्षस्थल है। इस स्वर के उच्चारण में वक्षस्थल का विशेष रूप में उपयोग होता है। इसी प्रकार अन्य स्वरों और उनके स्थानों के लिये भी समझ लेना चाहिये।

पूर्व में यह संकेत किया है कि ये षड्ज आदि सप्त स्वर जीव-अजीवनिश्रित हैं। अतः अब क्रम से उनका निर्देश करते हैं।

जीवनिश्रित सप्तस्वर

[३] **सत्त सरा जीवणिस्सिया पण्णत्ता। तं जहा—**

सज्जं रवइ मयूरो १ कुक्कुडो रिसभं सरं २।
हंसो रवइ गंधारं ३ मज्झिमं तु गवेलगा ४॥ २८॥
अह कुसुमसंभवे काले कोइला पंचमं सरं ५।
छट्ठं च सारसा कुंचा ६ णेसायं सत्तमं गओ ७॥ २९॥

[२६०-३] जीवनिश्रित—जीवों द्वारा उच्चरित होने वाले सप्तस्वरों का स्वरूप इस प्रकार है—

१. मयूर षड्जस्वर में बोलता है।
२. कुक्कुट (मुर्गा) ऋषभस्वर में बोलता है।
३. हंस गांधारस्वर में बोलता है।
४. गवेलक (भेड़) मध्यमस्वर में बोलता है।
५. कोयल पुष्पोत्पत्तिकाल (वसन्तऋतु—चैत्र वैशाखमास) में पंचमस्वर में बोलता है।

६. सारस और क्रौंच पक्षी धैवतस्वर में बोलते हैं । तथा—
७. हाथी निषाद स्वर में बोलता है । २८,२९

अजीवनिश्रित सप्तस्वर

[४] सत्त सरा अजीवणिस्सिया पण्णत्ता । तं जहा—

सज्जं रवइ मुयंगो १ गोमुही रिसहं सरं २ ॥
संखो रवइ गंधारं ३ मज्झिमं पुण झल्लरी ४ ॥ ३० ॥
चउचलणपतिट्ठाणा गोहिया पंचमं सरं ५ ॥
आडंबरो धेवइयं ६ महाभेरी य सत्तमं ७ ॥ ३१ ॥

[२६०-४] अजीवनिश्रित सप्तस्वर इस प्रकार हैं—
१. मृदंग से षड्जस्वर निकलता है ।
२. गोमुखी वाद्य से ऋषभस्वर निकलता है ।
३. शंख से गांधारस्वर निकलता है ।
४. झालर से मध्यमस्वर निकलता है ।
५. चार चरणों पर स्थित गोधिका से पंचमस्वर निकलता है ।
६. आडंबर (नगाड़ा) से धैवतस्वर निकलता है ।
७. महाभेरी से निषादस्वर निकलता है । ३०, ३१

विवेचन—सूत्रकार ने सप्तस्वरों की अभिव्यक्ति के साधनों के रूप में कुछएक जीवों और अजीव पदार्थों के नामों का उल्लेख किया है कि अमुक द्वारा उस-उस प्रकार का स्वर निष्पन्न होता है ।

आशय को स्पष्ट करने के लिये उदाहृत जीवों और अजीवों के नाम उपलक्षण रूप होनें से इन जैसे अन्यों का ग्रहण भी इनसे किया गया समझना चाहिये । कंठादि से अभिव्यक्त होने वाले स्वरों में तो जीवनिश्रितता स्वयंसिद्ध है और मृदंग आदि अजीव वस्तुओं में जीवव्यापार अपेक्षित है । मृदंग आदि द्वारा जनित स्वरों के नाभि, कंठ आदि से उत्पन्न होने रूप अर्थ घटित नहीं होता है तो भी उन वाद्यों से षड्ज आदि स्वरों जैसे स्वर उत्पन्न होने से उन्हें मृदंग आदि अजीवों से निश्रित कहा जाता है ।

सप्तस्वरों के स्वरलक्षण-फल

[५] एएसि णं सत्तण्हं सराणं सत्त सरलक्खणा पण्णत्ता । तं जहा—

सज्जेण लहइ वित्तिं कयं च न विणस्सई ।
गावो पुत्ता य मित्ता य नारीणं होंति वल्लहो १ ॥ ३२ ॥
रिसहेणं तु एसज्जं सेणावच्चं धणाणि य ।
वत्थ गंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य २ ॥ ३३ ॥

गंधारे गीतजुत्तिण्णा वज्जवित्ती कलाहिया।
हवंति कइणो पण्णा जे अण्णे सत्थपारगा ३।। ३४।।
मज्झिमसरमंता उ हवंति सुहजीविणो।
खायती पियती देती मज्झिमस्सरमस्सिओ ४।। ३५।।
पंचमस्सरमंता उ हवंती पुहवीपती।
सूरा संगहकत्तारो अणेगगणरणायगा ५।। ३६।।
धेवयस्सरमंता उ हवंति कलहप्पिया।
साउणिया वग्गुरिया सोयरिया मच्छबंधा य ६।। ३७।।[1]
चंडाला मुट्ठिया सेता, जे यऽण्णे पावकारिणो।
गोघातगा य चोरा य नेसातं सरमस्सिता ७।। ३८।।[2]

[२६०-५] इन सात स्वरों के (तत्तत् फल प्राप्ति के अनुसार) सात स्वरलक्षण कहे गये हैं। यथा—

१. षड्जस्वर वाला मनुष्य वृत्ति—आजीविका प्राप्त करता है। उसका प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता है। उसे गोधन, पुत्र-पौत्रादि और सन्मित्रों का संयोग मिलता है। वह स्त्रियों का प्रिय होता है।३२

२. ऋषभस्वर वाला मनुष्य ऐश्वर्यशाली होता है। सेनापतित्व, धन-धान्य, वस्त्र, गंध-सुगंधित पदार्थ, आभूषण-अलंकार, स्त्री, शयनासन आदि भोगसाधनों को प्राप्त करता है। ३३

३. गांधारस्वर वाला श्रेष्ठ आजीविका प्राप्त करता है। वादित्रवृत्ति वाला होता है। कला-विदों में श्रेष्ठ—शिरोमणि माना जाता है। कवि अथवा कर्त्तव्यशील होता है। प्राज्ञ—बुद्धिमान्—चतुर तथा अनेक शास्त्रों में पारंगत होता है। ३४

४. मध्यमस्वरभाषी सुखजीवी होते हैं। रुचि के अनुरूप खाते-पीते और जीते हैं तथा दूसरों को भी खिलाते-पिलाते तथा दान देते हैं। ३५

५. पंचमस्वर वाला व्यक्ति भूपति, शूरवीर, संग्राहक और अनेक गुणों का नायक होता होता है। ३३

६. धैवतस्वर वाला पुरुष कलहप्रिय, शाकुनिक (पक्षियों को मारने वाला—चिड़ीमार), वागुरिक (हिरण आदि पकड़ने—फँसाने वाला), शौकरिक (सूअरों का शिकार करने वाला) और मत्स्यबंधक (मच्छीमार) होता है। ३७

१-२. पाठान्तर
रेवयसरमंता उ, हवंति दुहजीविणो।
कुचेला य कुवित्ती य, चोरा चंडालमुट्ठिया।।
णिसायसरमंता उ, होंति कलहकारगा।
जंघाचरा लेहवाहा, हिंडगा भारवाहगा।। —अनुयोगद्वारवृत्ति, पृ. १२९

७. निषादस्वर वाला पुरुष चांडाल, वधिक, मुक्केवाज, गोघातक, चोर और इसी प्रकार के दूसरे-दूसरे पाप करने वाला होता है । ३८

विवेचन—इन गाथाओं में व्यक्ति के हाव-भाव-विलास, आचार-विचार-व्यवहार, कुल-शील-स्वभाव का बोध कराने में स्वर—वाग्व्यवहार के योगदान का संकेत किया गया है । बोलने मात्र से ही व्यक्ति के गुणावगुण का अनुमान लगाया जा सकता है । शिष्ट सरल जन प्रसादगुणयुक्त कोमल-कान्तपदावली का प्रयोग करते हैं, जबकि धूर्त, वंचक व्यक्तियों के बोलचाल में कर्णकटु, अप्रिय और भयोत्पादक शब्दों की बहुलता होती है एवं उनकी प्रवृत्ति भी वाग्व्यवहार के अनुरूप ही होती है ।

सप्तस्वरों के ग्राम और उनकी मूर्च्छनाएँ

[६] एतेसि णं सत्तण्हं सराणं तयो गामा पण्णत्ता । तं जहा—सज्जग्गामे १ मज्झिमग्गामे २ गंधारग्गामे ३ ।

[२६०-६] इन सात स्वरों के तीन ग्राम कहे गये हैं । वे इस प्रकार—

१. षड्जग्राम, २. मध्यमग्राम, ३. गांधारग्राम ।

[७] सज्जग्गामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ । तं जहा—

मंगी कोरव्वीया हरी य रयणी य सारकंता य ।
छट्ठी य सारसी नाम सुद्धसज्जा य सत्तमा ।। ३९ ।।

[२६०-७] षड्जग्राम की सात मूर्च्छनाएँ कही गई हैं । उनके नाम हैं—

१. मंगी, २. कौरवीया, ३. हरित्, ४. रजनी, ५. सारकान्ता, ६. सारसी और ७. शुद्ध-षड्ज । ३९

[८] मज्झिमग्गामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ । तं जहा—

उत्तरमंदा रयणी उत्तरा उत्तरायसा (ता) ।
अस्सोकंता य सोवीरा अभीरू भवति सत्तमा ।। ४० ।।

[२६०-८] मध्यमग्राम की सात मूर्च्छनाएँ कही हैं । जैसे—

१. उत्तरमंदा, २. रजनी, ३. उत्तरा, ४. उत्तरायशा अथवा उत्तरायता, ५. अश्वक्रान्ता, ६. सौवीरा, ७. अभिरुद्गता । ४०

[९] गंधारग्गामस्स णं सत्त मुच्छणाओ पण्णत्ताओ । तं जहा—

नंदी य खुड्डिमा पूरिमा य चउथी य सुद्धगंधारा ।
उत्तरगंधारा वि य पंचमिया हवइ मुच्छा उ ।। ४१ ।।

सुट्ठुत्तरमायामा सा छट्ठा नियमसो उ णायव्वा ।
अहउत्तरायता कोडिमा य सा सत्तमी मुच्छा ।। ४२ ।।

[२६०-९] गांधारग्राम की सात मूर्च्छनाएँ कही गई हैं । उनके नाम ये हैं—

१. नन्दी, २. क्षुद्रिका, ३. पूरिमा, ४. शुद्धगांधारा, ५. उत्तरगांधारा, ६. सुष्ठुतर-आयामा और ७. उत्तरायता—कोटिमा । ४१-४२ ।

(इस प्रकार से सात स्वरों के तीन ग्राम और उनकी सात-सात मूर्च्छनाओं के नाम जानने चाहिये ।)

विवेचन—सूत्रकार ने सप्तस्वरों के *तीन ग्राम और प्रत्येक की मूर्च्छनाओं के नाम गिनाये हैं।*

मूर्च्छनाओं के समुदाय को ग्राम कहते हैं । वे षड्ज आदि के भेद से तीन प्रकार के हैं । प्रत्येक ग्राम की सात-सात मूर्च्छनाएँ होने से सब मिलकर इक्कीस हैं । मूर्च्छना अर्थात् गायक का गीत के स्वरों में तल्लीन—मूर्च्छित-सा हो जाना ।

मंगी आदि इक्कीस मूर्च्छनाओं की विशेष जानकारी के लिये भरतमुनि का नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थ देखिये ।

सप्त स्वरोत्पत्ति आदि विषयक जिज्ञासाएँ : समाधान

[१० अ] सत्त स्सरा कतो संभवंति ? गीयस्स का हवति जोणी ? ।
कतिसमया ऊसासा ? कति वा गीयस्स आगारा ? ॥ ४३ ॥
सत्त सरा नाभीओ संभवंति, गीतं च रुन्नजोणीयं ।
पायसमा उस्सासा, तिण्णि य गीयस्स आगारा ॥ ४४ ॥
आदिमिउ आरभंता, समुव्वहंता य मज्झगारम्मि ।
अवसाणे य झवेंता, तिन्नि वि गीयस्स आगारा ॥ ४५ ॥

[२६०-१०-अ] प्र.—सप्त स्वर कहाँ से—किससे उत्पन्न होते हैं ? गीत की योनि क्या है ? इसके उच्छ्वासकाल का समयप्रमाण कितना है ? गीत के कितने आकार होते हैं ?

उत्तर—सातों स्वर नाभि से उत्पन्न होते हैं । रुदन गीत की योनि—जाति है । पादसम—जितने समय में किसी छन्द का एक चरण गाया जाता है, उतना उसका (गीत का) उच्छ्वासकाल होता है । गीत के तीन आकार होते हैं—

आदि में मृदु, मध्य में तीव्र (तार) और अंत में मंद । इस प्रकार से गीत के तीन आकार जानने चाहिए । ४३, ४४, ४५

विवेचन—इन तीन गाथाओं में से पहली गाथा में गीत के स्वरों के उत्पत्तिस्थान आदि संबन्धी चार प्रश्न हैं और अगली दो गाथाओं में प्रश्नों के उत्तर दिये हैं ।

गाथागत विशेष शब्द—रुन्नजोणियं—रुदितयोनिकं—गीत की योनि रुदन है, अथवा रोने की जाति जैसा है । **आगारा**—आकारा—स्वरूपविशेष । **अवसाणे**—अवसाने—अंत में । **झवेंता**—क्षपयन्तः—समाप्त करते समय ।

गीतगायक की योग्यता

[१० आ] छद्दोसे अट्ठ गुणे तिण्णि य वित्ताणि दोण्णि भणितीओ ।
जो णाही सो गाहिति सुसिक्खतो रंगमज्झम्मि ॥ ४६ ॥

[२६०-१०-आ] संगीत के छह दोषों, आठ गुणों, तीन वृत्तों और दो भणितियों को यथावत् जानने वाला सुशिक्षित—गानकलाकुशल व्यक्ति रंगमंच पर गायेगा। ४६

विवेचन—सूत्रकार ने गानकला में प्रवीण व्यक्ति की योग्यता का निर्देश किया है कि वह गीत के दोष-गुण आदि का मर्मज्ञ हो। अतः आगे गीत के दोषों और गुणों आदि का निरूपण करते हैं।

गीत के दोष

[१० इ] भीयं दुयमुप्पिच्छं उत्तालं च कमसो मुणेयव्वं।
काकस्सरमणुनासं छ दोसा होंति गीयस्स ॥ ४७ ॥

[२६०-१०-इ] गीत के छह दोष इस प्रकार हैं—

१. भीतदोष—डरते हुए गाना।
२. द्रुतदोष—उद्वेगवश शीघ्रता से गाना।
३. उत्पिच्छदोष—श्वास लेते हुए या जल्दी-जल्दी गाना।
४. उत्तालदोष—तालविरुद्ध गाना।
५. काकस्वरदोष—कौए के समान कर्णकटु स्वर में गाना।
६. अनुनासदोष—नाक से स्वरों का उच्चारण करते हुए गाना। ४७

विवेचन—गाथार्थ सुगम है। यह छह दोष गायक को उपसनीय बना देते हैं।

पाठान्तर के रूप में 'उप्पिच्छं' के स्थान पर 'रहस्सं' पद भी प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है अक्षरों को लघु बनाकर गाना।

गीत के आठ गुण

[१० ई] पुण्णं रत्तं च अलंकियं च वत्तं तहेवमविघुट्ठं।
महुरं समं सुललियं अट्ठ गुणा होंति गीयस्स ॥ ४८ ॥

[२६०-१०-ई] गीत के आठ गुण इस प्रकार हैं—

१. पूर्णगुण—स्वर के आरोह-अवरोह आदि समस्त स्वरकलाओं से परिपूर्ण गाना।
२. रक्तगुण—गेय राग से भावित होकर गाना।
३. अलंकृतगुण—विविध विशेष शुभ स्वरों से संपन्न होकर गाना।
४. व्यक्तगुण—गीत के बोलों—स्वर-व्यंजनों का स्पष्ट रूप से उच्चारण करके गाना।
५. अविघुष्टगुण—विकृति और विश्रृंखलता से रहित नियत और नियमित स्वर से गाना—चीखते-चिल्लाते हुए न गाना।
६. मधुरगुण—कर्णप्रिय मनोरम स्वर से कोयल की भांति गाना।
७. समगुण—सुर-ताल-लय आदि से समनुगत-संगत स्वर में गाना।
८. सुललितगुण—स्वरघोलनादि के द्वारा ललित—श्रोत्रेन्द्रियप्रिय सुखदायक स्वर में गाना। ४८

[१० उ] उर-कंठ-सिरविसुद्धं च गिज्जते मउय-रिभियपदबद्धं।
समताल पडुक्खेवं सत्तस्सरसीभरं गीयं ॥ ४९ ॥

[२६०-१० उ] गीत के आठ गुण और भी हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. उरोविशुद्ध—जो स्वर उरस्थल में विशाल होता है।

२. कंठविशुद्ध—नाभि से उत्थित जो स्वर कंठस्थल में व्याप्त होकर स्फुट रूप से व्यक्त होता है। अर्थात् जो स्वर कंठ में नहीं फटता।

३. शिरोविशुद्ध—जो स्वर शिर से उत्पन्न होकर भी नासिका के स्वर से मिश्रित नहीं होता।

४. मृदुक—जो गीत मृदु—कोमल स्वर में गाया जाता है।

५. रिभित—घोलनाबहुल आलाप द्वारा गीत में चमत्कार पैदा करना।

६. पदबद्ध—गीत को विशिष्ट पदरचना से निबद्ध करना।

७. समतालप्रत्युत्क्षेप—जिस गीत में (हस्त) ताल, वाद्य-ध्वनि और नर्तक का पादक्षेप सम हो अर्थात् एक दूसरे से मिलते हों।

८. सप्तस्वरसीभर—जिसमें (षड्ज) आदि सातों स्वर तंत्री आदि वाद्यध्वनियों के अनुरूप हों। अथवा वाद्यध्वनियां गीत के स्वरों के समान हों। ४९

[१० ऊ] अक्खरसमं पयसमं तालसमं लयसमं गहसमं च।
निस्ससिउस्ससियसमं संचारसमं सरा सत्त ॥ ५० ॥

[२६०-१०-ऊ] (प्रकारान्तर से) सप्तस्वरसीभर की व्याख्या इस प्रकार है—

१. अक्षरसम—जो गीत ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत और सानुनासिक अक्षरों के अनुरूप ह्रस्वादि स्वरयुक्त हो।

२. पदसम—स्वर के अनुरूप पदों और पदों के अनुरूप स्वरों के अनुसार गाया जाने वाला गीत।

३. तालसम— तालवादन के अनुरूप स्वर में गाया जाने वाला गीत।

४. लयसम—वीणा आदि वाद्यों की धुनों के अनुसार गाया जाने वाला गीत।

५. ग्रहसम—वीणा आदि द्वारा ग्रहीत स्वरों के अनुसार गाया जाने वाला गीत।

६. निश्वसितोच्छ्वसितसम— सांस लेने और छोड़ने के क्रमानुसार गाया जाने वाला गीत।

७. संचारसम—सितार आदि वाद्यों के तारों पर अंगुली के संचार के साथ गाया जाने वाला गीत।

इस प्रकार गीत स्वर, तंत्री आदि के साथ संबन्धित होकर सात प्रकार का हो जाता है। ५०

विवेचन—यद्यपि षड्ज आदि के भेद से सप्त स्वरों के नाम प्रसिद्ध हैं। लेकिन अक्षरसम आदि इस गाथा द्वारा पुनः सप्त स्वरों के नाम बताने का कारण यह है कि षड्ज आदि नाम तो कंठोद्गत ध्वनिवाचक हैं और यहाँ लिपि रूप अक्षरों की अपेक्षा है। इसीलिये अनुयोगद्वार मलधारीया वृत्ति में इस गाथा को 'सत्तस्सरसीभरं'—सप्तस्वर सीभरं पद का विशेषण मानते हुए कहा है-'…… सप्तस्वरासीभरंति — अक्षरादिभिसमायत्र तत्सप्तस्वरसीभरमिति, ते चामी सप्तस्वरः—अक्खरसमं…… ।'

[१० ए] निद्दोसं सारवंतं च हेउजुत्तमलंकियं।
उवणीयं सोवयारं च मियं महुरमेव य ॥ ५१ ॥

[२६०-१०-ए] गेय पदों के आठ गुण इस प्रकार भी हैं—

१. निर्दोष—अलीक, उपघात आदि बत्तीस दोषों से रहित होना।

२. सारवंत—सारभूत विशिष्ट अर्थ से युक्त होना।

३. हेतुयुक्त—अर्थसाधक हेतु से संयुक्त होना।

४. अलंकृत—काव्यगत उपमा-उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से युक्त होना।

५. उपनीत—उपसंहार से युक्त होना।

६. सोपचार—अविरुद्ध अलज्जनीय अर्थ का प्रतिपादन करना।

७. मित—अल्पपद और अल्पअक्षर वाला होना।

८. मधुर—सुश्राव्य शब्द, अर्थ और प्रतिपादन की अपेक्षा प्रिय होना। ५१

विवेचन—सूत्रकार ने 'छद्दोसे अट्ठ गुणे' इन पदों के अनुसार गीत संबन्धी दोषों और विभिन्न अपेक्षाओं से गुणों का वर्णन किया है। वर्णन करने का कारण यह है कि गायक गीतविधाओं को जानता हुआ भी दोषों का निराकरण और गुणों का समायोजन करने का लक्ष्य नहीं रखे तो वह जनप्रिय और संमाननीय नहीं हो पाता है।

गीत के वृत्त-छन्द

[१० ऐ] समं अद्धसमं चेव सव्वत्थ विसमं च जं।
तिण्णि वित्तप्पयाराइं चउत्थं नोवलब्भइ ॥ ५२ ॥

[२६०-१०ऐ] गीत के वृत्त-छन्द तीन प्रकार के होते हैं—

१. सम—जिसमें गीत के चरण और अक्षर सम हों अर्थात् चार चरण हों और उनमें गुरु-लघु अक्षर भी समान हों, अथवा जिसके चारों चरण सरीखे हों।

२. अर्धसम—जिसमें प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण समान हों।

३. सर्वविषम—जिसमें सभी चरणों में अक्षरों की संख्या विषम हो, जिसके चारों चरण विषम हों।

इनके अतिरिक्त चौथा प्रकार नहीं पाया जाता है। ५२

गीत की भाषा

[१० ओ] सक्कया पायया चेव भणिईओ होंति दुण्णि उ।
सरमंडलम्मि गिज्जंते पसत्था इसिभासिया ॥ ५३ ॥

[२६०-१०-ओ] भणतियां-गीत की भाषायें दो प्रकार की कही गई हैं—संस्कृत और प्राकृत। ये दोनों प्रशस्त एवं ऋषिभाषित हैं और स्वरमंडल में पाई जाती है। ५३

विवेचन—उक्त दो गाथाओं में गीत के छन्दों और भाषाओं का विचार किया गया है। अब 'सो गाहिति' पद के अनुसार कौन किस प्रकार से गाता है ? इसका प्रश्नोत्तर विधा द्वारा निरूपण करते हैं।

गीतगायक के प्रकार

[११ अ] केसी गायति महुरं ? केसी गायति खरं च रुक्खं च ? ।
केसी गायति चउरं ? केसी य विलंबियं ? दुतं केसी ?
विस्सरं पुण केरिसी ? ॥ ५४ ॥ [पंचपदी]
सामा गायति महुरं, काली गायति खरं च रुक्खं च ।
गोरी गायति चउरं, काणा य विलंबियं, दुतं अंधा,
विस्सरं पुण पिंगला ॥ ५५ ॥ [पंचपदी]

[२६०-११-अ. प्र.] कौन स्त्री मधुर स्वर में गीत गाती है ? परुष और रूक्ष स्वर में कौन गाती है ? चतुराई से कौन गाती है ? विलंबित स्वर में कौन गाती है ? द्रुत स्वर में कौन गाती है ? तथा विकृत स्वर में कौन गाती है ?

[२६०-११-अ. उ.] श्यामा (षोडशी) स्त्री मधुर स्वर में गीत गाती है. कृष्णवर्णा स्त्री खर (परुष) और रूक्ष स्वर में गाती है. गौरवर्णा स्त्री चतुराई से गीत गाती है. काणी स्त्री विलंबित (मंद) स्वर में गाती है । अंधी स्त्री शीघ्रता से गीत गाती है और पिंगला (कपिला) विकृत स्वर में गीत गाती है । ५४, ५५

विवेचन—इन दो गाथाओं द्वारा परोक्ष में गीत स्वरों द्वारा गायक की योग्यता, स्थिति आदि का अनुमान लगाने का संकेत किया है ।

कुछ भिन्नता के साथ अन्य प्रतियों में गाथा ५५ इस रूप में अंकित है—

गोरी गायति महुरं सामा गायइ खरं च रुक्खं च ।
काली गायइ चउरं काणा य विलंबियं दुतं अंधा ॥ विस्सरं पुण पिंगला ।

इस प्रकार से सप्त स्वरमंडल संबन्धी आवश्यक वर्णन करने के अनन्तर अब उपसंहार करते हैं ।

उपसंहार

[११ आ] सत्त सरा तयो गामा मुच्छणा एक्कवीसति ।
ताणा एगूणपण्णासं सम्मत्तं सरमंडलं ॥ ५६ ॥

से तं सत्तनामे ।

[२६०-११-आ] इस प्रकार सात स्वर, तीन ग्राम और इक्कीस मूर्च्छनायें होती हैं । प्रत्येक स्वर सात तानों से गाया जाता है. इसलिये उसके (७×७=४९) उनपचास भेद हो जाते हैं । इस प्रकार स्वरमंडल का वर्णन समाप्त हुआ । ५६

स्वरमंडल के वर्णन की पूर्णता के साथ सप्तनाम की वक्तव्यता भी समाप्त हुई ।

विवेचन—यह गाथा सप्तस्वर और सप्तनाम के वर्णन की समाप्ति सूचक है । उनपचास तानें होने का कारण यह है कि षड्ज आदि सात स्वरों में से प्रत्येक स्वर सात तानों में गाया जाता

है तथा सप्ततंत्रिका वीणा में ४९ तानें होती हैं और इसी प्रकार एकतंत्रिका अथवा त्रितंत्रिका वीणा के साथ कंठ से गाई जाने वाली तानें भी ४९ होती हैं।

इस प्रकार सप्तनाम का वर्णन है।

अब क्रमप्राप्त अष्टनाम का निरूपण करते हैं—

अष्टनाम

२६१. [१] **से किं तं अट्ठनामे ?**

अट्ठनामे अट्ठविहा वयणविभत्ती पण्णत्ता। तं जहा—

निद्देसे पढमा होति १ बितिया उवदेसणे २।

तइया करणम्मि कया ३ चउत्थी संपयावणे ४ ॥ ५७ ॥

पंचमी य अपायाणे ५ छट्ठी सस्सामिवायणे ६।

सत्तमी सण्णिधाणत्थे ७ अट्ठमाऽऽमंतणी भवे ८ ॥ ५८ ॥

[२६१-१ प्र.] भगवन् ! अष्टनाम का क्या स्वरूप है ?

[२६१-१ उ.] आयुष्मन् ! आठ प्रकार की वचनविभक्तियों को अष्टनाम कहते हैं। वचनविभक्ति के वे आठ प्रकार यह हैं—

१. निर्देश-प्रतिपादक अर्थ में प्रथमा विभक्ति होती है।
२. उपदेशक्रिया के प्रतिपादन में द्वितीया विभक्ति होती है।
३. क्रिया के प्रति साधकतम कारण के प्रतिपादन में तृतीया विभक्ति होती है।
४. संप्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है।
५. अपादान (पृथक्ता) बताने के अर्थ में पंचमी विभक्ति होती है।
६. स्व-स्वामित्वप्रतिपादन करने के अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है।
७. सन्निधान (आधार) का प्रतिपादन करने के अर्थ में सप्तमी विभक्ति होती है।
८. संबोधित, आमंत्रित करने के अर्थ में अष्टमी विभक्ति होती है। ५७, ५८

विवेचन:—इन दो गाथाओं में अष्टनाम के रूप में आठ वचनविभक्तियों का निरूपण किया है।

वचनविभक्ति—जो कहे जाते हैं वे वचन हैं और विभक्ति अर्थात् कर्ता, कर्म आदि रूप अर्थ जिसके द्वारा प्रगट किया जाता है। अत: वचनों-पदों की विभक्ति को वचनविभक्ति कहते हैं।

यहाँ वचनविभक्ति से सुवन्त (संज्ञा, सर्वनाम) रूप प्रथमान्त आदि पदों का ग्रहण जानना चाहिये, तिङन्त रूप आख्यात विभक्तियों का नहीं।

यथाक्रम आठ वचनविभक्तियों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

निद्देसे पढमा—प्रतिपादक अर्थमात्र के प्रतिपादन करने को निर्देश कहते हैं। प्रतिपादक अर्थ के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। जिनमें जाति, व्यक्ति, लिंग, संख्या, कारक इन पांच को प्रतिपादक के अर्थ में स्वीकार किया है और इनमें भी जाति एवं व्यक्ति रूप अर्थ मुख्य हैं। इसका निर्देश करने में 'सु, औ, जस्' यह प्रथमा विभक्ति होती है।

२. बितिया उवदेसणे—उपदेश क्रिया से व्याप्त कर्म के प्रतिपादन में द्वितीया विभक्ति होती है। क्रिया में प्रवर्तित कराये जाने की इच्छा उत्पन्न करने को उपदेश कहते हैं और जिस पर क्रिया का फल पड़े वह कर्म है। इसकी बोधक 'अम्, औट्, शस्' यह विभक्ति हैं।

३. तइया करणम्मि—क्रियाफल की सिद्धि में सबसे अधिक उपकारक, सहायक को करण कहते हैं। इस करण में 'टा, भ्याम्, भिस्' यह तृतीया विभक्ति होती हैं।

४. चउत्थी संपयावणे—जिसके लिये क्रिया होती है, उसे सम्प्रदान कहते हैं और इस संप्रदान में 'ङे भ्याम्, भ्यस्' विभक्ति होती हैं।

५. पंचमी या अपायाणे—जिससे अलग होने या पृथक्ता का बोध हो, उसे अपादान कहते हैं। इस अपादान को बताने के लिये 'ङसि, भ्याम्, भ्यस्' यह पंचमी विभक्ति होती हैं।

६. छट्ठी सस्सामिवायणे—स्व-स्वामित्व सम्बन्ध का प्रतिपादन करने में 'ङस्, ओस्, आम्' यह षष्ठी विभक्ति होती हैं।

७. सत्तमी सण्णिधाणत्थे—सन्निधान अर्थात् क्रिया करने के आधार या स्थान का बोध कराने में 'ङि, ओस्, सुप' यह सप्तमी विभक्ति होती हैं।

८. अट्ठमाऽऽमंतणी भवे—किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के अर्थ में संबोधनरूप आठवीं विभक्ति का प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार सामान्य से आठ विभक्तियों का कथन करके अब इनको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

२६१. [२] **तत्थ पढमा विभत्ती निद्देसे सो इमो अहं व त्ति १।**
बितिया पुण उवदेसे भण कुणसु इमं व तं व त्ति २॥ ५९॥
ततिया करणम्मि कया भणियं व कयं व तेण व मए वा ३।
हंदि णमो साहाए हवति चउत्थी पयाणम्मि ४॥ ६०॥
अवणय गिण्ह य एत्तो इतो त्ति वा पंचमी अपायाणे ५।
छट्ठी तस्स इमस्स व गयस्स वा सामिसंबंधे ६॥ ६१॥
हवति पुण सत्तमी तं इमम्मि आधार काल भावे य ७।
आमंतणी भवे अट्ठमी उ जह हे जुवाण! त्ति ८॥ ६२॥

से तं अट्ठणामे।

[२६१-२] १. निर्देश में प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे—वह, यह अथवा मैं।

२. उपदेश में द्वितीया विभक्ति होती है।—जैसे इसको कहो; उसको करो आदि।

३. करण में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे—उसके और मेरे द्वारा कहा गया अथवा उसके और मेरे द्वारा किया गया।

४. संप्रदान, नमः तथा स्वाहा अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे विप्राय गां ददाति—ब्राह्मण को (के लिये) गाय देता है। नमो जिनाय—जिनेश्वर के लिये मेरा नमस्कार हो। अग्नये स्वाहा—अग्नि देवता को हवि दिया जाता है।

५. अपादान में पंचमी होती है। जैसे—यहां से दूर करो अथवा इससे ले लो।

६. स्वस्वामीसम्बन्ध बतलाने में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—उसकी अथवा इसकी यह वस्तु है।

७. आधार, काल और भाव में सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे (वह) इसमें है।

८. आमंत्रण अर्थ में अष्टमी विभक्ति होती है। जैसे—हे युवन्! । ५९-६२।

यह आठ विभक्तिरूप अष्टनाम का वर्णन है।

विवेचन—सूत्रकार ने गाथा ५९ से ६२ तक पूर्वोक्त प्रथमा आदि आठ विभक्तियों का उदाहरण सहित वर्णन किया है। इन विभक्तियों द्वारा वाक्यगत शब्दों का परस्पर एक दूसरे के साथ ठीक-ठीक संबन्धों का परिज्ञान होता है तथा यह आठों विभक्तियां संज्ञावाचक शब्दों के साथ जुड़ती हैं किन्तु सर्वनाम शब्दों में आठवीं संबोधन विभक्ति प्रयुक्त नहीं होती है।

हिन्दी भाषा में इन विभक्तियों की कारक संज्ञा है और कर्त्ता आदि भेद हैं, जिनके चिह्न इस प्रकार हैं—

कर्त्ता—ने। कर्म—को। करण—से, द्वारा। संप्रदान—को, के लिये। अपादान—से। संबन्ध—का, की, के। अधिकरण—में, पर। संबोधन—हे, हो, अरे।

हिन्दी भाषा में इन प्रत्ययों से संस्कृत जैसा एक, द्वि, बहुवचन की अपेक्षा कोई अंतर नहीं आता है। समान रूप से एकवचन और बहुवचन रूप संज्ञानामों के साथ संयोजित होते हैं।

इस प्रकार से अष्टनाम की प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये।

नवनाम

२६२. [१] से किं तं नवनामे?

नवनामे णव कव्वरसा पण्णत्ता। तं जहा—

वीरो १ सिंगारो २ अब्भुओ य ३ रोद्दो य ४ होइ बोधव्वो।
वेलणओ ५ बीभच्छो ६ हासो ७ कलुणो ८ पसंतो य ९ ॥ ६३ ॥

[२६२-१ प्र.] भगवन्! नवनाम का क्या स्वरूप है?

[२६२-१ उ.] आयुष्मन्! काव्य के नौ रस नवनाम कहलाते हैं। जिनके नाम हैं—

१. वीररस, २. शृंगाररस, ३. अद्भुतरस, ४. रौद्ररस, ५. व्रीड़नकरस, ६. बीभत्सरस, ७. हास्यरस, ८. कारुण्यरस और ९. प्रशांतरस, ये नवरसों के नाम हैं। ६३।

विवेचन—सूत्र में नौ काव्यरसों के नाम गिनाये हैं।

काव्यरसों की व्याख्या—कवि के कर्म को काव्य और काव्य में उपनिबद्ध रस को काव्यरस कहते हैं। विभिन्न सहकारी कारणों से अन्तरात्मा में उत्पन्न उल्लास या विकार की अनुभूति रस कहलाती है।

रससिद्धान्त मानने का कारण—रससिद्धान्त मानव-मन सम्बन्धी गहन अनुशीलन का परिचायक है। सौन्दर्यविषयक धारणाओं का सार-सर्वस्व है।

रस-परिकल्पना काव्यास्वाद से संबद्ध है। आस्वादन के क्षणों में आस्वादक जब अनुभूति की गहनता में एक अखंड आनन्दोपलब्धि में लीन होता है तब वह उस आस्वाद या आनन्द का कोई न कोई नाम देना चाहता है। बस यही दृष्टि रस नामकरण की हेतु है और इसे काव्यशास्त्र में सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

रसों की संख्या—सामान्यतः अनुभूति के दो प्रकार हैं—सुखात्मक और दुःखात्मक। अतः स्थूल रूप में रस के दो भेद होंगे। लेकिन ये अनुभूतियां इतनी अधिक हैं, इतने प्रकार की हैं कि उन्हें सुख या दुःख में समायोजित नहीं किया जा सकता है। इसीलिये आचार्यों ने अनुभूतियों की भिन्नताओं का बोध कराने के लिये रस के भेद करके उनके पृथक्-पृथक् नामकरण किये और रस-संख्या के संदर्भ में परंपरित दृष्टि का अतिक्रमण करके अनेक नवीन रसों का भी नामोल्लेख किया। लेकिन अंत में रसभेद के रूप में इन नौ नामों को स्वीकार किया गया है—

श्रृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साऽद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥

इन नौ भेदों में से कुछ विद्वानों ने करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स इन चार रसों को दुःखात्मक तथा श्रृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त इन पांच को सुखात्मक कहा है। लेकिन साहित्यशास्त्रियों ने इस मत को ग्राह्य नहीं माना। उनकी युक्ति है—रस की प्रक्रिया में दुःख का अंश रहने पर भी परिणति में कोई भी रस दुःखात्मक नहीं है।

जैनाचार्यों की मान्यता भी नौ रसों की है, लेकिन उनके नामों में कुछ अन्तर है। उन्होंने इनमें से भयानक रस को अस्वीकार करके 'व्रीडनक' नामक रस माना और शांत के स्थान पर 'प्रशांत' शब्द का प्रयोग किया है।

इस प्रकार सामान्य से नवरसों की रूपरेखा बताने के बाद अब विस्तारपूर्वक वीर आदि प्रत्येक रस का वर्णन करते हैं।

वीररस

[२] तत्थ परिच्चायम्मि य १ तव-चरणे २ सत्तुजणविणासे य ३।
अणणुसय-धिति-परक्कमचिण्हो वीरो रसो होइ॥ ६४॥

वीरो रसो जहा—

सो णाम महावीरो जो रज्जं पयहिऊण पव्वइओ।
काम-क्कोहमहासत्तुपक्खनिग्घायणं कुणइ॥ ६५॥

[२६२-२] इन नव रसों में १. परित्याग करने में गर्व या पश्चात्ताप न होने, २. तपश्चरण में धैर्य और ३ शत्रुओं का विनाश करने में पराक्रम होने रूप लक्षण वाला वीररस है। ६४

वीररस का बोधक उदाहरण इस प्रकार है—

राज्य-वैभव का परित्याग करके जो दीक्षित हुआ और दीक्षित होकर काम-क्रोध आदि रूप महाशत्रुपक्ष का जिसने विघात किया, वही निश्चय से महावीर है। ६५

विवेचन—सूत्रकार ने इन दो गाथाओं में से पहली में अननुशय, धृति, पराक्रम आदि वीररस के बोधक चिह्नों का उल्लेख किया है और दूसरी में वीररस के लक्षणों से युक्त व्यक्ति को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। शत्रु दो प्रकार के हैं—आन्तरिक (भाव) और बाह्य (द्रव्य)। मोक्ष का प्रतिपादक होने से प्रस्तुत शास्त्र में काम, क्रोध आदि भाव-शत्रुओं को जीतनेवाले महापुरुष को वीर कहा है। यही दृष्टि आगे के उदाहरणों के लिये भी जानना चाहिये।

शृंगाररस

[३] सिंगारो नाम रसो रतिसंजोगाभिलाससंजणणो।
मंडण - विलास-विब्बोय-हास-लीला-रमणलिंगो ॥ ६६ ॥

सिंगारो रसो जहा—

महुरं विलासललियं हिययुम्मादणकरं जुवाणाणं।
सामा सद्दुद्दामं दाएती मेहलादामं ॥ ६७ ॥

[२६२-३] शृंगाररस रति के कारणभूत साधनों के संयोग की अभिलाषा का जनक है तथा मंडन, विलास, विब्वोक, हास्य-लीला और रमण ये सब शृंगाररस के लक्षण हैं। ६६

शृंगाररस का बोधक उदाहरण है—

कामचेष्टाओं से मनोहर कोई श्यामा (सोलह वर्ष की तरुणी) क्षुद्र घंटिकाओं से मुखरित होने से मधुर तथा युवकों के हृदय को उन्मत्त करने वाले अपने कोटिसूत्र का प्रदर्शन करती है। ६७

विवेचन—पूर्व की तरह इन दो गाथाओं में सोदाहरण शृंगाररस का वर्णन किया गया है। पहली गाथा में शृंगार रस की संभव चेष्टाओं का और दूसरी में उन चेष्टाओं से युक्त व्यक्ति(नायिका) को उदाहारण रूप में प्रस्तुत किया गया है।

गाथोक्त कतिपय शब्दों की व्याख्या—रतिसंजोगाभिलाससंजणणो—रति—सुरतक्रीडा के कारणभूत ललना आदि के साथ संगम की इच्छा को उत्पन्न करने वाला। मंडण—अलंकार-आभूषणों आदि से शरीर को अलंकृत करना—सजाना। विलास—कामोत्तेजक नेत्रादि की चेष्टायें। विब्बोय—विकारोत्तेजक शारीरिक प्रवृत्ति। लीला—गमनादि रूप रमणीय चेष्टा। रमण—क्रीडा करना।

अद्‌भुतरस

[४] विम्हयकरो अपुव्वो व भूयपुव्वो व जो रसो होइ।
सो हास-विसायुप्पत्तिलक्खणो अब्भुतो नाम ॥ ६८ ॥

अब्भुओ रसो जहा—

अब्भुयतरमिह एत्तो अन्नं किं अत्थि जीवलोगम्मि।
जं जिणवयणेणऽत्था तिकालजुत्ता वि णज्जंति! ॥ ६९ ॥

[२६२-४] पूर्व में कभी अनुभव में नहीं आये अथवा अनुभव में आये किसी विस्मयकारी-आश्चर्यकारक पदार्थ को देखकर जो आश्चर्य होता है, वह अद्‌भुतरस है। हर्ष और विषाद की उत्पत्ति अद्‌भुतरस का लक्षण है। जैसे—

इस जीवलोक में इससे अधिक अद्‌भुत और क्या हो सकता है कि जिनवचन द्वारा त्रिकाल संवन्धी समस्त पदार्थ जान लिये जाते हैं। ६८,६९

विवेचन—अद्‌भुतरस का लक्षण और उदाहरण इन गाथाओं द्वारा बताया गया है।

हर्ष और विषाद की उत्पत्ति को अद्‌भुतरस के लक्षण वताने का कारण यह है कि आश्चर्यजनक किसी शुभ वस्तु के देखने पर हर्ष और अशुभ वस्तु को देखने पर विषाद की उत्पत्ति होती है।

रौद्ररस

[५] भयजणणरूव-सद्दंधकारचिंता- कहासमुप्पन्नो।
सम्मोह-संभम-विसाय-मरणलिंगो रसो रोद्दो ॥ ७० ॥

रोद्दो रसो जहा—
भिउडीविडंबियमुहा ! संदट्ठोट्ठ ! इय रुहिरमोकिण्ण !।
हणसि पसुं असुरणिभा ! भीमरसिय ! अतिरोद्द ! रोद्दोऽसि ॥ ७१ ॥

[२६२-५] भयोत्पादक रूप, शब्द अथवा अंधकार के चिन्तन, कथा, दर्शन आदि से रौद्ररस उत्पन्न होता है और संमोह, संभ्रम, विषाद एवं मरण उसके लक्षण हैं। ७०, यथा—

भृकुटियों से तेरा मुख विकराल बन गया है, तेरे दांत होठों को चवा रहे हैं, तेरा शरीर खून से लथपथ हो रहा है, तेरे मुख से भयानक शब्द निकल रहे हैं, जिससे तू राक्षस जैसा हो गया है और पशुओं की हत्या कर रहा है। इसलिये अतिशय रौद्ररूपधारी तू साक्षात रौद्ररस है। ७१

विवेचन—यहाँ रौद्ररस का लक्षण और उन लक्षणों से युक्त व्यक्ति को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

उदाहरण के रूप में प्रस्तुत रूपक से स्पष्ट है कि हिंसा में प्रवृत्त व्यक्ति के परिणाम रौद्र होते हैं और भृकुटि आदि के द्वारा ही उन परिणामों की रौद्ररूपता आदि का वोध होता है।

यद्यपि भयजनक पिशाचादि के रूप के दर्शन, स्मरण आदि से संमोहादि लक्षण वाले भयानकरस की उत्पत्ति होती है, तथापि उनके रौद्रपरिणामों का वोध कराने का कारण होने से इसमें रौद्रता की विवक्षा की है।

शब्दार्थ—संमोह—विवेकशून्यता-विवेकविकलता, **संभम**—संभ्रम—व्याकुलता, **भिउडी**—भ्रकुटि—भौंहों को ऊपर चढ़ाना। **विडंबिय**—विडम्बित—विकराल, विकृत। **रुहिरमोकिण्ण**—रुधिराकीर्ण—खून से लथपथ। **असुरणिभा**—असुरनिभ—असुर-राक्षस के जैसे (हो रहे हो)। **भीमरसिय**—भीमरसित—भयोत्पादक शब्द वोलने वाला। **अतिरोद्दो**—अतिरौद्र—अतिशय रौद्र रूपधारी।

व्रीडनकरस

[६] विणयोवयार-गुज्झ-गुरुदारमेरावतिक्कमुप्पण्णो।
वेलणओ नाम रसो लज्जा-संकाकरणलिंगो ॥ ७२ ॥

वेलणओ रसो जहा—

किं लोइयकरणीओ लज्जणियतरं ति लज्जिया होमो।
वारिज्जम्मि गुरुजणो परिवंदइ जं वहूपोत्तं ॥ ७३ ॥

[२६२-६] विनय करने योग्य माता-पिता आदि गुरुजनों का विनयन करने से, गुप्त रहस्यों को प्रकट करने से तथा गुरुपत्नी आदि के साथ मर्यादा का उल्लंघन करने से व्रीडनकरस उत्पन्न होता है। लज्जा और शंका उत्पन्न होना, इस रस के लक्षण हैं। ७२, यथा—(कोई वधू कहती है—) इस लौकिक व्यवहार से अधिक लज्जास्पद अन्य बात क्या हो सकती है—मैं तो इससे बहुत लजाती हूँ—मुझे तो इससे बहुत लज्जा-शर्म आती है कि वर-वधू का प्रथम समागम होने पर गुरुजन—सास आदि वधू द्वारा पहने वस्त्र की प्रशंसा करते हैं। ७३

विवेचन—व्रीडनकरस का सोदाहरण लक्षण बताया है कि लोकमर्यादा और आचारमर्यादा के उल्लंघन से व्रीडनकरस की उत्पत्ति होती है और लज्जा आना एवं आशंकित होना उसके ज्ञापक चिह्न हैं। लज्जा अर्थात् कार्य करने के बाद मस्तक का नमित हो जाना, शरीर का संकुचित हो जाना और दोष प्रकट न हो जाए, इस विचार से मन का दोलायमान बना रहना।

उदाहरण अपने-आप में स्पष्ट है। किसी क्षेत्र या किसी काल में ऐसी रूढ़ि—लोकपरंपरा रही होगी कि नववधू को अक्षतयोनि प्रदर्शित करने के लिए सुहागरात के बाद उसके रक्तरंजित वस्त्रों का प्रदर्शन किया जाता था। परन्तु है वह अतिशय लज्जाजनक।

बीभत्सरस

[७] असुइ-कुणव-दुद्दंसणसंजोगब्भासगंधनिप्फण्णो।
निव्वेयऽविहिंसालक्खणो रसो होइ बीभत्सो ॥ ७४ ॥

बीभत्सो रसो जहा—

असुइमलभरियनिज्झर सभावदुग्गंधि सव्वकालं पि।
धण्णा उ सरीरकलिं बहुमलकलुसं विमुंचंति ॥ ७५ ॥

[२६२-७] अशुचि—मल मूत्रादि, कुणप—शव, मृत शरीर, दुर्दर्शन—लार आदि से व्याप्त घृणित शरीर को बारंबार देखने रूप अभ्यास से या उसकी गंध से बीभत्सरस उत्पन्न होता है। निर्वेद और अविहिंसा बीभत्सरस के लक्षण हैं। ७४

बीभत्सरस का उदाहरण इस प्रकार है—

अपवित्र मल से भरे हुए झरनों (शरीर के छिद्रों) से व्याप्त और सदा सर्वकाल स्वभावतः दुर्गन्धयुक्त यह शरीर सर्व कलहों का मूल है। ऐसा जानकर जो व्यक्ति उसकी मूर्च्छा का त्याग करते हैं, वे धन्य हैं।

विवेचन—सूत्रकार ने बीभत्सरस का स्वरूप बतलाया है और उदाहरण में रूप के शरीर का उल्लेख किया है। शरीर की बीभत्सता को सभी जानते हैं—

पल-रुधिर-राध-मल थैली कीकस वसादि तें मैली।

अतएव इससे अधिक और दूसरी घृणित वस्तु क्या हो सकती है ?

निर्वेद और अविहिंसा बीभत्सरस के लक्षण बताये हैं। निर्वेद अर्थात् उद्वेग, मन में ग्लानिभाव, संकल्प-विकल्प उत्पन्न होना। शरीर आदि की असारता को जानकर हिंसादि पापों का त्याग करना अविहिंसा है। इन दोनों को उदाहरण में घटित किया है कि यह शरीर यथार्थ में उद्वेगकारी होने से भाग्यशाली जन उसके ममत्व को त्याग कर, हिंसादि पापों से विरत होकर आत्मरमणता की ओर अग्रसर होते हैं।

हास्यरस

[८] **रूव - वय - वेस-भासाविवरीयविलंबणासमुप्पन्नो।**
हासो मणप्पहासो पकासलिंगो रसो होति ॥ ७६ ॥

हासो रसो जहा—

पासुत्तमसीमंडियपडिबुद्धं देयरं पलोयंती।
ही ! जह थणभरकंपणपणमियमज्झा हसति सामा ॥ ७७ ॥

[२६२-८] रूप, वय, वेष और भाषा की विपरीतता से हास्यरस उत्पन्न होता है। हास्यरस मन को हर्षित करने वाला है और प्रकाश—मुख, नेत्र आदि का विकसित होना, अट्टहास आदि उसके लक्षण हैं। ७६

हास्य रस इस प्रकार जाना जाता है—

प्रात: सोकर उठे, कालिमा से—काजल की रेखाओं से मंडित देवर के मुख को देखकर स्तनयुगल के भार से नमित मध्यभाग वाली कोई युवती (भाभी) ही-ही करती हँसती है। ७७

विवेचन—यहाँ हास्यरस का स्वरूप बताया है। हास्यरस रूप, वय, वेश और भाषा की विपरीतता रूप विडंवना से उत्पन्न होता है। पुरुष द्वारा स्त्री का या स्त्री द्वारा पुरुष का रूप धारण करना रूप की विपरीतता है। इसी प्रकार वय आदि की विपरीतता-विडम्बना के विषय में जान लेना चाहिये। जैसे कोई तरुण वृद्ध का रूप वनाए, राजपुत्र वणिक् का रूप धारण करे, आदि। इस प्रकार की विपरीतताओं से हास्यरस की उत्पत्ति होती है। हँसते समय मुख का खिल जाना, खिल-खिलाना आदि हास्यरस के चिह्नों को तो सभी जानते हैं।

करुणरस

[९] **पियविप्पयोग-बंध-वह-वाहि-विणिवाय-संभमुप्पन्नो।**
सोचिय-विलविय-पव्वाय-रुन्नलिंगो रसो कलुणो ॥ ७८ ॥

कलुणो रसो जहा—

पज्झातकिलामिययं बाहागयपप्पुयच्छियं बहुसो।
तस्स वियोगे पुत्तिय ! दुब्बलयं ते मुहं जायं ॥ ७९ ॥

[२६२-९] प्रिय के वियोग, बंध, वध, व्याधि, विनिपात, पुत्रादि-मरण एवं संभ्रम-परचक्रादि के भय आदि से करुणरस उत्पन्न होता है। शोक, विलाप, अतिशय म्लानता, रुदन आदि करुणरस के लक्षण हैं। ७८

करुणरस इस प्रकार जाना जा सकता है—

हे पुत्रिके ! प्रियतम के वियोग में उसकी वारंवार अतिशय चिन्ता से क्लान्त-मुर्झाया हुआ और आंसुओं से व्याप्त नेत्रों वाला तेरा मुख दुर्बल हो गया है। ७९

विवेचन—करुणरस के स्वरूपवर्णन के प्रसंग में उसके शोक, विलाप, मुखशुष्कता, रोना आदि चिह्न बताये गये हैं, जिन्हें उदाहरण में कारण सहित स्पष्ट किया है।

प्रशान्तरस

[१०] निद्दोसमणसमाहाणसंभवो जो पसंतभावेणं।
अविकारलक्खणो सो रसो पसंतो त्ति णायव्वो ॥ ८० ॥

पसंतो रसो जहा—

सब्भावनिव्विकारं उवसंत-पसंत-सोमदिट्ठीयं।
ही ! जह मुणिणो सोहति मुहकमलं पीवरसिरीयं ॥ ८१ ॥

[२६२-१०] निर्दोष (हिंसादि दोषों से रहित), मन की समाधि (स्वस्थता) से और प्रशान्त भाव से जो उत्पन्न होता है तथा अविकार जिसका लक्षण है, उसे प्रशान्तरस जानना चाहिये। ८०

प्रशान्तरस सूचक उदाहरण इस प्रकार है—सद्भाव के कारण निर्विकार, रूपादि विषयों के अवलोकन की उत्सुकता के परित्याग से उपशान्त एवं क्रोधादि दोषों के परिहार से प्रशान्त, सौम्य दृष्टि से युक्त मुनि का मुखकमल वास्तव में अतीव श्रीसम्पन्न होकर सुशोभित हो रहा है। ८१

विवेचन—यहाँ सूत्रकार ने नव रसों के अंतिम भेद प्रशान्तरस का स्वरूप बताया है। क्रोधादि कषायों रूप वैभाविक भावों की रहितता से जो अंतर में शांति की अनुभूति एवं बाहर में मुख पर लावण्यमय ओज—तेज दिखाई देता है, वह सब प्रशान्तरस रूप है। इसी बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।

इस प्रकार नवरसों के रूप में नवनाम का वर्णन करके अब ग्रन्थकार उपसंहार करते हैं—

[११] एए णव कव्वरसा बत्तीसादोसविहिसमुप्पण्णा।
गाहाहिं मुणेयव्वा, हवंति सुद्धा व मीसा वा ॥ ८२ ॥

से तं नवनामे।

[२६२-११] गाथाओं द्वारा कहे गये ये नव काव्यरस अलीकता आदि सूत्र के बत्तीस दोषों से उत्पन्न होते हैं और ये रस कहीं शुद्ध (अमिश्रित) भी होते हैं और कहीं मिश्रित भी होते हैं।

इस प्रकार से नवरसों का वर्णन पूर्ण हुआ और नवरसों के साथ ही नवनाम का निरूपण भी पूर्ण हुआ।

विवेचन—यह गाथा नवरसों और साथ ही नवनाम के वर्णन की समाप्ति की सूचक है।

ये नवरस आगे कहे जाने वाले अलीक, उपघात आदि सूत्र के बत्तीस दोषों के द्वारा उत्पन्न होते हैं। जैसे—

तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदविन्दुभिः।
प्रावर्तत नदी घोरा हस्त्यश्वरथवाहिनी ।।

अर्थात् उन हाथियों के कट-तट से झरते हुए मदविन्दुओं से एक घोर (विशाल) नदी वह निकली कि जिसमें हाथी, घोड़ा, रथ और सेना बहने लगी।

यह कथन अलीकता दोष से दूषित है, क्योंकि मदजल से नदी का निकलना न तो किसी ने देखा है, न सुना है और न संभव है। यह तो एक कल्पनामात्र है। इस अलीक दोष से अद्भुतरस उत्पन्न हुआ है।

इसी प्रकार से अन्यत्र भी यथासंभव सूत्रदोषों से उन-उन रसों की उत्पत्ति जानना चाहिये। परन्तु यह एकान्त नियम नहीं है कि सभी रस अलीकादि दोषों की विरचना से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे—तपश्चरण विषयक वीररस तथा प्रशान्त आदि रसों की उत्पत्ति अलीकादि सूत्रदोषों के विना भी होती है।

'सुद्धा वा मिस्सा वा हवंति' अर्थात् किसी काव्य में शुद्ध—एक ही रस और किसी में दो और दो से अधिक रसों का समावेश होता है।

अब नाम अधिकार के अंतिम भेद दसनाम का वर्णन करते हैं—

दसनाम

२६३. से किं तं दसनामे ?

दसनामे दसविहे पण्णत्ते। तं जहा—गोण्णे १ नोगोण्णे २ आयाणपदेणं ३ पडिवक्खपदेणं ४ पाहण्णयाए ५ अणादियसिद्धंतेणं ६ नामेणं ७ अवयवेणं ८ संजोगेणं ९ पमाणेणं १०।

[२६३ प्र.] भगवन् ! दसनाम का क्या स्वरूप है ?

[२६३ उ.] आयुष्मन् ! दस प्रकार के नाम दस नाम कहलाते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. गौणनाम, २. नोगौणनाम, ३. आदानपदनिष्पन्ननाम, ४. प्रतिपक्षपदनिष्पन्ननाम, ५. प्रधानपदनिष्पन्ननाम, ६. अनादिसिद्धान्तनिष्पन्ननाम, ७. नामनिष्पन्ननाम, ८. अवयवनिष्पन्ननाम, ९. संयोगनिष्पन्ननाम, १०. प्रमाणनिष्पन्ननाम।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र दसनाम की व्याख्या की भूमिका रूप है। यहाँ बतलाया है कि विभिन्न आधारों को लेकर वस्तु का नामकरण किया जा सकता है। प्रस्तुत में दस आधार कहे गए हैं। उनका आशय यह है—

गौणनाम

२६४. से किं तं गोण्णे ?

गोण्णे खमतीति खमणो, तपतीति तपणो, जलतीति जलणो, पवतीति पवणो। से तं गोण्णे।

[२६४ प्र.] भगवन् ! गौण—गुणनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२६४ उ.] आयुष्मन् ! गौण—गुणनिष्पन्ननाम का स्वरूप इस प्रकार है—

जो क्षमागुण से युक्त हो उसका 'क्षमण' नाम होना, जो तपे उसे तपन (सूर्य), प्रज्वलित हो उसे ज्वलन (अग्नि), जो पवे अर्थात् वहे उसे पवन कहना। यह गौणनाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में कतिपय उदाहरणों के द्वारा गौणनाम का स्वरूप बतलाया है। गुणों के आधार से जो संज्ञायें निर्धारित होती हैं, उन्हें गौणनाम कहते हैं। यह यथार्थनाम भी कहलाता है।

उदाहरण के रूप में जिन नामों का उल्लेख किया है, वे क्षमा, तपन, ज्वलन, पवन रूप नाम के अनुसार गुणों वाले हैं। इसलिये उनके नाम गुणनिष्पन्न होने से गौण—यथार्थ नाम हैं।

नोगौणनाम

२६५. से किं तं नोगोण्णे ?

नोगोण्णे अकुंतो सकुंतो, अमुग्गो समुग्गो, अमुद्दो समुद्दो, अलालं पलालं, अकुलिया सकुलिया, नो पलं असतीति पलासो, अमातिवाहए मातिवाहए, अबीयवावए बीयवावए, नो इंदं गोवयतीति इंदगोवए। से तं नोगोण्णे।

[२६५ प्र.] भगवन् ! नोगौणनाम का क्या स्वरूप है ?

[२६५ उ.] आयुष्मन् ! नोगौणनाम का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—

कुन्त—शस्त्र-विशेष (भाला) से रहित होने पर भी पक्षी को 'सकुन्त' कहना।

मुद्ग—मूंग धान्य से रहित होने पर भी डिबिया को 'समुद्ग' कहना।

मुद्रा—अंगूठी से रहित होने पर भी सागर को 'समुद्र' कहना।

लाल—लार से रहित होने पर भी विशेष प्रकार के घास को 'पलाल' कहना।

कुलिका—भित्ति (दीवार) से रहित होने पर भी पक्षिणी को 'सकुलिका' कहना।

पल—मांस का आहार न करने पर भी वृक्ष-विशेष को 'पलाश' कहना।

माता को कन्धों पर वहन न करने पर भी विकलेन्द्रिय जीवविशेष को 'मातृवाहक' नाम से कहना।

बीज को नहीं बोने वाले जीवविशेष को 'बीजवापक' कहना।

इन्द्र की गाय का पालन न करने पर भी कीटविशेष का 'इन्द्रगोप' नाम होना।

इस प्रकार से नोगौणनाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में नोगौणनाम का स्वरूप कतिपय उदाहरणों द्वारा बतलाया गया है। यह नाम गुण-धर्म-स्वभाव आदि की अपेक्षा किये विना मात्र लोकरूढि से निष्पन्न होता है। इस प्रकार के नाम अयथार्थ होने पर भी लोक में प्रचलित हैं।

सूत्रगत उदाहरण स्पष्ट हैं। जैसे 'सकुन्त' यह नाम अयथार्थ है। क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार जो कुन्त—शस्त्र-विशेष—भाला से युक्त हो वही सकुन्त है। किन्तु पक्षी को भी सकुन्त (शकुन्त) कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों के लिये जानना चाहिये।

आदानपदनिष्पन्ननाम

२६६. से किं तं आयाणपदेणं ?

आयाणपदेणं आवंती चातुरंगिज्जं अहातत्थिज्जं अद्दइज्जं असंखयं जण्णइज्जं पुरिसइज्जं (उसुकारिज्जं) एलइज्जं वीरियं धम्मो मग्गो समोसरणं जमईयं। से तं आयाणपदेणं।

[२६६ प्र.] भगवन् ! आदानपदनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२६६ उ.] आयुष्मन् ! आवंती, चातुरंगिज्जं, असंखयं, अहातत्थिज्जं अद्दइज्जं, जण्णइज्जं, पुरिसइज्जं (उसुकारिज्जं), एलइज्जं, वीरियं, धम्म, मग्ग, समोसरणं, जमईयं आदि आदानपदनिष्पन्ननाम हैं।

विवेचन—सूत्र में आदानपदनिष्पन्ननाम का स्वरूप बताने के लिये संबन्धित उदाहरणों का उल्लेख किया है।

किसी शास्त्र के अध्ययन आदि के प्रारंभ में उच्चरित पद आदान पद कहलाता है। उस के आधार से निष्पन्न—रखे जाने वाले नाम को आदानपदनिष्पन्ननाम कहते हैं। जैसे—

आवंती—इस आचारांगसूत्र के पांचवें अध्ययन के नाम का कारण उसके प्रारंभ में उच्चरित 'आवंती केयावंती' पद है।

'चाउरंगिज्जं' यह उत्तराध्ययनसूत्र के तीसरे अध्ययन का नाम है, जो उस अध्ययन के प्रारंभ में आगत 'चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो' गाथा के आधार से रखा है।

'असंखयं जीविय मा पमायए' इस वाक्य में प्रयुक्त 'असंखयं' शब्द उत्तराध्ययनसूत्र के चतुर्थ अध्ययन के नाम का कारण है।

'जह सुत्तं तह अत्थो' गाथोक्त जह तह इन दो पदों के आधार से सूत्रकृतांगसूत्र के तेरहवें अध्ययन का 'जहतह' नामकरण किया गया है।

इसी प्रकार 'पुराकडं अद्दइयं सुणेह' इस सूत्रकृतांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन की पहली गाथा के 'अद्दइयं' पद के आधार से इस अध्ययन का नाम 'अद्दइज्जं' है।

उत्तराध्ययनसूत्र के पच्चीसवें अध्ययन के प्रारंभ में यह गाथा है—

माहणकुलसंभूओ आसि विप्पो महायसो।
जायई जम जन्नंमि जयघोसो त्ति नामओ ॥

इस गाथा में आगत 'जन्न' पद के आधार से इस अध्ययन का नाम 'जन्नइज्जं' रखा है। इसी प्रकार चौदहवें अध्ययन की पहली गाथा में आगत उसुयार पद के आधार से उस अध्ययन का नाम 'उसुकारिज्जं' है तथा सातवें अध्ययन के प्रारंभ में 'एलयं' पद होने से उस अध्ययन का नाम 'एलइज्जं' है।

सूत्रकृतांगसूत्र के आठवें अध्ययन की पहली गाथा में 'वीरियं' पद होने से उस अध्ययन का नाम 'वीरियं' रखा तथा नौवें अध्ययन की पहली गाथा में 'धम्म' पद होने से वह अध्ययन 'धम्मज्झयणं' नाम वाला है और ग्यारहवें अध्ययन की प्रस्तावना की प्रथम गाथा में 'मग्ग' शब्द होने से उस अध्ययन का नाम 'मग्गज्झयणं' है।

सूत्रकृतांगसूत्र के बारहवें अध्ययन के प्रारंभ की गाथा में 'समोसरणाणिमाणि' पद है। इसी के आधार से उस अध्ययन का नाम 'समोसरणज्झयणं' रख लिया गया तथा पन्द्रहवें अध्ययन की पहली गाथा में 'जमईयं' पद होने से अध्ययन का नाम 'जमईयं' है।

इसी प्रकार अन्य नामों की आदानपदनिष्पन्नता समझ लेना चाहिये।

प्रतिपक्षपदनिष्पन्ननाम

२६७. से किं तं पडिवक्खपदेणं ?

पडिवक्खवदेणं णवेसु गामाऽऽगर-णगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणाऽऽसम-संवाह-सन्निवेसेसु निविस्समाणेसु असिवा सिवा, अग्गी सीयलो, विसं महुरं, कल्लालघरेसु अंबिलं साउयं, जे लत्तए से अलत्तए, जे लाउए से अलाउए, जे सुंभए से कुसुंभए, आलवंते विवलीयभासए। से तं पडिपक्ख-पदेणं।

[२६७ प्र.] भगवन् ! प्रतिपक्षपद से निष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२६७ उ.] आयुष्मन् ! प्रतिपक्षपदनिष्पन्ननाम का स्वरूप इस प्रकार है—

नवीन ग्राम, आकर, नगर, खेट, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पट्टन, आश्रम, संबाह और सन्निवेश आदि में निवास करने अथवा बसाये जाने पर अशिवा (शृगाली, सियारनी) को 'शिवा' शब्द से उच्चारित करना। (कारणवशात्) अग्नि को शीतल और विष को मधुर, कलाल के घर में 'आम्ल' के स्थान पर 'स्वादु' शब्द का व्यवहार होना। इसी प्रकार रक्त वर्ण का हो उसे अलक्तक, लाबु (पात्र-विशेष) को अलाबु, सुंभक (शुभ वर्ण वाले) को कुसुंभक और विपरीतभाषक—भाषक से विपरीत अर्थात् असम्बद्ध प्रलापी को 'अभाषक' कहना।

यह सब प्रतिपक्षपदनिष्पन्ननाम जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में प्रतिपक्षपदनिष्पन्ननाम का स्वरूप उदाहरण देकर समझाया है।

प्रतिपक्ष—विवक्षित वस्तु के धर्म से विपरीत धर्म। इस प्रतिपक्ष के वाचक पद से निष्पन्न होने वाले नाम को प्रतिपक्षपदनिष्पन्ननाम कहते हैं। उदाहरणार्थ—मंगल के निमित्त शृगाली के लिये 'अशिवा' के स्थान पर 'शिवा' शब्द का प्रयोग करना।

इसका कारण यह है कि शब्दकोश में 'शिवा' शृगाली वाचक नाम तो है किन्तु उसका देखना या बोलना अशिव-अमंगल-अशुभ रूप होने से मांगलिक प्रसंगों पर अशिवा के स्थान पर शिवा शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इसी प्रकार मंगल-अमंगल विषयक लोकमान्यता के अनुसार अग्नि के लिये शीतल, विष के लिये मधुर और अम्ल के लिये स्वादु शब्दप्रयोगों के विषय में जानना चाहिये। शीतल आदि शब्द वस्तुगत गुण-धर्मों से विपरीत गुणधर्म के बोधक होने पर भी अग्नि आदि के लिये प्रयोग किये जाते हैं।

अलक्तत, अलाबु, कुसुम्भक, अभाषक आदि शब्दगत 'अ:' 'कु' प्रत्यय प्रतिपक्ष का बोध कराने वाले होने से इनके संयोग से बनने वाले पदों की प्रतिपक्षनिष्पन्नता सुगम है।

नोगौणपदनिष्पन्न से इसे पृथक् मानने का कारण यह कि नोगौणपद में तो नामकरण का कारण कुन्तादि के प्रवृत्तिनिमित्त का अभाव है। जबकि उसमें प्रतिपक्षधर्मवाचक शब्द मुख्य है।

ग्राम आदि पदों की व्याख्या—ग्राम—जहाँ पर बुद्धि आदि गुण ग्रसे जाते हैं अर्थात् गुणों में हीनता आती है, गुणों का विकास नहीं होता अथवा जिसके चारों ओर कांटों आदि की बाड़ हो।

आकर—स्वर्ण आदि धातुओं, रत्नों और खनिज पदार्थों की खानें हों। **नगर**—अठारह प्रकार के राजकर (टैक्स) से जो मुक्त हो। **खेड**—जिसके चारों ओर मिट्टी का कोट बनाया गया हो। **कर्बट**—कुत्सित नगर—जहाँ जीवनोपयोगी साधनों का अभाव हो। **मडम्ब**—जिसके आसपास ढाई कोस तक कोई गांव न हो। **द्रोणमुख**—जो जल और स्थल रूप आवागमन के मार्गों से जुड़ा हुआ हो। पट्टन (पत्तन) जहाँ सभी प्रकार की वस्तुएँ मिलती हों। **आश्रम**—तापसों का आवासस्थान। **संवाह**—अनेक प्रकार के लोगों से व्याप्त स्थान अथवा पथिकों का विश्रामस्थान। **सन्निवेश**—सार्थवाहों का निवासस्थान।

प्रधानपदनिष्पन्ननाम

२६८. से किं तं पाहण्णयाए ?

पाहण्णयाए असोगवणे सत्तवण्णवणे चंपकवणे चूयवणे नागवणे पुन्नागवणे उच्छुवणे दक्खवणे सालवणे। से तं पाहण्णयाए।

[२६८ प्र.] भगवन् ! प्रधानपदनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२६८ उ.] आयुष्मन् ! प्रधानपदनिष्पन्ननाम का स्वरूप इस प्रकार है, जैसे—

अशोकवन, सप्तपर्णवन, चंपकवन, आम्रवन, नागवन, पुन्नागवन, इक्षुवन, द्राक्षावन, शालवन, ये सब प्रधानपदनिष्पन्ननाम हैं।

विवेचन—यह सूत्र प्रधानपदनिष्पन्ननाम का सूचक है।

जिसकी प्रचुरता—बहुलता हो वह यहाँ प्रधान कहा गया है और उस प्रधान की अपेक्षा निष्पन्न-नाम प्रधानपदनिष्पन्ननाम कहलाता है।

अशोकवन आदि उदाहरणों में जैसे अशोकवन में अन्य वृक्षों का सद्भाव तो है, किन्तु अशोक वृक्षों की प्रचुरता होने से उस वन को 'अशोकवन' इस नाम से सम्बोधित किया जाता है। सप्तपर्णवन आदि नामों के लिये भी यही कारण जानना चाहिये।

गौणनाम से प्रधानपदनिष्पन्ननाम में यह अन्तर है कि गौणनाम में तो क्षमादि गुण से क्षमण आदि शब्दों का वाच्यार्थ सम्पूर्ण रूप से उस नाम वाले में घटित होता है, जबकि प्रधानपद-निष्पन्ननाम में उस-उस नाम के वाच्यार्थ की मुख्यता और शेष की गौणता रहती है। किन्तु गौणता के कारण उनका अभाव नहीं होता है। जैसे अशोक वृक्षों की प्रचुरता होने पर भी वृक्षों का अभाव नहीं है।

अनादिसिद्धान्तनिष्पन्ननाम

२६९. से किं तं अणादियसिद्धंतेणं ?

अणादियसिद्धंतेणं धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अद्धासमए। से तं अणादियसिद्धंतेणं।

[२६९ प्र.] भगवन् ! अनादिसिद्धान्तनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२६९ उ.] आयुष्मन् ! अनादिसिद्धान्तनिष्पन्ननाम का स्वरूप इस प्रकार है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, अद्धासमय ।

यह अनादिसिद्धान्तनिष्पन्ननाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में अनादिसिद्धान्तनिष्पन्ननाम का स्वरूप बतलाया है। इसमें अनादिसिद्धान्त पद मुख्य है। जिसका अर्थ यह है कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का वाचक है और अमुक अर्थ अमुक शब्द का वाच्य है। इस प्रकार के अनादि वाच्य-वाचकभाव के ज्ञान को सिद्धान्त कहते हैं। अतएव इस अनादिसिद्धान्त से जो नाम निष्पन्न हो वह अनादिसिद्धान्तनिष्पन्ननाम कहलाता है।

उदाहरण के रूप में जो धर्मास्तिकाय आदि नामों का उल्लेख किया है, उनमें वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध अनादिकाल से सिद्ध है। उन्होंने कभी भी अपने स्वरूप का त्याग नहीं किया है और भविष्य में कभी त्याग नहीं करेंगे।

गौणनाम से इस अनादिसिद्धान्तनाम में यह अन्तर है कि गौणनाम का अभिधेय तो अपने स्वरूप का परित्याग भी कर देता है। जबकि अनादिसिद्धान्तनाम न कभी बदला है, न बदलेगा। वह सदैव रहता है, इसलिये सूत्रकार ने इसका पृथक् निर्देश किया है।

नामनिष्पन्ननाम

२७०. से किं तं नामेणं ?

नामेणं पिउपियामहस्स नामेणं उन्नामियए। से तं णामेणं।

[२७० प्र.] भगवन् ! नामनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२७० उ.] आयुष्मन् ! जो नाम नाम से निष्पन्न होता है, उसका स्वरूप इस प्रकार है—पिता या पितामह अथवा पिता के पितामह के नाम से निष्पन्न नाम नामनिष्पन्ननाम कहलाता है।

विवेचन—सूत्र में नाम से निष्पन्न नाम का स्वरूप बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्व में लोक-व्यवहार की मुख्यता से किसी का कोई नामकरण किया गया। उसी नाम में पुनः नये नाम की स्थापना करना नामनिष्पन्ननाम कहलाता है। जैसे किसी के पिता, पितामह आदि बन्धुदत्त नाम से प्रख्यात हुए थे। उन्हीं के नाम से उनके पौत्र आदि का नाम होना नामनिष्पन्ननाम है। इतिहास में ऐसे अनेक राजाओं के नाम मिलते हैं।

अवयवनिष्पन्ननाम

२७१. से किं तं अवयवेणं ?

अवयवेणं—

सिंगी सिही विसाणी दाढी पक्खी खुरी णही वाली।
दुपय चउप्पय बहुपय णंगूली केसरी ककुही ॥ ८३ ॥
परियरबंधेण भडं जाणेज्जा, महिलियं निवसणेणं।
सित्थेण दोणपागं, कविं च एगाइ गाहाए ॥ ८४ ॥

से तं अवयवेणं ।

[२७१ प्र.] भगवन् ! अवयवनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२७१ उ.] आयुष्मन् ! अवयवनिष्पन्ननाम का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—

श्रृंगी, शिखी, विषाणी, दंष्ट्री, पक्षी, खुरी, नखी, वाली, द्विपद, चतुष्पद, वहुपद, लांगूली, केशरी, ककुदी आदि । ८३

इसके अतिरिक्त परिकरबंधन—विशिष्ट रचना युक्त वस्त्रों के पहनने से—कमर कसने से योद्धा पहिचाना जाता है, विशिष्ट प्रकार के वस्त्रों को पहनने से महिला पहिचानी जाती है, एक कण पकने से द्रोणपरिमित अन्न का पकना और (प्रासादादि गुणों से युक्त) एक ही गाथा के सुनने से कवि को पहिचाना जाता है । यह सब अवयवनिष्पन्ननाम कहलाते हैं । ८४

विवेचन—सूत्र में अवयवनिष्पन्ननाम की व्याख्या की है ।

अवयवनिष्पन्न अर्थात् अवयवी के एक देश रूप अवयव का समस्त अवयवी पर आरोप करके अवयव और अवयवी को अभिन्न मानकर जो नाम रक्खा जाता है उसे अवयवनिष्पन्ननाम कहते हैं, जो श्रृंगी, शिखी आदि उदाहरणों से स्पष्ट हैं । श्रृंगी नाम श्रृंग (सींग) रूप अवयव के सम्बन्ध से, शिखी नाम शिखा रूप अवयव के सम्बन्ध से निष्पन्न हुआ है । इसी प्रकार विषाणी, दंष्ट्री, पक्षी आदि नामों के विषय में जानना चाहिये ।

योद्धा, महिला, द्रोणपाक, कवि आदि शब्दों का प्रयोग परिकरबंधन आदि-आदि अवस्थाओं को प्रत्यक्ष देखने, सुनने से होता है और ये परिकरबंधन आदि योद्धा आदि अवयवी के अवयव रूप एकदेश हैं । इसलिये ये शब्द भी अवयव की प्रधानता से निष्पन्न होने के कारण अवयवनिष्पन्ननाम के रूप में उदाहृत हुए हैं ।

अवयवनिष्पन्न और गौणनिष्पन्न नाम में अन्तर—इन दोनों की नामनिष्पन्नता के आधार भिन्न-भिन्न हैं । अवयवनिष्पन्ननाम में श्रृंग आदि शरीरावयव या अंग-प्रत्यंग विशेष नाम के आधार हैं, जबकि गौणनिष्पन्ननाम में गुणों की प्रधानता होती है । इसलिये अवयवनाम और गौणनाम पृथक्-पृथक् माने गये हैं ।

संयोगनिष्पन्ननाम

२७२. से किं तं संजोगेणं ?

संजोगे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—दव्वसंजोगे १ खेत्तसंजोगे २ कालसंजोगे ३ भावसंजोगे ४ ।

[२७२ प्र.] भगवन् ! संयोगनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२७२ उ.] आयुष्मन् ! (संयोग की प्रधानता से निष्पन्न होने वाला नाम संयोगनिष्पन्ननाम है ।) संयोग चार प्रकार का है—१. द्रव्यसंयोग, २. क्षेत्रसंयोग, ३. कालसंयोग, ४. भावसंयोग ।

विवेचन—यह सूत्र संयोगनिष्पन्ननाम की प्ररूपणा करने की भूमिका रूप है । संयोग

अर्थात् दो पदार्थों का आपस में जुड़ना। संयोग की द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यह चार अपेक्षाएं हो सकती हैं। इसलिये संयोगज नाम के चार भेद कहे गये हैं।

इन चतुर्विध संयोगनिष्पन्ननामों की व्याख्या आगे की जा रही है।

द्रव्यसंयोगजनाम

२७३. से किं तं दव्वसंजोगे ?

दव्वसंजोगे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सचित्ते १ अचित्ते २ मीसए ३।

[२७३ प्र.] भगवन् ! द्रव्यसंयोग से निष्पन्न नाम का क्या स्वरूप है ?

[२७३ उ.] आयुष्मन् ! द्रव्यसंयोग तीन प्रकार का कहा गया है, यथा—१. सचित्तद्रव्यसंयोग, २. अचित्तद्रव्यसंयोग, ३. मिश्रद्रव्यसंयोग।

२७४. से किं तं सचित्ते ?

सचित्ते गोहिं गोमिए, महिसीहिं माहिसिए, ऊरणीहिं ऊरणिए, उट्टीहिं उट्टीवाले। से तं सचित्ते।

[२७४ प्र.] भगवन् ! सचित्तद्रव्यसंयोग से निष्पन्न नाम का क्या स्वरूप है ?

[२७४ उ.] आयुष्मन् ! सचित्तद्रव्य के संयोग से निष्पन्न नाम का स्वरूप इस प्रकार है—

गाय के संयोग से गोमान् (ग्वाला), महिषी (भैंस) के संयोग से महिषीमान्, मेषियों (भेड़ों) के संयोग से मेषीमान् और ऊंटनियों के संयोग से उष्ट्रीपाल नाम होना आदि सचित्तद्रव्यसंयोग से निष्पन्न नाम हैं।

२७५. से किं तं अचित्ते ?

अचित्ते छत्तेण छत्ती, दंडेण दंडी, पडेण पडी, घडेण घडी, कडेण कडी। से तं अचित्ते।

[२७५ प्र.] भगवन् ! अचित्तद्रव्यसंयोगनिष्पन्न नाम का क्या स्वरूप है ?

[२७५ उ.] आयुष्मन् ! अचित्त द्रव्य के संयोग से निष्पन्न नाम का यह स्वरूप है—छत्र के संयोग से छत्री, दंड के संयोग से दंडी, पट (कपड़ा) के संयोग से पटी, घट के संयोग से घटी, कट (चटाई) के संयोग से कटी आदि नाम अचित्तद्रव्यसंयोगनिष्पन्न नाम हैं।

२७६. से किं तं मीसए ?

मीसए हलेणं हालिए, सकडेणं साकडिए, रहेणं रहिए, नावाए नाविए। से तं मीसए। से तं दव्वसंजोगे।

[२७६ प्र.] भगवन् । मिश्रद्रव्यसंयोगजनाम का क्या स्वरूप है ?

[२७६ उ.] आयुष्मन् ! मिश्रद्रव्यसंयोगनिष्पन्न नाम का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—हल के संयोग से हालिक, शकट (गाड़ी) के संयोग से शाकटिक, रथ के संयोग से रथिक, नाव के संयोग से नाविक आदि नाम मिश्रद्रव्यसंयोगनिष्पन्ननाम हैं।

विवेचन—सूत्रकार ने संयोगनिष्पन्न के प्रथम भेद द्रव्यसंयोगजनाम का स्वरूप बतलाया है। द्रव्य तीन प्रकार के हैं—सचित्त (सजीव), अचित्त (अजीव) और दोनों का मिश्ररूप। इस प्रकार द्रव्य के तीन भेद करके उनके पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये हैं।

गोमान् (ग्वाला) आदि सचित्तद्रव्यसंयोगजनाम की निष्पत्ति में गायें सचित्त (सचेतन) पदार्थ कारण हैं।

अचित्तद्रव्यसंयोगजनाम के लिये उदाहृत छत्री आदि नामों की निष्पत्ति छत्र आदि अचित्त-द्रव्यसंयोगसापेक्ष है। इसलिये छत्र जिसके पास है वह छत्री, दंड जिसके पास है वह दंडी इत्यादि कहा जाता है।

मिश्रद्रव्यसंयोगजनाम के हालिक, शाकटिक आदि उदाहरणों में हल, शकट (गाड़ी) आदि पदार्थ अचित्त और उनके साथ संयुक्त बैल आदि पदार्थ सचित्त हैं। इस प्रकार सचित्त-अचित्त दोनों प्रकार के पदार्थों की मिश्रता इन नामों की निष्पत्ति की आधार होने से ये सचित्ताचित्त (मिश्र) द्रव्य-संयोगनिष्पन्न नाम के रूप में बताये गये हैं।

इसी प्रकार अन्य नामों की द्रव्यसंयोगिता का विचार करके उस-उस प्रकार के द्रव्यसंयोग-निष्पन्न नाम समझ लेना चाहिये।

क्षेत्रसंयोगजनाम

२७७. से किं तं खेत्तसंजोगे ?

खेत्तसंजोगे भारहे एरवए हेमवए एरण्णवए हरिवस्सए रम्मयवस्सए पुव्वविदेहए अवरविदेहए, देवकुरुए उत्तरकुरुए अहवा मागहए मालवए सोरट्ठए मरहट्ठए कोंकणए कोसलए। से तं खेत्तसंजोगे।

[२७७ प्र.] भगवन् ! क्षेत्रसंयोग से निष्पन्न नाम का क्या स्वरूप है?
[२७७ उ.] आयुष्मन् ! क्षेत्रसंयोगनिष्पन्न नाम का स्वरूप इस प्रकार है—

यह भारतीय—भरतक्षेत्रीय है, यह ऐरावतक्षेत्रीय है, यह हेमवतक्षेत्रीय है, यह ऐरण्यवत-क्षेत्रीय है, यह हरिवर्षक्षेत्रीय है, यह रम्यकवर्षीय है, यह पूर्वविदेहक्षेत्र का है, यह उत्तरविदेहक्षेत्रीय है, यह देवकुरुक्षेत्रीय है, यह उत्तरकुरुक्षेत्रीय है। अथवा यह मागधीय है, मालवीय है, सौराष्ट्रीय है, महाराष्ट्रीय है, कौंकणदेशीय है, यह कोशलदेशीय है आदि नाम क्षेत्रसंयोगनिष्पन्न-नाम हैं।

विवेचन—सूत्र में क्षेत्रसंयोगनिष्पन्न नाम का स्वरूप स्पष्ट किया है। क्षेत्र को आधार—माध्यम बनाकर और क्षेत्र की मुख्यता से जो नामकरण किया जाता है, वह क्षेत्रसंयोगनिष्पन्न नाम कहलाता है।

भरत, ऐरवत, मगध आदि क्षेत्र रूप में प्रसिद्ध हैं। अतः लोकव्यवहार चलाने के लिये जो मागधीय—मगध देश का रहने वाला आदि नाम रख लिए जाते हैं, वे क्षेत्र के संयोग से बनने के कारण क्षेत्रसंयोगनिष्पन्न नाम कहे जाते हैं।

कालसंयोगनिष्पन्ननाम

२७८. से किं तं कालसंजोगे ?

कालसंजोगे सुसमसुसमए सुसमए सुसमदूसमए दूसमसुसमए दूसमए दूसमदूसमए अहवा पाउसए वासारत्तए सरदए हेमंतए वसंतए गिम्हए। से तं कालसंजोगे।

[२७८ प्र.] भगवन् ! कालसंयोग से निष्पन्न नाम का क्या स्वरूप है ?

[२७८ उ.] आयुष्मन् ! काल के संयोग से निष्पन्न होने वाले नाम का स्वरूप इस प्रकार है—

सुषमसुषम काल में उत्पन्न होने से यह 'सुषम-सुषमज' है, यह सुषमकाल में उत्पन्न होने से 'सुषमज' है। इसी प्रकार से सुषमदुषमज, दुषमसुषमज, दुषमज, दुषमदुषमज नाम भी जानना चाहिये। अथवा यह प्रावृषिक (वर्षा के प्रारंभ काल में उत्पन्न हुआ) है, यह वर्षारात्रिक (वर्षाऋतु में उत्पन्न) है, यह शारद (शरदऋतु में उत्पन्न) है, यह हेमन्तक है, यह वासन्तक है, यह ग्रीष्मक है आदि सभी नाम कालसंयोग से निष्पन्न नाम हैं।

विवेचन—सूत्र में काल के संयोग से निष्पन्न नाम का स्वरूप बताया है। विवक्षाभेद से सुषमसुषम आदि की तरह वर्षा, शरद् आदि ऋतुयें भी काल शब्द की वाच्य होती हैं। अतएव इन सब कालों के आधार से निष्पन्न होने वाले नाम कालसंयोगनिष्पन्न नाम हैं।

सुषमसुषम आदि कालों का स्वरूप—जैनदर्शन में अनन्त समय वाले काल की व्यवहार-दृष्टि से अनेक रूपों में व्याख्या की है। उनमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी यह काल के दो मुख्य भेद हैं। ये दोनों भेद भी पुनः सुषमसुषम आदि छह भेदों (आरे) के रूप में विभाजित हैं। नामकरण के कारण सहित उनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. सुषमसुषम—इस काल में भूमि प्राकृतिक उपसर्गों से रहित होती है। कल्पवृक्षों से परिपूर्ण पर्वत, रत्नों से भरी पृथ्वी, सुन्दर नदियां होती हैं। वृक्ष फल-फूलों से लदे रहते हैं। दिन-रात का भेद नहीं होता है, शीत, उष्ण वेदना का अभाव होता है। मनुष्य युगल (नर-नारी) के रूप में उत्पन्न होते हैं। ये अकालमरण से नहीं मरते और इनको तीन-तीन दिन के अंतर से आहार की इच्छा होती है। कल्पवृक्ष के फल आदि का आहार करते हैं। मनुष्यों की शरीर अवगाहना तीन कोस की होती है। शरीर में २५६ पसलियां होती हैं तथा वज्रऋषभनाराचसंहनन और समचतुरस्रसंस्थान वाले होते हैं। आयु तीन पल्य की होती है।

सुषमसुषमकाल का कालमान चार कोडाकोडी सागरोपम का है।

सुषम—उक्त प्रकार के प्रथम आरे की समाप्ति होने पर तीन कोडाकोडी सागरोपम का यह दूसरा सुषम आरा प्रारंभ होता है। इसमें पूर्व आरे की अपेक्षा वर्ण-गंध-रस-स्पर्श की उत्तमता में अनन्तगुणी हीनता आ जाती है। क्रम से घटती शरीर अवगाहना दो कोस और आयु दो पल्योपम की हो जाती है। शरीर में पसलियां १२८ रह जाती हैं। दो दिन के अंतर से आहार की इच्छा होती है। पृथ्वी का स्वाद मिश्री के बदले शक्कर जैसा रह जाता है। मृत्यु से पहले युगलिनी

पुत्र-पुत्री के एक युगल को जन्म देती है, जिनका चौंसठ दिन तक पालन-पोषण करना पड़ता है। तत्पश्चात् वे स्वावलंबी हो जाते हैं और पति-पत्नी के रूप में सुखोपभोग करते विचरते हैं। शेष वर्णन प्रथम आरक के समान समझना चाहिये।

सुषमदुषम—दूसरा आरा समाप्त होने पर दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम का तीसरा आरा प्रारंभ होता है। इस आरे में पूर्व की अपेक्षा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की उत्तमता अनन्त गुणहीन हो जाती है। घटते-घटते देहमान एक कोस, एक पल्योपम आयुष्य और शरीर के चौंसठ करंडक (पसलियां) रह जाते हैं। एक दिन के अंतर से आहार की इच्छा होती है। पृथ्वी का स्वाद गुड़ जैसा रह जाता है। मृत्यु के छह माह पूर्व युगलिनी पुत्र-पुत्री के जोड़े को जन्म देती है। उन्यासी दिन तक पालन-पोषण करने के बाद वह जोड़ा स्वावलंबी हो जाता है। शेष कथन पहले के समान जानना चाहिये। इन तीन आरों के तिर्यंच भी युगलिया होते हैं।

इस आरे के कालमान में दो विभागों के बीतने पर कालस्वभाव से, कल्पवृक्षों की फलदायिनी शक्ति हीन होते जाने से युगल मनुष्यों में परस्पर कलह होने लगता है। इस कलह का अंत करने के लिये क्रम से पन्द्रह कुलकरों की उत्पत्ति होती है। वे लोकव्यवस्था करते हैं।

कल्पवृक्षों की फलदायिनी शक्ति के क्रमशः क्षीण होते जाने पर भी जैसे-तैसे उन्हीं के आधार से जीवननिर्वाह होते रहने से असि-मसि आदि के द्वारा आजीविका अर्जित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसलिये पहले और दूसरे आरे के समान इस आरे में अकर्मभूमिक स्थिति बनी रहती है और युगल रूप में उत्पन्न होने से मनुष्य युगलिया कहलाते हैं।

इस तीसरे आरे के समाप्त होने में चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढ़े आठ मास शेष रह जाते हैं तब (अयोध्या नगरी में पन्द्रहवें कुलकर के यहाँ) प्रथम तीर्थंकर का जन्म होता है। वे लोकव्यवस्था स्थापित करने के लिये असि, मसि आदि द्वारा आजीविका अर्जित करने के उपाय बताते हैं। पुरुषों को बहत्तर और स्त्रियों को चौंसठ कलायें सिखाते हैं। राज्यव्यवस्था करते हैं। फिर राज्यवैभव को छोड़कर संयम ग्रहण करते हैं और केवलज्ञान प्राप्त होने पर तीर्थ की स्थापना करते हैं।

दुषमसुषम—तीसरा आरा समाप्त होने पर वियालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरोपम का चौथा आरा प्रारंभ होता है। इसमें दुःख अधिक और सुख थोड़ा होता है। पहले की अपेक्षा वर्णादि की, शुभ पुद्गलों की अनन्तगुण हानि हो जाती है। घटते-घटते देहमान पांच सौ धनुष और आयुष्य एक करोड़ पूर्व का रह जाता है। शरीर में बत्तीस पसलियां रह जाती हैं। दिन में एक बार भोजन की इच्छा होती है। छहों संहननों, छहों संस्थानों वाले और पांचों गतियों (संसार की चार गति, एक मुक्ति गति) में जाने वाले मनुष्य होते हैं। तेईस तीर्थंकर, ग्यारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव, नौ प्रतिवासुदेव भी इसी आरे में होते हैं।

दुषम—चौथे आरे के समाप्त होने पर इक्कीस हजार वर्ष कालमान वाला पांचवां आरा प्रारंभ होता है। चौथे आरे की अपेक्षा वर्णादि और शुभ पुद्गलों में अनन्तगुणी हीनता हो जाती है। आयु घटते-घटते १२५ वर्ष की, शरीर-अवगाहना सात हाथ की और शरीर में पसलियां सोलह रह जाती हैं। दिन में दो बार आहार करने की इच्छा होती है।

पांचवें आरे में केवलज्ञान, जिनकल्पी मुनि आदि दस बातों का अभाव हो जाता है। पापाचार की वृद्धि होती जाती है। पाखंडियों की पूजा होती है, धर्म के प्रति रुचि का अभाव बढ़ता जाता है आदि। इन सब कारणों से इस आरे को दुषम कहते हैं।

दुषमदुषम—पांचवें आरे के पूर्ण होने पर इक्कीस हजार वर्ष का यह छठा आरा प्रारंभ होता है। इस आरे में पहले की अपेक्षा वर्ण आदि में शुभ पुद्‌गलों की अनन्तगुणी हानि हो जाती है। आयु घटते-घटते बीस वर्ष की और शरीर की ऊँचाई एक हाथ की रह जाती है। शरीर में आठ पसलियां होती हैं। अपरिमित आहार की इच्छा होती है। रात्रि में शीत और दिन में ताप अत्यन्त प्रबल होता है। मनुष्य बिलों में रहते हैं। गंगा-सिन्धु नदियां सांप के समान बांकी गति से बहती हैं। गाड़ी का आधा पहिया डूबे, इतनी उनकी गहराई होती है। मछली आदि जलचर जीव बहुत होते हैं। जिन्हें मनुष्य पकड़कर नदी की रेत में गाड़ देते हैं और शीत व गरमी के योग से पक जाने पर लूटकर खा जाते हैं। मृतक मनुष्य की खोपड़ी में पानी पीते हैं। जानवर मरी हुई मछलियों आदि की हड्डियां खाकर जीवनयापन करते हैं। मनुष्य दीन, हीन, दुर्जन, रुग्ण, अपवित्र, आचार-विचार से हीन होते हैं। धर्म से हीन वे दुःख ही दुःख में अपनी आयु व्यतीत करते हैं। छह वर्ष की आयु वाली स्त्री संतान का प्रसव करती है।

इन सब कारणों से इस आरे का नाम दुषमदुषम है।

आराओं का यह क्रम अवसर्पिणीकाल की अपेक्षा से है। अवसर्पिणीकाल के समाप्त होने पर उत्सर्पिणीकाल आरंभ होता है। वह भी इन्हीं छह आरों में विभक्त है, किन्तु आरों का क्रम विपरीत होता है। अर्थात् उत्सर्पिणी का प्रथम आरा दुषमदुषम है और छठा सुषम-सुषम। इनका स्वरूप पूर्वोक्त ही है।

भावसंयोगनिष्पन्ननाम

२७९. से किं तं भावसंजोगे ?

भावसंजोगे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—पसत्थे य १ अपसत्थे य २।

[२७९ प्र.] भगवन् ! भावसंयोगनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२७९ उ.] आयुष्मन् ! भावसंयोगजनाम के दो प्रकार हैं। यथा—१. प्रशस्तभावसंयोगज, २. अप्रशस्तभावसंयोगज।

२८०. से किं तं पसत्थे ?

पसत्थे नाणेणं नाणी, दंसणेणं दंसणी, चरित्तेणं चरित्ती। से तं पसत्थे।

[२८० प्र.] भगवन् ! प्रशस्तभावसंयोगनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२८० उ.] आयुष्मन् ! (ज्ञान, दर्शन आदि प्रशस्त (शुभ) भाव रूप होने से) ज्ञान के संयोग से ज्ञानी, दर्शन के संयोग से दर्शनी, चारित्र के संयोग से चारित्री नाम होना प्रशस्तभावसंयोगनिष्पन्न नाम है।

२८१. से किं तं अपसत्थे ?

अपसत्थे कोहेणं कोही, माणेणं माणी, मायाए मायी, लोभेणं लोभी। से तं अपसत्थे। से तं भावसंजोगे। से तं संजोगेणं।

[२८१ प्र.] भगवन् ! अप्रशस्तभावसंयोगनिष्पन्न नाम का क्या स्वरूप है ?

[२८१ उ.] आयुष्मन् ! (क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अप्रशस्त (अशुभ)भाव हैं। अतः इन भावों के संयोग से) जैसे क्रोध के संयोग से क्रोधी, मान के संयोग से मानी, माया के संयोग से मायी और लोभ के संयोग से लोभी नाम होना अप्रशस्तभावसंयोगनिष्पन्न नाम हैं।

इसी प्रकार से भावसंयोगजनाम का स्वरूप और साथ ही संयोगनिष्पन्न नाम की वक्तव्यता जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में भावसंयोगजनाम का प्रशस्त और अप्रशस्त भेद की अपेक्षा वर्णन करके संयोगनाम की वक्तव्यता की समाप्ति का संकेत किया है।

प्रशस्त और अप्रशस्त भाव का आशय—धर्मो को भाव कहते हैं। यह सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं। अजीव द्रव्यों में तो अपने-अपने स्वभाव का परित्याग न करने के कारण प्रशस्त, अप्रशस्त जैसा कोई भेद नहीं है। यह भेद संसारस्थ जीवद्रव्य की अपेक्षा से है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि स्वाभाविक गुण शुभ और पवित्रता के हेतु होने से प्रशस्त और क्रोधादि परसंयोगज, विकारजनक एवं पतन के कारण होने से अप्रशस्त हैं। इन्हीं दोनों दृष्टियों और अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर भावसंयोगजनाम के प्रशस्त और अप्रशस्त भेद किये हैं और सुगमता से बोध के लिये क्रमशः ज्ञानी, दर्शनी, क्रोधी, लोभी आदि उदाहरणों द्वारा उन्हें बतलाया है।

प्रमाणनिष्पन्ननाम

२८२. से किं तं पमाणेणं ?

पमाणेणं चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—णामप्पमाणे १ ठवणप्पमाणे २ दव्वप्पमाणे ३ भावप्पमाणे ४।

[२८२ प्र.] भगवन् ! प्रमाण से निष्पन्न नाम का क्या स्वरूप है ?

[२८२ उ.] आयुष्मन् ! प्रमाणनिष्पन्न नाम के चार प्रकार हैं। यथा—१. नामप्रमाण से निष्पन्न नाम, २. स्थापनाप्रमाण से निष्पन्न नाम, ३. द्रव्यप्रमाण से निष्पन्न नाम, ४. भावप्रमाण से निष्पन्न नाम।

विवेचन—इस सूत्र में प्रमाणनिष्पन्न नाम का भेदों द्वारा निरूपण किया गया है।

जिसके द्वारा वस्तु का निर्णय किया जाता है अर्थात् जो वस्तुस्वरूप के सम्यग् निर्णय का कारण हो उसे प्रमाण कहते हैं। इससे निष्पन्न नाम को प्रमाणनिष्पन्ननाम कहते हैं। ज्ञेय वस्तु नाम आदि चार प्रकारों द्वारा प्रमाण की विषय बनने से प्रमाणनाम के नाम, स्थापना आदि चार प्रकार हो जाते हैं। उनका क्रमानुसार आगे वर्णन किया जा रहा है।

नामप्रमाणनिष्पन्न नाम

२८३. से किं तं नामप्पमाणे ?

नामप्पमाणे जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा पमाणे त्ति णामं कज्जति । से तं णामप्पमाणे ।

[२८३ प्र.] भगवन् ! नामप्रमाणनिष्पन्न नाम का क्या स्वरूप है ?

[२८३ उ.] आयुष्मन् ! नामप्रमाणनिष्पन्न नाम का स्वरूप इस प्रकार है—किसी जीव या अजीव का अथवा जीवों या अजीवों का, तदुभय (जीवाजीव) का अथवा तदुभयों (जीवाजीवों) का 'प्रमाण' ऐसा जो नाम रख लिया जाता है, वह नामप्रमाण और उससे निष्पन्न नाम नामप्रमाण-निष्पन्ननाम कहलाता है ।

विवेचन—सूत्र में नामप्रमाणनिष्पन्ननाम का स्वरूप स्पष्ट किया है ।

वस्तु का परिच्छेद—पृथक्-पृथक् रूप में वस्तु का बोध कराने का कारण नाम है । लोक-व्यवहार चलाने और प्रत्येक वस्तु की कोई न कोई संज्ञा निर्धारित करने का मुख्य आधार नाम है । इसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि सभी जीव, अजीव पदार्थ इसके वाच्य हैं । 'प्रमाण' ऐसा नाम केवल नामसंज्ञा के कारण ही होता है । इसमें वस्तु के गुण-धर्म आदि की अपेक्षा नहीं होती ।

स्थापनाप्रमाणनिष्पन्न नाम

२८४. से किं तं ठवणप्पमाणे ?

ठवणप्पमाणे सत्तविहे पण्णत्ते । तं जहा—

णक्खत्त-देवय-कुले पासंड-गणे य जीवियाहेउं ।
आभिप्पाउयणामे ठवणानामं तु सत्तविहं ॥ ८५ ॥

[२८४ प्र.] भगवन् ! स्थापनाप्रमाणनिष्पन्न नाम का क्या स्वरूप है ?

[२८४ उ.] आयुष्मन् ! स्थापनाप्रमाण से निष्पन्न नाम सात प्रकार का है । उन प्रकारों के नाम हैं—

१. नक्षत्रनाम, २. देवनाम, ३. कुलनाम, ४. पाषंडनाम, ५. गणनाम, ६. जीवितनाम और ७. आभिप्रायिकनाम । ८५

विवेचन—सूत्र में स्थापनाप्रमाणनिष्पन्न नाम का वर्णन करने के लिये सात भेदों के नाम गिनाये हैं । इसका कारण यह है कि लोक में यह वस्तुएँ स्थापना का आधार बनाई जाती हैं ।

स्थापनाप्रमाणनिष्पन्ननाम का लक्षण—नाम की तरह लोकव्यवहार चलाने में स्थापना का भी प्रमुख स्थान है । यद्यपि प्रयोजन या अभिप्रायवश तदर्थशून्य वस्तु में तदाकार अथवा अतदाकार रूप में की जाने वाली स्थापना को स्थापना कहते हैं, यहाँ उसकी अपेक्षा नहीं है । किन्तु नक्षत्र, देवता, कुल आदि के आधार से किया जाने वाला नामकरण स्थापनाप्रमाणनिष्पन्न नाम है ।

अब गाथोक्त क्रम से स्थापनाप्रमाणनिष्पन्न नाम के सातों भेदों का वर्णन करते हैं ।

नक्षत्रनाम

२८५. से किं तं नक्खत्तणामे ?

नक्खत्तणामे कत्तियाहिं जाए कत्तिए कत्तिदिण्णे कत्तिधम्मे कत्तिसम्मे कत्तिदेवे कत्तिदासे कत्तिसेणे कत्तिरक्खिए। रोहिणीहिं जाए रोहिणिए रोहिणिदिन्ने रोहिणिधम्मे रोहिणिसम्मे रोहिणिदेवे रोहिणिदासे रोहिणिसेणे रोहिणिरक्खिए। एवं सव्वणक्खत्तेसु णामा भाणियव्वा। एत्थ संगहणिगाहाओ—

कत्तिय १ रोहिणि २ मिगसिर ३ अद्दा ४ य पुणव्वसू ५ य पुस्से ६ य।
तत्तो य अस्सिलेसा ७ मघाओ ८ दो फग्गुणीओ य ९-१० ॥ ८६ ॥
हत्थो ११ चित्ता १२ सादी १३[य]विसाहा १४ तह य होइ अणुराहा १५।
जेट्ठा १६ मूलो १७ पुव्वासाढा १८ तह उत्तरा १९ चेव ॥ ८७ ॥
अभिई २० सवण २१ धणिट्ठा २२ सतिभिसदा २३ दो य होंति भद्दवया २४-२५।
रेवति २६ अस्सिणि २७ भरणी २८ एसा नक्खत्तपरिवाडी ॥ ८८ ॥

से तं नक्खत्तनामे।

[२८५ प्र.] भगवन् ! नक्षत्रनाम—नक्षत्र के आधार से स्थापित नाम का—क्या स्वरूप है ?

[२८५ उ.] आयुष्मन् ! नक्षत्रनाम का स्वरूप इस प्रकार है—

कृतिका नक्षत्र में जन्मे (बालक) का कृत्तिक (कार्तिक), कृत्तिकादत्त, कृत्तिकाधर्म, कृत्तिकाशर्म, कृत्तिकादेव, कृत्तिकादास, कृतिकासेन, कृत्तिकारक्षित आदि नाम रखना।

रोहिणी नक्षत्र में उत्पन्न हुए का रौहिणेय, रोहिणीदत्त, रोहिणीधर्म, रोहिणीशर्म, रोहिणीदेव, रोहिणीदास, रोहिणीसेन, रोहिणीरक्षित नाम रखना।

इसी प्रकार अन्य सब नक्षत्रों में जन्मे हुओं के उन-उन नक्षत्रों के आधार से रक्खे नामों के विषय में जानना चाहिये।

नक्षत्रनामों की संग्राहक गाथायें इस प्रकार हैं—

१. कृत्तिका, २. रोहिणी, ३. मृगशिरा, ४. आर्द्रा, ५. पुनर्वसु, ६. पुष्य, ७. अश्लेषा, ८. मघा, ९-१० पूर्वफाल्गुनी, उत्तरफाल्गुनी रूप दो फाल्गुनी, ११. हस्त, १२. चित्रा, १३. स्वाति, १४. विशाखा, १५. अनुराधा, १६. ज्येष्ठा, १७. मूला, १८. पूर्वाषाढा, १९. उत्तराषाढा, २०. अभिजित, २१. श्रवण, २२. धनिष्ठा, २३. शतभिषु, २४-२५ पूर्वभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा नामक दो भाद्रपदा, २६. रेवती, २७ अश्विनी, २८. भरिणी, यह नक्षत्रों के नामों की परिपाटी है। ८६, ८७, ८८

इस प्रकार नक्षत्रनाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में नक्षत्रनाम का स्वरूप बतलाया है। व्यक्ति की उस-उस नक्षत्र में उत्पत्ति का बोध कराने के साथ लोकव्यवहार चलाने के लिये नक्षत्रों के आधार से नाम रख लिये जाते हैं।

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार तो नक्षत्रों के नामों का क्रम अश्विनी, भरणी आदि रूप है, लेकिन अभिजित् नक्षत्र के साथ पढ़े जाने पर सूत्रोक्त कृत्तिका, रोहिणी आदि क्रमविन्यास ही देखा जाता है।

नक्षत्रनाम की व्याख्या तो उक्त प्रकार है, किन्तु ये कृत्तिका आदि प्रत्येक नक्षत्र अग्नि आदि एक-एक देवता द्वारा अधिष्ठित हैं। इसलिये कभी-कभी नक्षत्र के अधिष्ठायक देवों के नाम पर भी व्यक्ति का नाम रख लिया जाता है। अतः अब देवनाम का वर्णन करते हैं।

देवनाम

२८६. से किं तं देवयणामे ?

देवयणामे अग्गिदेवयाहि जाते अग्गिए अग्गिदिण्णे अग्गिधम्मे अग्गिसम्मे अग्गिदेवे अग्गिदासे अग्गिसेणे अग्गिरक्खिए। एवं पि सव्वनक्खत्तदेवतनामा भाणियव्वा। एत्थं पि य संगहणिगाहाओ, तं जहा—

अग्गि १ पयावइ २ सोमे ३ रुद्दे ४ अदिती ५ वहस्सई ६ सप्पे ७।
पिति ८ भग ९ अज्जम १० सविया ११ तट्ठा १२ वायू १३ य इंदग्गी १४ ॥ ८९ ॥
मित्तो १५ इंदो १६ णिरिती १७ आऊ १८ विस्सो १९ य बंभ २० विण्हू य २१।
वसु २० वरुण २३ अय २४ विवद्धी २५ पूसे २६ आसे २७ जमे २८ चेव ॥ ९० ॥

से तं देवयणामे।

[२८६ प्र.] भगवन् ! देवनाम का क्या स्वरूप है ?

[२८६ उ.] आयुष्मन् ! देवनाम का यह स्वरूप है। यथा—अग्नि देवता से अधिष्ठित नक्षत्र में उत्पन्न हुए (बालक) का आग्निक, अग्निदत्त, अग्निधर्म, अग्निशर्म, अग्निदास, अग्निसेन, अग्निरक्षित आदि नाम रखना। इसी प्रकार से अन्य सभी नक्षत्र-देवताओं के नाम पर स्थापित नामों के लिये भी जानना चाहिये।

देवताओं के नामों की भी संग्राहक गाथायें हैं, यथा—

१. अग्नि, २. प्रजापति, ३. सोम, ४. रुद्र, ५. अदिति, ६. बृहस्पति, ७. सर्प, ८. पिता, ९. भग, १०. अर्यमा, ११. सविता, १२. त्वष्टा, १३. वायु, १४. इन्द्राग्नि, १५. मित्र, १६. इन्द्र, १७. निर्ऋति, १८. अम्भ, १९. विश्व, २०. ब्रह्मा, २१. विष्णु, २२. वसु, २३. वरुण, २४. अज, २५. विवर्द्धि २६. पूषा, २७. अश्व और २८. यम, यह अट्ठाईस देवताओं के नाम जानना चाहिये। ८९, ९०

यह देवनाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में देवनाम का स्वरूप बताया है। जैसे अग्निदेवता से अधिष्ठित कृत्तिका नक्षत्र में उत्पन्न हुए व्यक्ति के नामस्थापन में नक्षत्र को गौण मानकर देवनाम की मुख्यता से अग्निदत्त, अग्निसेन आदि नाम रखे जाते हैं, उसी प्रकार प्राजापतिक आदि नामों के लिये प्रजापति आदि देवनामों की मुख्यता समझ लेना चाहिये।

संग्रहणी गाथोक्त क्रम से अग्नि आदि अट्ठाईस देवताओं के नाम क्रमशः कृत्तिका आदि नक्षत्रों के अधिष्ठातृ देवों के हैं।

कुलनाम

२८७. से किं तं कुलनामे ?

कुलनामे उग्गे भोगे राइण्णे खत्तिए इक्खागे णाते कोरव्वे। से तं कुलनामे।

[२८७. प्र.] भगवन् ! कुलनाम किसे कहते हैं ?

[२८७ उ.] आयुष्मन् ! (जिस नाम का आधार कुल हो, उसे कुलनाम कहते हैं।) जैसे उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, इक्ष्वाकु, ज्ञात, कौरव्य इत्यादि।

यह कुलनाम का स्वरूप है।

विवेचन—पिता के वंश को कुल कहते हैं। कुल के नाम का कारण कोई प्रमुख व्यक्ति या प्रसंग-विशेष होता है। अतएव पितृवंश की परम्परा के आधार से किया जाने वाला नाम कुलनाम कहलाता है। जैसे उग्र कुल में जन्म लेने से उग्र नाम रखा जाना। इसी प्रकार भोग, राजन्य आदि नामों के विषय में जानना चाहिये।

पाखण्डनाम

२८८. से किं तं पासंडनामे ?

पासंडनामे समणए पंडुरंगए भिक्खू कावालियए तावसए परिव्वायगे। से तं पासंडनामे।

[२८८ प्र.] भगवन् ! पाषण्डनाम का क्या स्वरूप है ?

[२८८ उ.] आयुष्मन् ! श्रमण, पाण्डुरांग, भिक्षु, कापालिक, तापस, परिव्राजक यह पाषण्डनाम का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में उदाहरणों के माध्यम से पाषण्डनाम का स्वरूप बतलाया है।

मत, संप्रदाय, आचार-विचार की पद्धति अथवा व्रत को पाषण्ड कहते हैं। अतएव कारण में कार्य का उपचार करके पाषण्ड (व्रत आदि) के आधार से स्थापित नाम पाषण्डनाम कहलाता है।

पाषण्डनाम के उदाहरणों में निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक, आजीवक के भेद से श्रमण पांच प्रकार के हैं। भस्म से लिप्त शरीर वाले ऐसे शैव—शिव के भक्तों को पाण्डुरांग कहते हैं। इसी प्रकार बुद्धदर्शन के अनुयायी भिक्षु, चिता की राख से अपने शरीर को लिप्त रखने वाले श्मशानवासी कापालिक, तपसाधना करने वाले तापस और गृहत्यागी संन्यासी परिव्राजक कहलाते हैं।

गणनाम

२८९. से किं तं गणनामे ?

गणनामे मल्ले मल्लदिन्ने मल्लधम्मे मल्लसम्मे मल्लदेवे मल्लदासे मल्लसेणे मल्लरक्खिए। से तं गणनामे।

[२८९ प्र.] भगवन् ! गणनाम का क्या स्वरूप है ?

[२८९ उ.] आयुष्मन् ! गण के आधार से स्थापित नाम को गणनाम कहते हैं। जैसे—मल्ल, मल्लदत्त, मल्लधर्म, मल्लशर्म, मल्लदेव, मल्लदास, मल्लसेन, मल्लरक्षित आदि गण-स्थापना-निष्पन्ननाम हैं।

विवेचन—सूत्र में गणनाम का स्वरूप स्पष्ट किया है। आयुधजीवियों के संघ-समूह को गण कहते हैं। इसमें पारस्परिक सहमति अथवा सम्मति के आधार से राज्यव्यवस्था का निर्णय किया जाता है। अतएव उसके आधार से नामस्थापन गणनाम कहा जाता है।

नौ मल्ली, नौ लिच्छवी इन अठारह राजाओं के राज्यों का एक गणराज्य था। इन के नाम शास्त्रों में आये हैं। अतः यहाँ उदाहरण के रूप में मल्ल, मल्लदत्त आदि नामों का उल्लेख किया है।

जीवितहेतुनाम

२९०. से किं तं जीवियाहेउं ?

जीवियाहेउं अवकरए उक्कुरुडए उज्झियए कज्जवए सुप्पए। से तं जीवियाहेउं।

[२९० प्र.] भगवन् ! जीवितहेतुनाम का क्या स्वरूप है ?

[२९० उ.] आयुष्मन् ! (जिस स्त्री की संतान जन्म लेते ही मर जाती हो उसकी संतान को) दीर्घकाल तक जीवित रखने के निमित्त नाम रखने को जीवितहेतुनाम कहते हैं। जैसे—अवकरक (कचरा), उत्कुरुटक (उकरडा), उज्झितक (त्यागा हुआ), कचवरक (कूड़े-कचरे का ढेर), सूर्पक (सूपड़ा—अन्न में से भूसा आदि निकालने का साधन) आदि। ये सब जीवितहेतुनाम हैं।

विवेचन—सूत्र में जीवितहेतुनाम का स्वरूप बताया है। संतान के प्रति ममत्वभाव और किसी न किसी प्रकार से संतान जीवित रहे, यह भावना इस नामकरण में अन्तर्निहित है।

आभिप्रायिकनाम

२९१. से किं तं आभिप्पाइयनामे ?

आभिप्पाइयनामे अंबए निबए बकुलए पलासए सिणए पिलुयए करीरए। से तं आभिप्पाइय-नामे। से तं ठवणप्पमाणे।

[२९१ प्र.] भगवन् ! आभिप्रायिकनाम का क्या स्वरूप है ?

[२९१ उ.] आयुष्मन् ! (गुण की अपेक्षा रक्खे विना अपने अभिप्राय के अनुसार मनचाहा नाम रख लेना आभिप्रायिक नाम कहलाता है) जैसे— अंबक, निम्बक, बकुलक, पलाशक, स्नेहक, पीलुक, करीरक आदि आभिप्रायिक नाम जानना चाहिये।

यह स्थापनाप्रमाणनिष्पन्न नाम की प्ररूपणा है।

विवेचन—सूत्र में स्थापनाप्रमाणनिष्पन्न नाम के अंतिम भेद आभिप्रायिक नाम का स्वरूप वतलाया है। आभिप्रायिकनामनिष्पत्ति का आधार अपना अभिप्राय ही है। उदाहरण के रूप में बताये गये नामों की तरह अन्य नाम स्वयमेव समझ लेना चाहिए।

द्रव्यप्रमाणनिष्पन्ननाम

२९२. से किं तं दव्वप्पमाणे ?

दव्वप्पमाणे छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—धम्मत्थिकाए जाव अद्धासमए। से तं दव्वप्पमाणे।

[२९२ प्र.] भगवन् ! द्रव्यप्रमाणनिष्पन्ननाम का क्या स्वरूप है ?

[२९२ उ.] आयुष्मन् ! द्रव्यप्रमाणनिष्पन्ननाम छह प्रकार का है। यथा—धर्मास्तिकाय यावत् अद्धासमय।

यह द्रव्यप्रमाणनिष्पन्ननाम का स्वरूप है।

विवेचन—धर्मास्तिकाय आदि षट् द्रव्यों के नाम द्रव्यविषयक होने से अथवा द्रव्यों के सिवाय अन्य के नहीं होने से द्रव्यप्रमाणनिष्पन्ननाम हैं।

अनादिसिद्धान्तनाम में भी इन्हीं छह द्रव्यों के नामों का उल्लेख किया है किन्तु वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, अतः विवक्षाभेद के कारण दोष नहीं समझना चाहिए।

भावप्रमाणनिष्पन्ननाम

२९३. से किं तं भावप्पमाणे ?

भावप्पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—सामासिए १ तद्धितए २ धातुए ३ निरुत्तिए ४।

[२९३ प्र.] भगवन् ! भावप्रमाण किसे कहते हैं ?

[२९३ उ.] आयुष्मन् ! भावप्रमाण १. सामासिक २. तद्धितज ३. धातुज और ४. निरुक्तिज के भेद से चार प्रकार का है।

विवेचन—भावप्रमाणनिष्पन्ननाम की प्ररूपणा प्रारंभ करने के लिये सूत्र में उसके चार भेदों के नाम गिनाये हैं।

भाव अर्थात् वस्तुगत गुण। अतएव भाव एव प्रमाणं—भाव ही प्रमाण है—इस व्युत्पत्ति के अनुसार भाव रूप प्रमाण को भावप्रमाण कहते हैं और उसके द्वारा निष्पन्न नाम भावप्रमाणनिष्पन्ननाम कहलाता है। वह सामासिक आदि के भेद से चार प्रकार का है। आगे क्रम से उनका वर्णन करते हैं।

सामासिकभावप्रमाणनिष्पन्ननाम

२९४. से किं तं सामासिए ?

सामासिए सत्त समासा भवंति। तं जहा—

दंदे १ य बहुव्वीही २ कम्मधारए ३ दिग्गु ४ य।
तप्पुरिस ५ अव्वईभावे ६ एक्कसेसे ७ य सत्तमे ॥ ९१ ॥

[२९४ प्र.] भगवन् ! सामासिकभावप्रमाण किसे कहते हैं ?

[२९४ उ.] आयुष्मन् ! सामासिकनामनिष्पन्नता के हेतुभूत समास सात हैं। वे इस प्रकार—

१. द्वन्द्व, २. बहुब्रीहि, ३. कर्मधारय, ४. द्विगु, ५. तत्पुरुष, ५. अव्ययीभाव और ७. एकशेष । ९१

विवेचन—सूत्र में सामासिक नाम की प्ररूपणा के लिये सात समासों के नाम बताये हैं। दो या दो से अधिक पदों में विभक्ति आदि का लोप करके उन्हें संक्षिप्त करना—इकट्ठा करना समास कहलाता है।

समासयुक्त शब्द जिन शब्दों के मेल से बनता है, उन्हें खंड कहते हैं। जिन शब्दों में समास होता है उनका बल एकसा नहीं होता, किन्तु उनमें से किसी का अर्थ मुख्य हो जाता है और शेष शब्द उस अर्थ को पुष्ट करते हैं। अपेक्षाभेद से समास के द्वन्द्व आदि सात भेद हैं।

द्वन्द्वसमास

२९५. से किं तं दंदे समासे ?

दंदे समासे दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठम्, स्तनौ च उदरं च स्तनोदरम्, वस्त्रं च पात्रं च वस्त्रपात्रम्, अश्वश्च महिषश्च अश्वमहिषम्, अहिश्च नकुलश्च अहिनकुलम् । से तं दंदे समासे ।

[२९५ प्र.] भगवन् ! द्वन्द्वसमास का क्या स्वरूप है ?

[२९५ उ.] आयुष्मन् ! 'दंताश्च ओष्ठौ च इति दंतोष्ठम्,' 'स्तनौ च उदरं च इति स्तनोदरम्,' 'वस्त्रं च पात्रं च वस्त्रपात्रम्,' 'अश्वश्च महिषश्च इति अश्वमहिषम्', 'अहिश्च नकुलश्च इति अहिनकुलम्', ये सभी शब्द द्वन्द्वसमास रूप हैं।

विवेचन—सूत्र में उदाहरणों के द्वारा द्वन्द्वसमास का आशय स्पष्ट किया है। तत्संबन्धी विशेष वक्तव्य इस प्रकार है—

जिस समास में सभी पद समान रूप से प्रधान होते हैं तथा जिनके बीच के 'और' अथवा 'च' शब्द का लोप हो जाता है, किन्तु विग्रह करने पर संबन्ध के लिये पुनः 'च' अथवा 'और' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसे द्वन्द्वसमास कहते हैं।

द्वन्द्वसमास के शब्दों से यदि एक मिश्रित वस्तु का बोध होता है तो वे एकवचन में प्रयुक्त होते हैं। यथा—मैंने दाल-रोटी खा ली है, उनमें ऊंच-नीच नहीं है। किन्तु जिन शब्दों से मिश्रित वस्तु का बोध नहीं होता, वे बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। जैसे सीता-राम वन को गये।

यह समास समाहार द्वन्द्व और इतरेतर द्वन्द्व के भेद से दो प्रकार का है। समाहार द्वन्द्व में प्रत्येक पद की प्रधानता नहीं होती, प्रत्युत सामूहिक अर्थ का बोध होता है। इसमें सदा नपुंसकलिंग तथा किसी एक विभक्ति का एकवचन ही रहता है।

सूत्रोक्त उदाहरणों में से 'दन्तोष्ठम्' और 'स्तनोदरम्' में प्राणी के अंग होने से एकवद्भाव हुआ है। 'वस्त्रपात्रम्' में अप्राणी जाति होने से तथा 'अश्वमहिषम्' और 'अहिनकुलम्' पदों में शाश्वत विरोध होने के कारण एकवचन का प्रयोग हुआ जानना चाहिये।

माता और पिता—मातापिता, पुण्य और पाप—पुण्यपाप इत्यादि शब्द हिन्दी भाषा संवन्धी द्वन्द्वसमास के उदाहरण हैं।

बहुव्रीहिसमास

२९६. से किं तं बहुव्वीहीसमासे ?

बहुव्वीहिसमासे फुल्ला जम्मि गिरिम्मि कुडय-कलंबा सो इमो गिरी फुल्लियकुडय-कलंबो। से तं बहुव्वीहीसमासे।

[२९६ प्र.] भगवन् ! बहुव्रीहिसमास किसे कहते हैं ?

[२९६ उ.] आयुष्मन् ! बहुव्रीहिसमास का लक्षण यह है—इस पर्वत पर पुष्पित (प्रफुल्लित) कुटज और कदंब वृक्ष होने से यह पर्वत फुल्लकुटजकदंब है। यहाँ 'फुल्लकुटजकदंब' पद बहुव्रीहिसमास है।

विवेचन—बहुव्रीहिसमास—समासगत पद जब अपने से भिन्न किसी अन्य पदार्थ का बोध कराये अर्थात् जिस समास में अन्यपद प्रधान हो, उसे बहुव्रीहिसमास कहते हैं। बहुव्रीहिसमास में शब्द के दोनों ही पद गौण होते हैं। जो सूत्रोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि कुटज और कदंब शब्द प्रधान नहीं हैं, किन्तु इनसे युक्त पर्वत रूप अन्य पद प्रधान है।

बहुव्रीहिसमास में अन्तिम पद में विभक्ति का लोप नहीं भी होता है। विभक्ति का लोप प्रथम पद में और यदि दो से अधिक पदों का समास हो तो अन्तिम पद के अतिरिक्त अन्य पदों में होता है।

कर्मधारयसमास

२९७. से किं तं कम्मधारयसमासे ?

कम्मधारयसमासे धवलो वसहो धवलवसहो, किण्हो मिगो किण्हमिगो, सेतो पटो सेतपटो, रत्तो पटो रत्तपटो। से तं कम्मधारयसमासे।

[२९७ प्र.] भगवन् ! कर्मधारयसमास का क्या स्वरूप है ?

[२९७ उ.] आयुष्मन् ! 'धवलो वृषभः धवलवृषभः', 'कृष्णो मृगः कृष्णमृगः', 'श्वेतः पटः श्वेतपटः' 'रक्तः पटः रक्तपटः' यह कर्मधारयसमास है।

विवेचन—सूत्र में उदाहरणों द्वारा कर्मधारयसमास की व्याख्या की है। जिसका आशय यह है—

जिसमें उपमान-उपमेय, विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध होता है वह कर्मधारयसमास है अथवा समान अधिकरण वाला तत्पुरुषसमास ही कर्मधारयसमास कहलाता है। यदि विशेषण प्रथम हो तो विशेषणपूर्वपदकर्मधारय, उपमान प्रथम हो तो उपमानपूर्वपदकर्मधारय, उपमान बाद में हो तो उपमानोत्तरपदकर्मधारय कहलाता है। सूत्र में जितने भी उदाहरण दिये हैं वे सब विशेषणपूर्वपद-कर्मधारय के हैं। उपमानपूर्वपद के उदाहरण 'घन इव श्यामः घनश्यामः' और उपमानोत्तर के उदाहरण पुरुषसिंहः जैसे शब्द जानना चाहिये।

द्विगुसमास

२९८. से किं तं दिगुसमासे ?

दिगुसमासे तिण्णि कडुगा तिकडुगं, तिण्णि महुराणि तिमहुरं, तिण्णि गुणा तिगुणं, तिण्णि पुरा तिपुरं, तिण्णि सरा तिसरं, तिण्णि पुक्खरा तिपुक्खरं, तिण्णि बिंदुया तिबिंदुयं, तिण्णि पहा तिपहं, पंच णदीओ पंचणदं, सत्त गया सत्तगयं, नव तुरगा नवतुरगं, दस गामा दसगामं, दस पुरा दसपुरं। से तं दिगुसमासे।

[२९८ प्र.] भगवन् ! द्विगुसमास किसे कहते हैं ?

[२९८ उ.] आयुष्मन् ! द्विगुसमास का रूप इस प्रकार का है—तीन कटुक वस्तुओं का समूह—त्रिकटुक, तीन मधुरों का समूह—त्रिमधुर, तीन गुणों का समूह—त्रिगुण, तीन पुरों—नगरों का समूह—त्रिपुर, तीन स्वरों का समूह—त्रिस्वर, तीन पुष्करों—कमलों का समूह—त्रिपुष्कर, तीन बिन्दुओं का समूह—त्रिबिन्दु, तीन पथ—रास्तों का समूह--त्रिपथ, पांच नदियों का समूह—पंचनद, सात गजों का समूह—सप्तगज, नौ तुरगों—अश्वों का समूह—नवतुरग, दस ग्रामों का समूह—दसग्राम, दस पुरों का समूह—दसपुर, यह द्विगुसमास है।

विवेचन—सूत्र में द्विगुसमास के उदाहरण दिये हैं। जिनसे यह आशय फलित होता है—

जिस समास में प्रथम पद संख्यावाचक हो और जिससे समाहार—समूह का वोध होता हो, उसे द्विगुसमास कहते हैं। इसमें दूसरा पद प्रधान होता है, जिससे बहुधा यह जाना जाता है कि इतनी वस्तुओं का समाहार हुआ है। सूत्रोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है।

द्विगुसमास की यह विशेषता है कि इसमें नपुंसकलिंग और एकवचन ही आता है, जैसे त्रिकटुकम्।

कर्मधारयसमास में पहला पद सामान्य विशेषण रूप और द्विगुसमास में पहला पद संख्यावाचक विशेषण होता है। इसलिये ये दोनों समास पृथक्-पृथक् कहे गए हैं।

तत्पुरुषसमास

२९९. से किं तं तप्पुरिसे समासे ?

तप्पुरिसे समासे तित्थे कागो तित्थकागो, वणे हत्थी वणहत्थी, वणे वराहो वणवराहो, वणे महिसो वणमहिसो, वणे मयूरो वणमयूरो। से तं तप्पुरिसे समासे।

[२९९ प्र.] भगवन् ! तत्पुरुषसमास का क्या स्वरूप है ?

[२९९ उ.] आयुष्मन् ! तत्पुरुषसमास का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—तीर्थ में काक (कौआ) तीर्थकाक, वन में हस्ती वनहस्ती, वन में वराह वनवराह, वन में महिष वनमहिष, वन में मयूर वनमयूर। यह तत्पुरुषसमास है।

विवेचन—उदाहरणों के द्वारा तत्पुरुषसमास का स्वरूप वताया है। जिसका फलितार्थ यह है—

इसमें अन्तिम पद प्रधान होता है और प्रथम पद प्रथमा विभक्ति से भिन्न किसी दूसरी विभक्ति का होता है। इसके प्रथम पद में द्वितीया से लेकर सप्तमी पर्यन्त छह विभक्तियों के रहने के कारण इसके छह भेद होते हैं।

सूत्रोक्त उदाहरण सप्तमीविभक्तिपरक हैं।

तत्पुरुषसमास के और भी उपभेद हैं, जिनमें नञ्, अलुक् और उपपद प्रधान हैं। नञ् तत्पुरुष में अभाव, निषेध अर्थसूचक अ, अन्, न उपसर्ग शब्द के पूर्व में लगाकर समस्त पद बनाया जाता है। जैसे अनाथ, अनन्त, असत्य। इसमें व्यंजन से पहले अ और स्वर से पहले अन् लगता है। अलुक् समास में पूर्वपद की विभक्ति का लोप नहीं होता है। जैसे अन्तेवासी, खेचर आदि। उपपदसमास में दूसरा पद ऐसा कृदन्त होता है कि असंबद्ध रहने पर जिसका कोई प्रयोग या उपयोग नहीं होता। जैसे—कुंभ-कार, चर्म-कार इत्यादि।

अव्ययीभावसमास

३००. से किं तं अव्वईभावे समासे ?

अव्वईभावे समासे अणुगामं अणुणदीयं अणुफरिहं अणुचरियं। से तं अव्वईभावे समासे।

[३०० प्र.] भगवन् ! अव्ययीभावसमास का स्वरूप क्या है ?

[३०० उ.] आयुष्मन् ! अव्ययीभावसमास इस प्रकार जानना चाहिये—ग्राम के समीप—'अनुग्रामं', नदी के समीप—'अनुनदिकम्', इसी प्रकार अनुस्पर्शम्, अनुचरितम् आदि अव्ययीभावसमास के उदाहरण हैं।

विवेचन—अव्ययीभावसमास में पूर्व पद अव्यय रूप और उत्तर पद नाम होता है तथा अन्त में सदा नपुंसकलिंग और प्रथमा विभक्ति का एकवचन रहता है। यह उदाहरणों से स्पष्ट है।

एकशेषसमास

३०१. से किं तं एगसेसे समासे ?

एगसेसे समासे जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो, जहा एगो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा जहा बहवे करिसावणा तहा एगो करिसावणो, जहा एगो साली तहा बहवे सालिणो जहा बहवे सालिणो तहा एगो साली। से तं एगसेसे समासे। से तं सामासिए।

[३०१ प्र.] भगवन् ! एकशेषसमास किसे कहते हैं ?

[३०१ उ.] आयुष्मन् ! जिसमें एक शेष रहे, वह एकशेषसमास है। वह इस प्रकार—जैसा एक पुरुष वैसे अनेक पुरुष और जैसे अनेक पुरुष वैसा एक पुरुष, जैसा एक कार्षापण (स्वर्णमुद्रा) वैसे अनेक कार्षापण और जैसे अनेक कार्षापण वैसा एक कार्षापण, जैसे एक शालि वैसे अनेक शालि और जैसे अनेक शालि वैसा एक शालि इत्यादि एकशेषसमास के उदाहरण हैं।

इस प्रकार से सामासिकभावप्रमाणनाम का आशय जानना चाहिये।

विवेचन—एकशेषसमास विषयक स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

समान रूप वाले दो या दो से अधिक पदों के समास में एक पद शेष रहे और दूसरे पदों का लोप हो जाये तो उसे एकशेषसमास कहते हैं। इसमें 'स्वरूपाणामेकशेषएकविभक्तौ' इस सूत्र के अनुसार एक ही पद शेष रहता है और जो एक पद शेष रहता है वह भी द्विवचन में द्वित्व का और बहुवचन में बहुत्व का वाचक होता है। जैसे—'पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषौ', 'पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषश्च पुरुषाः'।

समानार्थक विरूप पदों में भी एकशेषसमास होता है। जैसे वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्चेति वक्रदण्डौ अथवा कुटिलदण्डौ।

एक व्यक्ति की विवक्षा में 'एकः पुरुषः' और बहुत व्यक्तियों की विवक्षा होने पर 'बहवः पुरुषाः' प्रयोग होता है। इस बहुवचन की विवक्षा में एक ही 'पुरुष' पद अवशिष्ट रहता है और शेष पद लुप्त हो जाते हैं।

बहुत व्यक्तियों की विवक्षा में पुरुषाः ऐसा बहुवचनात्मक प्रयोग होता है, किन्तु जाति की विवक्षा में एकवचन रूप एकः पुरुषः प्रयोग होता है। क्योंकि जाति के एक होने से बहुवचन का प्रयोग नहीं होता है। इसी प्रकार एकः कर्षापणः, बहवः कार्षापणाः आदि पदों में भी जानना चाहिये।

यह एकशेषसमास का आशय है।

मुख्य समासभेदों के बोधक सूत्र—व्याकरणशास्त्र के अनुसार संक्षेप में इस प्रकार हैं—प्रायः पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभाव, उत्तरपदार्थप्रधान तत्पुरुष, अन्यपदार्थप्रधान बहुव्रीहि, उभयपदार्थ-प्रधान द्वन्द्व और संख्याप्रधान द्विगु समास होता है। कर्मधारय तत्पुरुष का और द्विगु कर्मधारय समास का भेद है।

अब भावप्रमाण के दूसरे भेद तद्धितज नाम की प्ररूपणा करते हैं।

तद्धितजभावप्रमाणनाम

३०२. से किं तं तद्धियए ?

तद्धियए—

कम्मे १ सिप्प २ सिलोए ३ संजोग ४ समीवओ ५ य संजूहे ६।
इस्सरिया ७ ऽवच्चेण ८ य तद्धितणामं तु अट्ठविहं ॥ ९२ ॥

[३०२ प्र.] भगवन् ! तद्धित से निष्पन्न नाम का क्या स्वरूप है ?

[३०२ उ.] आयुष्मन् ! १. कर्म, २. शिल्प, ३. श्लोक, ४. संयोग, ५. समीप, ६. संयूथ, ७. ऐश्वर्य, ८. अपत्य, इस प्रकार तद्धितनिष्पन्ननाम आठ प्रकार का है। ९२

विवेचन—गाथोक्त क्रमानुसार अब तद्धितज नामों का आशय स्पष्ट करते हैं।

कर्मनाम

३०३. से किं तं कम्मणामे ?

कम्मणामे दोस्सिए सोत्तिए कप्पासिए सुत्तवेतालिए भंडवेतालिए कोलालिए। से तं कम्मनामे।

[३०३ प्र.] भगवन् ! कर्मनाम का क्या स्वरूप है ?

[३०३ उ.] आयुष्मन् ! दौष्यिक, सौत्रिक, कार्पासिक, सूत्रवैचारिक, भांडवैचारिक, कौलालिक, ये सब कर्मनिमित्तज नाम हैं।

विवेचन—सूत्र में कर्म तद्धितज नाम के उदाहरण दिये हैं। कर्म शब्द का प्रयोग यहाँ पण्य—वेचने योग्य पदार्थ अर्थ में हुआ है। यथा—दूष्यं पण्यमस्येति दौष्यिकः—वस्त्र को बेचने वाला। इसी प्रकार सूत बेचने वाला सौत्रिक आदि का आशय जानना चाहिये। ये दौष्यिक आदि शब्द 'तदस्य पण्यं' सूत्र से ठक् प्रत्यय होकर 'ठस्येकः' ठ के स्थान पर इक् और आदि में वृद्धि होने से बने हैं।

पाठभेद—प्रस्तुत सूत्र में किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में पाठभेद भी पाया जाता है, जो इस प्रकार है—

'तणहारए कट्ठहारए पत्तहारए दोसिए सोत्तिए कप्पासिए भंडवेआलिए कोलालिए........।'

विशिष्ट शब्दों का अर्थ—**दोस्सिए**—दौष्यिक—वस्त्र का व्यापारी, **सोत्तिए**—सौत्रिक—सूत का व्यापारी, **कप्पासिए**—कार्पासिक—कपास का व्यवसायी, **सुत्तवेतालिए**—सूत्रवैचारिक—सूत बेचने वाला, **भंडवेतालिए**—भांडवैचारिक—वर्तन बेचने वाला, **कोलालिए**—कौलालिक—मिट्टी के पात्र बेचने वाला।

शिल्पनाम

३०४. से किं तं सिप्पनामे ?

सिप्पनामे तुण्णिए तंतुवाइए पट्टकारिए उव्वट्टिए वरुंटिए मुंजकारिए कट्ठकारिए छत्तकारिए बज्झकारिए पोत्थकारिए चित्तकारिए दंतकारिए लेप्पकारिए सेलकारिए कोट्टिमकारिए। से तं सिप्पनामे।

[३०४ प्र.] भगवन् ! शिल्पनाम का क्या स्वरूप है ?

[३०४ उ.] आयुष्मन् ! तौन्निक तान्तुवायिक, पाट्टकारिक, औद्वृत्तिक वारुंटिक मौञ्जकारिक, काष्ठकारिक छात्रकारिक वाह्यकारिक पौस्तकारिक चैत्रकारिक दान्तकारिक लैप्यकारिक शैलकारिक कौट्टिमकारिक। यह शिल्पनाम हैं।

विवेचन—सूत्र में शिल्प-कला के आधार से स्थापित कुछ नामों का संकेत किया है। इसमें 'शिल्पम्' सूत्र से तद्धित प्रत्यय ठक् हुआ है और ठक् को इक् आदि होने का विधान पूर्ववत् जानना चाहिये।

सूत्रगत कतिपय शब्दों के अर्थ—**तुण्णिए**—तौन्निक—रफू करने वाला शिल्पी, **तंतुवाए**—तान्तुवायिक—जुलाहा, **पट्टकारिए**—पट्ट वनाने वाला शिल्पी, **उव्वट्टिए**—औद्वृत्तिक—पीठी आदि से शरीर के मैल को दूर करने वाला शिल्पी नाई, **वरुंटिए**—वारुंटिक—एक शिल्प विशेष जीवी, **मुंजकारिए**—मौञ्जकारिक—मूंज की रस्सी वनाने वाला शिल्पी, **कट्ठकारिए**—काष्ठकारिक—बढ़ई, **छत्तकारिए**—छात्रकारिक—छाता वनाने वाला शिल्पी, **बज्झकारिए**—बाह्यकारिक—रथ आदि वनाने वाला शिल्पी, **पोत्थकारिए**—पौस्तकारिक—जिल्दसाज, **चित्तकारिए**—चैत्रकारिक—

चित्र बनाने वाला शिल्पी, **दंतकारिए**—दान्तकारिक—दांत बनाने वाला शिल्पी, **लेप्पकारिए**—लैप्यकारिक—मकान बनाने वाला शिल्पी, **सेलकारिए**—शैलकारिक—पत्थर घड़ने वाला शिल्पी, **कोट्टिमकारिए**—कौट्टिमकारिक—खान खोदने वाला शिल्पी।

श्लोकनाम

३०५. से किं तं सिलोयनामे ?

सिलोयनामे समणे माहणे सव्वातिही। से तं सिलोयनामे।

[३०५ प्र.] भगवन् ! श्लोकनाम किसे कहते हैं ?

[३०५ उ.] आयुष्मन् ! सभी के अतिथि श्रमण, ब्राह्मण श्लोकनाम के उदाहरण हैं।

विवेचन—सूत्र में उदाहरण द्वारा श्लोकनाम की व्याख्या की है। जिसका आशय यह है—

श्लोक अर्थात् यश के अर्थ में तद्धित प्रत्यय होने पर निष्पन्न होने वाला नाम श्लोकनाम है। उदाहरण रूप श्रमण और ब्राह्मण शब्दों में 'अर्शादिभ्योऽच्' सूत्र द्वारा प्रशस्तार्थ में मत्वर्थीय 'अच्' प्रत्यय हुआ है और तपश्चर्यादि श्रम से युक्त होने से श्रमण और ब्रह्म (आत्मा) के आराधक होने से ब्राह्मण प्रशस्त—सभी के अतिथि—संमाननीय माने जाने से श्लोकनाम के उदाहरण हैं।

संयोगनाम

३०६. से किं तं संजोगनामे ?

संजोगनामे रण्णो ससुरए, रण्णो सालए, रण्णो सड्ढुए, रण्णो जामाउए, रन्नो भगिणीवती। से तं संजोगनामे।

[३०६ प्र.] भगवन् ! संयोगनाम किसे कहते हैं ?

[३०६ उ.] आयुष्मन् ! संयोगनाम का रूप इस प्रकार समझना चाहिये—राजा का ससुर—राजकीय ससुर, राजा का साला—राजकीय साला, राजा का साढू—राजकीय साढू, राजा का जमाई—राजकीय जमाई (जामाता), राजा का बहनोई—राजकीय बहनोई इत्यादि संयोगनाम हैं।

विवेचन—सूत्र में संबन्धार्थ में तद्धित प्रत्यय लगाने से निष्पन्न संयोगनामों का उल्लेख है।

सूत्र में तो 'रण्णो ससुरए' इत्यादि विग्रह मात्र दिखलाया है। जिनका अर्थ यह हुआ—राज्ञः अयं—राजकीयः श्वसुरः इत्यादि। इन प्रयोगों में 'राज्ञः कच्' इस सूत्र से राजन् शब्द में 'छ' प्रत्यय होकर 'छ' को 'इय्' प्रत्यय हुआ है। इसलिये ये और इसी प्रकार के अन्य नाम संयोगनिष्पन्न तद्धितज नाम जानना चाहिये।

समीपनाम

३०७. से किं तं समीवनामे ?

समीवनामे गिरिस्स समीवे णगरं गिरिणगरं, विदिसाए समीवे णगरं वेदिसं, बेन्नाए समीवे णगरं वेन्नायडं, तगराए समीवे णगरं तगरायडं। से तं समीवनामे।

[३०७ प्र.] भगवन् ! समीपनाम किसे कहते हैं ?

[३०७ उ.] आयुष्मन् ! समीप अर्थक तद्धित प्रत्यय-निष्पन्ननाम—गिरि के समीप का नगर गिरिनगर, विदिशा के समीप का नगर वैदिश, वेन्ना के समीप का नगर वेन्नातट (वैन्न), तगरा के समीप का नगर तगरातट (तागर) आदि रूप जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्रोक्त नाम समीप-निकट-पास अर्थ में तद्धित 'अण्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होने के कारण समीपार्थबोधक तद्धितज नाम हैं।

संयूथनाम

३०८. से किं तं संजूहनामे ?

संजहनामे तरंगवतिक्कारे मलयवतिकारे अत्ताणुसट्ठिकारे बिंदुकारे। से तं संजूहनामे।

[३०८ प्र.] भगवन् ! संयूथनाम किसे कहते हैं ?

[३०८ उ.] आयुष्मन् ! तरंगवतीकार, मलयवतीकार, आत्मानुषष्ठिकार, बिन्दुकार आदि नाम संयूथनाम के उदाहरण हैं।

विवेचन—सूत्र में संयूथनाम का स्वरूप बतलाने के उदाहरणों का उल्लेख किया है। जिसका आशय इस प्रकार है—

ग्रंथरचना को संयूथ कहते हैं। यह ग्रंथरचना रूप संयूथ जिस तद्धित प्रत्यय से सूचित किया जाता है, वह संयूथार्थ तद्धित प्रत्यय से निष्पन्ननाम संयूथनाम कहलाता है।

मूल में तरंगवतीकार, मलयवतीकार जो निर्देश किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि तरंगवती नामक कथा ग्रन्थ का करनेवाला (लेखक) तरंगवतीकार, मलयवती ग्रंथ का कर्ता मलयवतीकार कहलाता है। इसी प्रकार आत्मानुषष्ठि, बिन्दुक आदि ग्रन्थों के लिये भी समझ लेना चाहिये।

ऐश्वर्यनाम

३०९. से किं तं ईसरियनामे ?

ईसरियनामे राईसरे तलवरे माडंबिए कोडुंबिए इब्भे सेट्ठी सत्थवाहे सेणावई। से तं ईसरियनामे।

[३०९ प्र.] भगवन् ! ऐश्वर्यनाम का क्या रूप है ?

[३०९ उ.] आयुष्मन् ! ऐश्वर्य द्योतक शब्दों से तद्धित प्रत्यय करने पर निष्पन्न ऐश्वर्यनाम

राजेश्वर, तलवर, माडंबिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सार्थवाह, सेनापति आदि रूप हैं। यह ऐश्वर्यनाम का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में उल्लिखित ऐश्वर्यद्योतक नाम स्वार्थ में 'कष्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न हुए हैं। इसीलिये ये सभी नाम ऐश्वर्यबोधक तद्धितज नाम माने गये हैं।

अपत्यनाम

३१०. से किं तं अवच्चनामे ?

अवच्चनामे तित्थयरमाया चक्कवट्टिमाया बलदेवमाया वासुदेवमाया रायमाया गणिमाया वायगमाया। से तं अवच्चनामे। से तं तद्धिते।

[३१० प्र.] भगवन् ! अपत्यनाम किसे कहते हैं ?

[३१० उ.] आयुष्मन् ! अपत्य—पुत्र से विशेषित होने अर्थ में तद्धित प्रत्यय लगाने से निष्पन्ननाम इस प्रकार हैं—तीर्थंकरमाता, चक्रवर्तीमाता, बलदेवमाता, वासुदेवमाता, राजमाता, गणिमाता, वाचकमाता आदि ये सब अपत्यनाम हैं।

इस प्रकार से तद्धितप्रत्यय से जन्य नाम की वक्तव्यता है।

विवेचन—सूत्रोक्त तीर्थंकरमाता आदि नाम अपत्यार्थबोधक तद्धितप्रत्ययनिष्पन्न हैं।

तित्थयरमाया अर्थात् तीर्थंकरोऽपत्यं यस्याः सा तीर्थंकरमाता—तीर्थंकर जिनका पुत्र है, वह तीर्थंकरमाता, यहाँ तीर्थंकर रूप सुप्रसिद्ध से अप्रसिद्ध माता को विशेषित किया गया है अर्थात् तीर्थंकरादि के कारण माता विशेषित—संमानार्ह हुई है। इसी प्रकार चक्रवर्तीमाता आदि नामों का अर्थ समझ लेना चाहिये।

उपर्युक्त तद्धितप्रत्ययनिष्पन्ननाम की व्याख्या है। अब धातुज नाम का स्वरूप बतलाते हैं।

धातुजनाम

३११. से किं तं धाउए ?

धाउए भू सत्तायां परस्मैभाषा, एध वृद्धौ, स्पर्द्ध संहर्षे, गाधृ प्रतिष्ठा-लिप्सयोर्ग्रन्थे च, बाधृ लोडने। से तं धाउए।

[३११ प्र.] भगवन् ! धातुजनाम का क्या स्वरूप है ?

[३११ उ.] आयुष्मन् ! परस्मैपदी सत्तार्थक भू धातु, वृद्धयर्थक एध् धातु, संघर्षार्थक स्पर्द्ध धातु, प्रतिष्ठा, लिप्सा या संचय अर्थक गाधृ और विलोडनार्थक वाधृ धातु आदि से निष्पन्न भव, एधमान आदि नाम धातुजनाम हैं।

विवेचन—सूत्र में धातुजनाम का वर्णन किया है कि जो नाम धातु से निष्पन्न होते हैं वे धातुज-नाम हैं।

निरुक्तिजनाम

३१२. से किं तं निरुत्तिए ?

निरुत्तिए मह्यां शेते महिषः, भ्रमति च रौति च भ्रमरः, मुहुर्मुहुर्लसति मुसलं, कपिरिव लम्बते त्थच्च करोति कपित्थं, चिदिति करोति खल्लं च भवति चिक्खल्लं, ऊर्ध्वकर्णः उलूकः, मेखस्य माला मेखला। से तं निरुत्तिए। से तं भावप्पमाणे। से तं पमाणनामे। से तं दसनामे। से तं नामे।

॥ नामे त्ति पयं सम्मत्तं ॥

[३१२ प्र.] भगवन् ! निरुक्तिजनाम का क्या आशय है ?

[३१२ उ.] आयुष्मन् ! *(निरुक्ति से निष्पन्ननाम निरुक्तिजनाम हैं।)* जैसे—*मह्यां शेते महिषः*—पृथ्वी पर जो शयन करे वह महिष—भैंसा, भ्रमति रौति इति भ्रमरः—भ्रमण करते हुए जो शब्द करे वह भ्रमर, मुहुर्मुहुर्लसति इति मुसलं—जो बारंबार ऊंचा-नीचा हो वह मूसल, कपिरिव लम्बते त्थच्चं (चेष्टा) करोति इति कपित्थं—कपि—बंदर के समान वृक्ष की शाखा पर चेष्टा करता है वह कपित्थ, चिदिति करोति खल्लं च भवति इति चिक्खल्लं—पैरों के साथ जो चिपके वह चिक्खल (कीचड़), ऊर्ध्वकर्णः इति उलूकः—जिसके कान ऊपर उठे हों वह उलूक (उल्लू), मेखस्य माला मेखला—मेघों की माला मेखला इत्यादि निरुक्तिजतद्धितनाम हैं।

यह समग्र भावप्रमाणनाम का कथन है। इस प्रकार से प्रमाणनाम, दस नाम और नामाधिकार की वक्तव्यता समाप्त हुई।

विवेचन—सूत्र में निरुक्तिजनाम की उदाहरण द्वारा व्याख्या करके भावप्रमाण आदि नामाधिकार की समाप्ति का सूचत किया है।

क्रिया, कारक, भेद और पर्यायवाची शब्दों द्वारा शब्दार्थ के कथन करने को निरुक्ति कहते हैं। इस निरुक्ति से निष्पन्न नाम निरुक्तिजनाम कहलाता है। उदाहरण के रूप में प्रस्तुत महिष आदि नाम पृषोदरादिगण से सिद्ध हैं। सूत्रोक्त से तं भावप्पमाणे आदि पद उपसंहारार्थक हैं।

अब उपक्रम के तीसरे भेद प्रमाणाधिकार का वर्णन करते हैं।

प्रमाण के भेद

३१३. से किं तं पमाणे ?

पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—दव्वप्पमाणे १ खेत्तप्पमाणे २ कालप्पमाणे ३ भावप्पमाणे ४।

[३१३ प्र.] भगवन् ! प्रमाण का स्वरूप क्या है ?

[३१३ उ.] आयुष्मन् ! प्रमाण चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। वे चार प्रकार ये हैं—१. द्रव्यप्रमाण, २. क्षेत्रप्रमाण, ३. कालप्रमाण और ४. भावप्रमाण।

विवेचन—प्रमाण शब्द के अर्थ—प्रसंगानुसार प्रमाण शब्द का प्रयोग हमारे दैनिक कार्यकलापों में होता है और वह प्रयोग किस-किस आशय को स्पष्ट करने के लिये किया जाता है, इसका कुछ संकेत शब्दकोष में इस प्रकार से किया है—यथार्थज्ञान, यथार्थज्ञान का साधन, नाप, माप, परिमाण, संख्या, सत्यरूप से जिसको स्वीकार किया जाये, निश्चय, प्रतीति, मर्यादा, मात्रा, साक्षी आदि ।

प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति—प्रमाण शब्द 'प्र' और 'माण' इन दो शब्दों से निष्पन्न है । 'प्र' उपसर्ग है और 'माण' माङ्, धातु का रूप है । व्याकरण में माङ् धातु अववोध और मान अर्थ के लिये प्रयुक्त होती है । 'प्र' का प्रयोग अधिक स्पष्ट अर्थ का बोध कराने के लिये किया जाता है तथा मान का अर्थ होता है ज्ञान या माप, नाप आदि । शब्दशास्त्रियों ने प्रमाण शब्द की तीन प्रकार से व्युत्पत्ति की है—प्रमिणोति, प्रमीयतेऽनेन, प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्—जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा मान किया जाता है या प्रमितिमात्र—मान करना प्रमाण है । अर्थात् वस्तुओं के स्वरूप का जानना या मापना प्रमाण है । यहाँ यह जानना चाहिये कि प्रमिति प्रमाण का फल है । अतएव जब फल रूप प्रमिति को प्रमाण कहा जाता है तब उस प्रमिति के कारण-भूत अन्य साधनों को भी प्रमाण मान लिया जाता है ।

प्रस्तुत सूत्र में प्रमाण शब्द के अतिविस्तृत अर्थ को लेकर उसके चार भेद किये हैं । इसमें दूसरे दार्शनिकों की तरह केवल प्रमेयसाधक तीन, चार या छह आदि प्रमाणों का समावेश नहीं है ।

स्थानांगसूत्र में भी इन्हीं चार भेदों का नामोल्लेख है[1] और वहाँ इन भेदों की गणना के अतिरिक्त विशेष कुछ नहीं कहा गया है । किन्तु जैन व्याख्यापद्धति का विस्तार से वर्णन करने वाला यह अनुयोगद्वारसूत्र है । जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन व्याख्यापद्धति का क्या दृष्टिकोण है ? जैन शास्त्रों में प्रत्येक शब्द की लाक्षणिक व्याख्या ही नहीं की है, अपितु उस शब्द का किन-किन संभावित अर्थों में और किस रूप में प्रयोग किया जाता है और उस समय उसका क्या अभिधेय होता है, यह भी स्पष्ट किया गया है । जो आगे किये जाने वाले वर्णन से स्पष्ट है ।

प्रमाण शब्द के निर्युक्तिमूलक अर्थ के समान होने पर भी भारतीय मनीषियों ने प्रमाण के भिन्न-भिन्न लक्षण निरूपित किये हैं । फिर भी भारतीय ही नहीं अपितु विश्व मनीषा का इस बिन्दु पर मतैक्य है कि यथार्थ ज्ञान प्रमाण है । ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है । ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य । ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है । सम्यक् निर्णायिक ज्ञान यथार्थ होता है और इससे विपरीत निर्णायक ज्ञान अयथार्थ, किन्तु प्रमाण सिर्फ यथार्थ ज्ञान होता है ।

प्रमाण की चतुर्विधता का कारण—जैन वाङ्मय में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का बड़ा महत्त्व है । किसी भी विषय की चर्चा तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती जब तक उस विषय का वर्णन द्रव्यादि चार अपेक्षाओं से न किया जाये । क्योंकि जगत् की प्रत्येक वस्तु प्रदेश वाली है, वह उन प्रदेशों में सत् रूप से रहती हुई उत्पाद-व्यय (उत्पत्ति-विनाश) रूप परिणति के द्वारा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिणत होती रहती है । इसीलिये लोक के पदार्थों का वर्णन द्रव्यदृष्टि से किया

१. चउव्विहे पमाणे पन्नत्ते तं जहा—दव्वप्पमाणे खेत्तप्पमाणे कालप्पमाणे भावप्पमाणे । —स्थानांग, स्थान ४

जाता है। जब प्रत्येक द्रव्य प्रदेशवान् है तो उसका अवस्थान-आधार बताने के लिये क्षेत्र का और उस द्रव्य का उसी पर्याय रूप में अवस्थित रहने के समय का निर्धारण करने के लिये काल का एवं वस्तु के असाधारण भाव—स्वभाव-स्वरूप को जानने के लिये भाव का परिज्ञान होना आवश्यक है। इन चारों प्रकारों से ही पदार्थ का अस्तित्व पूर्ण या विशद रूप से जाना जा सकता है या समझाया जा सकता है। इसी कारण जैनदर्शन में प्रत्येक विषय के वर्णन की ये चार मुख्य अपेक्षाएं हैं।

साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि प्रमाण शब्द यहाँ न्यायशास्त्रप्रसिद्ध अर्थ का वाचक नहीं किन्तु व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। जिसके द्वारा कोई वस्तु मापी जाए, नापी जाए, तोली जाए या अन्य प्रकार से जानी जाए वह भी प्रमाण है। यह बात मूलपाठोक्त प्रमाण के चार भेदों से स्पष्ट है।

इस प्रकार सामान्य रूप से प्रमाण के भेदों का निर्देश करने के पश्चात् अब उनका विस्तार से वर्णन प्रारम्भ किया जाता है। द्रव्यप्रमाण प्रथम है, अतएव पहले उसी का विचार करते हैं।

द्रव्यप्रमाणनिरूपण

३१४. से किं तं दव्वपमाणे ?

दव्वपमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—पदेसनिप्फण्णे य १ विभागनिप्फण्णे य २।

[३१४ प्र.] भगवन् ! द्रव्यप्रमाण का स्वरूप क्या है ?

[३१४ उ.] आयुष्मन् ! द्रव्यप्रमाण दो प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, यथा—प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न।

विवेचन—शिष्य ने प्रश्न किया है कि भगवन् ! प्रमाण के चार भेदों में से प्रथम द्रव्यप्रमाण का क्या स्वरूप है ? और उत्तर में आगमिक शैली के अनुसार बताया कि द्रव्य विषयक प्रमाण दो प्रकार का है—१. प्रदेशनिष्पन्न और २. विभागनिष्पन्न।

इस प्रकार से द्रव्यप्रमाण के दो भेदों को जानकर शिष्य पुनः उन दोनों के स्वरूपविशेष को जानने के लिये पहले प्रदेशनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण विषयक जिज्ञासा प्रस्तुत करता है।

प्रदेशनिष्पन्नद्रव्यप्रमाण

३१५. से किं तं पदेसनिप्फण्णे ?

पदेसनिप्फण्णे परमाणुपोग्गले दुपएसिए जाव दसपएसिए संखिज्जपएसिए असंखिज्जपएसिए अणंतपदेसिए। से तं पदेसनिप्फण्णे।

[३१५ प्र.] भगवन् ! प्रदेशनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[३१५ उ.] आयुष्मन् परमाणु पुद्‌गल, द्विप्रदेशों यावत् दस प्रदेशों, संख्यात प्रदेशों, असंख्यात प्रदेशों और अनन्त प्रदेशों से जो निष्पन्न—सिद्ध होता है, उसे प्रदेशनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण कहते हैं।

विवेचन—द्रव्य विषयक प्रमाण को द्रव्यप्रमाण कहते हैं, अर्थात् द्रव्य के विषय में जो प्रमाण किया जाए अथवा द्रव्यों का जिसके द्वारा प्रमाण किया जाये या जिन द्रव्यों का प्रमाण किया जाए,

उसे द्रव्यप्रमाण कहते हैं और उसमें जो एक, दो, तीन आदि प्रदेशों से निष्पन्न—सिद्ध हो उसे प्रदेश-निष्पन्न द्रव्यप्रमाण कहते हैं। इस प्रदेशनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण में परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध तक के सभी द्रव्यों का समावेश है।

परमाणु एक प्रदेश वाला है, उससे लेकर दो, तीन, चार आदि यावत् अनन्त परमाणुओं के संयोग से निष्पन्न स्कन्ध प्रमाण द्वारा ग्राह्य होने के कारण प्रमेय हैं, तथापि उनको भी रूढिवशात् प्रमाण इसलिये कहते हैं कि लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है। यथा—जो द्रव्य धान्यादि द्रोण-प्रमाण से परिमित होता है, उसे यह 'धान्य द्रोण' है ऐसा कहते हैं। क्योंकि 'प्रमीयते यत्तत् प्रमाणम्—जो मापा जाये, वह प्रमाण' इस प्रकार की कर्मसाधन रूप प्रमाण शब्द की वाच्यता इन परमाणु आदि द्रव्यों में संगत हो जाती है। इसीलिये वे भी प्रमाण कहे जाते हैं।

इसके अतिरिक्त जब 'प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम्' इस प्रकार से प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति करणसाधन में की जाती है तब परमाणु आदि द्रव्यों का एक, दो, तीन आदि परमाणुओं से निष्पन्न स्वरूप मुख्य रूप से प्रमाण होता है। क्योंकि वे उसके द्वारा ही जाने जाते हैं तथा इस स्वरूप के साथ सम्बन्धित होने के कारण परमाणु आदि द्रव्य भी उपचार से प्रमाणभूत कहे जाते हैं। जब प्रमाण शब्द की 'प्रमितिः प्रमाणम्' इस प्रकार से भावसाधन में व्युत्पत्ति की जाती है तब प्रमिति प्रमाण शब्द की वाच्य होती है और प्रमिति, प्रमाण एवं प्रमेय के अधीन होने से प्रमाण और प्रमेय उपचार से प्रमाण शब्द के वाच्य सिद्ध होते हैं। इस प्रकार कर्मसाधन पक्ष में परमाणु आदि द्रव्य मुख्य रूप से एवं करण और भाव साधन पक्ष में वे उपचार से प्रमाण हैं। इसीलिये परमाणु आदि को प्रदेशनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण कहा है।

परमाणु आदि में प्रदेशनिष्पन्नता स्वगत प्रदेशों से ही जाननी चाहिये। क्योंकि स्वगत प्रदेशों के द्वारा ही प्रदेशनिष्पन्नता का विचार किया जाना सम्भव है।

प्रदेश का लक्षण—आकाश के अविभागी अंश को प्रदेश कहते हैं। अर्थात् आकाश के जितने भाग को एक अविभागी पुद्गल परमाणु घेरता है, उसे प्रदेश[1] तथा जो स्वयं आदि, मध्य और अन्तरूप है, ऐसे निर्विभाग (पुद्गल) द्रव्य को परमाणु कहते हैं। ऐसे एक से अधिक दो आदि यावत् अनन्त परमाणुओं के स्कन्धन-संघटन से निष्पन्न होने वाला पिंड स्कन्ध कहलाता है।

यहाँ प्रदेशनिष्पन्न के रूप में मूर्त—रूपी पुद्गल द्रव्य को ग्रहण किया गया है। क्योंकि उसी में स्थूल रूप से पकड़ने, रखने आदि का व्यापार प्रत्यक्ष दिखलाई देता है।

जैनागमों में मूर्त और अमूर्त सभी द्रव्यों के प्रदेशों का प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—

धर्मास्तिकाय — असंख्यात प्रदेश
अधर्मास्तिकाय — असंख्यात प्रदेश
(एक) जीवास्तिकाय — असंख्यात प्रदेश

---

१. द्रव्यसंग्रह गा. २७

आकाशास्तिकाय	—	अनन्त प्रदेश
काल द्रव्य	—	अप्रदेशी (एक प्रदेशमात्र)

पुद्‌गलास्तिकाय—संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश ।[1]

विभागनिष्पन्नद्रव्यप्रमाण

३१६. से किं तं विभागनिप्फण्णे ?

विभागनिप्फण्णे पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—माणे १ उम्माणे २ ओमाणे ३ गणिमे ४ पडिमाणे ५ ।

[३१६ प्र.] भगवन् ! विभागनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण क्या है ?

[३१६ उ.] आयुष्मन् ! विभागनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण पाँच प्रकार का है। वह इस प्रकार—१. *मानप्रमाण* २. *उन्मानप्रमाण* ३. *अवमानप्रमाण* ४. *गणिमप्रमाण* और ५. *प्रतिमानप्रमाण* ।

विवेचन—सूत्र में भेदों के माध्यम से विभागनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण का वर्णन प्रारम्भ करने का निर्देश किया है।

विशिष्ट अथवा विविध भाग—भंग-विकल्प-प्रकार को विभाग कहते हैं। अतएव जिस द्रव्य-प्रमाण की निष्पत्ति-सिद्धि स्वगत प्रदेशों से नहीं किन्तु विभाग के द्वारा होती है, वह विभागनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि धान्यादि द्रव्यों के मान आदि का स्वरूप निर्धारण स्वगत प्रदेशों से नहीं किन्तु 'दो असई की एक पसई' इत्यादि विभाग से होती है, तब उसको विभाग-निष्पन्न द्रव्यप्रमाण कहते हैं।

मान आदि के अर्थ—इस विभागनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण के पांचों प्रकारों के अर्थ इस प्रकार हैं—

मान—द्रव्य—तरल तेल आदि तथा ठोस धान्य आदि को मापने का पात्रविशेष ।

उन्मान—तोलने की तराजू आदि ।

अवमान—क्षेत्र को मापने के दण्ड, गज आदि ।

गणिम—एक, दो, तीन आदि गणना (गिनती) ।

प्रतिमान—जिसके द्वारा स्वर्ण आदि पदार्थों का वजन किया जाये अथवा आगे के मानों की व्यवस्था की आद्य इकाई ।

तत्त्वार्थराजवार्तिक में गणना प्रमाण की अपेक्षा उक्त पांच भेदों के अतिरिक्त 'तत्प्रमाण' नामक एक छठा भेद और बताया है और उसकी व्याख्या की है—मणि आदि की दीप्ति, अश्वादि की ऊंचाई आदि गुणों के द्वारा मूल्यनिर्धारण करने के लिये तत्प्रमाण का उपयोग होता है। जैसे मणि की प्रभा ऊंचाई में जहाँ तक जाये, उतनी ऊंचाई तक का स्वर्ण का ढेर उसका मूल्य है, इत्यादि ।

मानप्रमाण

३१७. से किं तं माणे ?

माणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—धन्नमाणप्पमाणे य १ रसमाणप्पमाणे य २ ।

[३१७ प्र.] हे भगवन् ! मानप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[३१७ उ.] आयुष्मन् ! मानप्रमाण दो प्रकार का है—१. धान्यमानप्रमाण और २. रसमानप्रमाण ।

विवेचन—विवेचन करने की विधा के अनुसार यहाँ मानप्रमाण का विस्तार से वर्णन करने के लिये उसके दो भेद किये हैं। इन दोनों भेदों में से पहले धान्यमानप्रमाण का निरूपण किया जाता है।

धान्यमानप्रमाण

३१८. से किं तं धण्णमाणप्पमाणे ?

धण्णमाणप्पमाणे दो असतीओ पसती, दो पसतीओ सेतिया, चत्तारि सेतियाओ कुलओ, चत्तारि कुलया पत्थो, चत्तारि पत्थया आढयं, चत्तारि आढयाइं दोणो, सट्ठि आढयाइं जहन्नए कुंभे, असीतिआढयाइं मज्झिमए कुंभे, आढयसतं उक्कोसए कुंभे, अट्ठआढयसतिए वाहे ।

[३१८ प्र.] भगवन् ! धान्यमानप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[३१८ उ.] आयुष्मन् ! (वह असति, प्रसृति आदि रूप है, अतएव) दो असति की एक प्रसृति होती है, दो प्रसृति की एक सेतिका, चार सेतिका का एक कुडव, चार कुडव का एक प्रस्थ, चार प्रस्थों का एक आढक, चार आढक का एक द्रोण, साठ आढक का एक जघन्य कुंभ, अस्सी आढक का एक मध्यम कुंभ, सौ आढक का एक उत्कृष्ट कुंभ और आठ सौ आढकों का एक वाह होता है।

३१९. एएणं धण्णमाणप्पमाणेणं किं पयोयणं ?

एतेणं धण्णमाणप्पमाणेणं मुत्तोली-मुरव-इड्डुर-अलिंद-अपवारिसंसियाणं धण्णाणं धण्णमाणप्पमाणनिव्वित्तिलक्खणं भवति । से तं धण्णमाणप्पमाणे ।

[३१९ प्र.] भगवन् ! इस धान्यमानप्रमाण का क्या प्रयोजन है ?

[३१९ उ.] आयुष्मन् ! इस धान्यमानप्रमाण के द्वारा मुक्तोली (ऐसी कोठी जो खड़े मृदंग के आकार जैसी ऊपर-नीचे संकड़ी और मध्य में कुछ विस्तृत, चौड़ी होती है), मुरव (सूत का बना हुआ बड़ा बोरा, जिसे कहीं कहीं 'फट्ट' भी कहते हैं और उसमें अनाज भरकर बेचने के लिये मंडियों, बाजारों में लाया जाता है),इड्डर (खास—यह बकरी आदि के बालों, सूत या सूतली की बनी हुई होती है और इसमें अनाज भरकर पीठ पर लाद कर लाते है, कहीं-कहीं इसे गुण, गोन, कोथला या बोरा भी कहते हैं), अलिंद (अनाज को भरकर लाने का बर्तन, पात्र, डलिया आदि) और अपचारि (बंडा, खंती, धान्य को सुरक्षित रखने के लिये जमीन के अन्दर या बाहर बनायी गयी कोठी, आज की भाषा में 'सायलो') में रखे धान्य के प्रमाण का परिज्ञान होता है। इसे ही धान्यमानप्रमाण कहते हैं।

विवेचन—धान्यविषयक मान (माप) धान्यमानप्रमाण कहलाता है। वह असति, प्रसृति आदि रूप है। असति यह धान्यादि ठोस वस्तुओं के मापने की आद्य इकाई है। टीकाकार ने इसे अवाङ्मुख हथेली रूप कहा है। आगे के प्रसृति आदि मापों की उत्पत्ति का मूल यह असति है, इसी से उन सब मापों की उत्पत्ति हुई है।

यद्यपि अधोमुख रूप से व्यवस्थापित हथेली का नाम असति है, लेकिन यहाँ मानप्रमाण के प्रसंग में यह अर्थ लिया जायेगा कि हथेली को अधोमुख स्थापित करके मुट्ठी में जितना धान्य समा जाये, तत्परिमित धान्य असति है।

असति के अनन्तर प्रसृति का क्रम है। इसका आकार नाव की आकृति जैसा होता है। अर्थात् परस्पर जुड़ी हुई नाव के आकार में फैली हुई हथेलियां (खोवा) एक प्रसृति है। इसके बाद के मानों का स्वरूप सूत्र में ही स्पष्ट कर दिया गया है।

धान्यमानप्रमाण के लिये उल्लिखित संज्ञायें मागधमान—मगधदेश में प्रसिद्ध मापों की वोधक हैं।

प्राचीन काल में मागधमान और कलिंगमान, यह दो तरह के माप-तौल प्रचलित थे। यह दोनों नाम प्रभावशाली राज्यशासन के कारण प्रचलित हुए थे। इनमें भी शताब्दियों तक मगध प्रशासनिक दृष्टि से समस्त भारत देश का और मुख्य रूप से उत्तरांचल भारत का केन्द्र होने से मगध के अतिरिक्त भारत के अन्यान्य प्रदेशों में भी मागधमान का अधिक प्रचलन और मान्यता थी।

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में माप-तौल के लिये मागधमान को आधार बनाकर मान-परिमाण की चर्चा इस प्रकार की है—

तीस परमाणुओं का एक त्रसरेणु होता है। छह त्रसरेणुओं की एक मरीचि, छह मरीचि की एक राई, तीन राई का एक सरसों, आठ सरसों का एक यव (जौ), चार जौ की एक रत्ती, छह रत्ती का एक माशा, चार माशे का एक शाण, दो शाण का एक कोल, दो कोल का एक कर्ष, दो कर्ष का एक अर्धपल, दो अर्धपल का एक पल, दो पल की एक प्रसृति, दो प्रसृतियों की एक अंजलि, दो अंजलि की एक मानिका, दो मानिका का एक प्रस्थ, चार प्रस्थ का एक आढक, चार आढक का एक द्रोण, दो द्रोणों का एक सूर्य, दो सूर्य की एक द्रोणी, चार द्रोणी की एक खारी होती है तथा दो हजार पल का एक भार और सौ पल की एक तुला होती है।[1]

---

१. त्रसरेणुर्बुधैः प्रोक्तस्त्रिंशता परमाणुभिः।
त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना वंशी निगद्यते ॥
जालान्तर्गते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥
षड्वंशीभिर्मरीची स्यात्ताभिः षड्भिस्तु राजिका।
तिसृभी राजकाभिश्च सर्षपः प्रोच्यते बुधैः ॥
यवोऽष्टसर्षपैः प्रोक्तो गुञ्जा स्याच्च चतुष्टयम्।
षड्भिस्तु रक्तिकाभिस्स्यान्मापको हेमधान्यकौ ॥
मापैश्चतुर्भिः शाणः स्यातहरणः स निगद्यते।
टंकः स एव कथितस्तद्द्वयं कोल उच्यते ॥
क्षुद्रको वटकश्चैव द्रंक्षणः स निगद्यते।
कोलद्वयं च कर्षः स्यात् स प्रोक्तः पाणिमानिका ॥
अक्षः पिचुः पाणितलं किंचित् पाणिश्च तिन्दुकम्।
विडालपदकं चैव तथा पोडशिका मता ॥
करमध्यो हंसपदं सुवर्णं कवलग्रहः।
उदुंवरं च पर्यायैः कर्षं एक निगद्यते ॥
स्यात् कर्षाभ्यामर्द्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा।
शुक्तिभ्यां च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका ॥
प्रकुंचः पोडशी विल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते।
पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतश्च निगद्यते ॥
प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात् कुडवो अर्द्धशरावकः।
अष्टमानं च संज्ञेयं कुडवाभ्यां च मानिका ॥
शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थः चतुःप्रस्थैस्तथाढकम्।
भाजनं कांस्यपात्रं च चतुः षष्टिपलं च तत् ॥
चतुर्भिराढकैर्द्रोणः · कलशोनल्वणोन्मनौ।
उन्मानञ्च घटो राशिर्द्रोणपर्यायसंज्ञकाः ॥
द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतुः षष्टिशरावकाः।
शूर्पाभ्यां च भवेद् द्रोणी वाहो गोणी च सा स्मृता ॥
द्रोणीचतुष्टयं खारी कथिता सूक्ष्मबुद्धिभिः।
चतुःसहस्रपलिका षण्णवत्यधिका च सा ॥
पलानां द्विसहस्रं च भार एकः प्रकीर्तितः।
तुला पलशतं ज्ञेया सर्वत्र वैष निश्चयः ॥
माषटंकाक्षविल्वानि कुडवः प्रस्थमाढकम्।
राशिर्गोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणा ॥

कुडव के लिये संकेत किया है—

मृदुस्तु वेणुलोहादेर्भाण्डं यच्चतुरंगुलम्।
विस्तीर्णं च तथोच्चं च तन्मानं कुडवं वदेत् ॥

चार अंगुल लंबे और चार अंगुल चौड़े तथा चार अंगुल गहरे बांस अथवा लोहे आदि के पात्र को कुडव कहते हैं। (कुडव द्वारा दूध, जल, आदि द्रव पदार्थ मापे जाते हैं।)

इनको और इनके द्वारा मापे गये धान्य आदि को असति आदि कहने का कारण मान शब्द की करण और कर्म साधन निरुक्ति है। जब करणसाधन में 'मीयते अनेन इति मानम्' अर्थात् जिसके द्वारा मापा जाये वह मान, यह निरुक्ति करते हैं तब असति आदि मान शब्द की वाच्य हैं और 'मीयते यत् तत् मानम्' अर्थात् जो मापा जाये वह मान, इस प्रकार की कर्मसाधन व्युत्पत्ति करने पर धान्य आदि वस्तुयें ही मान शब्द की वाच्य होती हैं। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

धान्यमानप्रमाण का प्रयोजन स्पष्ट है कि इससे मुक्तोली आदि में भरे हुए धान्य, अनाज आदि के प्रमाण का ज्ञान होता है।

इस प्रकार से धान्यमान प्रमाण का आशय और उपयोग जानना चाहिये। अब रसमानप्रमाण का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—

रसमानप्रमाण

३२०. से किं तं रसमाणप्पमाणे ?

रसमाणप्पमाणे धण्णमाणप्पमाणाओ चउभागविवड्ढिए अब्भिंतरसिहाजुत्ते रसमाणप्पमाणे विहिज्जति। तं जहा—चउसट्ठिया ४, बत्तीसिया ८, सोलसिया १६, अट्ठभाइया ३२, चउभाइया ६४, अद्धमाणी १२८, माणी २५६। दो चउसट्ठियाओ बत्तीसिया, दो बत्तीसियाओ सोलसिया, दो सोलसियाओ अट्ठभातिया, दो अट्ठभाइयाओ चउभाइया, दो चउभाइयाओ अद्धमाणी, दो अद्धमाणीओ माणी।

[३२० प्र.] भगवन् ! रसमानप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[३२० उ.] आयुष्मन् ! (तरल पदार्थ विषय होने से) रसमानप्रमाण धान्यमानप्रमाण से चतुर्भाग अधिक और अभ्यन्तर शिखायुक्त होता है। वह इस प्रकार—चार पल की एक चतुःषष्ठिका होती है। इसी प्रकार आठ पलप्रमाण द्वात्रिंशिका, सोलह पलप्रमाण षोडशिका, बत्तीस पलप्रमाण अष्टभागिका, चौसठ पलप्रमाण चतुर्भागिका, एक सौ अट्ठाईस पलप्रमाण अर्धमानी और दो सौ छप्पन पलप्रमाण मानी होती है। अतः (इसका अर्थ यह हुआ कि) दो—चतुःषष्ठिका की एक द्वात्रिंशिका, दो द्वात्रिंशिका की एक षोडशिका, दो षोडशिकाओं की एक अष्टभागिका, दो अष्टभागिकाओं की एक चतुर्भागिका, दो चतुर्भागिकाओं की एक अर्धमानी और दो अर्धमानियों की एक मानी होती है।

३२१. एतेणं रसमाणप्पमाणेणं किं पओयणं ?

एएणं रसमाणप्पमाणेणं वारग-घडग-करग-किक्किरि-दइय-करोडि-कुंडियसंसियाणं रसाणं रसमाणप्पमाणनिव्वित्तिलक्खणं भवइ। से तं रसमाणप्पमाणे। से तं माणे।

[३२१ प्र.] भगवन् ! इस रसमानप्रमाण का क्या प्रयोजन है ?

[३२१ उ.] आयुष्मन् ! इस रसमानप्रमाण से वारक (छोटा घड़ा), घट्—कलश, करक (घट विशेष), किक्किरि (भांडविशेष), दृति (चमड़े से बना पात्र—कुप्पा), करोडिका (नाद—जिसका मुख

चौड़ा होता है ऐसा वर्तन), कुंडिका (कुंडी) आदि में भरे हुए रसों (प्रवाही पदार्थों) के परिमाण का ज्ञान होता है। यह रसमानप्रमाण है।

इस प्रकार मानप्रमाण का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—इन दो सूत्रों में रसमानप्रमाण का स्वरूप, धान्यमानप्रमाण से उसका पार्थक्य, प्रवाही पदार्थों के मापने के पात्रों के नाम एवं परिमाण का उल्लेख किया है।

धान्यमान और रसमान—इन दोनों प्रकार के मानप्रमाणों द्वारा वस्तु के परिमाण (माप-वजन) का परिज्ञान किया जाता है। किन्तु इन दोनों में अंतर यह है कि धान्यमानप्रमाण के द्वारा ठोस पदार्थों का माप ज्ञात किया जाता है और मापे जाने वाले ठोस पदार्थ का शिरोभाग—शिखा—ऊपरी भाग—ऊपर की ओर होता है। लेकिन रसमानप्रमाण के द्वारा तरल—द्रव—पदार्थों के परिमाण का परिज्ञान किये जाने और तरल पदार्थों की शिखा अंतर्मुखी—अंदर की ओर होने से वह सेतिका आदि रूप धान्यमान प्रमाण से चतुर्भागाधिक वृद्धि रूप होता है।

रसमानप्रमाण की आद्य इकाई 'चतु:षष्ठिका' और अंतिम 'मानी' है। चतु:षष्ठिका से लेकर मानी पर्यन्त मापने के पात्रों के नाम क्रमश: पूर्व-पूर्व से दुगुने-दुगुने हैं। जैसे कि चतु:षष्ठिका का प्रमाण चार पल है तो चार पल से दुगुनी अर्थात् आठ पल द्वात्रिंशिका का प्रमाण है। इसी प्रकार शेष षोडशिका आदि के लिये समझना चाहिये। इसी बात को विशेष सुगमता से समझाने के लिये पुन: इन चतु:षष्ठिका आदि पात्रों के माप का प्रमाण बताया है।

पश्चानुपूर्वी अथवा प्रतिलोमक्रम से मानी से लेकर चतु:षष्ठिका पर्यन्त के पात्रों का प्रमाण मानी से लेकर पूर्व-पूर्व में आधा-आधा कर देना चाहिये। जैसे दो सौ छप्पन पल की मानी को बराबर दो भागों—एक सौ अट्ठाईस, एक सौ अट्ठाईस पलों में विभाजित कर दिया जाये तो वह आधा भाग अर्धमानी कहलायेगा। इसी प्रकार शेष मापों के विषय में समझ लेना चाहिये।

रसमानप्रमाण के प्रयोजन के प्रसंग में जिन पात्रों का उल्लेख किया गया है, वे तत्कालीन मगध देश में तरल पदार्थों को भरने के उपयोग में आने वाले पात्र हैं। ये पात्र मिट्टी, चमड़े एवं धातुओं से बने होते थे।

उन्मानप्रमाण

३२२. से किं तं उम्माणे ?

उम्माणे जण्णं उम्मिणिज्जइ। तं जहा—अद्धकरिसो करिसो अद्धपलं पलं अद्धतुला तुला अद्धभारो भारो। दो अद्धकरिसा करिसो, दो करिसा अद्धपलं, दो अद्धपलाइं पलं, पंचुत्तरपलसतिया पंचपलसइया तुला, दस तुलाओ अद्धभारो, वीसं तुलाओ भारो।

[३२२ प्र.] भगवन् ! उन्मानप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[३२२ उ.] आयुष्मन् ! जिसका उन्मान किया जाये अथवा जिसके द्वारा उन्मान किया जाता है (जो वस्तु तुलती है और जिस तराजू, कांटा आदि साधनों से तोली जाती है), उन्हें उन्मान-प्रमाण कहते हैं। उसका प्रमाण निम्न प्रकार है—

१. अर्धकर्ष, २. कर्ष, ३. अर्धपल, ४. पल, ५. अर्धतुला, ६. तुला, ७. अर्धभार और ८. भार।

इन प्रमाणों की निप्पत्ति इस प्रकार होती है—दो अर्धकर्षों का एक कर्ष, दो कर्षों का एक अर्धपल, दो अर्धपलों का एक पल, एक सौ पांच अथवा पांच सौ पलों की एक तुला, दस तुला का एक अर्धभार और बीस तुला—दो अर्धभारों का एक भार होता है।

३२३. एएणं उम्माणपमाणेणं किं पयोयणं ?

एतेणं उम्माणपमाणेणं पत्त-अगलु-तगर-चोयय-कुंकुम-खंड-गुल-मच्छंडियादीणं दव्वाणं उम्माणपमाणणिव्वत्तिलक्खणं भवति। से तं उम्माणपमाणे।

[३२३ प्र.] भगवन् ! इस उन्मानप्रमाण का क्या प्रयोजन है ?

[३२३ उ.] आयुष्मन् ! इस उन्मानप्रमाण से पत्र, अगर, तगर (गंध द्रव्य विशेष) ४ चोयक—(चोक औषधि विशेष) ५. कुंकुम, ६. खांड (शक्कर), ७. गुड़, ८. मिश्री आदि द्रव्यों के परिमाण का परिज्ञान होता है।

इस प्रकार उन्मानप्रमाण का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—इन दो सूत्रों में विभागनिप्पन्न द्रव्यप्रमाण के दूसरे भेद का वर्णन किया है।

धान्यमान और रसमान इन दो प्रमाणों के द्वारा प्रायः सभी स्थूल पदार्थों का परिमाण जाना जा सकता है। फिर भी कुछ ऐसे स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मस्थूल पदार्थ हैं, जिनका निश्चित प्रमाण उक्त दो मानों से निर्धारित नहीं हो पाता है। इसीलिये उन पदार्थों के सही परिमाण को जानने के लिये उन्मानप्रमाण का उपयोग होता है।

उन्मान शब्द की व्युत्पत्ति भी कर्मसाधन और करणसाधन—दोनों पक्षों की अपेक्षा से की जा सकती है। इसीलिये सूत्र में तेजपत्र आदि एवं अर्धकर्ष आदि भारों का उल्लेख किया है। तराजू में रखकर जो वस्तु तोली जाती है—'यत् उन्मीयते तत् उन्मानम्' इस प्रकार से कर्मसाधनपक्ष में जब उन्मान की व्युत्पत्ति करते हैं तब तेजपत्र आदि उन्मान रूप होते हैं और 'उन्मीयते अनेन इति उन्मानम्' जिसके द्वारा उन्मान किया जाता है—तोला जाता है, वह उन्मान है, इस करणमूलक व्युत्पत्ति से अर्धकर्ष आदि उन्मान रूप हो जाते हैं।

अर्धकर्ष तोलने का सबसे कम भार का बांट है। आजकल व्यवहार में कर्ष को तोला भी कहा जाता है ? क्योंकि मन, सेर, छटांक आदि तोलने के बांट बनाने का आधार यही है।

अर्धकर्ष, कर्ष आदि प्राचीन मागधमान में तोलने के बांटों के नाम हैं।

तत्त्वार्थराजवार्तिक[1] में तोलने के बांटों और उनके प्रमाण का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

चार मेंहदी के फलों का एक श्वेत सर्षप फल, सोलह सर्षप फल का एक धान्यमाष फल, दो धान्यमाष फल का एक गुंजाफल, दो गुंजाफल का एक रूप्यमाषफल, सोलह रूप्यमाषफल का एक

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक ३।३८

धरण, अढ़ाई धरण का एक सुवर्ण या कंस, चार सुवर्ण या चार कंस का एक पल, सौ पल की एक तुला, तीन तुला का एक कुडव, चार कुडव का एक प्रस्थ (सेर), चार प्रस्थ का एक आढक, चार आढक का एक द्रोण, सोलह द्रोण की एक खारी और बीस खारी की एक वाह होती है।

अवमानप्रमाण

३२४. से किं तं ओमाणे ?

ओमाणे जण्णं ओमिणिज्जति । तं जहा—हत्थेण वा दंडेण वा धणुएण वा जुगेण वा णालियाए वा अक्खेण वा मुसलेण वा ।

दंडं धणू जुगं णालिया य अक्ख मुसलं च चउहत्थं ।
दसनालियं च रज्जुं वियाण ओमाणसण्णाए ।। ९३ ।।
वत्थुम्मि हत्थमिज्जं खित्ते दंडं धणुं च पंथम्मि ।
खायं च नालियाए वियाण ओमाणसण्णाए ।। ९४ ।।

[३२४ प्र.] भगवन् ! अवमान (प्रमाण) क्या है ?

[३२४ उ.] आयुष्मन् ! जिसके द्वारा अवमान (नाप) किया जाये अथवा जिसका अवमान (नाप) किया जाये, उसे अवमानप्रमाण कहते हैं। वह इस प्रकार—हाथ से, दंड से, धनुष से, युग से, नालिका से, अक्ष से अथवा मूसल से नापा जाता है।

दंड, धनुष, युग, नालिका, अक्ष और मूसल चार हाथ प्रमाण होते हैं। दस नालिका की एक रज्जू होती है। ये सभी अवमान कहलाते हैं। ९३।

वास्तु—गृहभूमि को हाथ द्वारा, क्षेत्र—खेत को दंड द्वारा, मार्ग—रास्ते को धनुष द्वारा और खाई—कुआ आदि को नालिका द्वारा नापा जाता है। इन सबको 'अवमान' इस नाम से जानना चाहिये। ९५।

३२५. एतेणं ओमाणप्पमाणणं किं पओयणं ?

एतेणं ओमाणप्पमाणेणं खाय-चिय-करगचित-कड-पड-भित्ति-परिक्खेवसंसियाणं दव्वाणं ओमाणप्पमाणनिव्वत्तिलक्खणं भवति । से तं ओमाण ।

[३२५ प्र.] भगवन् ! इस अवमानप्रमाण का क्या प्रयोजन है ?

[३२५ उ.]. इस अवमानप्रमाण से खात (खाई), कुआ आदि, ईंट, पत्थर आदि से निर्मित प्रासाद—भवन, पीठ (चबूतरा) आदि, क्रकचित (करवत—आरी आदि से विदारित, खंडित काष्ठ) आदि, कट (चटाई), पट (वस्त्र), भींत (दीवाल), परिक्षेप (दीवाल की परिधि—घेरा) अथवा नगर की परिखा आदि में संश्रित द्रव्यों की लंबाई-चौड़ाई, गहराई और ऊँचाई के प्रमाण का परिज्ञान होता है।

इस प्रकार से अवमानप्रमाण का स्वरूप जानना चाहिये ।

विवेचन—यहाँ अवमानप्रमाण की व्याख्या की गई है ।

जीवित रहने के लिये मनुष्य गेहूं आदि धान्य, जल आदि तरल पदार्थ और स्वास्थ्यरक्षा के लिये औषध आदि वस्तुएँ उपयोग में लाता है । उनके परिमाण को जानने के लिये तो धान्यमान आदि प्रमाण काम में लाये जाते हैं । किन्तु सुरक्षा के लिये वह मकान आदि का, नगर की रक्षा के लिये खात, परिखा आदि का निर्माण करता है । उनकी लंबाई, चौड़ाई आदि का परिज्ञान करने के लिये अवमानप्रमाण का उपयोग किया जाता है ।

आगे कहे जाने वाले क्षेत्रप्रमाण के द्वारा भी क्षेत्र की लंबाई-चौड़ाई का नाप किया जाता है और इस अवमानप्रमाण का भी यही प्रयोजन है । लेकिन दोनों में यह अंतर है कि क्षेत्रप्रमाण के द्वारा शाश्वत, अकृत्रिम, प्राकृतिक क्षेत्र का और अवमानप्रमाण द्वारा मनुष्य द्वारा निर्मित घर, खेत आदि की सीमा का निर्धारण किया जाता है ।

यहाँ अवमान शब्द कर्म और करण इन दोनों रूपों में व्यवहृत हुआ है । जब 'अवमीयते यत् तत् अवमानम्' इस प्रकार की कर्मसाधन रूप व्युत्पत्ति करते हैं तब उसके वाच्य गृहभूमि, खेत आदि और 'अवमीयते अनेन इति अवमानम्' ऐसी करणसाधन व्युत्पत्ति करने पर नापने के माध्यम दंड आदि अवमान शब्द के वाच्य होते हैं ।

यद्यपि दंड, धनुष आदि मूसल पर्यन्त नामों का प्रमाण चार हाथ है, फिर भी सूत्र में इनका पृथक्-पृथक् निर्देश कारणविशेष से किया है । वास्तु— गृहभूमि को नापने में हाथ काम में लाया जाता है, जैसे यह घर इतने हाथ लंबा-चौड़ा है । क्षेत्र—खेत दंड (चार हाथ लंबे बांस) द्वारा नापा जाता है । मार्ग को नापने के लिये धनुष प्रमाणभूत गिना जाता है । अर्थात् मार्ग की लंबाई आदि के प्रमाण का बोध धनुष से होता है । खात, कुआ आदि की गहराई का प्रमाण चार हाथ जितनी लंबी नालिका (लाठी) से जाना जाता है । उक्त वस्तुओं को नापने के लिये लोक में इसी प्रकार की रूढ़ि है । इसीलिये वास्तु—गृहभूमि आदि नापे जाने वाले पदार्थों में भेद होने से उनके नाप के लिये दंड आदि का पृथक्-पृथक् निर्देश किया गया है ।

तिलोयपण्णत्ति (१/१०२-१०६) में भी क्षेत्र नापने के प्रमाणों का इसी प्रकार से कथन किया गया है । किन्तु इतना विशेष है कि वहाँ 'किष्कु' नाम अधिक है तथा उसका प्रमाण दो हाथ का बताया गया है । तत्रस्थ वर्णन का क्रम इस प्रकार है—छह अंगुल का एक पाद, दो पाद की एक वितस्ति (वालिश्त), दो वितस्ति का एक हाथ, दो हाथ का एक किष्कु, दो किष्कु का एक दंड-युग-धनुष, मूसल-नाली, दो हजार धनुष का एक कोस और चार कोस का एक योजन होता है ।

इस प्रकार अन्न, वस्त्र, आवास आदि के परिमाण के बोधक प्रमाणों का वर्णन करने के पश्चात् अब अर्थशास्त्र से सम्बन्धित प्रमाण का निरूपण किया जाता है ।

गणिमप्रमाण

३२६. से किं तं गणिमे ?

गणिमे जण्णं गणिज्जति । तं जहा—एक्को दसगं सतं सहस्सं दससहस्साइं सतसहस्सं दससतसहस्साइं कोडी ।

[३२६ प्र.] भगवन् ! गणिमप्रमाण क्या है ?

[३२६ उ.] आयुष्मन् ! जो गिना जाए अथवा जिसके द्वारा गणना की जाए, उसे गणिमप्रमाण कहते हैं। वह इस प्रकार है—एक, दस, सौ, हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, करोड़ इत्यादि ।

३२७. एतेणं गणिमप्पमाणेणं किं पओयणं ?

एतेणं गणिमप्पमाणेणं भितग-भिति-भत्त-वेयण-आय-व्वयनिव्विसंसियाणं दव्वाणं गणिमप्पमाणनिव्वित्तिलक्खणं भवति । से तं गणिमे ।

[३२७ प्र.] भगवन् ! इस गणिमप्रमाण का क्या प्रयोजन है ?

[३२७ उ.] आयुष्मन् ! इस गणिमप्रमाण से भृत्य—नौकर, कर्मचारी आदि की वृत्ति, भोजन, वेतन के आय-व्यय से सम्बन्धित (रुपया, पैसा आदि) द्रव्यों के प्रमाण की निष्पत्ति होती है। यह गणिमप्रमाण का स्वरूप है।

विवेचन—माप, तौल और नापने से जिन वस्तुओं के परिमाण का निश्चय नहीं किया जा सकता, उनको जानने के लिये गणिम (गणना) प्रमाण का उपयोग होता है।

जैसे आम के वृक्ष को और आम के फल को आम कहते हैं, वैसे ही गणिमप्रमाण के द्वारा जिस वस्तु की गणना होनी है और जिस साधन द्वारा उस वस्तु की गणना की जाती है, दोनों गणिम कहलाते हैं। इस अपेक्षा से गणिम शब्द की भी व्युत्पत्ति के दो रूप हैं—कर्मसाधन और करणसाधन। 'गण्यते संख्यायते यत् तत् गणिमम्' जिसकी गणना की जाती है, वह गणिम है, इस प्रकार से कर्मसाधन में गणिम की व्युत्पत्ति की जाती है तब रुपया आदि गणनीय वस्तुएँ गणिम शब्द की वाच्यार्थ होती हैं और 'गण्यते संख्यायये वस्त्वनेनेति गणिमम्' जिसके द्वारा वस्तु गिनी जाती है वह गणिम है, इस प्रकार करणसाधन व्युत्पत्ति करने पर रुपया आदि जिस संख्या के द्वारा गिने जाते हैं, वह एक, दो, तीन, दस, सौ आदि संख्या गणिम शब्द की वाच्यार्थ होती है।

इस प्रकार से गणिम शब्द की कर्म और करण साधन में व्युत्पत्ति संभव होने पर भी सूत्र में गणिम शब्द मुख्य रूप से कर्मसाधन में ग्रहण किया है और गणनीय वस्तुएँ जिनके द्वारा गिनी जाती है, उसके लिये एक, दस, सौ, हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, करोड़ आदि संख्या का संकेत किया है।

सूत्र में गणना के लिये जिस क्रम से संख्याओं का उल्लेख किया है, वे सब पूर्व-पूर्व से दस गुनी हैं। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि विश्व में आज तो दसमलवप्रणाली प्रचलित है, उसका प्रयोग भारत में प्राचीन समय से होता चला आ रहा था। प्राचीन भारत इस प्रणाली का प्रस्तावक रहा और आर्थिक क्षेत्र की उपलब्धियों का मानदंड यही प्रणाली थी।

यहाँ गणना के लिये करोड़ पर्यन्त की संख्या का संकेत किया है। इससे आगे की संख्याओं के नाम इस प्रकार है—दस करोड़, अरब, दस अरब, खरब, दस खरब, नील, दस नील, शंख, दस

शंख, पद्म, दस पद्म इत्यादि और यह सर्वगणनीय संख्या गणनाप्रमाण का विषय १९४ अंक प्रमाण है। जिसका संकेत काल प्रमाण के वर्णन के प्रसंग में किया जाएगा।

षट्खंडागम, धवला टीका आदि में गणनीय संख्याओं के नामों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

एक, दस, शत, सहस्र, दस सहस्र, दस शतसहस्र, कोटि, पकोटि, कोटिप्पकोटि, नहुत्त, निन्नहुत्त, अखोभिनी, बिन्दु, अब्बुद, निरब्बुद, अहह, अव्व, अटट, सोगन्धिक उप्पल, कुमुद, पुंडरीक, पदुम, कथान, महाकथान, असंख्येय, पणट्ठी, बादाल, एकट्टी। क्रम के अनुसार ये सभी संख्यायें उत्तर उत्तर में दस गुनी हैं।[1]

गणिमप्रमाण का प्रयोजन बताने के प्रसंग में 'भितग-भिति' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनका अर्थ यह है कि प्राचीनकाल में भृत्य, कर्मचारी और पदाति सेना आदि को कुछ-न-कुछ धन—मुद्रायें भी दी जाती थीं। दैनिक मजदूरी नकद दी जाती थी। जिसका संकेत 'वेयण' शब्द से मिलता है। शासनव्यवस्था और व्यापार-व्यवसाय का आय-व्यय, हानि-लाभ का तलपट मुद्राओं के रूप में निर्धारित किया जाता था। आर्थिकक्षेत्र के जो सिद्धान्त आज पश्चिम की देन माने जाते हैं, वे सब हमारे देश में प्राचीन समय से चले आ रहे थे, ऐसा 'आयव्वयनिव्विसंसियाणं' पद से स्पष्ट है।

प्रतिमानप्रमाण

३२८. से किं तं पडिमाणे ?

पडिमाणे जण्णं पडिमिणिज्जइ। तं जहा—गुंजा कागणी निप्फावो कम्ममासओ मंडलओ सुवण्णो। पंच गुंजाओ कम्ममासओ, कागण्यपेक्षया चत्तारि कागणीओ कम्ममासओ। तिण्णि निप्फावा कम्ममासओ, एवं चउक्को कम्ममासओ। बारस कम्ममासया मंडलओ, एवं अडयालीसाए [कागणीए] मंडलओ। सोलस कम्ममासया सुवण्णो, एवं चउसट्ठीए [कागणीए] सुवण्णो।

[३२८ प्र.] भगवन्! प्रतिमान (प्रमाण) क्या है ?

[३२८ उ.] आयुष्मन्! जिसके द्वारा अथवा जिसका प्रतिमान किया जाता है, उसे प्रतिमान कहते हैं। वह इस प्रकार है—१ गुंजा-रत्ती, २ काकणी, ३ निष्पाव, ४ कर्ममाषक, ५ मंडलक, ६ सुवर्ण।

पांच गुंजाओं—रत्तियों का, काकणी की अपेक्षा चार काकणियों का अथवा तीन निष्पाव का एक कर्ममाषक होता है। इस प्रकार कर्ममाषक चार प्रकार से निष्पन्न (चतुष्क) होता है।

बारह कर्ममाषकों का एक मंडलक होता है। इसी प्रकार अड़तालीस काकणियों के बराबर एक मंडलक होता है।

---

१. (क) धवला ५/प्र./२२
(ख) ति. पण्णत्ति ४/३०९-३११
(ग) तत्त्वार्थराजवार्तिक ३/३८
(घ) त्रिलोकसार २८-५१

सोलह कर्ममाषक अथवा चौसठ काकणियों का एक स्वर्ण (मोहर) होता है।

३२९. एतेणं पडिमाणप्पमाणेणं किं पओयणं ?

एतेणं पडिमाणप्पमाणेणं सुवण्ण-रजत-मणि-मोत्तिय-संख-सिलप्पवालादीणं दव्वाणं पडिमाणप्पमाणनिव्वत्तिलक्खणं भवति। से तं पडिमाणे। से तं विभागनिप्फण्णे। से तं दव्वपमाणे।

[३२९ प्र.] भगवन् ! इस प्रतिमानप्रमाण का क्या प्रयोजन है ?

[३२९ उ.] आयुष्मन् ! इस प्रतिमानप्रमाण के द्वारा सुवर्ण, रजत (चांदी), मणि, मोती, शंख, शिला, प्रवाल (मूंगा) आदि द्रव्यों का परिमाण जाना जाता है। इसे ही प्रतिमानप्रमाण कहते हैं।

यही विभागनिष्पन्नप्रमाण और द्रव्यप्रमाण की वक्तव्यता है।

विवेचन—सूत्र में प्रतिमानप्रमाण एवं उसके प्रयोजन के साथ द्रव्यप्रमाण के वर्णन की समाप्ति का प्रतिपादन किया है।

तोलने योग्य स्वर्ण आदि को एवं तोलने वाले गुंजा आदि के माप को प्रतिमान कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जब प्रतिमान शब्द की करणसाधन में व्युत्पत्ति करते हैं—'प्रतिमीयते अनेन इति प्रतिमानम्' तब प्रतिमान शब्द के वाच्य प्रतिमानक-वजन करने वाले गुंजादि होते हैं। क्योंकि सुवर्ण आदि द्रव्यों का वजन गुंजादि से तोल कर जाना जाता है। जब 'प्रतिमीयते यत्तत् प्रतिमानम्'—जिसका प्रतिमान-वजन किया जाये, वह प्रतिमान, इस प्रकार कर्मसाधन व्युत्पत्ति की जाती है तब सुवर्ण आदि द्रव्य प्रतिमान कहलाते हैं।

करणसाधन और कर्मसाधन दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियों के अनुसार गुंजा आदि और सुवर्ण आदि प्रतिमानक एवं प्रतिमेय दोनों को प्रतिमान कहा है, फिर भी यहाँ मुख्य रूप से प्रतिमान शब्द का कर्मसाधन रूप व्युत्पत्तिमूलक अर्थ लिया गया है। इसीलिये उन-उन सुवर्ण आदि को तौलने के लिये गुंजा आदि रूप बांटों का उल्लेख किया है।

तराजू के पलड़े में रखकर सुवर्ण आदि को तोले जाने से यह जिज्ञासा हो सकती है कि उन्मान एवं प्रतिमान प्रमाण के आशय में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि चाहे तराजू से शक्कर, मिश्री आदि को तोला जाये या सुवर्ण आदि तोला जाये, तराजू के उपयोग और तोलने की क्रिया दोनों में एक जैसी है। फिर दोनों का पृथक्-पृथक् निर्देश करने का क्या कारण है ? इसका समाधान यह है कि लोक-व्यवहार में शक्कर आदि मन, सेर, छटांक आदि के द्वारा तौले जाते हैं। उनकी तोल के लिये तोला, माशा, रत्ती प्रयोग में नहीं आते हैं, जबकि सारभूत धन के रूप में माने गये स्वर्ण, चांदी, मणि-माणक आदि को तोलने के लिये तोला, माशा आदि का उपयोग किया जाता है। यदि सोना सेर से भी तोला जाये तो उस सोने को अस्सी तोला है, ऐसा कहेंगे। दूसरी बात यह है कि वस्तु के मूल्य के कारण भी उनके मान के लिये अलग-अलग मानक निर्धारित किये जाते हैं। इसलिये उन्मान और प्रतिमान के मूल अर्थ में अंतर नहीं है, लेकिन उनके द्वारा मापे-तोले जाने वाले पदार्थों के मूल्य में अन्तर है। इसी कारण उन्मान और प्रतिमान का पृथक्-पृथक् निर्देश किया है।

सूत्र में कर्ममाषक से पूर्व के गुंजा आदि के वजन को नहीं बताया है। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

गुंजा, रत्ती, घोंगची और चणोटी ये चारों समानार्थक नाम हैं। गुंजा एक लता का फल है। इसका आधा भाग काला और आधा भाग लाल रंग का होता है। इसके भार के लिये पूर्व में कहा जा चुका है। सवा गुंजाफल (रत्ती) की एक काकणी होती है। त्रिभागन्यून दो गुंजा अर्थात् पौने दो गुंजा का एक निष्पाव होता है। इसके बाद के कर्ममाषक आदि का प्रमाण सूत्र में उल्लिखित है।

कर्ममाषक, मंडलक और सुवर्ण के भारप्रमाण का विवरण भिन्न-भिन्न रीति से बताने का कारण यह है कि वक्ता और श्रोता, क्रेता और विक्रेता को अपने अभीष्ट प्रमाण में सुवर्ण आदि लेने-देने में एकरूपता रहे। जैसे जो व्यक्ति सौ की संख्या को न जानता हो, मात्र बीस तक की संख्या गिनना जानता हो, उसे संतुष्ट और आश्वस्त करने के लिये बीस-बीस को पांच बार अलग-अलग गिनकर समझाया जाता है। कर्ममाषक आदि का अलग-अलग रूप से प्रमाण बताने का भी यही आशय है। कथनभेद के सिवाय अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

सुवर्ण, चांदी को तो सभी जानते हैं। शास्त्रों में रत्नों के नाम इस प्रकार बतलाये हैं—

१ कर्केतनरत्न, २ वज्ररत्न, ३ वैडूर्यरत्न, ४ लोहिताक्षरत्न, ५ मसारगल्लरत्न, ६ हंसगर्भरत्न, ७ पुलकरत्न, ८ सौगन्धिकरत्न, ९ ज्योतिरत्न, १० अञ्जनरत्न, ११ अंजनपुलकरत्न, १२ रजतरत्न, १३ जातरूपरत्न, १४ अंकरत्न, १५ स्फटिकरत्न, १६ रिष्टरत्न।

'से तं विभागनिप्फण्णे' पद द्वारा सूचित किया है कि मान से लेकर प्रतिमान तक विभागनिष्पन्न द्रव्यप्रमाण के पांच भेद हैं और उनका वर्णन उपर्युक्त प्रकार से जानना चाहिये तथा 'से तं दव्वप्पमाणे' यह पद द्रव्यप्रमाण के वर्णन का उपसंहारबोधक है कि प्रदेशनिष्पन्न और विभागनिष्पन्न के भेदों का वर्णन करने के साथ द्रव्यप्रमाण समग्ररूपेण निरूपित हो गया।

अब क्रमप्राप्त प्रमाण के दूसरे भेद क्षेत्रप्रमाण की प्ररूपणा करते हैं।

क्षेत्रप्रमाणप्ररूपण

३३०. से किं तं खेत्तप्पमाणे?

खेतप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—पदेसनिप्फण्णे य १ विभागणिप्फण्णे य २।

[३३० प्र.] भगवन्! क्षेत्रप्रमाण का क्या स्वरूप है?

[३३० उ.] आयुष्मन्! क्षेत्रप्रमाण दो प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। वह इस प्रकार—१ प्रदेशनिष्पन्न और २ विभागनिष्पन्न।

विवेचन—द्रव्यप्रमाण के मुख्य भेदों की तरह इस क्षेत्रप्रमाण के भी दो भेद हैं और उन भेदों के नाम भी वही हैं जो द्रव्यप्रमाण के भेदों के हैं।

स्वगुणों की अपेक्षा प्रमेय होने से द्रव्य का निरूपण द्रव्यप्रमाण के द्वारा किया जाता है। किन्तु क्षेत्रप्रमाण के द्वारा पुनः उसी द्रव्य का वर्णन इसलिये किया जाता है कि क्षेत्र एक, दो, तीन,

संख्यात, असंख्यात आदि रूप अपने निर्विभाग भागात्मक अंशों-प्रदेशों से निष्पन्न है। प्रदेशों से निष्पन्न होना ही इसका निजस्वरूप है और इसी रूप से वह जाना जाता है। अतएव प्रदेशों से निष्पन्न होने वाले प्रमाण का नाम प्रदेशनिष्पन्न है तथा विभाग-भंग-विकल्प से निष्पन्न होने वाले अर्थात् स्वगत प्रदेशों को छोड़कर दूसरे विशिष्ट भाग, भंग या विकल्प द्वारा निष्पन्न होने वाले को विभागनिष्पन्न कहते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के क्षेत्रप्रमाणों का विशेष वर्णन इस प्रकार है—

प्रदेशनिष्पन्नक्षेत्रप्रमाण

३३१. से किं तं पदेसणिप्फण्णे ?

पदेसणिप्फण्णे एगपदेसोगाढे दुपदेसोगाढे जाव संखेज्जपदेसोगाढे असंखिज्जपदेसोगाढे। से तं पएसणिप्फण्णे।

[३३१ प्र.] भगवन् ! प्रदेशनिष्पन्नक्षेत्रप्रमाण का स्वरूप क्या है ?

[३३१ उ.] आयुष्मन् ! एक प्रदेशावगाढ, दो प्रदेशावगाढ यावत् संख्यात प्रदेशावगाढ, असंख्यात प्रदेशावगाढ क्षेत्ररूप प्रमाण को प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण कहते हैं।

विवेचन—सूत्र में क्षेत्रप्रमाण के प्रथम भेद प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण का स्वरूप बतलाया है।

क्षेत्र का अविभागी अंश (जिसका विभाग न किया जा सके और न हो सके ऐसे) भाग को प्रदेश कहते हैं। ऐसे प्रदेश से जो क्षेत्रप्रमाण निष्पन्न हो, वह प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण कहलाता है।

यहाँ क्षेत्र शब्द आकाश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आकाश के दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। धर्मास्तिकाय आदि षड्द्रव्य जितने आकाश रूप क्षेत्र में अवगाढ होकर स्थित हैं, उसे लोकाकाश और इसके अतिरिक्त कोरे आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। यद्यपि अलोकाकाश में आकाशास्तिकाय द्रव्य का सद्भाव है, फिर भी उसे अलोकाकाश इसलिये कहते हैं कि लोक और अलोक के नियामक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्य वहाँ नहीं हैं। इनका सद्भाव और असद्भाव ही आकाश के लोकाकाश, अलोकाकाश विभाग का कारण है।

प्रदेशनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण एकप्रदेशावगाढादि रूप है। क्योंकि वह एक प्रदेशादि अवगाढरूप क्षेत्र एक आदि क्षेत्रप्रदेशों से निष्पन्न हुआ है और ये एकादि प्रदेश अपने निजस्वरूप से ही प्रतीति में आते हैं, अतएव इनमें प्रमाणता जानना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि क्षेत्र स्वप्रदेशों की अपेक्षा जब स्वस्वरूप से जाना जाता है तब 'प्रमीयते यत् तत् प्रमाणम्'—जो जाना जाये वह प्रमाण है, इस प्रकार के कर्मसाधन रूप प्रमाण शब्द की वाच्यता से वह एकादि प्रदेश रूप क्षेत्र प्रमाण होता है, परन्तु जब 'प्रमीयतेऽनेन यत्तत् प्रमाणम्' इस प्रकार प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति करणसाधन में की जाती है तब क्षेत्र स्वयं प्रमाण रूप न होकर एक प्रदेशादि उसका स्वरूप प्रमाण होता है।

यद्यपि आकाश रूप क्षेत्र तो एक प्रदेश से लेकर अनन्त प्रदेशात्मक है। लेकिन सूत्र में 'एगपदेसोगाढे, दुपदेसोगाढे जाव संखेज्जपदेसोगाढे असंखिज्जपदेसोगाढे' पद देने का कारण यह है कि

यहाँ लोकाकाश रूप क्षेत्र को ग्रहण किया है और लोकाकाश के असंख्यात ही प्रदेश होते हैं और उन्हीं में जीव, पुद्गल आदि द्रव्य अवगाढ होते हैं।

द्रव्य की अपेक्षा आकाश एक है और उसमें प्रदेशों की कल्पना का आधार है पुद्गलद्रव्य। पुद्गलद्रव्य के दो रूप हैं—परमाणु और स्कन्ध। परमाणु और स्कन्ध का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। एक परमाणु जितने क्षेत्र को अवगाढ करके रहता है, उतने क्षेत्र को एक प्रदेश कहते हैं। आकाश का स्वभाव अवगाहना देने के कारण उसके एक प्रदेश में परमाणु से लेकर अनन्त परमाणुओं के पिंड रूप स्कन्ध का भी अवगाह हो सकता है। इसी बात की ओर संकेत करने के लिये सूत्र में एकप्रदेशावगाढ से लेकर असंख्यातप्रदेशावगाढ तक पद दिये हैं। यही प्रदेशनिष्पन्नक्षेत्रप्रमाण है।

अब विभागनिष्पन्नक्षेत्रप्रमाण का विचार करते हैं—

विभागनिष्पन्नक्षेत्रप्रमाण

३३२. से किं तं विभागणिप्फण्णे ?

विभागणिप्फण्णे—

अंगुल विहत्थि रयणी कुच्छी धणु गाउयं च बोद्धव्वं।
जोयणसेढी पयरं लोगमलोगे वि य तहेव॥ ९५॥

[३३२ प्र.] भगवन् ! विभागनिष्पन्नक्षेत्रप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[३३२ उ.] आयुष्मन् ! अंगुल, वितस्ति (बेंत, बालिश्त), रत्नि (हाथ) कुक्षि, धनुष, गाऊ (गव्यूति), योजन, श्रेणि, प्रतर, लोक और अलोक को विभागनिष्पन्नक्षेत्रप्रमाण जानना चाहिये। ९५

विवेचन—सूत्र में विभागनिष्पन्नक्षेत्रप्रमाण का वर्णन किया है। इसका पृथक् रूप से निरूपण करने का कारण यह है कि क्षेत्र यद्यपि स्वगत प्रदेशों की अपेक्षा प्रदेशनिष्पन्न ही है, परन्तु जब स्वरूप से उसका वर्णन न किया जाकर सुगम बोध के लिये उन प्रदेशों का कथन अंगुल आदि विभागों के द्वारा किया जाता है, तब उसे विभागनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण कहते हैं। अर्थात् क्षेत्रनिष्पन्नता से इस विभागनिष्पन्नता में यह अन्तर है कि क्षेत्रनिष्पन्नता में क्षेत्र अपने प्रदेशों द्वारा जाना जाता है, लेकिन विभागनिष्पन्नता में उसी क्षेत्र को विविध अंगुल, वितस्ति आदि से जानते हैं। यह अंतर प्रमाण शब्द की करणसाधन रूप व्युत्पत्ति की अपेक्षा से जानना चाहिये।

विभागनिष्पन्न की आद्य इकाई अंगुल है। अतएव अब अंगुल का विस्तार से विवेचन करते हैं।

अंगुलस्वरूपनिरूपण

३३३. से किं तं अंगुले ?

अंगुले तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—आयंगुले १ उस्सेहंगुले २ पमाणंगुले ३।

[३३३ प्र.] भगवन् ! अंगुल का क्या स्वरूप है ?

[३३३ उ.] आयुष्मन् ! अंगुल तीन प्रकार का है, यथा—१. आत्मांगुल, २. उत्सेधांगुल और ३. प्रमाणांगुल ।

विवेचन—अंगुल के मुख्य तीन प्रकार हैं । अब क्रम से उनका विस्तृत वर्णन किया जा रहा है ।

आत्मांगुल

३३४. से किं तं आयंगुले ?

आयंगुले जे णं जया मणुस्सा भवंति तेसि णं तया अप्पणो अंगुलेणं दुवालस अंगुलाइं मुहं, नवमुहाइं पुरिसे पमाणजुत्ते भवति, दोणिए पुरिसे माणजुत्ते भवति, अद्धभारं तुलमाणे पुरिसे उम्माणजुत्ते भवति ।

माणुम्माण-पमाणे जुत्ता लक्खण-वंजण-गुणेहिं उववेया ।
उत्तमकुलप्पसूया उत्तमपुरिसा मुणेयव्वा ।। ९६ ।।
होंति पुण अहियपुरिसा अट्ठसतं अंगुलाण उव्विद्धा ।
छण्णउति अहमपुरिसा चउरुत्तर मज्झिमिल्ला उ ।। ९७ ।।
हीणा वा अहिया वा जे खलु सर-सत्त सारपरिहीणा ।
ते उत्तमपुरिसाणं अवसा पेसत्तणमुवेंति ।। ९८ ।।

[३३४ प्र.] भगवन् ! आत्मांगुल किसे कहते हैं ?

[३३४ उ.] जिस काल में जो मनुष्य होते हैं (उस काल की अपेक्षा) उनके अंगुल को आत्मांगुल कहते हैं ।

उनके अपने-अपने अंगुल से बारह अंगुल का एक मुख होता है ।

नौ मुख प्रमाण वाला (अर्थात् एक सौ आठ आत्मांगुल की ऊंचाई वाला) पुरुष प्रमाणयुक्त माना जाता है, द्रोणिक पुरुष मानयुक्त माना जाता है और अर्धभारप्रमाण तौल वाला पुरुष उन्मानयुक्त होता है ।

जो पुरुष मान-उन्मान और प्रमाण से संपन्न होते हैं तथा (शंख आदि शारीरिक शुभ) लक्षणों एवं (तिल मसा आदि) व्यंजनों से और (उदारता, करुणा आदि) मानवीय गुणों से युक्त होते हैं एवं (उग्र, भोग आदि) उत्तम कुलों में उत्पन्न होते हैं, ऐसे (चक्रवर्ती आदि) पुरुषों को उत्तम पुरुष समझना चाहिते । ९६

ये उत्तम पुरुष अपने अंगुल से एक सौ आठ अंगुल प्रमाण ऊंचे होते हैं । अधम पुरुष छियानवै अंगुल और मध्यम पुरुष एक सौ चार अंगुल ऊंचे होते हैं । ९७

ये हीन (छियानवै अंगुल की ऊंचाई वाले) अथवा उससे अधिक ऊंचाई वाले (मध्यम पुरुष) जनोपादेय एवं प्रशंसनीय स्वर से, सत्त्व से—आत्मिक-मानसिक शक्ति से तथा सार से अर्थात् शारीरिक क्षमता, सहनशीलता, पुरुषार्थ आदि से हीन और उत्तम पुरुषों के दास होते हैं । ९८

३३५. एतेणं अंगुलपमाणेणं छ अंगुलाइं पादो, दो पाया विहत्थी, दो विहत्थीओ रयणी, दो रयणीओ कुच्छी, दो कुच्छीओ दंडं धणू जुगे नालिया अक्ख-मुसले, दो धणुसहस्साइं गाउयं, चत्तारि गाउयाइं जोयणं।

[३३५] इस आत्मांगुल से छह अंगुल का एक पाद होता है। दो पाद की एक वितस्ति, दो वितस्ति की एक रत्नि और दो रत्नि की एक कुक्षि होती है। दो कुक्षि का एक दंड, धनुष, युग, नालिका अक्ष और मूसल जानना चाहिये। दो हजार धनुष का एक गव्यूत और चार गव्यूत का एक योजन होता है।

विवेचन—इन दो सूत्रों में अंगुल के तीन प्रकारों में से प्रथम आत्मांगुल के स्वरूप आदि का वर्णन किया है।

आत्मांगुल में 'आत्मा' शब्द 'स्व' अर्थ का सूचक है। अतएव अपना जो अंगुल उसे आत्मांगुल कहते हैं। यह कालादि के भेद से अनवस्थित प्रमाण वाला है। इसका कारण यह है कि उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के भेद से मनुष्यों के शरीर की ऊंचाई आदि वढ़ती-घटती रहती है। अतएव जिस काल में जो पुरुष होते हैं, उस काल में उनका अंगुल आत्मांगुल कहलाता है। इसी अपेक्षा से आत्मांगुल को अनियत प्रमाण वाला कहा है।

आत्मांगुल से नापने पर वारह अंगुल का जितना प्रमाण हो उसकी 'मुख' यह संज्ञा है। ऐसे नौ मुखों अर्थात् एक सौ आठ अंगुल ऊंचाई वाला पुरुष प्रमाणपुरुष कहलाता है। दूसरे प्रकार से भी प्रमाणयुक्त पुरुष की परीक्षा करने के कुछ नियम बताये हैं—एक बड़ी जलकुंडिका को जल से परिपूर्ण भरकर उसमें किसी पुरुष को बैठाने पर जब द्रोणप्रमाण जल उससे छलक कर बाहर निकल जाये तो वह पुरुष मानयुक्त माना जाता है और उस पुरुष की द्रोणिकपुरुष यह संज्ञा होती है। अथवा द्रोणपरिमाण न्यून जल से कुंडिका में पुरुष के प्रवेश करने पर यदि वह कुंडिका पूर्ण रूप से किनारों तक भर जाती है तो ऐसा पुरुष भी मानयुक्त माना जाता है। तीसरी परीक्षा यह है कि तराजू से तौलने पर जो पुरुष अर्धभारप्रमाण वजनवाला हो, वह पुरुष उन्मान से प्रमाणयुक्त माना जाता है। ऐसे पुरुष लोक में उत्तम माने जाते हैं।

ये उत्तम पुरुष प्रमाण, मान और उन्मान से संपन्न होने के साथ ही शरीर में पाये जाने वाले स्वस्तिक, श्रीवत्स आदि शुभ लक्षणों तथा तिल, मसा आदि व्यंजनों से युक्त होते हैं। इनका जन्म लोकमान्य कुलों में होता है। वे उच्चगोत्रकर्म के विपाकोदय के कारण लोक में आदर-संमान के पात्र माने जाते हैं, आज्ञा, ऐश्वर्य, संपत्ति से संपन्न-समृद्ध होते हैं।

उपर्युक्त माप-तौल से हीन पुरुषों की गणना मध्यम अथवा जघन्य पुरुषों में की जाती है।

सूत्रोक्त उत्तम पुरुष के मानदंड को हम प्रत्यक्ष भी देखते हैं। सेना और सेना के अधिकारियों का चयन करते समय व्यक्ति की ऊंचाई, शारीरिक क्षमता, साहस आदि की परीक्षा करने पर निर्धारित मान में उत्तीर्ण व्यक्ति का चयन कर लिया जाता है।

इस प्रकार से आत्मांगुल की व्याख्या करने के पश्चात् उसका उपयोग कहाँ और किस के नापने में किया जाता है, इसे स्पष्ट करते हैं।

आत्मांगुल का प्रयोजन

३३६. एएणं आयंगुलप्पमाणेणं किं पओयणं ?

एतेणं आयंगुलप्पमाणे जे णं जया मणुस्सा भवंति तेसि णं तया अप्पणो अंगुलेणं अगड-दह-नदी-तलाग-वावी-पुक्खरिणि-दीहिया-गुंजालियाओ सरा सरपंतियाओ सरसरपंतियाओ बिलपंतियाओ आरामुज्जाण-काणण-वण-वणसंड-वणराईओ देवकुल-सभा-पवा-थूभ-खाइय-परिहाओ पागार-अट्टालग-चरिय-दार-गोपुर-तोरण-पासाद-घर-सरण-लेण-आवण-सिंघाडग-तिय-चउक्क-चच्चर-चउमुह-महापह-पहा सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीय-संदमाणिय-लोही-लोहकडाह-कडुच्छुय-आसण-सतण-खंभ-भंड-मत्तोवगरणमादीणि अज्जकालिगाइं च जोयणाइं मविज्जंति।

[३३६ प्र.] भगवन् ! इस आत्मांगुलप्रमाण का क्या प्रयोजन है ?

[३३६ उ.] आयुष्मन् ! इस आत्मांगुलप्रमाण से कुआ, तडाग (तालाव), द्रह (जलाशय), वापी (चतुष्कोण वाली बावड़ी), पुष्करिणी (कमलयुक्त जलाशय), दीर्घिका (लम्वी-चौड़ी वावड़ी), गुंजालिका (वक्राकार वावड़ी), सर (अपने-आप वना जलाशय—झील), सरपंक्ति (श्रेणी—पंक्ति रूप में स्थित जलाशय), सर-सरपंक्ति (नालियों द्वारा संवन्धित जलाशयों की पंक्ति), विलपंक्ति (छोटे मुख वाले कूपों की पंक्ति—कुंडियां), आराम (वगीचा), उद्यान (अनेक प्रकार के पुष्प-फलों वाले वृक्षों से युक्त बाग), कानन (अनेक वृक्षों से युक्त नगर का निकटवर्ती प्रदेश), वन (जिसमें एक ही जाति के वृक्ष हों), वनखंड (जिसमें अनेक जाति के उत्तम वृक्ष हों), वनराजि (जिसमें एक या अनेक जाति के वृक्षों की श्रेणियां हों), देवकुल (यक्षायतन आदि), सभा, प्रपा (प्याऊ), स्तूप, खातिका (खाई), परिखा (नीचे संकड़ी और ऊपर विस्तीर्ण खाई), प्राकार (परकोटा), अट्टालक (परकोटे पर बना आश्रय-विशेष—अटारी), चरिका(खाई और प्राकार के बीच बना आठ हाथ चौड़ा मार्ग), द्वार, गोपुर (नगर में प्रवेश करने का मुख्य द्वार), तोरण, प्रासाद (राजभवन), घर (सामान्य जनों के निवास स्थान), शरण (घास-फूस से वनी झोंपड़ी), लयन (पर्वत में वनाया गया निवासस्थान), आपण (बाजार), शृंगाटक (सिंघाड़े के आकार का त्रिकोण मार्ग), त्रिक (तिराहा), चतुष्क (चौराहा), चत्वर (चौगान, चौक, मैदान), चतुर्मुख (चार द्वार वाला देवालय आदि), महापथ (राजमार्ग), पथ (गलियां), शकट (गाड़ी, बैलगाड़ी), रथ, यान (साधारण गाड़ी), युग्य (डोली—पालखी),,गिल्लि (हाथी पर रखने का हौदा), थिल्लि (यान-विशेष, वहली), शिविका (पालखी), स्यंदमानिका (इक्का), लोही (लोहे की छोटी कड़ाही), लोहकटाह (लोहे की वड़ी कड़ाही—कड़ाहा), कुडछी (चमचा), आसन (बैठने के पाट आदि), शायन(शय्या), स्तम्भ, भांड (पात्र आदि) मिट्टी, कांसे आदि से बने भाजन गृहोपयोगी वर्तन, उपकरण आदि वस्तुओं एवं योजन आदि का माप किया जाता है।

विवेचन—सूत्रोक्त भवनादि का निर्माण मनुष्य अपने समय को ध्यान में रखकर करते हैं। इसीलिये सूत्र में मनुष्यों द्वारा वनाई गई एवं अशाश्वत वस्तुओं की लम्वाई-चौड़ाई-ऊंचाई आदि का माप आत्मांगुल से किये जाने का उल्लेख किया गया है।

'अज्जकालिगाइं' अर्थात् आज-कल शब्द वर्तमान का वोधक है। अर्थात् जिस काल में जितनी ऊंचाई, चौड़ाई आदि वाले मनुष्य हों, उनकी अपेक्षा हीं आत्मांगुल का प्रमाण निर्धारित होता है।

आत्मांगुल का प्रयोजन बतलाने के अनन्तर अव उसके अवान्तर भेदों का निर्देश करते हैं।

आत्मांगुल के भेद

३३७. से समासओ तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सूतिअंगुले १ पयरंगुले २ घणंगुले ३।

अंगुलायता एगपदेसिया सेढी सूइअंगुले १ सूयी सूयीए गुणिया पयरंगुले २ पयरं सूईए गुणितं घणंगुले ३।

[३३७] आत्मांगुल सामान्य से तीन प्रकार का है—१. सूच्यंगुल, २. प्रतरांगुल, ३. घनांगुल।

१. एक अंगुल लम्बी और एक प्रदेश चौड़ी आकाश-प्रदेशों की श्रेणि-पंक्ति का नाम सूच्यंगुल है। २. सूच्यंगुल को सूच्यंगुल से गुणा करने पर प्रतरांगुल बनता है। ३. प्रतरांगुल को सूच्यंगुल से गुणित करने पर घनांगुल होता है।

विवेचन—सूत्र में आत्मांगुल के भेदत्रिक का वर्णन किया है।

सूच्यंगुल की निष्पन्नता में श्रेणी शब्द आया है। इस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ क्षेत्रप्रमाण के निरूपण का प्रसंग होने से श्रेणि शब्द का अर्थ 'आकाशप्रदेशों की पंक्ति' ग्रहण किया गया है।

शास्त्र में श्रेणि के सात प्रकार कहे गये हैं—१. ऋजुआयता, २. एकतोवक्रा, ३. द्वितोवक्रा, ४. एकत:खहा, ५. द्वित:खहा, ६. चक्रवाला, ७. अर्धचक्रवाला।[1]

इन सात भेदों में से प्रस्तुत में ऋजुआयता श्रेणि प्रयोजनीय है। अतएव सूच्यंगुल का अर्थ यह हुआ कि सूची—सूई के आकार में दीर्घता की अपेक्षा एक अंगुल लंबी तथा वाहल्य की अपेक्षा एक प्रदेश ऋजुआयता आकाशप्रदेशों की पंक्ति सूच्यंगुल कहलाती है।

यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से सूच्यंगुलप्रमाण आकाश में असंख्य प्रदेश होते हैं, लेकिन कल्पना से इनका प्रमाण तीन मान लिया जाए और इन तीन प्रदेशों को समान पंक्ति में ००० इस प्रकार स्थापित किया जाए तो इसका आकार सूई के समान एक अंगुल लम्बा होने से इसे सूच्यंगुल कहते हैं।

प्रतरांगुल—प्रतर वर्ग को कहते हैं और किसी राशि को दो बार लिखकर परस्पर गुणा करने पर जो प्रमाण आए वह वर्ग है। जैसे दो की संख्या को दो बार लिखकर उनका परस्पर गुणा करने पर २ × २ = ४ हुए। यह चार की संख्या दो की वर्गराशि हुई। इसीलिये सूत्र में प्रतरांगुल

---

१. ठाणांग पद ७

का लक्षण वताया है—'सूयी सूयीए गुणिया पयरंगुले' अर्थात् सूच्यंगुल को सूच्यंगुल से गुणा करने पर जो प्रमाण हो वह प्रतरांगुल है। यद्यपि यह प्रतरांगुल भी असंख्यात प्रदेशात्मक होता है, लेकिन असत्कल्पना से पूर्व में सूच्यंगुल के रूप में स्थापित तीन प्रदेशों को तीन प्रदेशों से गुणा करने पर जो नौ प्रदेश हुए, उन नौ प्रदेशों को प्रतरांगुल के रूप में जानना चाहिये। असत्कल्पना से इसकी स्थापना का प्रारूप इस प्रकार होगा—

० ० ०
० ० ०
० ० ०

सूच्यंगुल और प्रतरांगुल में यह अंतर है कि सूच्यंगुल में दीर्घता तो होती है किन्तु वाहल्य—विष्कंभ एक प्रदेशात्मक ही होता है और प्रतरांगुल में दीर्घता एवं विष्कम्भ—चौड़ाई समान होती है।

घनांगुल—गणितशास्त्र के नियमानुसार तीन संख्याओं का परस्पर गुणा करने को घन कहते हैं। ऐसा करने से उस वस्तु की दीर्घता—लम्वाई, विष्कम्म—चौड़ाई और पिंडत्व—मोटाई का ज्ञान होता है। घनांगुल के द्वारा यही कार्य निष्पन्न किया जाता है। इसीलिये सूत्र में घनांगुल का लक्षण वताया है कि प्रतरांगुल को सूच्यंगुल से गुणा करने पर घनांगुल निष्पन्न होता है—'पयरं सूईए गुणितं घणंगुले।' प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कहा जा सकता है—सूच्यंगुल की राशि का परस्पर तीन वार गुणा करने पर प्राप्त राशि—गुणनफल घनांगुल है।

यद्यपि यह घनांगुल भी असंख्यात प्रदेशात्मक होता है, लेकिन असत्कल्पना से उसे यों समझना चाहिये कि पूर्व में वताये गये नौ प्रदेशात्मक प्रतरांगुल में सूच्यंगुल सूचक तीन का गुणा करने पर प्राप्त सत्ताईस संख्या घनांगुल की वोधक है। इनकी स्थापना पूर्वोक्त नवप्रदेशात्मक प्रतर के नीचे और ऊपर नौ-नौ प्रदेशों को देकर करनी चाहिये।

० ० ०
० ० ०
० ० ०

० ० ०
० ० ०
० ० ०

० ० ०
० ० ०
० ० ०

यह स्थापना आयाम-विष्कम्भ-पिंड (लम्वाई-चौड़ाई-मोटाई) की वोधक है और इन सवमें तुल्यता होती है।

उक्त कथन का सारांश यह हुआ कि सूच्यंगुल द्वारा वस्तु की दीर्घता, प्रतरांगुल द्वारा दीर्घता और विष्कंभ एवं घनांगुल द्वारा दीर्घता, विष्कंभ और पिंड को जाना जाता है।

अंगुलत्रिक का अल्पबहुत्व—

३३८. एतेसि णं भंते! सूतिअंगुल-पयरंगुल-घणंगुलाण य कतरे कतरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा?

सव्वत्थोवे सूतिअंगुले, पतरंगुले असंखेज्जगुणे, घणंगुले असंखेज्जगुणे। से तं आयंगुले।

[३३८ प्र.] भगवन्! इन सूच्यंगुल, प्रतरांगुल और घनांगुल में से कौन किससे अल्प, कौन किससे अधिक, तुल्य अथवा विशेषाधिक है?

[३३८ उ.] आयुष्मन्! इनमें सूच्यंगुल सबसे अल्प है, उससे प्रतरांगुल असंख्यातगुणा है और उससे घनांगुल असंख्यातगुणा है।

इस प्रकार आत्मांगुल का स्वरूप जानना चाहिए।

विवेचन—सूच्यंगुल आदि अंगुलत्रिक का अल्पबहुत्व उनके स्वरूप से स्पष्ट है। क्योंकि सूच्यंगुल में केवल दीर्घता ही होती है, अतएव वह अपने उत्तरवर्ती दो अंगुलों की अपेक्षा अल्प परिमाण वाला है। प्रतरांगुल में दीर्घता के साथ विष्कंभ भी होने से सूच्यंगुल की अपेक्षा उसका असंख्यात गुणाधिक प्रदेशपरिमाण होना स्वाभाविक है। घनांगुल में लम्बाई और चौड़ाई के साथ मोटाई का भी समावेश होने से उसमें प्रतरांगुल से असंख्यातगुणाधिकता स्पष्ट है। इसी कारण सूच्यंगुल आदि अंगुलत्रिक में पूर्व की अपेक्षा उत्तर अंगुल को असंख्यात-असंख्यात गुणा अधिक कहा है। 'से तं आयंगुले' पद आत्मांगुल के वर्णन की समाप्ति का सूचक है।

उत्सेधांगुल

३३९. से किं तं उस्सेहंगुले ?

उस्सेहंगुले अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—

> **परमाणू तसरेणू रहरेणू अग्गयं च वालस्स।**
> **लिक्खा जूया य जवो अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ॥ ९९ ॥**

[३३९ प्र.] भगवन् ! उत्सेधांगुल का क्या स्वरूप है ?

[३३९ उ.] आयुष्मन् ! उत्सेधांगुल अनेक प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—

परमाणु, त्रसरेणु, रथरेणु, बालाग्र (बाल का अग्र भाग), लिक्षा (लीख), यूका (जूं) और यव (जौ) ये सभी क्रमशः उत्तरोत्तर आठ गुणे जानना चाहिए। ९९

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में उत्सेधांगुल का स्वरूप बताया है। उत्सेध कहते हैं बढ़ने को। अतएव जो अनन्त सूक्ष्म परमाणु, त्रसरेणु........इत्यादि के क्रम से बढ़ता है, वह उत्सेधांगुल कहलाता है। अथवा नारकादि चतुर्गति के जीवों के शरीर की उच्चता-ऊंचाई का निर्धारण करने के लिये जिस अंगुल का उपयोग किया जाता है, उसे उत्सेधांगुल कहते हैं।

उत्सेधांगुल तो एक है किन्तु उसकी अनेक प्रकारता परमाणु, त्रसरेणु आदि की विविधता की अपेक्षा से जानना चाहिए। किन्तु परमाणु, त्रसरेणु आदि स्वयं उत्सेधांगुल नहीं हैं। उनसे निष्पन्न होने वाला अंगुल उत्सेधांगुल कहलाता है।

उत्सेधांगुल की निष्पत्ति की आद्य इकाई परमाणु है, अतः अब परमाणु आदि के क्रम से उत्सेधांगुल का सविस्तार वर्णन करते हैं।

परमाणुनिरूपण

३४०. से किं तं परमाणू ?

परमाणू दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—सुहुमे य १ वावहारिए य २।

[३४० प्र.] भगवन् ! परमाणु क्या है ?

[३४० उ.] आयुष्मन् ! परमाणु दो प्रकार का कहा है, यथा—१ सूक्ष्म परमाणु और २ व्यवहार परमाणु ।

३४१. तत्थ णं जे से सुहुमे से ठप्पे ।

[३४१] इनमें से सूक्ष्म परमाणु स्थापनीय है अर्थात् यहाँ वह अधिकृत नहीं है ।

३४२. से किं तं वावहारिए ?

वावहारिए अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणं समुदयसमितिसमागमेणं से एगे वावहारिए परमाणुपोग्गले निप्पज्जति ।

[३४२ प्र.] भगवन् ! व्यवहार परमाणु किसे कहते हैं ?

[३४२ उ.] आयुष्मन् ! अनन्तानंत सूक्ष्म परमाणुओं के समुदाय-समागम (एकीभाव रूप मिलन) से एक व्यावहारिक परमाणु निष्पन्न होता है ।

विवेचन—सूत्र में उत्सेधांगुल की आद्य इकाई परमाणु का स्वरूप बतलाया है ।

परम+अणु=परमाणु, अर्थात् सब द्रव्यों में जिसकी अपेक्षा अन्य कोई अणुत्तर (अधिक छोटा) न हो, जिसमें चरमतम अणुत्व हो या जिसका पुनः विभाग न हो सके, ऐसे अविभागी अंश को परमाणु कहते हैं ।

परमाणु सामान्यतया पुद्गलद्रव्य की अविभागी पर्याय है, किन्तु कहीं-कहीं अन्य द्रव्यों के भी सूक्ष्मतम बुद्धिकल्पित भाग को परमाणु कहा जाता है। इस दृष्टि से परमाणु के चार प्रकार हैं—१ द्रव्यपरमाणु, २ क्षेत्रपरमाणु, ३ कालपरमाणु, ४ भावपरमाणु । परमाणु से जो आशय ग्रहण किया जाता है, उसके लिए कर्मसाहित्य में **अविभागप्रतिच्छेद** शब्द का प्रयोग किया जाता है ।

परमाणु, पुद्गलद्रव्य की पर्याय होने से रूपी—मूर्त है। उसमें पौद्गलिक गुण—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श पाये जाते हैं। तथापि अपनी सूक्ष्मता के कारण वह सामान्य ज्ञानियों द्वारा इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है—दृष्टिगोचर नहीं होता है । लेकिन पारमार्थिक प्रत्यक्ष वाले केवलज्ञानी और क्षायोपशमिक ज्ञानी (परम अवधिज्ञानी) उसे जानते-देखते हैं।

सामान्यतया तो एक आकाशप्रदेश में एक परमाणु रहता है, लेकिन इसके साथ ही परमाणु में सूक्ष्म परिणाम व अवगाहन रूप ऐसी विलक्षण शक्ति रही हुई है कि जिस आकाश-प्रदेश को एक परमाणु ने व्याप्त कर लिया है, उसी आकाशप्रदेश में दूसरा परमाणु भी पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ रह सकता है। इतना ही नहीं, उसी आकाशप्रदेश में सूक्ष्म रूप से परिणत अनन्तप्रदेशी स्कन्ध भी रह सकता है । जैसे एक कमरे में एक दीपक का प्रकाश पर्याप्त है, किन्तु उसमें अन्य सैकड़ों दीपकों का प्रकाश भी समा जाता है। इसी प्रकार उस एक दीपक के अथवा सैकड़ों दीपकों के प्रकाश को एक लघु वर्तन से आच्छादित कर दिया जाए तो उसी में वह प्रकाश सिमट जाता है । इससे स्पष्ट है कि उन प्रकाशपरमाणुओं की तरह पुद्गल में संकोच-विस्तार

रूप में परिणत होने की शक्ति है, अतएव परमाणु या परमाणुओं का पिंड-स्कन्ध जिस स्थान में अवस्थित होता है, उसी स्थान में अन्य परमाणु और स्कन्ध भी रह सकते हैं।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी परमाणु की सूक्ष्मता का कुछ अनुमान लग सकता है। पचास शंख परमाणुओं का भार ढाई तोले के लगभग और व्यास एक इंच का दस करोड़वाँ भाग होता है। धूल के एक लघुतम कण में दस पद्म से भी अधिक परमाणु होते हैं। सिगरेट को लपेटने के पतले कागज की मोटाई में एक से एक को सटाकर रखने पर एक लाख परमाणु आ जायेंगे।

सोड़ावाटर को गिलास में डालने पर उसमें जो नन्हीं-नन्हीं बूंदें उत्पन्न होती हैं, उनमें से एक बूंद के परमाणुओं की गणना करने के लिये तीन अरब व्यक्तियों को बैठा दें और वे निरन्तर बिना खाये, पीये और सोये प्रतिमिनट यदि तीन सौ की गति से परिगणना करें तो उस बूंद के परमाणुओं की समस्त संख्या को गिनने में चार माह का समय लग जायेगा।

बारीक केश को उखाड़ते समय उसकी जड़ पर जो रक्त की सूक्ष्म बूंद लगी रहेगी, उसे अणुवीक्षण यंत्र के माध्यम से इतना बड़ा रूप दिया जा सकता है कि वह बूंद छह या सात फीट के व्यास वृत्त में दिखलाई दे तो भी उसके भीतर के परमाणु का व्यास $\frac{१}{१०००}$ इंच ही होगा।[1]

उपर्युक्त कथन का यह आशय हुआ कि जो परम अणु रूप है, उसी को परमाणु कहते हैं। जैनदर्शन में इस परमाणु की विभिन्न अपेक्षाओं से व्याख्या इस प्रकार की गई है—

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसगंधवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिंगश्च ॥[2]

अर्थात् परमाणु किसी से उत्पन्न नहीं होता अतः वह कारण ही है। उससे छोटी दूसरी कोई वस्तु नहीं है अतः वह अन्त्य है, सूक्ष्म है और नित्य है। एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श वाला है तथा कार्य देखकर ही उसका अनुमान किया जा सकता है—प्रत्यक्ष नहीं होता है।

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियगेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणाहि ॥[3]

अर्थात् जिसका आदि, मध्य और अन्त स्वयं वही है और जिसे इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकतीं, ऐसे विभागरहित द्रव्य को परमाणु समझना चाहिये।

परमाणु के उपर्युक्त स्वरूप-निर्देश से यह स्पष्ट है कि परमाणु परम-अणु रूप है। उसके भेद नहीं हैं, लेकिन सामान्य जनों को समझाने के लिये वीतराग विज्ञानियों ने परमाणु के उपाधिकृत भेदों की कल्पना इस प्रकार की है—१. सूक्ष्म-व्यावहारिक, २. कारणरूप-कार्यरूप।

---

१. जैनदर्शन और आधुनिक विज्ञान पृ. ४७

२. तत्वार्थभाष्य, तत्वार्थराजवार्तिक, अनुयोगद्वारसूत्र टीका पत्र १६१

३. सर्वार्थसिद्धि पृ. २२१ में उद्धृत

सूक्ष्म और व्यावहारिक परमाणु के विषय में विस्तार से आगे विचार किया जा रहा है। अतः यहाँ शेष भेदों के लक्षणों का ही निर्देश करते हैं—

कारणरूप-कार्यरूप परमाणु—जो पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार धातुओं का हेतु है, वह कारणपरमाणु और स्कन्ध से पृथक् हुए अविभागी अन्तिम अंश को कार्यपरमाणु कहते हैं। अथवा स्कन्ध के विघटन से उत्पन्न होने वाला कार्यपरमाणु है और जिन परमाणुओं के मिलने से कोई स्कन्ध बने वह कारणपरमाणु है।[1]

परमाणु के उपर्युक्त औपाधिक भेदों में से अब सूक्ष्म और व्यावहारिक परमाणु के विषय में विचार करते हैं—

कारण के बिना कार्य नहीं होता और परमाणुजन्य कार्य—स्कन्ध प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने से सूक्ष्म परमाणु है तो अवश्य किन्तु वह प्रकृत में अनुपयोगी है। अतएव उसके अस्तित्व को स्वीकार करके भी उसे स्थापनीय मानकर अनन्तानन्त सूक्ष्म पुद्गल-परमाणुओं के एकीभाव रूप संयोग से उत्पन्न होने वाले व्यावहारिक परमाणु का विवेचन करते हैं।

व्यावहारिक परमाणु

३४३. [१] से णं भंते ! असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा।

हंता ओगाहेज्जा।

से णं तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ? नो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं कमति।

[३४३-१ प्र.] भगवन् ! व्यावहारिक परमाणु तलवार की धार या छुरे की धार को अवगाहित कर सकता है ?

[३४३-१ उ.] हाँ, कर सकता है।

[प्रश्न] तो क्या वह उस (तलवार या छुरे से) छिन्न-भिन्न हो सकता है ?

[उत्तर] यह अर्थ समर्थ नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं होता। शस्त्र इसका छेदन-भेदन नहीं कर सकता।

विवेचन—पुद्गल द्रव्य के परमाणु और स्कन्ध ये दो मुख्य भेद हैं। प्रकारान्तर से छह भेद भी होते हैं—

१. स्थूल-स्थूल—मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि ठोस पदार्थ।

२. स्थूल—दूध-दही, पानी, तेल आदि तरल पदार्थ।

३. स्थूल-सूक्ष्म—प्रकाश, उष्णता आदि।

---

१. नियमसार तात्पर्यवृत्ति २५

४. सूक्ष्म-स्थूल—वायु-वाष्प आदि।

५. सूक्ष्म—कर्मवर्गणा आदि।

६. सूक्ष्म-सूक्ष्म—अन्तिम निरंश पुद्‌गल परमाणु।[1]

पुद्‌गल के उक्त छह भेदों में से व्यवहार परमाणु का समावेश पांचवें सूक्ष्मवर्ग में होता है।

[२] से णं भंते! अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं वीतीवदेज्जा? हंता वितीवदेज्जा। से णं तत्थ डहेज्जा? नो तिणट्ठे समट्ठे, णो खलु तत्थ सत्थं कमति।

[३४३-२ प्र.] भगवन्! क्या वह व्यावहारिक परमाणु अग्निकाय के मध्य भाग से होकर निकल जाता है?

[३४३-२ उ.] आयुष्मन्! हाँ, निकल जाता है।

[प्र.] तब क्या वह उससे जल जाता है?

[उ.] यह अर्थ समर्थ नहीं है, क्योंकि अग्निरूप शस्त्र का उस पर असर नहीं होता।

विवेचन—अग्नि के द्वारा भस्म नहीं होने पर शिष्य सोचता है कि जल तो उसे अवश्य ही नष्ट कर देता होगा। अतः पुनः प्रश्न पूछता है—

[३] से णं भंते! पुक्खलसंवट्टयस्स महामेहस्स मज्झंमज्झेणं वीतीवदेज्जा? हंता वीतीवदेज्जा। से णं तत्थ उदउल्ले सिया? नो तिणट्ठे समट्ठे, णो खलु तत्थ सत्थं कमति।

[३४३-३ प्र.] भगवन्! क्या व्यावहारिक परमाणु पुष्करसंवर्तक नामक महामेघ के मध्य में से होकर निकल सकता है?

[३४३-३ उ.] आयुष्मन्! हाँ, निकल सकता है।

[प्र.] तो क्या वह वहाँ पानी से गीला हो जाता है?

[उ.] नहीं, यह अर्थ समर्थ नहीं है, वह पानी से भीगता नहीं, गीला नहीं होता है। क्योंकि अप्कायरूप शस्त्र का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता।

विवेचन—पुष्करसंवर्तक एक महामेघ का नाम है, जो उत्सर्पिणीकाल के २१ हजार वर्ष प्रमाण वाले दुषम-दुषम नामक प्रथम आरे की समाप्ति के अनन्तर दूसरे आरे के प्रारम्भ में सर्वप्रथम वरसता है।

जैन मान्यता के अनुसार व्यवहार काल के दो भेद हैं—उत्सर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकाल। उत्सर्पिणीकाल में मनुष्यादिक के वल, वैभव, श्री आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि और अवसर्पिणी में

---

१. वादरवादर-वादर वादरसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं च सुहुमसुहुमं धरादियं होदि छन्भेयं॥ —गो. जीवकांड ६०३

उत्तरोत्तर ह्रास होता है। ये दोनों प्रत्येक दस-दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण के होते हैं और प्रत्येक छह-छह विभागों में विभाजित हैं। जिनको आरा या आरक कहते हैं। उत्सर्पिणी के अनन्तर अवसर्पिणी और अवसर्पिणी के अनन्तर उत्सर्पिणी का क्रम भी निरन्तर परिवर्तित होता रहता है एवं इन दोनों के कुल मिलाकर बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कालमान को एक कालचक्र कहते हैं। ऐसे कालचक्र अतीत में अनन्त हो चुके हैं और अनागत में अनन्त होंगे। क्योंकि काल अनन्त है।

सर्पिणीद्वय काल के छह भेद और कालप्रमाण—१. दुषमादुषमा (२१००० वर्ष), २. दुषमा (२१००० वर्ष), ३. दुषमासुषमा (४२००० वर्ष न्यून एक कोडाकोडी सागरोपम), ४. सुषमादुषमा (दो कोडाकोडी सागरोपम), ५. सुषमा (तीन कोडाकोडी सागरोपम), ६. सुषमासुषमा (चार कोडाकोडी सागरोपम)। ये उत्सर्पिणी काल के छह आरों के नाम हैं। इनके नामक्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले आरे से लगाकर उत्तरोत्तर सुख के साधनों की वृद्धि होती जाती है। इसके विपरीत अवसर्पिणी काल के भेदों के नाम इस प्रकार हैं—१. सुषमासुषमा (४ कोडाकोडी सागरोपम), २. सुषमा (तीन कोडाकोडी सागरोपम), ३. सुषमादुषमा (दो कोडाकोडी सागरोपम), ४. दुषमसुषमा (४२००० वर्ष न्यून एक कोडाकोडी सागरोपम), ५. दुषमा (२१००० वर्ष), ६. दुषमादुषमा (२१००० वर्ष)। इन कालभेदों में क्रमशः उत्तरोत्तर जीवों की आयु, श्री आदि में ह्रास होता जाता है।

अवसर्पिणी कालगत चरम ह्रास के पश्चात् तथा उत्सर्पिणी काल का जब प्रथम आरा दुषमदुषम समाप्त हो जाता है और द्वितीय आरक दुषमा के लगते ही सकल जनों के अभ्युदय के निमित्त पुष्करसंवर्तक आदि महामेघ प्रकट होते हैं[1]। पुष्करसंवर्तक नामक मेघ भूमिगत समस्त रूक्षता, आतप आदि अशुभ प्रभाव को शांत-प्रशांत करके धान्यादि का अभ्युदय करता है। इस मेघ में जल बहुत होता है। इसीलिये शिष्य ने जिज्ञासा व्यक्त की थी कि क्या व्यवहारपरमाणु पुष्करसंवर्तक मेघ से प्रभावित होता है?

[४] से णं भंते! गंगाए महाणईए पडिसोयं हव्वमागच्छेज्जा? हंता हव्वमागच्छेज्जा। से णं तत्थ विणिघायमावज्जेज्जा? नो तिणट्ठे समट्ठे, णो खलु तत्थ सत्थं कमति।

[३४३-४ प्र.] भगवन्! क्या वह व्यावहारिक परमाणु गंगा महानदी के प्रतिस्रोत (विपरीत प्रवाह) में शीघ्रता से गति कर सकता है?

[३४३-४ उ.] आयुष्मन्! हाँ, वह प्रतिकूल प्रवाह में शीघ्र गति कर सकता है।

[प्र.] तो क्या वह उसमें प्रतिस्खलना (रुकावट) प्राप्त करता है?

[उ.] यह अर्थ समर्थ नहीं है, क्योंकि (किसी भी) शस्त्र का उस पर असर नहीं होता है।

विवेचन—प्रतिकूल प्रवाह में भी उस व्यावहारिक परमाणु के प्रतिस्खलित न होने के उत्तर को सुनकर शिष्य ने पुनः अपनी जिज्ञासा व्यक्त की—

[५] से णं भंते! उदगावत्तं वा उदगबिंदुं वा ओगाहेज्जा? हंता ओगाहेज्जा। से णं तत्थ कुच्छेज्ज वा परियावज्जेज्ज वा? णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं कमति।

---

१. अनुयोगद्वारसूत्रवृत्ति पृ. १६१

सत्थेण सुतिक्खेण वि छेत्तुं भेत्तं व जं किर न सक्का।
तं परमाणू सिद्धा वयंति आदी पमाणाणं।। १००।।

[३४३-५ प्र.] भगवन्! क्या वह व्यावहारिक परमाणु उदकावर्त (जलभंवर) और जल-विन्दु में अवगाहन कर सकता है?

[३४३-५ उ.] आयुष्मन्! हाँ, वह उसमें अवगाहन कर सकता है।

[प्र.] तो क्या वह उसमें पूतिभाव को प्राप्त हो जाता है—सड़ जाता है?

[उ.] यह यथार्थ नहीं है। उस परमाणु को जलरूपी शस्त्र आक्रांत नहीं कर सकता है।

अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से भी कोई जिसका छेदन-भेदन करने में समर्थ नहीं है, उसको ज्ञान-सिद्ध केवली भगवान् परमाणु कहते हैं। वह सर्व प्रमाणों का आदि प्रमाण है अर्थात् व्यावहारिक परमाणु प्रमाणों की आद्य इकाई है। १००

विवेचन—परमाणु पुद्‍गलद्रव्य की पर्याय है। अतएव प्रस्तुत सूत्र में शिष्य ने पुद्‍गल के सड़न-गलन धर्म को ध्यान में रखकर अपनी जिज्ञासा व्यक्त की है।

उत्तर में आचार्य ने बतलाया कि ऐसा कहना, मानना, सोचना यथार्थ नहीं है। क्योंकि शस्त्र का प्रभाव तो स्थूल स्कन्धों—पदार्थों पर ही पड़ता है, सूक्ष्म रूप में परिणत पदार्थों पर नहीं। यद्यपि यह व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म (निश्चय) परमाणुओं का पिंड होने से स्कन्ध रूप है, किन्तु स्वभावतः सूक्ष्म रूप में परिणत होने के कारण उस स्कन्ध (व्यवहारपरमाणु) पर अग्नि, जल आदि किसी भी प्रतिपक्षी का प्रभाव नहीं पड़ता है।

गाथोक्त 'सिद्धा' पद से सिद्धगति को प्राप्त हुए सिद्ध भगवन्त गृहीत नहीं हुए हैं। मुक्ति में विराजमान सिद्ध भगवान् वचन-योग से रहित हैं। इसलिये यहाँ पर सिद्ध शब्द का अर्थ ज्ञानसिद्ध-भवस्थकेवली भगवान् जानना चाहिए।[1]

परमाणु की विशेषता बतलाने के बाद अब उसके द्वारा निष्पन्न होने वाले कार्यों का वर्णन करते हैं।

व्यावहारिक परमाणु का कार्य

३४४. अणंताणं वावहारियपरमाणुपोग्गलाणं समुदयसमितिसमागमेणं सा एगा उस्सण्हसण्हिया ति वा सण्हसण्हिया ति वा उड्ढरेणू ति वा तसरेणू ति वा रहरेणू ति वा। अट्ठ उस्सण्हसण्हियाओ सा एगा सण्हसण्हिया। अट्ठ सण्हसण्हियाओ सा एगा उड्ढरेणू। अट्ठ उड्ढरेणूओ सा एगा तसरेणू। अट्ठ तसरेणूओ सा एगा रहरेणू। अट्ठ रहणूओ देवकुरु-उत्तरकुरुयाणं मणुयाणं से एगे वालग्गे। अट्ठ देवकुरु-उत्तरकुरुयाणं मणुयाणं वालग्गा हरिवास-रम्मगवासाणं मणुयाणं से एगे वालग्गे। अट्ठ हरिवस्स-रम्मयवासाणं मणुस्साणं वालग्गा हेमवय-हेरण्णवयवासाणं मणुस्साणं से एगे वालग्गे। अट्ठ हेमवय-हेरण्णवयवासाणं मणुस्साणं वालग्गा पुव्वविदेह-अवरविदेहाणं मणुस्साणं ते एगे वालग्गे।

---

१. सिद्धत्ति-ज्ञानसिद्धाः केवलिनो, न तु सिद्धाः सिद्धिगताः, तेषां वदनस्यासम्भवादिति।—अनुयोगद्वारवृत्ति पत्र १६१

अट्ठ पुव्वविदेह-अवरविदेहाणं मणूसाणं वालग्गा भरहेरवयाणं मणुस्साणं से एगे वालग्गे। अट्ठ भरहेरवयाणं मणूसाणं वालग्गा सा एगा लिक्खा। अट्ठ लिक्खाओ सा एगा जूया। अट्ठ जूयातो से एगे जवमज्झे। अट्ठ जवमज्झे से एगे उस्सेहंगुले।

[३४४] उन अनन्तानन्त व्यावहारिक परमाणुओं के समुदयसमितिसमागम (समुदाय के एकत्र होने) से एक उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, ऊर्ध्वरेणु, त्रसरेणु और रथरेणु उत्पन्न होता है।

आठ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका होती है। आठ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका का एक ऊर्ध्वरेणु होता है। आठ ऊर्ध्वरेणुओं का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणुओं का एक रथरेणु, आठ रथरेणुओं का एक देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों का बालाग्र, आठ देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों के बालाग्रों का एक हरिवर्ष-रम्यक्वर्ष के मनुष्यों का बालाग्र होता है। आठ हरिवर्ष-रम्यक्वर्ष के मनुष्यों के बालाग्रों के बराबर हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्यों का एक बालाग्र होता है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्यों के आठ बालाग्रों के बराबर पूर्व महाविदेह और अपर महाविदेह के मनुष्यों का एक बालाग्र होता है। आठ पूर्वविदेह-अपरविदेह के मनुष्यों के बालाग्रों के बराबर भरत-एरावत क्षेत्र के मनुष्यों का एक बालाग्र होता है। भरत और एरावत क्षेत्र के मनुष्यों के आठ बालाग्रों की एक लिक्षा (लीख) होती है। आठ लिक्षाओं की एक जूं, आठ जुओं का एक यवमध्य और आठ यवमध्यों का एक उत्सेधांगुल होता है।

३४५. एएणं अंगुलपमाणेणं छ अंगुलाइं पादो, बारस अंगुलाइं विहत्थी, चउवीसं अंगुलाइं रयणी, अडयालीसं अंगुलाइं कुच्छी, छन्नउती अंगुलाइं से एगे दंडे इ वा धणू इ वा जुगे इ वा नालिया इ वा अक्खे इ वा मुसले इ वा, एएणं धणुप्पमाणेणं दो धणुसहस्साइं गाउयं, चत्तारि गाउयाइं जोयणं।

[३४५] इस अंगुलप्रमाण से छह अंगुल का एक पाद होता है। बारह अंगुल की एक वितस्ति, चौवीस अंगुल की एक रत्नि, अड़तालीस अंगुल की एक कुक्षि और छियानवै अंगुल का एक दंड, धनुष, युग, नालिका, अक्ष अथवा मूसल होता है। इस धनुषप्रमाण से दो हजार धनुष का एक गव्यूत और चार गव्यूत का एक योजन होता है।

विवेचन—इन दो सूत्रों में बताया गया है कि उत्सेधांगुल की निष्पत्ति कैसे होती है? पहले तो सामान्य रूप से कथन किया है कि अनन्त व्यावहारिक परमाणुओं के संयोग से एक उत्श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका आदि की निष्पत्ति होती है और उसके बाद उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका आदि को पूर्व-पूर्व की अपेक्षा आठ-आठ गुणा बतलाया गया है। इन दोनों में से पहले कथन द्वारा यह प्रकट किया गया है कि ये सब अनन्त परमाणुओं द्वारा निष्पन्न होने की दृष्टि से समान हैं और दूसरे प्रकार द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि अनन्त परमाणुओं से निष्पन्न होने की समानता होने पर भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर में अष्टगुणाधिकता रूप विशेषता है। इस प्रकार प्रथम कथन सामान्य रूप एवं द्वितीय कथन विशेष रूप समझना चाहिये।

उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका और श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका ये दोनों भी अनन्त परमाणुओं की सूक्ष्म परिणाम-परिणत स्कन्ध अवस्थायें हैं और व्यवहारपरमाणु की अपेक्षा कुछ स्थूल होती हैं। अतः व्यवहार-परमाणु से भिन्नता बताने के लिये इनका पृथक्-पृथक् नामकरण किया है। स्वतः या पर के निमित्त से ऊपर, नीचे और तिरछे रूप में उड़ने वाली रेणु-धूलि का नाम ऊर्ध्वरेणु है। हवा आदि के निमित्त से इधर-उधर उड़ने वाले धूलिकण त्रसरेणु और रथ के चलने पर चक्र के जोर से उखड़ कर उड़ने वाली धूलि रथरेणु कहलाती है। बालाग्र, लिक्षा आदि शब्दों के अर्थ प्रसिद्ध हैं।

रथरेणु के पश्चात् देवकुरु-उत्तरकुरु, हरिवर्ष-रम्यक्वर्ष आदि क्षेत्रों के क्रमोल्लेख से उस-उस क्षेत्र संबन्धी शुभ अनुभाव की न्यूनता बताई गई है।

प्रस्तुत सूत्र में मगध देश में व्यवहृत योजन का माप बताया है—'चत्तारि गाउयाइं जोयणं'—चार गव्यूतों का एक योजन होता है। गव्यूत का शब्दार्थ है—वह दूरी जिसमें गाय का रंभाना सुना जा सके।[1] सामान्यतः गाय का रंभाना एक फर्लांग तक सुना जा सकता है। अतः संभव है कि उस समय चार फर्लांग का एक योजन होता हो। इससे यह भी फलित होता है कि अन्यान्य देशों में योजन के भिन्न-भिन्न माप प्रचलित थे। जिस देश में सोलह सौ धनुषों का एक गव्यूत होता है, वहाँ छह हजार चार सौ धनुषों का एक योजन होगा।[2]

दिगंबर परंपरा में अंगुल का प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणुओं की एक अवसन्नासन्न, आठ अवसन्नासन्न की एक सन्नासन, आठ सन्नासन का एक त्रुटरेणु (व्यवहाराणु), आठ त्रुटरेणु का एक त्रसरेणु (त्रसजीव के पांव से उड़ने वाला अणु), आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु, आठ रथरेणु का उत्तम भोगभूमिज का बालाग्र, आठ उत्तम भोगभूमिज के बालाग्र का एक मध्यम भोगभूमिज का बालाग्र, आठ मध्यम भोगभूमिज के बालाग्र का एक जघन्य भोगभूमिज का बालाग्र, आठ जघन्य भोगभूमिज के बालाग्र का एक कर्मभूमिज का बालाग्र, आठ कर्मभूमिज के बालाग्र की एक लिक्षा (लीख), आठ लीख की एक जूं, आठ जूं का एक यव और आठ यव का एक अंगुल, इसके आगे का वर्णन एक-सा है।[3]

उत्सेधांगुल का प्रयोजन

३४६. एएणं उस्सेहंगुलेणं किं पओयणं ?

एएणं उस्सेहंगुलेणं णेरइय-तिरिक्खजोणिय-मणूसदेवाणं सरीरोगाहणाओ मविज्जंति।

[३४६ प्र.] भगवन्! इस उत्सेधांगुल से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है?

[३४६ उ.] आयुष्मन्! इस उत्सेधांगुल से नारकों, तिर्यंचों, मनुष्यों और देवों के शरीर की अवगाहना मापी जाती है।

---

१. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ४१

२. मागधग्रहणात् क्वचिदन्यदपि योजनं स्यादिति प्रतिपादितं, तत्र यस्मिन् देशे षोडशभिर्धनुःशतैर्गव्यूतं स्यात्तत्र षड्भिः सहस्रैश्चतुर्भिः शतैर्धनुषां योजनं भवतीति। —स्थानांग पद ७. वृत्ति पत्र ४१२

३. तिलोयपण्णत्ति १।१०२।११६, तत्त्वार्थराजवार्तिक, हरिवंशपुराण, गो. जीवकांड आदि।

विवेचन—सूत्र में उत्सेधांगुल के उपयोग का प्रयोजन बताया है कि उससे नारकादिकों के शरीर की अवगाहना मापी जाती है।

जीव दो प्रकार के हैं—मुक्त और संसारी। मुक्त जीवों की अटल अवगाहना होती है, अर्थात् सिद्ध तो जिस मनुष्यशरीर से मुक्ति प्राप्त की उससे त्रिभागन्यून अवगाहना वाले होते हैं। इनकी यह अवगाहना सादि अपर्यवसित है। किन्तु संसारी जीव जन्म-मरण रूप संसरण के कारण एक गति से गत्यन्तर में गमन करते हैं और वहाँ अपने कर्मोदयवशात् जितनी अवगाहना वाला जैसा शरीर प्राप्त होता है, तदनुरूप भवपर्यन्त रहते हैं। उनकी यह अवगाहना अनियत होती है। इसलिये उनकी अवगाहना का प्रमाण जानना आवश्यक है और यह कार्य उत्सेधांगुल द्वारा संपन्न होता है। अतएव अब प्रश्नोत्तरों के द्वारा नारकादि जीवों की अवगाहना का वर्णन करते हैं।

नारक-अवगाहना निरूपण

३४७. [१] णेरइयाणं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ?

गोतमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—भवधारणिज्जा य १ उत्तरवेउव्विया य २।

तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं पंच धणुसयाइं।

तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं, उक्कोसेणं धणुसहस्सं।

[३४७-१ प्र.] भगवन् ! नारकों के शरीर की कितनी अवगाहना कही गई है ?

[३४७-१ उ.] गौतम ! नारक जीवों की शरीर-अवगाहना दो प्रकार से प्ररूपित की गई है,—१. भवधारणीय (शरीर-अवगाहना) और २. उत्तरवैक्रिय (शरीर-अवगाहना)। उनमें से भवधारणीय (शरीर) की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण और उत्कृष्ट पांच सौ धनुषप्रमाण है।

उत्तरवैक्रिय शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग एवं उत्कृष्ट एक हजार धनुषप्रमाण है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नारक जीवों की अवगाहना का प्रमाण बताया है। वर्णन करने की दो शैलियां हैं—सामान्य और विशेष। यहाँ सामान्य से समस्त नारक जीवों की भवधारणीय शरीरापेक्षया और उत्तरवैक्रियशरीरापेक्षया अवगाहना का निरूपण किया है।

नारक आदि के शरीर द्वारा अवगाढ आकाश रूप क्षेत्र अथवा नारक आदि जीवों का शरीर अवगाहना शब्द का वाच्यार्थ है। गतिनामकर्म के उदय से नर-नारकादि भव में जिस शरीर की उपलब्धि होती है और उसकी जो ऊंचाई हो, वह भवधारणीय अवगाहना है। उस प्राप्त शरीर से प्रयोजनविशेष से अन्य शरीर की जो विकुर्वणा की जाती है, वह उत्तरवैक्रिय-अवगाहना कहलाती है।[1]

---

१. भवे-नारकादिपर्यायभवनलक्षणे आयुःसमाप्तिं यावत्सततं ध्रियते या सा भवधारणीया, सहजशरीरगतेत्यर्थः या तु तद्ग्रहणोत्तरकालं कार्यमाश्रित्य क्रियते सा उत्तरवैक्रिया। —अनुयोगद्वारवृत्ति, पत्र १६४

नारकों और देवों का भवधारणीय शरीर वैक्रिय होता है। तिर्यंचों एवं मनुष्यों का भवधारणीय शरीर तो औदारिक है, किन्तु किन्हीं-किन्हीं मनुष्यों और तिर्यंचयोनिक जीवों में लब्धिवशात् वैक्रियशरीर भी पाया जाता है।

यद्यपि प्रकृत में सामान्यत: नारकों के शरीर की अवगाहना की जिज्ञासा की गई है लेकिन उत्तर में भेदपूर्वक उस अवगाहना का निर्देश इसलिये किया है कि भेद किये बिना शरीर की अवगाहना के प्रमाण को स्पष्ट रूप से बताना संभव नहीं है।

इस प्रकार सामान्य से नारकों की अवगाहना का प्रमाण कथन करने के पश्चात् अब विशेष रूप से भिन्न-भिन्न पृथ्वियों के नारकों की अवगाहना बतलाते हैं।

[२] रयणप्पभापुढवीए नेरइयाणं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता ! तं जहा—भवधारणिज्जा य १ उत्तरवेउव्विया य २।

तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सत्त धणूइं तिण्णि रयणीओ छच्च अंगुलाइं।

तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं पण्णरस धणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ य।

[३४७-२ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों की कितनी शरीरावगाहना कही है ?

[३४७-२ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार की कही गई है—१. भवधारणीय और २. उत्तरवैक्रिय। उनमें से भवधारणीय शरीरावगाहना तो जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट सात धनुष, तीन रत्नि तथा छह अंगुलप्रमाण है।

दूसरी उत्तरवैक्रिय शरीरावगाहना जघन्य अंगुल के संख्यातवें भागप्रमाण और उत्कृष्ट पन्द्रह धनुष, अढ़ाई रत्नि—दो रत्नि और बारह अंगुल है।

[३] सक्करप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—भवधारणिज्जा य १ उत्तरवेउव्विया य २।

तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं पण्णरस धणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ य।

तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं, उक्कोसेणं एक्कत्तीसं धणूइं रयणी य।

[३४७-३ प्र.] भगवन् ! शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकों की शरीरावगाहना कितनी कही है ?

[३४७-३ उ.] गौतम ! उनकी अवगाहना का प्रतिपादन दो प्रकार से किया है। यथा १. भवधारणीय और २. उत्तरवैक्रिय। उनमें से भवधारणीय अवगाहना तो जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट पन्द्रह धनुष दो रत्नि और बारह अंगुल प्रमाण है।

उत्तरवैक्रिय अवगाहना जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट इकतीस धनुष और एक रत्नि है।

[४] वालुयपभापुढवीए णेरइयाणं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—भवधारणिज्जा य १ उत्तरवेउव्विया य २।

तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं एक्कतीसं धणूइं रयणी य।

तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं बासट्ठि धणूइं दो रयणीओ य।

[३४७-४ प्र.] भगवन् ! वालुकाप्रभापृथ्वी के नारकों की शरीरावगाहना कितनी बड़ी प्रतिपादन की गई है ?

[३४७-४ उ.] गौतम ! उनकी शरीरावगाहना दो प्रकार से प्रतिपादन की गई हैं। यथा—१. भवधारणीय और २. उत्तरवैक्रिय। इन दोनों में से प्रथम भवधारणीय शरीरावगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट इकतीस धनुष तथा एक रत्नि प्रमाण है।

उत्तरवैक्रिय शरीरावगाहना जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट बासठ धनुष और दो रत्नि प्रमाण है।

[५] एवं सव्वासिं पुढवीणं पुच्छा भाणियव्वा—पंकप्पभाए भवधारणिज्जा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं बासट्ठि धणूइं दो रयणीओ य, उत्तरवेउव्विया जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं पणुवीसं धणुसयं।

धूमप्पभाए भवधारणिज्जा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पणुवीसं धणुसयं, उत्तरवेउव्विया जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं।

तमाए भवधारणिज्जा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं, उत्तरवेउव्विया जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं पंच धणुसयाइं।

[३४७-५] इसी प्रकार समस्त पृथ्वियों के विषय में अवगाहना सम्बन्धी प्रश्न करना चाहिये। उत्तर इस प्रकार है—

पंकप्रभापृथ्वी में भवधारणीय जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग और, उत्कृष्ट बासठ धनुष और दो रत्नि प्रमाण है।

उत्तरवैक्रिय शरीरावगाहना जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग एवं उत्कृष्ट एक सौ पच्चीस धनुष प्रमाण है।

धूमप्रभापृथ्वी में भवधारणीय जघन्य (शरीरावगाहना) अंगुल के असंख्यातवें भाग तथा उत्कृष्ट एक सौ पच्चीस धनुष प्रमाण है। उत्तरवैक्रिया शरीरावगाहना जघन्यतः अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट ढाई सौ (दो सौ पचास) धनुष प्रमाण है।

तमःप्रभापृथ्वी में भवधारणीय शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट ढाई सौ धनुष प्रमाण है। उत्तरवैक्रिय शरीरावगाहना जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष है।

[६] तमतमापुढविनेरइयाणं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता। तं जहा—भवधारणिज्जा य १ उत्तरवेउव्विया य २।

तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पंच धणुसयाइं।

तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं, उक्कोसेणं धणुसहस्सं।

[३४७-६ प्र.] भगवन् ! तमस्तमःपृथ्वी के नैरयिकों की शरीरावगाहना कितनी बड़ी निरूपित की गई है ?

[३४७-६ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार की कही है—१. भवधारणीय और २. उत्तरवैक्रिय रूप।

उनमें से भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष की है तथा उत्तरवैक्रिय शरीर की जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हजार धनुष प्रमाण है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में विशेषापेक्षया सातों नरकपृथ्वियों के नैरयिकों की भवधारणीय एवं उत्तरवैक्रिय शरीरावगाहना की प्ररूपणा की गई है।

सातों पृथ्वियों में बताई गई उत्कृष्ट भवधारणीय अवगाहना उन-उन पृथ्वियों के अन्तिम प्रस्तरों में होती है। भवधारणीय उत्कृष्ट अवगाहना से उत्तरवैक्रिय अवगाहना का प्रमाण सर्वत्र दूना जानना चाहिये।

दिगम्बर साहित्य में भी नारकों की उत्कृष्ट भवधारणीय शरीरावगाहना का प्रमाण यहाँ बतलाए गए प्रमाण के समान ही है। पृथक्-पृथक् प्रस्तरों की अपेक्षा किया गया पृथक्-पृथक् निर्देश इस प्रकार है—

प्रस्तर संख्या	प्रथम पृ. ध. र. अं.※	द्वि. पृथ्वी ध. र. अं.	तृ. पृथ्वी ध. र. अं.	चतु. पृथ्वी ध. र. अं.	पंचम पृथ्वी ध. र. अं.	षष्ठ पृथ्वी ध. र. अं.	सप्तम पृथ्वी ध. र. अं.
१.	०,३,०	८,२,२$\frac{२}{११}$	१७,१,१०$\frac{२}{३}$	३५,२,२०$\frac{४}{७}$	७५,०,०	१६६,२,१६	५००,०,०[1]
२.	१,१,८$\frac{१}{२}$	९,०,२२$\frac{४}{११}$	१९,०,९$\frac{१}{३}$	४०,०,१७$\frac{१}{७}$	८७,२,०	२०८,१,८	
३.	१,३,१७	९,३,१८$\frac{६}{११}$	२०,३,८	४४,२,१३$\frac{५}{७}$	१००,०,०	२५०,०,०	
४.	२,२,१$\frac{१}{२}$	१०,२,१४$\frac{८}{११}$	२२,२,६$\frac{२}{३}$	४९,०,१०$\frac{२}{७}$	११२,२,०		
५.	३,०,१०	११,१,१०$\frac{१०}{११}$	२४,१,५$\frac{१}{३}$	५३,२,६$\frac{६}{७}$	१२५,०,०		

१. आधार—तिलोयपण्णत्ति २/२१७-२७०, राजवार्तिक ३/३

※ संकेत—ध. धनुष, र- रत्नि (हाथ), अं. अंगुल (गणना-१ धनुष = ४ हाथ, = २४ अंगुल)

६.	३,२,१८$\frac{१}{२}$	१२,०,७$\frac{१}{११}$	२६,०,४	५८,०,३$\frac{३}{७}$
७.	४,१,३	१२,३,३$\frac{३}{११}$	२७,३,२$\frac{२}{३}$	६२,२,०
८.	४,३,११$\frac{१}{२}$	१३,१,२३$\frac{५}{११}$	२९,२,१$\frac{१}{३}$	
९.	५,१,२०	१४,७,१९$\frac{७}{११}$	३१,१,०	
१०.	६,०,४$\frac{१}{२}$	१४,३,१५$\frac{६}{११}$		
११.	६,२,१३	१५,२,१२		
१२.	७,०,२१$\frac{१}{२}$			
१३.	७,३,६			

भवनपति देवों की शरीरावगाहना

३४८. [१] असुरकुमाराणं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोतमा ! दुविहा पण्णत्ता ! तं०—भवधारणिज्जा य १ उत्तरवेउव्विया य २ ।

तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सत्त रयणीओ । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसत्त-सहस्सं ।

[३४८-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देवों की कितनी शरीरावगाहना है ?

[३४८-१ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार की है, यथा—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय अवगाहना ।

उनमें से भवधारणीय शरीरावगाहना तो जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट सात रत्नि प्रमाण है । उत्तरवैक्रिय जघन्य अवगाहना अंगुल के संख्यातवें भाग एवं उत्कृष्ट एक लाख योजन प्रमाण है ।

[२] एवं असुरकुमारगमेणं जाव थणितकुमाराणं ताव भाणियव्वं ।

[३४८-२] असुरकुमारों की अवगाहना के अनुरूप ही नागकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों पर्यन्त समस्त भवनवासी देवों की दोनों प्रकार की अवगाहना का प्रमाण जानना चाहिये ।

पंच स्थावरों की शरीरावगाहना

३४९. [१] पुढविकाइयाणं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं वि अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं । एवं सुहुमाणं ओहियाणं अपज्जत्तयाणं पज्जत्तयाणं बादराणं ओहियाणं अपज्जत्तयाणं पज्जत्तयाणं च भाणियव्वं । एवं जाव बादरवाउक्काइयाणं अपज्जत्तयाणं पज्जत्तयाणं भाणियव्वं ।

[३४९-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की शरीरावगाहना कितनी कही है ?

[३४९-१ उ.] गौतम ! (पृथ्वीकायिक जीवों की शरीरावगाहना) जघन्य भी अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण और उत्कृष्ट भी अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ।[१] इसी प्रकार सामान्य

१. असंख्यात के असंख्यात भेद होने से जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहना अधिक है । यही अपेक्षा सर्वत्र जानना चाहिये ।

रूप से सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों की और (विशेष रूप से) सूक्ष्म अपर्याप्त और पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों की तथा सामान्यत: बादर पृथ्वीकायिकों एवं विशेषत: अपर्याप्त और पर्याप्त पृथ्वीकायिकों की यावत् पर्याप्त बादर वायुकायिक जीवों की शरीरावगाहना जानना चाहिये।

[२] वणस्सइकाइयाणं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं।

सुहुमवणस्सइकाइयाणं ओहियाणं १ अपज्जत्तयाणं २ पज्जत्तगाणं ३ तिण्ह वि जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं।

बादरवणस्सतिकाइयाणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं सातिरेगं जोयण-सहस्सं; अपज्जत्तयाणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं; पज्जत्तयाणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं।

[३४९-२ प्र.] भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीवों की शरीरावगाहना कितनी है ?

[३४९-२ उ.] गौतम ! जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग [और] उत्कृष्ट कुछ अधिक एक हजार योजन की है।

सामान्य रूप में सूक्ष्म वनस्पतिकायिक और (विशेष रूप में) पर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

औधिक रूप से बादर वनस्पतिकायिक जीवों की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण और उत्कृष्ट साधिक एक हजार योजन प्रमाण है। विशेष—अपर्याप्त बादर वनस्पति-कायिक जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

पर्याप्त (बादर वनस्पतिकायिक जीवों) की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण और उत्कृष्ट साधिक एक हजार योजन प्रमाण होती है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में तिर्यंचगति के त्रस और स्थावर रूप दो भेदों में से पृथ्वीकायिक आदि पांच स्थावर जीवों की शरीरावगाहना का प्रमाण बतलाया है।

द्वीन्द्रिय जीवों की अवगाहना

३५०. [१] एवं बेइंदियाणं पुच्छा भाणियव्वा—बेइंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं बारस जोयणाइं; अपज्जत्तयाणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं; पज्जत्तयाणं ज० अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं बारस जोयणाइं।

[३५०-१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों की अवगाहना कितनी है ?

[३५०-१ उ.] गौतम ! (सामान्य रूप से) द्वीन्द्रिय जीवों की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट बारह योजन प्रमाण है।

अपर्याप्त (द्वीन्द्रिय जीवों) की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

पर्याप्त (द्वीन्द्रिय जीवों) की जघन्य शरीरावगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट बारह योजन प्रमाण है।

विवेचन—द्वीन्द्रिय जीवों की अवगाहनावर्णन के प्रसंग में पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन प्रमाण बतलाई है, वह स्वयंभूरमणसमुद्र में उत्पन्न शंखों आदि की अपेक्षा से जानना चाहिये।

किसी-किसी प्रति में द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों की जघन्य अवगाहना अंगुल के संख्यातवें भाग की लिखी है, यह चिन्तनीय है।

त्रीन्द्रिय जीवों की शरीरावगाहना

[२] तेइंदियाणं पुच्छा गो० ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं; अपज्जत्तयाणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं; पज्जत्तयाणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं।

[३५०-२ प्र.] भगवन् ! त्रीन्द्रिय जीवों की अवगाहना का मान कितना है ?

[३५०-२ उ.] गौतम ! सामान्यतः त्रीन्द्रिय जीवों की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोस की है।

अपर्याप्तक त्रीन्द्रिय जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट अवगाहना तीन गव्यूत प्रमाण है।

विवेचन—पर्याप्तक त्रीन्द्रिय जीवों की बताई गई तीन गव्यूत प्रमाण उत्कृष्ट अवगाहना अढ़ाई द्वीप (जम्बूद्वीप, धातकीखंड और अर्धपुष्कर द्वीप) के बाहर के द्वीपों में रहने वाले कर्णशृगाली आदि त्रीन्द्रिय जीवों की अपेक्षा जानना चाहिये।

चतुरिन्द्रिय जीवों की शरीरावगाहना

[३] चउरिंदियाणं पुच्छा, गो० ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं; अपज्जत्तयाणं जहन्नेणं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं; पज्जत्तयाणं पुच्छा, जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं।

[३५०-३ प्र.] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीवों की अवगाहना कितनी है ?

[३५०-३ उ.] गौतम ! औघिक रूप से चतुरिन्द्रिय जीवों की जघन्य शरीरावगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट चार गव्यूत प्रमाण है।

अपर्याप्त (चतुरिन्द्रिय जीवों) की जघन्य एवं उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है। पर्याप्तकों की जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग एवं उत्कृष्टतः चार गव्यूत प्रमाण है।

विवेचन—चतुरिन्द्रिय पर्याप्त जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना का चार गव्यूत प्रमाण अढाई द्वीप से बाहर के भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय जीवों की अपेक्षा से बताया गया है।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों की शरीरावगाहना

३५१. [१] पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं।

[३५१-१ प्र.] भगवन् ! तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों की अवगाहना कितनी है ?

[३५१-१ उ.] गौतम ! (सामान्य रूप में तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों की) जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजन प्रमाण है।

[२] जलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा, गोयमा ! एवं चेव। सम्मुच्छिमजलयरपंचेंदियाणं एवं चेव।

अपज्जत्तगसम्मुच्छिमजलयरपंचेंदियाणं पुच्छा, जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेण वि अंगुलस्स असं०।

पज्जत्तयसम्मुच्छिमजलयरपंचेंदियाणं पुच्छा, जहन्नेणं अंगु० असंखे० उक्कोसेणं जोयणसहस्सं।

गब्भवक्कंतियजलयरपंचेंदियाणं पुच्छा, गो० ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं।

अपज्जत्तयाणं पुच्छा, गो० ! जह० अंगु० असं० उक्कोसेणं अंगु० असं०।

पज्जत्तयाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंगु० असंखे०, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं।

[३५१-२ प्र.] भगवन् ! जलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना के विषय में पृच्छा है ?

[३५१-२ उ.] गौतम ! इसी प्रकार है। अर्थात् जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन की है।

[प्र.] संमूर्च्छिम जलचरतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना के लिये जिज्ञासा है ?

[उ.] गौतम ! संमूर्च्छिम जलचरतिर्यंचयोनिकों की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन की जानना चाहिये।

[प्र.] अपर्याप्त संमूर्च्छिम जलचरतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! उनकी (अपर्याप्त संमूर्च्छिम जलचरतिर्यंचयोनिकों की) जघन्य शरीरावगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग है और उत्कृष्ट अवगाहना भी अंगुल के असंख्यातवें भाग है।

[प्र.] भगवन् ! पर्याप्त संमूर्च्छिम जलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजन प्रमाण है।

[प्र.] भगवन् ! गर्भव्युत्क्रांतजलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! उनकी शरीरावगाहना जघन्यत: अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्टत: योजनसहस्र की है।

[प्र.] अपर्याप्त गर्भव्युत्क्रांतजलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! उनकी शरीरावगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट भी अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

[प्र.] भगवन् ! पर्याप्तक गर्भजजलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की शरीरावगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! उनकी जघन्य शरीरावगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजनप्रमाण है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में प्रथम सामान्य रूप से पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिकों की शरीरावगाहना का प्रमाण बतलाया है, तत्पश्चात् उनके जलचर, स्थलचर और खेचर, इन तीन प्रकारों में से जलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों की शरीरावगाहना का प्रमाण बतलाया है। उनके सात अवगाहना-स्थान हैं—१. सामान्य जलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक, २. सामान्य संमूर्च्छिम जलचरपंचेन्द्रिय-तिर्यंचयोनिक, ३. अपर्याप्त संमूर्च्छिम जलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक, ४. पर्याप्त संमूर्च्छिम जलचर-पंचेद्रियतिर्यंचयोनिक ५. सामान्य गर्भज जलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक, ६. अपर्याप्त गर्भज जलचर-पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक, ७. पर्याप्त गर्भज जलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक। इसी प्रकार के अवगाहना-स्थान स्थलचर और खेचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों के भी जानना चाहिये। किन्तु इतना विशेष है कि स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यंच चतुष्पद, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प इन तीन भेदों वाले होने से और प्रत्येक के सात-सात अवगाहनास्थान होने से कुल मिलाकर स्थलचर के इक्कीस अवगाहनास्थान हो जाते हैं तथा एक अवगाहनास्थान सामान्य पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का है। इस प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों के कुल मिलाकर अवगाहनास्थान छत्तीस होते हैं।

जलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों के उक्त सात अवगाहनास्थानों में से जो उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन प्रमाण की बताई है, वह स्वयंभूरमणसमुद्र के मत्स्यों की अपेक्षा जानना चाहिये।

स्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक तीन प्रकार के हैं—१. चतुष्पद, २. उरपरिसर्प, ३. भुज-परिसर्प। इन तीन प्रकारों में से अब चतुष्पदों की अवगाहना का प्रमाण बतलाते हैं—

[३] चउप्पयथलयराणं पुच्छा, गो० ! जह० अंगुलस्स असं०, उक्कोसेणं छ गाउयाइं।

सम्मुच्छिमचउप्पयथलयराणं पुच्छा, गो० ! जह० अंगु० असं०, उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं।

अपज्जत्तगसम्मुच्छिमचउप्पयथलयराणं पुच्छा, गो० ! जह० अंगु० असं० उक्को० अंगु० असं०।

पज्जत्तगसम्मुच्छिमचउप्पयथलयराणं पुच्छा, गो० ! जहन्नेणं अंगु० असंखे०, उक्को० गाउयपुहत्तं।

गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचेंदियाणं पुच्छा, गोयमा ! जह० अंगु० असं०, उक्को० छ गाउयाइं।

अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचेंदियाणं पुच्छा, गो० ! जह० अंगु० असं० उक्कोसेणं अंगु० असं०।

पज्जत्तयाणं जहन्नेणं अंगु० असंखे०, उक्कोसेणं छ गाउयाइं।

उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियाणं पुच्छा, गो० ! जहन्नेणं अंगु० असं० उक्कोसेणं जोयणसहस्सं।

सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचेंदियाणं पुच्छा, गो० ! जहन्नेणं अंगु० असंखे० उक्कोसेणं जोयणपुहत्तं।

अपज्जत्तयाणं जह० अंगु० असं०, उक्कोसेणं अंगुल० असं०।

पज्जत्तयाणं जह० अंगु० असंखे०, उक्कोसेणं जोयणपुहत्तं।

गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयर० जह० अंगु० असं० उक्कोसेणं जोयणसहस्सं;

अपज्जत्तयाणं जह० अंगु० असं०, उक्कोसेणं अंगु० असं।

पज्जत्तयाणं जह० अंगु० असंखे०, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं।

भुयपरिसप्पथलयराणं पुच्छा, गो० ! जह० अंगु० असंखे० उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं।

सम्मुच्छिमभुय० जाव जह० अंगु० असं० उक्को० धणुपुहत्तं।

अपज्जत्तगसम्मुच्छिमभुय० जाव पुच्छा, गो० ! जह० अंगु० असं०, उक्को० अंगु० असं०।

पज्जत्तयाणं जह० अअंगु० संखे०, उक्कोसेणं धणुपुहत्तं।

गब्भवक्कंतियभुय० जाव पुच्छा, गो० ! जह० अंगु० असं०, उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं।

अपज्जत्तयाणं जह० अंगु० असं०, उक्कोसेणं अंगु० असं०।

पज्जत्तयगब्भवक्कंतिय० जाव पुच्छा, गो० ! जह० अंगु० असंखे०, उक्को० गाउयपुहत्तं।

[३५१-३ प्र.] भगवन् ! चतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना के विषय में जिज्ञासा है ?

[३५१-३ उ.] गौतम ! सामान्य रूप में (चतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रिय तिर्यंचों की) जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग एवं उत्कृष्ट छह गव्यूति की है।

[प्र.] संमूर्च्छिम चतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट गव्यूतिपृथक्त्व (दो से नौ गव्यूति) प्रमाण है।

[प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त संमूर्च्छिम चतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रिय तिर्यंचों की अवगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! उनकी जघन्य एवं उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की है।

[प्र.] भगवन् ! पर्याप्त संमूर्च्छिम चतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की कितनी शरीरावगाहना है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट गव्यूतिपृथक्त्व की है ।

[प्र.] भगवन् ! गर्भव्युत्क्रान्तिक चतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की कितनी अवगाहना है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट छह गव्यूति प्रमाण शरीरावगाहना है ।

[प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्त चतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की कितनी शरीरावगाहना है ?

[उ.] गौतम ! उनकी जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट भी अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ।

[प्र.] भगवन् ! पर्याप्तक गर्भज चतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की शरीराव-गाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण और उत्कृष्ट छह गव्यूति प्रमाण है ।

विवेचन—यहाँ चतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों की सात अवगाहनास्थानों की अपेक्षा प्रत्येक की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना का प्रमाण बतलाया है । गर्भज चतुष्पदों की छह गव्यूतिप्रमाण उत्कृष्ट अवगाहना देवकुरु आदि उत्तम भोगभूमिगत गर्भज हाथियों की अपेक्षा जानना चाहिये ।

अब स्थलचर के दूसरे भेद उरपरिसर्पो की अवगाहना का प्रमाण बतलाते हैं—

[प्र.] भगवन् ! उरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! उरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट योजनसहस्र (एक हजार योजन) की है ।

[प्र.] भगवन् ! संमूर्च्छिम उरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की शरीरावगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण और उत्कृष्ट योजनपृथक्त्व है ।

[प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त संमूर्च्छिम उरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रिय तिर्यंचों की अवगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! उनकी जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की है ।

[प्र.] पर्याप्त संमूर्च्छिम उरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रिय तिर्यंचों की कितनी अवगाहना है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है और उत्कृष्ट योजनपृथक्त्व की है ।

[प्र.] भगवन् ! गर्भव्युत्क्रान्त उरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना का प्रमाण कितना है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग है और उत्कृष्ट अवगाहना एक सहस्र योजन की है।

[प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त गर्भजउरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रिय तिर्यंचों की अवगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

[प्र.] भगवन् ! पर्याप्तक गर्भव्युत्क्रान्तिक उरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की शरीरावगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजन की है।

विवेचन—प्रस्तुत प्रश्नोत्तरों में स्थलचर के दूसरे भेद उरपरिसर्पपंचेन्द्रिय तिर्यंचों के सात अवगाहनास्थानों में जघन्य और उत्कृष्ट शरीरावगाहना का प्रमाण बतलाया है। इनमें गर्भज पर्याप्त उरपरिसर्पों की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन मनुष्यक्षेत्रबहिर्द्वीपवर्ती गर्भज सर्पों की अपेक्षा जानना चाहिए।

[प्र.] भगवन् ! अब भुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना जानने की जिज्ञासा है ?

[उ.] गौतम ! सामान्य से भुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रिय तिर्यंचों की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट अवगाहना गव्यूतिपृथक्त्व की है।

[प्र.] भगवन् ! संमूर्च्छिम भुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना का प्रमाण क्या है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट धनुषपृथक्त्व की अवगाहना है।

[प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त संमूर्च्छिम भुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना का प्रमाण क्या है ?

[उ.] गौतम ! उनकी जघन्य और उत्कृष्ट शरीरावगाहना का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवां भाग है।

[प्र.] भगवन् ! पर्याप्त संमूर्च्छिम भुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना का प्रमाण कितना है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट धनुषपृथक्त्व की है।

[प्र.] भगवन् ! गर्भव्युत्क्रान्त भुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की शरीरावगाहना का प्रमाण क्या है ?

[उ.] गौतम ! उनकी शरीरावगाहना का प्रमाण जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट गव्यूतपृथक्त्व है।

[प्र.] भगवन् ! गर्भव्युत्क्रान्त अपर्याप्त भुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की शरीरावगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! उनकी शरीरावगाहना जघन्य और उत्कृष्ट अंगुल का असंख्यातवें भाग है।

[प्र.] भगवन् ! पर्याप्तक गर्भव्युत्क्रान्तिक भुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की शरीरावगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट गव्यूतपृथक्त्व प्रमाण है।

विवेचन—प्रस्तुत प्रश्नोत्तरों में भुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की शरीरावगाहना का जघन्य और उत्कृष्ट दोनों अपेक्षाओं से सात अवगाहनास्थानों में प्रमाण बतलाया है। आगे खेचर-पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की शरीरावगाहना का प्रमाण बतलाते हैं।

[४] खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं०, गो० ! जह० अंगु० असं० उक्को० धणुपुहत्तं।
सम्मुच्छिमखहयराणं जहा भुयपरिसप्पसम्मुच्छिमाणं तिसु वि गमेसु तहा भाणियव्वं।
गब्भवक्कंतियाणं जह० अंगु० असं०, उक्कोसेणं धणुपुहत्तं।
अपज्जत्तयाणं जहन्नेणं अंगु० असं०, उक्को० अंगु० असं०।
पज्जत्तयाणं जह० अंगु० असंखे०, उक्को० धणुपुहत्तं।

[३५१-४ प्र.] भगवन् ! खेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की शरीरावगाहना कितनी है ?

[३५१-४ उ.] गौतम ! उनकी जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट धनुषपृथक्त्व प्रमाण है तथा सामान्य संमूर्च्छिम खेचरपंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट शरीरावगाहना संमूर्च्छिम जन्म वाले भुजपरिसर्प पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के तीन अवगाहना-स्थानों के बराबर समझ लेना चाहिये।

[प्र.] भगवन् ! गर्भव्युत्क्रान्त खेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की शरीरावगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! उनकी जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण और उत्कृष्ट धनुषपृथक्त्व प्रमाण है।

[प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्त खेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की अवगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! उनकी जघन्य और उत्कृष्ट शरीरावगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

[प्र.] भगवन् ! पर्याप्त गर्भज खेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की शरीरावगाहना कितनी है ?

[उ.] गौतम ! उनकी जघन्य शरीरावगाहना का प्रमाण अंगुल का असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट धनुषपृथक्त्व है ।

[५] एत्थ संगहणिगाहाओ भवंति । तं जहा—

जोयणसहस्स गाउयपुहत्त तत्तो य जोयणपुहत्तं ।
दोण्हं तु धणुपुहत्तं सम्मुच्छिम होइ उच्चत्तं ॥ १०१ ॥
जोयणसहस्स छग्गाउयाइं तत्तो य जोयणसहस्सं ।
गाउयपुहत्त भुयगे पक्खीसु भवे धणुपुहत्तं ॥ १०२ ॥

[३५१-५] उक्त समग्र कथन की संग्राहक गाथाएं इस प्रकार हैं—

संमूर्च्छिम जलचरतिर्यंचपंचेन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन, चतुष्पदस्थलचर की गव्यूतिपृथक्त्व, उरपरिसर्पस्थलचर की योजनपृथक्त्व, भुजपरिसर्पस्थलचर की एवं खेचरतिर्यंचपंचेन्द्रिय की धनुषपृथक्त्व प्रमाण है । १०१

गर्भज तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों में से जलचरों की एक हजार योजन, चतुष्पदस्थलचरों की छह गव्यूति उरपरिसर्पस्थलचरों की एक हजार योजन, भुजपरिसर्पस्थलचरों की गव्यूति-पृथक्त्व और पक्षियों (खेचरों) की धनुषपृथक्त्व प्रमाण उत्कृष्ट शरीरावगाहना जानना चाहिये । १०२

विवेचन—उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों में खेचरपंचेन्द्रिय तिर्यंचों की शरीरावगाहना का प्रमाण बतलाया है । इसके साथ ही एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त के समस्त तिर्यंचगति के जीवों की अवगाहना का वर्णन समाप्त हुआ ।

उपर्युक्त कथन को निम्नलिखित प्रारूप द्वारा सुगमता से समझा जा सकता है—

अवगाहना क्रम	नाम	जघन्य अवगाहना	उत्कृष्ट अवगाहना
१.	सामान्य पंचेन्द्रिय	अंगु. के असंख्यातवें भाग	एक हजार योजन प्रमाण
जलचर			
१.	सामान्य जलचर	अंगु. के असं. भाग	एक हजार योजन
२.	संमूर्च्छिम जलचर	अंगु के असंख्या. भाग	एक हजार योजन
३.	अपर्या ,,	,, ,, ,, ,,	अंगुल के असंख्यातवें भाग
४.	पर्याप्त ,,	,, ,, ,, ,,	एक हजार योजन
५.	सामान्य गर्भज	,, ,, ,, ,,	,, ,, ,,
६.	अपर्याप्त ,,	,, ,, ,, ,,	अंगुल के असंख्यातवें भाग
७.	पर्याप्त ,,	,, ,, ,, ,,	एक हजार योजन प्रमाण
स्थलचर (क) चतुष्पद			
१.	सामान्य चतुष्पद	अंगुल के असंख्या. भाग	छह गव्यूति प्रमाण
२.	संमू. ,,	,, ,, ,, ,,	गव्यूतिपृथक्त्व

अवगाहना क्रम	नाम	जघन्य अवगाहना	उत्कृष्ट अवगाहना
३.	अप. संमू. ,,	अंगुल के असंख्यातवें भाग	अंगुल के असंख्यातवें भाग
४.	पर्या. ,, ,,	,, ,, ,, ,,	गव्यूतपृथक्त्व
५.	सामान्य गर्भज	,, ,, ,, ,,	छह गव्यूति प्रमाण
६.	अप. ,,	,, ,, ,, ,,	अंगुल के असंख्यातवें भाग
७.	पर्या. ,,	,, ,, ,, ,,	छह गव्यूति प्रमाण
(ख) उरपरिसर्प			
१.	सामान्य उरपरिसर्प	अंगुल के असं. भाग	एक हजार योजन प्रमाण
२.	संमू. ,,	,, ,, ,, ,,	योजनपृथक्त्व
३.	,, अप.	,, ,, ,, ,,	अंगुल के असंख्यातवें भाग
४.	,, पर्या.	,, ,, ,, ,,	योजनपृथक्त्व
५.	सामान्य गर्भज	,, ,, ,, ,,	एक हजार योजन प्रमाण
६.	अप. ग.	,, ,, ,, ,,	अंगुल का असंख्यातवां भाग
७.	पर्या. ग.	,, ,, ,, ,,	एक हजार योजन प्रमाण
(ग) भुजपरिसर्प			
१.	सामान्य भुजपरिसर्प	अंगु. का असंख्यातवें भा.	गव्यूतिपृथक्त्व
२.	सामान्य भुज. संमू.	,, ,, ,, ,,	धनुषपृथक्त्व
३.	संमू. ,, अपर्याप्त	,, ,, ,, ,,	अंगुल का असं. भाग
४.	,, ,, पर्याप्त	,, ,, ,, ,,	धनुषपृथक्त्व
५.	सामान्य भुज. गर्भज	,, ,, ,, ,,	गव्यूतिपृथक्त्व
६.	गर्भ. भुज. अप.	,, ,, ,, ,,	अंगुल का असंख्या. भाग
७.	" " पर्याप्त	,, ,, ,, ,,	गव्यूतिपृथक्त्व
खेचर			
१.	सामान्य खेचर	,, ,, ,, ,,	धनुषपृथक्त्व
२.	,, संमू. खेचर	,, ,, ,, ,,	,, ,,
३.	संमू. खेचर अप.	,, ,, ,, ,,	अंगुल का असं. भाग
४.	,, ,, पर्याप्त	,, ,, ,, ,,	धनुषपृथक्त्व
५.	सामान्य गर्भज खेचर	,, ,, ,, ,,	,, ,,
६.	गर्भज खेचर अप.	,, ,, ,, ,,	अंगुल का असं. भाग
७.	,, ,, पर्याप्त	,, ,, ,, ,,	धनुषपृथक्त्व

इस प्रकार तिर्यंच पंचेन्द्रियों के छत्तीस अवगाहनास्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण जानना चाहिए ।

मनुष्यगति-अवगाहनानिरूपण

३५२. [१] मणुस्साणं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं ।

[३५२-१ प्र.] भगवन् ! मनुष्यों की शरीरावगाहना कितनी कही गई है ?

[३५२-१ उ.] गौतम (सामान्य रूप में) मनुष्यों की अवगाहना जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट तीन गव्यूति है ।

[२] सम्मुच्छिममणुस्साणं जाव गोयमा ! जहन्नेणं अंगु० असं०, उक्को० अंगु० असं० ।

[३५२-२ प्र.] भगवन् ! संमूर्च्छिम मनुष्यों की अवगाहना कितनी है ?

[२५२-२ उ.] गौतम ! संमूर्च्छिम मनुष्यों की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ।

[३] गब्भवक्कंतियमणुस्साणं जाव गोयमा ! जह० अंगु० असं०, उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं ।

अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं पुच्छा, गो० ! जह० अंगु० असं० उक्कोसेण वि अंगु० असं० ।

पज्जत्तयग० पुच्छा गो० ! जह० अंगु० असंखे०, उक्कोसेणं तिन्नि गाउआइं ।

[३५२-३ प्र.] भगवन् ! गर्भव्युत्क्रान्त मनुष्यों की अवगाहना की पृच्छा है ?

[३५२-३ उ.] गौतम ! सामान्य रूप में गर्भज मनुष्यों की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट तीन गव्यूति प्रमाण है ।

[प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्त मनुष्यों की अवगाहना कितनी है ?

[उ.] उनकी जघन्य और उत्कृष्ट शरीरावगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है ।

[प्र] भगवन् ! पर्याप्त गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों की अवगाहना का प्रमाण कितना है ?

[उ.] गौतम ! उनकी जघन्य अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट अवगाहना तीन गव्यूति प्रमाण है ।

विवेचन—प्रस्तुत प्रश्नोत्तरों में मनुष्यों कीशरीरावगाहना का प्रमाण बतलाया है । मनुष्यों के पांच अवगाहनास्थान हैं—१. सामान्य मनुष्य, २. संमूर्च्छिम मनुष्य, ३. गर्भज मनुष्य, ४. पर्याप्त गर्भज मनुष्य और ५. अपर्याप्त गर्भज मनुष्य । संमूर्च्छिम तिर्यंचों की तरह संमूर्च्छिम मनुष्यों में अपर्याप्त और पर्याप्त ये दो विकल्प नहीं होते । संमूर्च्छिम मनुष्य गर्भज मनुष्यों के शुक्र, शोणित आदि में ही उत्पन्न होते हैं और वे अपर्याप्त अवस्था में ही मर जाते हैं । अतः उनमें पर्याप्त, अपर्याप्त विकल्प संभव न होने से तज्जन्य अवगाहनास्थान भी नहीं बताये हैं ।

सामान्य पद में मनुष्यों की जो उत्कृष्ट अवगाहना तीन गव्यूति प्रमाण कही गई है, वह देवकुरु आदि के मनुष्यों की अपेक्षा जानना चाहिए।

दिगम्बरपरम्परा के ग्रन्थों में मनुष्यगति सम्बन्धी शरीरावगाहना का प्रमाण क्षेत्रापेक्षा और सुषमासुषमा आदि कालों की अपेक्षा से भी पृथक्-पृथक् वतलाया है। ज्ञातव्य होने से उसको यहाँ उद्धृत करते हैं।

भरतादि क्षेत्रों तथा भूमि की अपेक्षा अवगाहना का प्रमाण इस प्रकार है[1]—

गणना—२००० धनुष का एक कोस

क्रम	अधिकरण		अवगाहना	
	क्षेत्रनिर्देश	भूमिनिर्देश	जघन्य	उत्कृष्ट
१.	भरत, ऐरवत	कर्मभूमि	३½ हाथ	५२५ धनुष
२.	हैमवत, हैरण्यवत	जघन्य भोगभूमि	५२५,५०० धनुष	२००० धनुष
३.	हरि, रम्यक	मध्यम भोगभूमि	२००० धनुष	४००० धनुष
४.	विदेह	उत्तम कर्मभूमि	५०० धनुष	५०० धनुष
५.	देवकुरु, उत्तरकुरु	उत्तम भोगभूमि	४००० धनुष	६००० धनुष
६.	अन्तर्द्वीप	कुभोगभूमि	५०० धनुष	२००० धनुष

छह आरों की अपेक्षा मनुष्यों की अवगाहना[2]—

कालनिर्देश	अवसर्पिणी		कालनिर्देश	उत्सर्पिणी	
	जघन्य	उत्कृष्ट		जघन्य	उत्कृष्ट
सुषमासुषमा	४००० ध.	६००० ध.	दुषमादुषमा	१ हाथ	३ या ३½ हाथ
सुषमा	२००० ध.	४००० ,,	दुषमा	३ या ३½ हाथ	७ हाथ
सुषमासुषमा	५२५ ध.	२००० ,,	दुषमासुषमा	७ हाथ	५२५ धनुष
दुषमासुषमा	७ हाथ	५२५ ,,	सुषमादुषमा	५२५ धनुष	२००० धनुष
दुषमा	३ या ३½ हाथ	७ हाथ	सुषमा	२००० धनुष	४००० धनुष
दुषमादुषमा	१ हाथ	३ या ३½ हाथ	सुषमासुषमा	४००० धनुष	६००० धनुष

इस प्रकार से मनुष्यों की अवगाहना वतलाने के बाद भवनपति देवों का वर्णन पूर्व में कर दिये जाने से अब देवगति के वाणव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक निकाय के देवों की अवगाहना का निरूपण किया जाता है।

१. आधार—मूलाचार १०६३,१०८७, सर्वार्थसिद्धि ३/२९-३१, तत्त्वार्थराजवार्तिक ३/२९-३१, धवला ४/१,३,२/४५, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ११/५४, तत्त्वार्थसार २/१३७

२. आधार—तिलोयपण्णत्ति ४।३३५, ३९६, ४०४, १२७७, १४७५, १५३६, १५६४, १५६८, १५७६, १५९५ १५९७, १५९८, १६००, १६०१, १६०२, १६०४ गाथायें।

वाण-व्यंतर और ज्योतिष्क देवों की अवगाहना

३५३. वाणमंतराणं भवधारणिज्जा उत्तरवेउव्विया य जहा असुरकुमाराणं तहा भाणियव्वं।

[३५३] वाणव्यंतरों की भवधारणीय एवं उत्तर वैक्रियशरीर की अवगाहना असुरकुमारों जितनी जानना चाहिये।

३५४. जहा वाणमंतराणं तहा जोतिसियाणं।

[३५४] जितनी (भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय रूप) अवगाहना वाणव्यंतरों की है, उतनी ही ज्योतिष्क देवों की भी है।

विवेचन—इन दो सूत्रों में वाणव्यंतर और ज्योतिष्क देवनिकायों की शरीरावगाहना का प्रमाण पूर्व में कथित असुरकुमारों की अवगाहना के अतिदेश द्वारा बतलाया है। जिसका तात्पर्य यह हुआ कि असुरकुमारों की जो भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगाहना अंगल के असंख्यातवें भाग तथा उत्कृष्ट सात रत्नि और उत्तरवैक्रिय की जघन्य अवगाहना अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक लाख योजन की कही है, इतनी ही अवगाहना इन व्यंतरों एवं ज्योतिष्क देवों की भी है।

लब्धि की अपेक्षा देव पर्याप्तक ही होते हैं। अतएव पर्याप्त, अपर्याप्त विकल्प संभव नहीं होने से इनकी पृथक्-पृथक् अवगाहना का प्रमाण नहीं बताया है, किन्तु वैक्रियशरीरी होने से विविध प्रकार के उत्तरवैक्रिय रूप निष्पन्न करने की क्षमता वाले होने से तत्संबन्धी जघन्य और उत्कृष्ट शरीरावगाहना का प्रमाण बतलाया है।

वैमानिक देवों की अवगाहना

३५५. [१] सोहम्मयदेवाणं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा प०। तं०—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्त रयणीओ।

तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं, उक्कोसेणं जोयणसतसहस्सं।

[३५५-१ प्र.] भगवन् ! सौधर्मकल्प के देवों की शरीरावगाहना कितनी है ?

[३५५-१ उ.] गौतम ! (सौधर्मकल्प के देवों की अवगाहना) दो प्रकार की कही गई है—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। इनमें से भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट सात रत्नि है।

उत्तरवैक्रिय शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक लाख योजन प्रमाण है।

[२] जहा सोहम्मे तहा ईसाणे कप्पे वि भाणियव्वं।

[३५५-२] ईशानकल्प में भी देवों की अवगाहना का प्रमाण सौधर्मकल्प जितना ही जानना चाहिये।

[३] जहा सोहम्मयदेवाणं पुच्छा तहा सेसकप्पाणं देवाणं पुच्छा भाणियव्वा जाव अच्चुय-कप्पो—

सणंकुमारे भवधारणिज्जा जह० अंगु० असं० उक्कोसेणं छ रयणीओ; उत्तरवेउव्विया जहा सोहम्मे।

जहा सणंकुमारे तहा माहिंदे।

बंभलोग-लंतएसु भवधारणिज्जा जह० अंगुल० असं०, उक्को० पंच रयणीओ; उत्तरवेउव्विया जहा सोहम्मे।

महासुक्क-सहस्सारेसु भवधारणिज्जा जहन्नेणं अंगु० असं०, उक्कोसेणं चत्तारि रयणीओ; उत्तरवेउव्विया जहा सोहम्मे।

आणत-पाणत-आरण-अच्चुतेसु चउसु वि भवधारणिज्जा जह० अंगु० असं०, उक्कोसेणं तिण्णि रयणीओ; उत्तरवेउव्विया जहा सोहम्मे।

[३५५-३] सौधर्मकल्प के देवों की शरीरावगाहना विषयक प्रश्न की तरह ईशानकल्प को छोड़कर शेष अच्युतकल्प तक के देवों की अवगाहना संबन्धी प्रश्न पूर्ववत् जानना चाहिये। उत्तर इस प्रकार हैं—

सनत्कुमारकल्प में भवधारणीय जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट छह रत्नि प्रमाण है, उत्तरवैक्रिय अवगाहना सौधर्मकल्प के बराबर है।

सनत्कुमारकल्प जितनी अवगाहना माहेन्द्रकल्प में जानना।

ब्रह्मलोक और लांतक—इन दो कल्पों में भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट अवगाहना पांच रत्नि प्रमाण है तथा उत्तरवैक्रिय अवगाहना का प्रमाण सौधर्मकल्पवत् है।

महाशुक्र और सहस्रार कल्पों में भवधारणीय अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट चार रत्नि प्रमाण है तथा उत्तरवैक्रिय शरीरावगाहना सौधर्मकल्प के समान है।

आनत, प्राणत, आरण और अच्युत—इन चार कल्पों में भवधारणीय अवगाहना जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग और उत्कृष्ट तीन रत्नि की है। इनकी उत्तरवैक्रिय अवगाहना सौधर्मकल्प के ही समान है।

विवेचन—देवों के चार निकाय हैं—भवनपति, वाण-व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक। इनमें से आदि के तीन निकाय इन्द्र आदि कृत भेदकल्पना पाये जाने से निश्चितरूपेण कल्पोपपन्न ही हैं। फिर भी रूढि से 'कल्प' शब्द का व्यवहार वैमानिकों के लिये ही किया जाता है। सौधर्म आदि अच्युत पर्यन्त के देव इन्द्रादि भेद वाले होने से कल्पोपपन्न हैं और इनसे ऊपर ग्रैवेयक आदि सर्वार्थसिद्ध तक के विमानों में इन्द्रादि की कल्पना नहीं होने से वहाँ के देव कल्पातीत कहलाते हैं।

उपर्युक्त सूत्र में कल्पोपपन्न वैमानिक देवों के सौधर्म से लेकर अच्युत पर्यन्त के देवों की

भवधारणीय एवं उत्तरवैक्रिय अवगाहना का प्रमाण जघन्य तथा उत्कृष्ट इन दोनों अपेक्षाओं से बतलाया है।

इन सभी कल्पवासी देवों की उत्तरवैक्रिय जघन्य और उत्कृष्ट शरीरावगाहना समान अर्थात् जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण और उत्कृष्ट एक लाख योजन की है। यह उत्तरवैक्रिय उत्कृष्ट शरीरावगाहना का प्रमाण उनकी योग्यता—क्षमता की अपेक्षा से ही जानना चाहिए। लेकिन भवधारणीय उत्कृष्ट अवगाहना में अन्तर है। इसका कारण यह है कि ऊपर-ऊपर के प्रत्येक कल्प में वैमानिक देवों की आयुस्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति-कांति, लेश्याओं की विशुद्धि, विषयों को ग्रहण करने की ऐन्द्रियक शक्ति एवं अवधिज्ञान की विशदता अधिक है।[1] किन्तु एक देश से दूसरे देश में गमन करने रूप गति, शरीरावगाहना, परिग्रह-ममत्वभाव और अभिमान भावना उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर के देवों में हीन-हीन होती है।[2] इसी कारण सौधर्मकल्प में देवों की शरीरावगाहना सात रत्नि प्रमाण है तो वह बारहवें अच्युतकल्प में जाकर तीन रत्नि प्रमाण रह जाती है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर शरीरावगाहना की हीनता का क्रम ग्रैवेयक से लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान तक के कल्पातीत देवों के लिये भी जानना चाहिये।

'जहा सोहम्मयदेवाणं पुच्छा तहा सेसकप्पाणं देवाणं पुच्छा भाणियव्वा जाव अच्चुयकप्पो' इस वाक्य में इस प्रकार के प्राश्निक पदों का समावेश किया गया है—'सणंकुमारे कप्पे देवाणं भंते! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता? गोयमा! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जा सा……।' इसी प्रकार से शेष कल्पों के नामों का उल्लेख करके उन-उनके प्रश्न की उद्भावना कर लेना चाहिये।

इस प्रकार से कल्पोपपन्न वैमानिक देवों की शरीरावगाहना का प्रमाण बतलाने के अनन्तर अब कल्पातीत वैमानिकों की शरीरावगाहना का निरूपण करते हैं।

[४] गेवेज्जयदेवाणं भंते! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता?

गो०! गेवेज्जगदेवाणं एगे भवधारणिज्जए सरीरए, से जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं दो रयणीओ।

[३५५-४ प्र.] भगवन्! ग्रैवेयकदेवों की शरीरावगाहना कितनी है?

[३५५-४ उ.] गौतम! ग्रैवेयकदेवों के एकमात्र भवधारणीय शरीर ही होता है। उस शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट अवगाहना दो हाथ की होती है।

[५] अणुत्तरोववाइयदेवाणं भंते! केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता?

गोयमा! अणुत्तरोववाइयदेवाणं एगे भवधारणिज्जए सरीरए, से जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं एक्का रयणी।

---

१. स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः।

२. गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः। —तत्त्वार्थसूत्र ४।२०,२१

[३५५-५ प्र.] भगवन् ! अनुत्तरोपपातिक देवों के शरीर की कितनी अवगाहना होती है ?

[३५५-५ उ.] गौतम ! अनुत्तरविमानवासी देवों के एकमात्र भवधारणीय शरीर ही कहा गया है। उसकी अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हाथ की होती है।

विवेचन—यहाँ ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी देवों की अवगाहना का प्रमाण बतलाया है। ये देव उत्तरविक्रिया नहीं करते हैं, अतएव इनकी भवधारणीय शरीर की अवगाहना का ही प्रमाण बतलाया है।

चतुर्विध देवनिकायों की शरीरावगाहना के प्रमाण का सुगमता से बोध कराने वाला प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	देवनाम	भवधारणीय		उत्तरवैक्रिय	
		जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट
१.	भवनपति	अंगु.असं.भाग	सात हाथ	अंगु. सं. भाग	एक लाख यो.
२.	वाण-व्यंतर	"	"	"	"
३.	ज्योतिष्क	"	"	"	"
४.	सौधर्म-ईशान	"	"	"	"
५.	सनत्कुमार-माहेन्द्र	"	छह हाथ	"	"
६.	ब्रह्मलोक-लान्तक	"	पांच हाथ	"	"
७.	महाशुक्र-सहस्रार	"	चार हाथ	"	"
८.	आनत-प्राणत	"	तीन हाथ	"	"
९.	आरण-अच्युत	"	तीन हाथ	"	"
१०.	ग्रैवेयक	"	दो हाथ	×	×
११.	अनुत्तर	"	एक हाथ	×	×

यह सर्व अवगाहना उत्सेधांगुल से मापी जाती है।

उत्सेधांगुल के भेद और भेदों का अल्पबहुत्व

३५६. से समासओ तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सूईअंगुले पयरंगुले घणंगुले। अंगुलायता एगपदेसिया सेढी सूईअंगुले, सूई सूईए गुणिया पयरंगुले, पयरं सूईए गुणियं घणंगुले।

[३५६] वह उत्सेधांगुल संक्षेप से तीन प्रकार का कहा गया है। यथा—सूच्यंगुल, प्रतरांगुल और घनांगुल।

एक अंगुल लम्बी तथा एक प्रदेश चौड़ी आकाशप्रदेशों की श्रेणी (पंक्ति—रेखा) को सूच्यंगुल कहते हैं। सूची से सूची को गुणित करने पर प्रतरांगुल निष्पन्न होता है, सूच्यंगल से गुणित प्रतरांगुल घनांगुल कहलाता है।[1]

१. सूच्यंगुल में केवल लम्बाई का, प्रतरांगुल में लम्बाई और चौड़ाई का तथा घनांगुल में लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई—तीनों का ग्रहण होता है।

३५७. एएसि णं सूचीअंगुल-पयरंगुल-घणंगुलाणं कतरे कतरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा ?

सव्वत्थोवे सूईअंगुले, पयरंगुले असंखेज्जगुणे, घणंगुले असंखेज्जगुणे। से तं उस्सेहंगुले।

[३५७ प्र.] भगवन् ! इन सूच्यंगुल, प्रतरांगुल और घनांगुल में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[३५७ उ.] इनमें सर्वस्तोक (सबसे छोटा) सूच्यंगुल है, उससे प्रतरांगुल असंख्यातगुणा और प्रतरांगुल से घनांगुल असंख्यातगुणा है।

इस प्रकार यह उत्सेधांगुल का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—आत्मांगुल की तरह यह उत्सेधांगुल भी सूची, प्रतर और घन के भेद से तीन प्रकार का है। इनका स्वरूप तथा अल्पबहुत्व एवं अल्पबहुत्व के कारण को आत्मांगुलवत् समझ लेना चाहिए।

प्रमाणांगुलनिरूपण

३५८. से किं तं पमाणंगुले ?

पमाणंगुले एगमेगस्स णं रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठ सोवण्णिए कागणिरयणे छत्तले दुवालसंसिए अट्ठकण्णिए अहिगरणिसंठाणसंठिए पण्णत्ते, तस्स णं एगमेगा कोडी उस्सेहंगुलविक्खंभा, तं समणस्स भगवओ महावीरस्स अद्धंगुलं, तं सहस्सगुणं पमाणंगुलं भवति।

[३५८ प्र.] भगवन् ! प्रमाणांगुल का क्या स्वरूप है ?

[३५८ उ.] आयुष्मन् ! (परम प्रकर्ष रूप परिमाण को प्राप्त—सबसे बड़े अंगुल को प्रमाणांगुल कहते हैं।) भरतक्षेत्र पर अखण्ड शासन करने वाले चक्रवर्ती राजा के अष्ट स्वर्णप्रमाण, छह तल वाले, बारह कोटियों और आठ कर्णिकाओं से युक्त अधिकरण संस्थान (सुनार के एरण जैसे आकार वाले) काकणीरत्न की एक-एक कोटि उत्सेधांगुल प्रमाण विष्कंभ (चौड़ाई) वाली है, उसकी वह एक कोटि श्रमण भगवान् महावीर के अर्धांगुल प्रमाण है। उस अर्धांगुल से हजार गुणा (अर्थात् उत्सेधांगुल से हजार गुणा) एक प्रमाणांगुल होता है।

३५९. एतेणं अंगुलप्पमाणेणं छ अंगुलाइं पादो, दो पाया—दुवालस अंगुलाइं विहत्थी, दो विहत्थीओ रयणी, दो रयणीओ कुच्छी, दो कुच्छीओ धणू, दो धणुसहस्साइं गाउयं, चत्तारि गाउयाइं जोयणं।

[३५९] इस अंगुल से छह अंगुल का एक पाद, दो पाद अथवा बारह अंगुल की एक वितस्ति, दो वितस्तियों की रत्नि (हाथ), दो रत्नि की एक कुक्षि होती है। दो कुक्षियों का एक धनुष, दो हजार धनुष का एक गव्यूत और चार गव्यूत का एक योजन होता है।

विवेचन—इन दो सूत्रों में से पहले में प्रमाणांगुल का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ बतला कर उसके यथार्थ मान का निर्देश किया है। इसी प्रसंग में चक्रवर्ती राजा का स्वरूप, उसके प्रमुख रत्न काकणी

का प्रमाण और श्रमण भगवान् महावीर के आत्मांगुल का मान बता दिया है। इस तरह एक ही प्रसंग में अनेक वस्तुओं का निर्देश करके जिज्ञासुओं को सुगमता से बोध कराया है।

प्रमाणांगुल का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ सुगम है।

चक्रवर्ती राजा का लक्षण बताने से लिये 'एगमेगस्स' और 'चाउरंतचक्कवट्टिस्स' यह षष्ठी विभक्त्यन्त दो विशेषण दिये हैं। इनमें से एगमेगस्स विशेषण का अर्थ यह है कि एक समय में एक क्षेत्र में एक ही चक्रवर्ती राजा होता है, अधिक नहीं।

जम्बूद्वीप में कर्मभूमिक क्षेत्र भरत और ऐरवत ये दो हैं। इनके सिवाय शेष क्षेत्र अकर्मभूमिक (भोगभूमिक) हैं। उनमें शासक, शासित आदि व्यवस्था नहीं होती है। अतएव भरतक्षेत्रापेक्षा दक्षिण, पूर्व और पश्चिम इन तीन दिशाओं में फैले हुए लवणसमुद्र और उत्तर में हिमवन्पर्वत पर्यन्त तक पांच म्लेच्छ और एक आर्यखंड इस प्रकार छह खण्डों से मंडित सम्पूर्ण भरतक्षेत्र को विजित कर एकच्छत्र शासन करने वाले राजा चातुरंतचक्रवर्ती कहलाते हैं।[1]

तीर्थंकरों की तरह चक्रवर्ती राजा भी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के तीसरे, चौथे आरे में होते हैं।

प्रत्येक चक्रवर्ती सात एकेन्द्रिय और सात पंचेन्द्रिय, कुल चौदह रत्नों का स्वामी होता है। अपनी-अपनी जाति में सर्वोत्कृष्ट होने के कारण इन्हें रत्न कहा जाता है। प्रस्तुत में उल्लिखित काकणीरत्न पार्थिव है और वह आठ सुवर्ण जितना भारी (वजन वाला) होता है। सुवर्ण उस समय का एक तोल था। इसका विवरण पूर्व में बताया जा चुका है। साथ ही उसके आकार—संस्थान आदि का उल्लेख करते हुए बताया है कि वह चारों ओर से सम होता है। उसकी आठ कर्णिकायें और बारह कोटियां होती हैं। प्रत्येक कोटि एक उत्सेधांगुल विष्कंभ प्रमाण[2] होती है।

काकणीरत्न विष को नष्ट करने वाला होता है। यह सदा चक्रवर्ती के स्कन्धावार में स्थापित रहता है। इसकी किरणें बारह योजन तक फैलती हैं। जहाँ चंद्र, सूर्य, अग्नि आदि अंधकार को नष्ट करने में समर्थ नहीं होते, ऐसी तमिस्रा गुफा में यह काकणी रत्न अंधकार को समूल नष्ट कर देता है।

'चउरंगुलप्पमाणा सुवण्णवरकागणी नेये ति'[3] अर्थात् चतुरंगुल प्रमाण काकणीरत्न जानना चाहिये, ऐसा किसी-किसी ग्रन्थ में कहा गया है। लेकिन तथाविध संप्रदाय की उपलब्धि न

---

१. ऐरवत क्षेत्र की अपेक्षा पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा में फैले लवणसमुद्र और दक्षिण दिशा में शिखरी पर्वत पर्यन्त के ऐरवत क्षेत्र को विजित करने वाले समझना चाहिये।

२. विष्कंभ शब्द का प्रयोग काकिणीरत्न की समचतुरस्रता का बोध कराने के लिये किया है कि इसका आयाम—लम्बाई और विष्कंभ—चौड़ाई समान है और प्रत्येक उत्सेधांगुल प्रमाण है। क्योंकि ऊंची करने पर जो कोटि अभी आयाम वाली—लम्बी है, वही तिरछी करने पर विष्कंभ वाली—चौड़ी हो जाती है। अतएव आयाम और विष्कंभ इनमें से किसी एक का निर्णय हो जाने पर दूसरा स्वयं निर्णीत हो जाता है।

३. अनुयोगद्वारसूत्रवृत्ति, पत्र १७१

होने से विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता परन्तु प्रत्येक उत्सेधांगुल भगवान् महावीर के अर्धांगुल के बराबर होता है, यह निश्चित है और उससे हजार गुणा एक प्रमाणांगुल होता है।

प्रमाणांगुल का प्रयोजन

३६०. एतेणं पमाणंगुलेणं किं पओयणं ?

एएणं पमाणंगुलेणं पुढवीणं कंडाणं पायालाणं भवणाणं भवणपत्थडाणं निरयाणं निरयावलियाणं निरयपत्थडाणं कप्पाणं विमाणाणं विमाणावलियाणं विमाणपत्थडाणं टंकाणं कूडाणं सेलाणं सिहरीणं पब्भाराणं विजयाणं वक्खाराणं वासाणं वासहराणं वासहरपव्वयाणं वेलाणं वेइयाणं दाराणं तोरणाणं दीवाणं समुद्दाणं आयाम-विक्खंभ-उच्चत्तोव्वेह-परिक्खेवा मविज्जंति।

[३६० प्र.] भगवन् ! इस प्रमाणांगुल से कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है ?

[३६० उ.] आयुष्मन् ! इस प्रमाणांगुल से (रत्नप्रभा आदि नरक) पृथ्वियों की, (रत्नकांड आदि) कांडों की, पातालकलशों की, (भवनवासियों के) भवनों की, भवनों के प्रस्तरों की, नरकावासों की, नरकपंक्तियों की, नरक के प्रस्तरों की, कल्पों की, विमानों की, विमानपंक्तियों की, विमानप्रस्तरों की, टंकों की, कूटों की, पर्वतों की, शिखर वाले पर्वतों की, प्राग्भारों (नमित पर्वतों) की, विजयों की, वक्षारों की, (भरत आदि) क्षेत्रों की, (हिमवन् आदि) वर्षधर पर्वतों की, समुद्रों की, वेलाओं की, वेदिकाओं की, द्वारों की, तोरणों की, द्वीपों की तथा समुद्रों की लंबाई, चौड़ाई, ऊंचाई, गहराई और परिधि नापी जाती है।

विवेचन—लोक में तीन प्रकार के रूपी पदार्थ हैं—१. मनुष्यकृत, २. उपाधिजन्य और ३. शाश्वत। मनुष्यकृत पदार्थों की लंबाई, चौड़ाई आदि का माप आत्मांगुल के द्वारा जाना जाता है।

उपाधिजन्य पदार्थ से यहाँ शरीर अभिप्रेत है। इसका माप उत्सेधांगुल द्वारा किया जाता है। शाश्वत पदार्थों की लम्बाई-चौड़ाई आदि प्रमाणांगुल के द्वारा मापी जाती है। जैसे नरकभूमियां शाश्वत हैं, उनकी लम्बाई-चौड़ाई में किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं आता, अतः प्रमाणांगुल का परिमाण भी सदैव एक जैसा रहता है।

प्रमाणांगुल के भेद, अल्पबहुत्व

३६१. से समासओ तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सेढीअंगुले पयरंगुले घणंगुले।

असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ सेढी, सेढी सेढीए गुणिया पतरं, पतरं सेढीए गुणितं लोगो, संखेज्जएणं लोगो गुणितो संखेज्जा लोगा, असंखेज्जएणं लोगो गुणिओ असंखेज्जा लोगा।

[३६१] वह (प्रमाणांगुल) संक्षेप में तीन प्रकार का कहा गया है—१. श्रेण्यंगुल, २. प्रतरांगुल, ३. घनांगुल।

(प्रमाणांगुल से निष्पन्न) असंख्यात कोडाकोडी योजनों की एक श्रेणी होती है। श्रेणी को श्रेणी से गुणित करने पर प्रतरांगुल और प्रतरांगुल को श्रेणी के साथ गुणा करने से (एक) लोक होता

है। संख्यात राशि से गुणित लोक 'संख्यातलोक', असंख्यात राशि से गुणित लोक 'असंख्यातलोक' और अनन्त राशि से गुणित लोक 'अनन्तलोक' कहलाता है।

३६२. एतेसि णं सेढीअंगुल-पयरंगुल-घणंगुलाणं कतरे कतरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा ?

सव्वत्थोवे सेढिअंगुले, पयरंगुले असंखेज्जगुणे, घणंगुले असंखेज्जगुणे। से तं पमाणंगुले। से तं विभागनिप्फण्णे। से तं खेत्तप्पमाणे।

[३६२ प्र.] भगवन्! इन श्रेण्यंगुल, प्रतरांगुल और घनांगुल में कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[३६२ उ.] आयुष्मन्! श्रेण्यंगुल सर्वस्तोक (सबसे छोटा—अल्प) है, उससे प्रतरांगुल असंख्यात गुणा है और प्रतरांगुल से घनांगुल असंख्यात गुणा है।

इस प्रकार से प्रमाणांगुल की, साथ ही विभागनिष्पन्न क्षेत्रप्रमाण और क्षेत्रप्रमाण की वक्तव्यता पूर्ण हुई।

विवेचन—प्रस्तुत में 'असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ सेढी' पद का यह आशय है कि जो योजन प्रमाणांगुल से निष्पन्न हो वही योजन यहाँ ग्रहण करना चाहिये और ऐसे प्रमाणांगुल से निष्पन्न योजन की असंख्यात कोडाकोडी संवर्तित चतुरस्रीकृत लोक की एक श्रेणी होती है। एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर प्राप्त संख्या को कोडाकोडी कहते हैं।

यद्यपि सूत्र में घनांगुल के स्वरूप का संकेत नहीं किया है लेकिन, यह पहले बताया जा चुका है कि घनांगुल से किसी भी वस्तु की लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई का परिमाण जाना जाता है। अतएव यहाँ घनीकृत लोक के उदाहरण द्वारा घनांगुल का स्वरूप स्पष्ट किया है।

लोक को घनाकार समचतुरस्र रूप करने की विधि इस प्रकार है—समग्र लोक ऊपर से नीचे तक चौदह राजू प्रमाण है। उसका विस्तार नीचे सात राजू, मध्य में एक राजू, ब्रह्मलोक नामक पांचवें देवलोक तक के मध्यभाग में पांच राजू और शिरोभाग में एक राजू[1] है। यही शिरोभाग लोक का अन्त है।

इस प्रकार की लम्बाई, चौड़ाई प्रमाण वाले लोक की आकृति दोनों हाथ कमर पर रखकर नाचते हुए पुरुष के समान है। इसीलिये लोक को पुरुषाकार संस्थान से संस्थित कहा है। इस लोक के ठीक मध्यभाग में एक राजू चौड़ा और चौदह राजू ऊंचा क्षेत्र त्रसनाड़ी कहलाता है। इसे त्रसनाड़ी कहने का कारण यह है कि द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के त्रससंज्ञक जीवों का यही वास स्थान है।

अब इस चौदह राजू प्रमाण वाले ऊंचे लोक के कल्पना से अधोदिशावर्ती लोकखंड का पूर्व दिशा वाला भाग जो कि अधस्तनभाग में साढ़े तीन राजू प्रमाण विस्तृत है और फिर क्रम से ऊपर

---

१. मध्यलोकवर्ती असंख्यात द्वीप समुद्रों में सबसे अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र की पूर्व तटवर्ती वेदिका के अन्त से लेकर उसकी पश्चिम तटवर्ती वेदिका के अन्त तक को राजू का प्रमाण समझना चाहिये।

की ओर हीयमान विस्तार वाला होता हुआ अर्धराजू प्रमाण एवं सात राजू ऊंचा है, को लेकर पश्चिम दिशा वाले पार्श्व में ऊपर का भाग नीचे की ओर और नीचे का भाग ऊपर की ओर करके इकट्ठा रख दिया जाये, फिर ऊर्ध्वलोक में भी समभाग करके पूर्व दिशावर्ती दो त्रिकोण रूप दो खण्ड हैं, जो कि प्रत्येक साढ़े तीन राजू ऊंचे होते हैं, उन्हें भी कल्पना में लेकर विपरीत रूप में अर्थात् दक्षिण भाग को उल्टा और उत्तर भाग को सीधा करके इकट्ठा रख दिया जाए। इसी प्रकार पश्चिम दिशावर्ती दोनों त्रिकोणों को भी इकट्ठा किया जाए, ऐसा करने पर लोक का वह अर्धभाग भी साढ़े तीन राजू का विस्तार वाला और सात राजू की ऊंचाई वाला होगा। तत्पश्चात् उस ऊपर के अर्धभाग को नीचे के अर्धभाग के साथ जोड़ दिया जाये। ऐसा करने पर लोक सात राजू ऊंचा और सात राजू चौड़ा घनरूप बन जाता है। इस लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई का परस्पर गुणा करने पर (७×७×७=३४३) तीन सौ तेतालीस राजू घनफल लोक का होता है।

सिद्धान्त में जहाँ कहीं भी बिना किसी विशेषता के सामान्य रूप से श्रेणी अथवा प्रतर का उल्लेख हो वहाँ सर्वत्र इस घनाकार लोक की सात राजू प्रमाण श्रेणी अथवा प्रतर समझना चाहिये।

इसी प्रकार जहाँ कहीं भी सामान्य रूप से लोक शब्द आए, वहाँ इस घनरूप लोक का ग्रहण करना चाहिये। संख्यात राशि से गुणित लोक की संख्यातलोक, असंख्यात राशि से गुणित लोक की असंख्यातलोक तथा अनन्त राशि से गुणित लोक की अनन्तलोक संज्ञा है।

यद्यपि अनन्तलोक के बराबर अलोक है और उसके द्वारा जीवादि पदार्थ नहीं जाने जाते हैं, तथापि वह प्रमाण इसलिये है कि उसके द्वारा अपना—अलोक का स्वरूप तो जाना ही जाता है। अन्यथा अलोकविषयक बुद्धि ही उत्पन्न नहीं हो सकती है।

इस प्रकार से विभागनिष्पन्न एवं समस्त क्षेत्रप्रमाण की प्ररूपणा जानना चाहिये।

कालप्रमाण प्ररूपण

३६३. से किं तं कालप्पमाणे ?

कालप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—पदेसनिप्फण्णे य विभागनिप्फण्णे य।

[३६३ प्र.] भगवन् ! कालप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[३६३ उ.] आयुष्मन् ! कालप्रमाण दो प्रकार का कहा गया है—१. प्रदेशनिष्पन्न, २. विभागनिष्पन्न।

३६४. से किं तं पदेसनिप्फण्णे ?

पदेसनिप्फण्णे एगसमयट्ठितीए दुसमयट्ठितीए तिसमयट्ठितीए जाव दससमयट्ठितीए संखेज्जसमयट्ठितीए असंखेज्जसमयट्ठिईए। से तं पदेसनिप्फण्णे।

[३६४ प्र.] भगवन् ! प्रदेशनिष्पन्न कालप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[३६४ उ.] आयुष्मन् ! एक समय की स्थिति वाला, दो समय की स्थिति वाला, तीन समय की स्थिति वाला, यावत् दस समय की स्थिति वाला, संख्यात समय की स्थिति वाला, असंख्यात

समय की स्थिति वाला (परमाणु या स्कन्ध) प्रदेशनिष्पन्न कालप्रमाण है। इस प्रकार से प्रदेशनिष्पन्न (अर्थात् काल के निर्विभाग अंश से निष्पन्न) कालप्रमाण का स्वरूप जानना चाहिये।

३६५. से किं तं विभागनिप्फण्णे ?

विभागनिप्फण्णे—

समयाऽऽवलिय-मुहुत्ता दिवस-अहोरत्त-पक्ख मासा य।
संवच्छर-जुग-पलिया सागर-ओसप्पि-परिअट्टा ॥ १०३ ॥

[३६५ प्र.] भगवन् ! विभागनिष्पन्न कालप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[३६५ उ.] आयुष्मन् ! समय, आवलिका, मुहूर्त, दिवस, अहोरात्र, पक्ष, मास, संवत्सर, युग, पल्योपम, सागर, अवसर्पिणी (उत्सर्पिणी) और (पुद्गल) परावर्तन रूप काल को विभागनिष्पन्न काल-प्रमाण कहते हैं। १०३

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में कालप्रमाण के मुख्य दो भेदों का उल्लेख किया है।

काल के निर्विभाग अंश (समय) को यहाँ 'प्रदेश' कहा गया है। अतएव इन निर्विभाग अंशों—प्रदेशों से निष्पन्न होने वाला कालप्रमाण प्रदेशनिष्पन्न कालप्रमाण है। एक समय की स्थिति वाला परमाणु या स्कन्ध एक कालप्रदेश से, दो समय की स्थिति वाला परमाणु या स्कन्ध दो कालप्रदेशों से निष्पन्न होता है। इसी प्रकार तीन आदि समय से लेकर असंख्यात समय की स्थिति वाले परमाणु या स्कन्ध आदि सब काल के उतने-उतने ही अविभागी अंशों (प्रदेशों) से निष्पन्न होते हैं। असंख्यात अंशों (प्रदेशों) से असंख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गल निष्पन्न होते हैं। इससे आगे पुद्गलों की एक रूप से स्थिति ही नहीं होती है, अर्थात् पुद्गल पर्याय की अधिक से अधिक स्थिति असंख्यात काल की ही होती है।

समय, आवलिका आदि रूप काल विभागात्मक होने से वे विभागनिष्पन्न कालप्रमाण कहलाते हैं। विभागनिष्पन्न कालप्रमाण की आद्य इकाई 'समय' है। अतः अब उसी का विस्तार से वर्णन किया जाता है।

समयनिरूपण

३६६. से किं तं समए ?

समयस्स णं परूवणं करिस्सामि—से जहाणामए तुण्णागदारए सिया तरुणे बलवं जुगवं जुवाणे अप्पातंके थिरग्गहत्थे दढपाणिपायपासपिट्ठंतरोरुपरिणते तलजमलजुयलपरिघणिभबाहू चम्मेट्ठग-दुहण-मुट्ठियसमाहयनिचियगत्तकाये लंघण-पवण-जइणवायामसमत्थे उरस्सबलसमण्णागए छेए दक्खे पत्तट्ठे कुसले मेहावी निउणे निउणसिप्पोवगए एगं महतिं पडसाडियं वा पट्टसाडियं वा गहाय सयराहं हत्थमेत्तं ओसारेज्जा।

तत्थ चोयए पण्णवयं एवं वयासी—

जेणं कालेणं तेणं तुण्णागदारएणं तीसे पडसाडियाए वा पट्टसाडियाए वा सयराहं हत्थमेत्ते ओसारिए से समए भवइ ?

नो इणमट्ठे समट्ठे ?

कम्हा ?

जम्हा संखेज्जाणं तंतूणं समुदयसमितिसमागमेणं पडसाडिया निप्पज्जइ, उवरिल्लम्मि तंतुम्मि अच्छिण्णे हेट्ठिल्ले तंतू ण छिज्जइ, अण्णम्मि काले उवरिल्ले तंतू छिज्जइ अण्णम्मि काले हिट्ठिल्ले तंतू छिज्जइ, तम्हा से समए न भवति।

एवं वयंतं पण्णवगं चोयए एवं वयासि—जेणं कालेणं तेणं तुण्णागदारएणं तीसे पडसाडियाए वा पट्टसाडियाए वा उवरिल्ले तंतू छिण्णे से समए ?

ण भवति।

कम्हा ?

जम्हा संखेज्जाणं पम्हाणं समुदयसमितिसमागमेणं एगे तंतू निप्फज्जइ, उवरिल्ले पम्हम्मि अच्छिण्णे हेट्ठिल्ले पम्हे न छिज्जति, अण्णम्मि काले उवरिल्ले पम्हे छिज्जति अण्णम्मि काले हेट्ठिल्ले पम्हे छिज्जति, तम्हा से समए ण भवति।

एवं वदंतं पण्णवगं चोयए एवं वदासि—जेणं कालेणं तेणं तुण्णागदारएणं तस्स तंतुस्स उवरिल्ले पम्हे छिण्णे से समए ?

ण भवति।

कम्हा ?

जम्हा अणंताणं संघाताणं समुदयसमितिसमागमेणं एगे पम्हे णिप्फज्जइ, उवरिल्ले संघाते अविसंघातिए हेट्ठिल्ले संघाते ण विसंघाडिज्जति, अण्णम्मि काले उवरिल्ले संघाए विसंघातिज्जइ अण्णम्मि काले हेट्ठिल्ले संघाए विसंघादिज्जइ, तम्हा से समए ण भवति। एत्तो वि णं सुहुमतराए समए पण्णत्ते समणाउसो!

[३६६ प्र.] भगवन्! समय किसे कहते हैं ?

[३६६ उ.] आयुष्मन्! समय की (विस्तार से) प्ररूपणा करूंगा। वह इस प्रकार—जैसे कोई एक तरुण, बलवान्, युगोत्पन्न (सुषमदुषम आदि तीसरे-चौथे आरे में उत्पन्न) नीरोग, स्थिर-हस्ताग्र (मजबूत पहुंचा) वाला, सुदृढ़-विशाल हाथ-पैर, पृष्ठभाग (पीठ), पृष्ठान्त (पसली) और उरु (जंघा) वाला, दीर्घता, सरलता एवं पीनत्व की दृष्टि से समान, समश्रेणी में स्थित तालवृक्ष-युगल अथवा कपाट-अर्गला तुल्य दो भुजाओं का धारक, चर्मेष्टक (प्रहरणविशेष), मुद्गर मुष्टिका-मुष्टिबन्ध आदि के व्यायामों के अभ्यास, आघात-प्रतिघातों से सुदृढ़—सघन शारीरिक अवयव वाला, सहज आत्मिक-मानसिक बलसम्पन्न, कूदना, तैरना, दौड़ना आदि व्यायामों से अर्जित सामर्थ्य-शक्ति से सम्पन्न, छेक (कार्यसिद्धि के उपाय का ज्ञाता), दक्ष, प्रतिष्ठप्रवीण, कुशल (विचारपूर्वक कार्य करने वाला), मेधावी (बुद्धिमान्), निपुण (चतुर), अपनी शिल्पकला में निष्णात, तुन्नवायदारक (दर्जी का पुत्र) एक बड़ी सूती अथवा रेशमी शाटिका (साड़ी) को लेकर अतिशीघ्रता से एक हाथ प्रमाण फाड़ देता है।

[प्र.] भगवन् ! तो जितने काल में उस दर्जी के पुत्र ने शीघ्रता से उस सूती अथवा रेशमी शाटिका को एक हाथ प्रमाण फाड़ दिया है, क्या उतने काल को 'समय' कहते हैं ?

[उ.] आयुष्मन् ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। अर्थात् वह समय का प्रमाण नहीं है।

[प्र.] क्यों नहीं है ?

[उ.] क्योंकि संख्यात तंतुओं के समुदाय रूप समिति के संयोग से एक सूती शाटिका अथवा रेशमी शाटिका निष्पन्न होती है—बनती है। अतएव जब तक ऊपर का तन्तु छिन्न न हो तब तक नीचे का तन्तु छिन्न नहीं हो सकता। अतः ऊपर के तन्तु के छिदने का काल दूसरा है और नीचे के तन्तु के छिदने का काल दूसरा है। इसलिये वह एक हाथ प्रमाण शाटिका के फटने का काल समय नहीं है।

इस प्रकार से प्ररूपणा करने पर शिष्य ने पुनः प्रश्न पूछा—

[प्र.] भदन्त ! जितने काल में दर्जी के पुत्र ने उस सूती शाटिका अथवा रेशमी शाटिका के ऊपर के तन्तु का छेदन किया, क्या उतना काल समय है ?

[उ.] उतना काल समय नहीं है।

[प्र.] क्यों नहीं है ?

[उ.] क्योंकि संख्यात पक्ष्मों (सूक्ष्म अवयवों—रेशाओं) के समुदाय रूप समिति के सम्यक् समागम से एक तन्तु निष्पन्न होता है—निर्मित होता है। इसलिये ऊपर के पक्ष्म के छिन्न न होने तक नीचे का पक्ष्म छिन्न नहीं हो सकता है। अन्य काल में ऊपर का पक्ष्म और अन्य काल में नीचे का पक्ष्म छिन्न होता है। इसलिये उसे समय नहीं कहते हैं।

इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले गुरु से शिष्य ने पुनः निवेदन किया—

[प्र.] जिस काल में उस दर्जी के पुत्र ने उस तन्तु के उपरिवर्ती पक्ष्म का छेदन किया तो क्या उतने काल को समय कहा जाए ?

[उ.] उतना काल भी समय नहीं है।

[प्र.] क्यों नहीं है ?

[उ.] इसका कारण यह है कि अनन्त संघातों के समुदाय रूप समिति के संयोग से पक्ष्म निर्मित होता है, अतः जब तक उपरिवर्ती संघात पृथक् न हो, तब तक अधोवर्ती संघात पृथक् नहीं होता है। उपरिवर्ती संघात के पृथक् होने का काल अन्य है और अधोवर्ती संघात के पृथक् होने का काल अन्य है। इसलिये उपरितन पक्ष्म के छेदन का काल समय नहीं है। आयुष्मन् ! समय इससे भी अतीव सूक्ष्मतर कहा गया है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में समय का स्वरूप स्पष्ट किया है। जिस प्रकार पुद्गल द्रव्य के अविभाज्य चरम अंश को परमाणु कहते हैं, उसी प्रकार काल द्रव्य के निर्विभाग अंश की 'समय' संज्ञा है। समय कितना सूक्ष्म है ? इसका निर्देश करने के लिये कतिपय उदाहरणों का उल्लेख किया है। लेकिन वे सब आंशिक हैं और समय उनसे भी सूक्ष्म अंश है।

यद्यपि लोक में घंटा, दिन, वर्ष आदि को ही काल कहने का व्यवहार प्रचलित है पर यह काल वस्तुभूत—पारमार्थिक नहीं है। वस्तुभूत काल तो वह सूक्ष्म अंश है जिसके निमित्त से सर्व द्रव्य परिणमन करते रहते हैं। यदि वह न हो तो उपर्युक्त प्रकार से आरोपित काल का व्यवहार ही न हो। समय से छोटा कालांश सम्भव नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म से सूक्ष्म पर्याय भी उस एक समय से पूर्व नहीं बदलता है। इसलिये शास्त्रों में समय की परिभाषा इस प्रकार की है—

जघन्य गति से एक परमाणु सटे हुए द्वितीय परमाणु तक जितने काल में जाता है, उसे समय कहते हैं। अथवा तत्प्रायोग्य वेग से एक के ऊपर की ओर जाने वाले और दूसरे के नीचे की ओर आने वाले दो परमाणुओं के स्पर्श होने में लगने वाला काल समय कहलाता है।

यद्यपि आत्मा, पदार्थसमूह और सिद्धांत के अर्थ में भी समय शब्द प्रयुक्त होता है, किन्तु यहाँ कालद्रव्य और उसकी पर्याय का बोध कराने के लिये समय शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र में 'समयस्स णं परूवणं करिस्सामि' से लेकर 'एत्तोऽवि······पण्णत्ते समणाउसो' पद तक का कथन विशिष्ट आशय को अभिव्यक्त करने के लिये किया गया है कि समय काल का सबसे अधिक सूक्ष्म अंश है। उसका स्वरूप सामान्य रूप से कथन करने पर बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता है। उसके स्वरूप को समझने के लिये विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है।

जब अनन्त परमाणुओं के संघात (समुदाय) से एक पक्ष्म (रेशा) निष्पन्न होता है और वे संघात क्रमशः ही छिन्न होते हैं, तब उस पक्ष्म के विदारण में अनन्त समय लगना चाहिये। लेकिन सिद्धान्त में जो असंख्यात समय लगना कहा है, उसका कारण यह है कि पक्ष्म फाड़ने में प्रवृत्त पुरुष का प्रयत्न अचिन्त्य शक्ति वाला होने से असंख्यात समयों में अनन्त संघातों का छेदन हो जाता है। उन संघातों से बना हुआ एक स्थूल पक्ष्म यहाँ विवक्षित है और ऐसे स्थूल पक्ष्म असंख्यात ही होते हैं, अनन्त नहीं। अतः उनका क्रम से छेदन होने में अनन्त नहीं किन्तु असंख्यात समय लगेगा।

यद्यपि असंख्यात समय लगने का संकेत सूत्र में नहीं किया है, किन्तु प्रकरणानुसार उसे यहाँ समझ लेना चाहिये। सूत्र में संकेत न करने का कारण यह है कि छद्मस्थ जनों के ज्ञान का विषयभूत हो सके और उससे समय की चरम सूक्ष्मता का बोध हो जाए ऐसा दृष्टान्त दिया जाना सम्भव नहीं है। इसीलिये समय की सूक्ष्मता बताने के लिये सामान्य रूप में सूत्रकार ने संकेत किया है—'एत्तोऽवि णं सुहुमतराए समए—समय इससे भी अधिक सूक्ष्मतर होता है।' अर्थात् उपरितन पक्ष्म के छेदन-काल का असंख्यातवां अंश समय है।

पुरुष का प्रयत्न अचिन्त्य शक्ति वाला होना प्रत्यक्ष सिद्ध है। जैसे कोई पुरुष दूसरे किसी स्थान पर जाने के लिये प्रस्थान करे और यदि गमन रूप प्रयत्न में प्रवृत्ति करता रहता है तो वह अपने गन्तव्य स्थान पर बहुत जल्दी पहुंच जाता है। उसी प्रकार फाड़ने की क्रिया में प्रवृत्त पुरुष भी अपने प्रयत्न से अनन्त परमाणुओं के समुदाय से बने पक्ष्म (रेशे) को असंख्यात समय में छेदन कर दे, यह स्वाभाविक है।

इस प्रकार से समय का स्वरूपनिर्देश करने के बाद अब उसके समूह रूप कालविभागों का वर्णन करते हैं।

समयसमूहनिष्पन्न कालविभाग

३६७. असंखेज्जाणं समयाणं समुदयसमितिसमागमेणं सा एगा आवलिय त्ति पवुच्चइ। संखेज्जाओ आवलियाओ ऊसासो। संखेज्जाओ आवलियाओ नीसासो।

हट्ठस्स अणवगल्लस्स निरुवकिट्ठस्स जंतुणो।
एगे ऊसास-नीसासे एस पाणु त्ति वुच्चति॥ १०४॥
सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे।
लवाणं सत्तहत्तरिए एस मुहुत्ते वियाहिए॥ १०५॥
तिण्णि सहस्सा सत्त य:सयाणि तेहत्तरिं च उस्सासा।
एस मुहुत्तो भणिओ सव्वेहिं अणंतनाणीहिं॥ १०६॥

एतेणं मुहुत्तपमाणेणं तीसं मुहुत्ता अहोरत्ते, पण्णरस अहोरत्ता पक्खो, दो पक्खा मासो, दो मासा उऊ, तिण्णि उऊ अयणं, दो अयणाइं संवच्छरे, पंचसंवच्छरिए जुगे, वीसं जुगाइं वाससयं, दस वाससताइं वाससहस्सं, सयं वाससहस्साणं वाससतसहस्सं, चउरासीई वाससयसहस्साइं से एगे पुव्वंगे, चउरासीतिं पुव्वंगसतसहस्साइं से एगे पुव्वे, चउरासीइं पुव्वससयहस्साइं से एगे तुडियंगे, चउरासीइं तुडियंगसयसहस्साइं से एगे तुडिए, चउरासीइं तुडियसयसहस्साइं से एगे अडडंगे, चउरासीइं अडडंगसयसहस्साइं से एगे अडडे, चउरासीइं अडडसयसहस्साइं से एगे अववंगे, चउरासीइं अववंगसयसहस्साइं से एगे अववे, चउरासीतिं अववसतसहस्साइं से एगे हूहुयंगे, चउरासीइं हूहुयंगसतसहस्साइं से एगे हूहुए, एवं उप्पलंगे उप्पले पउमंगे पउमे नलिणंगे नलिणे अत्थनिउरंगे अत्थनिउरे अउयंगे अउए णउयंगे णउए पउयंगे पउए चूलियंगे चूलिया, चउरासीतिं चूलियासतसहस्साइं से एगे सीसपहेलियंगे, चउरासीतिं सीसपहेलियंगसतसहस्साइं सा एगा सीसपहेलिया।

एताव ताव गणिए, एयावए चेव गणियस्स विसए, अतो परं ओवमिए।

[३६७] असंख्यात समयों के समुदाय समिति के संयोग से (असंख्यात समयों के समुदाय रूप संयोग से) एक आवलिका निष्पन्न होती है। संख्यात आवलिकाओं का एक उच्छ्वास और संख्यात आवलिकाओं का एक निःश्वास[1] होता है।

हृष्ट (प्रसन्न), वृद्धावस्था से रहित, (भूतकालिक एवं वर्तमानकालिक) व्याधि से रहित मनुष्य आदि के एक उच्छ्वास और निःश्वास के 'काल' को प्राण कहते हैं। १०४

ऐसे सात प्राणों का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव और सतहत्तर लवों का एक मुहूर्त जानना चाहिये। १०५ अथवा—

---

१. कोष्ठगत वायु को बाहर निकालने को उच्छ्वास और बाहर की वायु को अन्दर कोष्ठ (कोठे) में ले जाने को निःश्वास कहते हैं। एक उच्छ्वास में स्थूलगणना से $\frac{3880}{3773}$ सैकेण्ड होते हैं, इतने ही निःश्वास में भी।

सर्वज्ञ—अनन्तज्ञानियों ने तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वास-निश्वासों का एक मुहूर्त कहा है। १०६

इस मुहूर्त प्रमाण से तीस मुहूर्तों का एक अहोरात्र (दिनरात) होता है, पन्द्रह अहोरात्र का एक पक्ष, दो पक्षों का एक मास, दो मासों की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयनों का एक संवत्सर (वर्ष), पांच संवत्सर का एक युग और बीस युग का वर्षशत (एक सौ वर्ष) होता है। दस सौ वर्षों का एक सहस्र वर्ष, सौ सहस्र वर्षों का एक लक्ष (लाख) वर्ष होता है, चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग, चौरासी लाख पूर्वांगों का पूर्व, चौरासी लाख पूर्वों का त्रुटितांग, चौरासी लाख त्रुटितांगों का एक त्रुटित, चौरासी लाख त्रुटितों का एक अडडांग, चौरासी लाख अडडांगों का एक अडड, चौरासी लाख अडडों का एक अववांग, चौरासी लाख अववांगों का एक अवव, चौरासी लाख अववों का एक हूहुअंग चौरासी लाख हूहुअंगों का एक हूहु, इसी प्रकार उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अच्छनिकुरांग, अच्छनिकुर, अयुतांग, अयुत, नयुतांग, नयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, चूलिकांग, चूलिका, चौरासी लाख चूलिकाओं की एक शीर्षप्रहेलिकांग होता है एवं चौरासी लाख शीर्षप्रहेलिकांगों की एक शीर्षप्रहेलिका होती है।

एतावन्मात्र ही गणित (गणना) है। इतना ही गणित का विषय है, इसके आगे उपमा काल की प्रवृत्ति होती है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में गणनीय काल का वर्णन किया है। इसकी प्रारम्भिक इकाई आवलिका है और अन्तिम संख्या का नाम शीर्षप्रहेलिका है।

आवलिका का कालमान निश्चित अमुक गणनीय संख्या के द्वारा निर्धारण किया जाना शक्य नहीं होने से उसके मान के लिये बताया कि असंख्यात समयों के समुदाय की एक आवलिका होती है। लेकिन इसके बाद के उच्छ्वास, निःश्वास आदि से लेकर शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त का मान निश्चित गणनीय संख्या में बतलाया है। इसमें भी जहाँ तक के कालमान को सामान्य निर्धारित संज्ञाओं द्वारा कहा जाना शक्य है, उन-उनके लिये दिन, रात, पक्ष, अयन आदि के द्वारा बताया है। लेकिन उसके बाद के कालमान को बताने के लिये पूर्वांग, पूर्व आदि संज्ञायें निर्धारित की और प्रत्येक को पूर्व-पूर्व से चौरासी लाख—चौरासी लाख वर्ष अधिक-अधिक बताया है। इसके लिये निर्धारित संज्ञाओं के नाम सूत्र में बताए गए हैं। लेकिन ग्रन्थान्तरों में इन संज्ञाओं के क्रम और नामों में अन्तर है। जैसे—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में अयुत, नयुत और प्रयुत पाठ है और ज्योतिष्करण्डक के अनुसार इनका क्रम इस प्रकार है—

पूर्वांग, पूर्व, लतांग, लता, महालतांग, महालता, नलिनांग, नलिन, महानलिनांग, महानलिन, पद्मांग, पद्म, महापद्मांग, महापद्म, कमलांग, कमल, महाकमलांग, महाकमल, कुमुदांग, कुमुद, महाकुमुदांग, महाकुमुद, त्रुटितांग, त्रुटित, महात्रुटितांग, महात्रुटित, अडडांग, अडड, महाअडडांग, महाअडड, अहांग, अह, महाअहांग, महाअह, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका।

इस प्रकार की विभिन्नता के कारण के विषय में काललोकप्रकाशकार का मंतव्य है कि अनुयोगद्वारसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि माथुरवाचना से अनुगत हैं और ज्योतिष्करण्डक आदि वलभी-वाचना से अनुगत हैं। इसी से दोनों नामों में अन्तर है।

दिगम्बर साहित्य में भी कालगणना के प्रमाण का निरूपण किया गया है। यहाँ किये गये वर्णन से उस वर्णन में समानता अधिक है, विभिन्नता कतिपय अंशों में ही है। साथ ही वहाँ भी संज्ञाओं के क्रम एवं नामों में अन्तर पाया जाता है। अतएव परस्पर तुलना करने की दृष्टि से दिगम्बर साहित्यगत वर्णन का सारांश परिशिष्ट में देखिए।

इस प्रकार व्यवहार में जितनी राशि की गणना की जा सकती है, उतना ही गणित का विषय है। इसके बाद गणना करने के लिये उपमा का आश्रय लिया जाता है।

औपमिक कालप्रमाणनिरूपण

३६८. से किं तं ओवमिए ?

ओवमिए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—पलिओवमे य सागरोवमे य।

[३६८ प्र.] भगवन् ! औपमिक (काल) प्रमाण क्या है ? अर्थात् औपमिक (काल) किसे कहते हैं ?

[३६८ उ.] आयुष्मन् ! औपमिक (काल) प्रमाण दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—१. पल्योपम और २. सागरोपम।

विवेचन—औपमिक काल उसे कहते हैं जो गणित का विषय न हो, केवल उपमा के द्वारा जिसका वर्णन किया जाए। वह दो प्रकार का है—पल्योपम और सागरोपम। पल्य (धान्य को भरने का गड्ढा) की उपमा के द्वारा जिस कालमान का वर्णन किया जाए उसे पल्योपम और सागर (समुद्र) की उपमा द्वारा जिसका स्वरूप समझाया जाए उसे सागरोपम काल कहते हैं।

पल्योपम-सागरोपमप्ररूपण

३६९. से किं तं पलिओवमे ?

पलिओवमे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—उद्धारपलिओवमे य अद्धापलिओवमे य खेत्तपलिओवमे य।

[३६९ प्र.] भगवन् ! पल्योपम किसे कहते हैं ?

[३६९ उ.] आयुष्मन् ! पल्योपम के तीन प्रकार हैं—१. उद्धारपल्योपम, २. अद्धापल्योपम और ३. क्षेत्रपल्योपम।

३७०. से किं तं उद्धारपलिओवमे ?

उद्धारपलिओवमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—सुहुमे य वावहारिए य।

[३७० प्र.] भगवन् ! उद्धारपल्योपम किसे कहते हैं ?

[३७० उ.] आयुष्मन् ! उद्धारपल्योपम दो प्रकार से वर्णित किया गया है, यथा—सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और व्यावहारिक उद्धारपल्योपम।

३७१. तत्थ णं जे से सुहुमे से ठप्पे।

[३७१] इन दोनों में सूक्ष्म उद्धारपल्योपम अभी स्थापनीय है। अर्थात् उसकी यहाँ व्याख्या न करके आगे करेंगे।

३७२. तत्थ णं जे से वावहारिए से जहानामए पल्ले सिया—जोयणं आयाम-विक्खंभेणं जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिरएणं।

से णं एगाहिय-बेहिय-तेहिय जाव उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं सम्मट्ठे सन्निचिते भरिए वालग्गकोडीणं। ते णं वालग्गा नो अग्गी डहेज्जा, नो वाऊ हरेज्जा, नो कुच्छेज्जा, नो पलिविद्धंसिज्जा णो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा। तओ णं समए समए एगमेगं वालग्गं अवहाय जावतिएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे णिट्ठिते भवति, से तं वावहारिए उद्धारपलिओवमे।

एएसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिता।
तं वावहारियस्स उद्धारसागरोवमस्स एगस्स भवे परीमाणं ॥ १०७ ॥

[३७२] व्यावहारिक उद्धारपल्योपम का स्वरूप इस प्रकार है—उत्सेधांगुल से एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन ऊंचा एवं कुछ अधिक तिगुनी परिधि वाला एक पल्य हो। उस पल्य को (सिर का मुंडन कराने के वाद) एक दिन, दो दिन, तीन दिन यावत् अधिक से अधिक सात दिन के उगे हुए बालाग्रों से इस प्रकार ठसाठस भरा जाए कि फिर उन बालाग्रों को अग्नि जला न सके, वायु उड़ा न सके, न वे सड़-गल सकें, न उनका विध्वंस हो, न उनमें दुर्गन्ध उत्पन्न हो—सड़ें नहीं। तत्पश्चात् एक-एक समय में एक-एक बालाग्र का अपहरण किया जाए—उन्हें बाहर निकाला जाए तो जितने काल में वह पल्य क्षीण, नीरज निर्लेप और निष्ठित (खाली) हो जाए, उतने काल को व्यावहारिक उद्धारपल्योपम कहते हैं।

ऐसे दस कोडाकोडी पल्योपमों का एक व्यावहारिक उद्धार सागरोपम होता है। १०७

विवेचन—यहाँ पल्योपम और सागरोपम के प्रथम भेद उद्धार पल्योपम और उद्धार सागरोपम के सूक्ष्म एवं व्यावहारिक इन दो भेदों में से व्यावहारिक भेद का वर्णन किया है।

यहाँ पल्य की उपमा से वर्णन करने का कारण यह है कि धान्य के मापपात्र को सभी जानते हैं। प्रस्तुत में उत्सेधांगुल से निष्पन्न एक योजन प्रमाण की लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई वाले पल्य को स्वीकार किया है। इससे अल्पाधिक परिमाण वाला पल्य उपयोगी नहीं है। जिसकी लम्बाई-चौड़ाई समान होती है, उसका व्यास (परिधि) कुछ अधिक तिगुनी होती है। इसलिये यहाँ पल्य का व्यास बताने के लिये पद दिया है 'तं तिगुणं सविसेसं परिरएणं।' यहाँ किंचित् अधिक का तात्पर्य किंचित् न्यून षड्भागाधिक एक योजन तथा तीन योजन पूरे ग्रहण करने चाहिये। अर्थात् उस पल्य की परिधि किंचित् न्यून षड्भागाधिक तीन योजन प्रमाण होती है।

उस पल्य को जिन बालाग्रों से भरे जाने का कथन किया है, उनके लिये प्रयुक्त एगाहिय, वेहिय आदि विशेषणों का यह आशय है कि शिर को मुंडन कराने के पश्चात् एक दिन में जितने प्रमाण में बाल उग सकते हैं, बढ़ सकते हैं, उनके अग्रभागों की एकाहिक बालाग्र संज्ञा है। इसी प्रकार द्वयाहिक, त्र्याहिक आदि विशेषणों का अर्थ समझ लेना चाहिये और 'जाव....सत्तरत्तपरूढाणं' पद द्वारा यह स्पष्ट किया है कि सात से अधिक दिनों के बालाग्रों से पल्य को न भरा जाए।

वे बालाग्र पल्य में किस प्रकार से भरे जाए? इसके लिये दो विशेषण दिये है—'सम्मट्ठे सन्निचिते।' इनका आशय यह है कि वह पल्य इस प्रकार पूरित किया जाये कि उसका ऊपरी भाग

का चरम प्रदेश भी बालाग्रों से रहित न हो, वह खचाखच भरा हुआ हो और साथ ही इस प्रकार से भरा जाए कि रंचमात्र भी स्थान खाली न रहे किन्तु निविड़ता से भरा जाए। वे बालाग्र ऐसी निविड़ता से भरे हुए हों कि आग उन्हें जला न सके, पवन उड़ा न सके, वे सड़-गल न सकें। द्रव्यलोक-प्रकाश में कहा है—

वे केशाग्र इतनी सघनता से भरे हों कि यदि चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाए तो भी वे जरा भी दब न सकें।

उन बालाग्रों को प्रतिसमय एक-एक करके निकालने पर जितने समय में वह पल्य पूरी तरह खाली हो जाए, उतने कालमान को एक व्यवहार उद्धारपल्योपम कहते हैं और ऐसे दस कोटि व्यवहार उद्धारपल्योपमों का एक उद्धारसागरोपम काल कहलाता है।

द्रव्यलोकप्रकाश में लिखा है कि उत्तरकुरु के मनुष्यों का सिर मुंडा देने पर एक से सात दिन तक के अन्दर जो केशाग्र राशि उत्पन्न हो, यह समझना चाहिये। क्षेत्रविचार की सोपज्ञटीक में लिखा है कि देवकुरु, उत्तरकुरु में जन्मे सात दिन के मेष (भेड़) के उत्सेधांगुल प्रमाण रोम लेकर उनके सात बार आठ-आठ खण्ड करना चाहिये। इस प्रकार के खण्डों से उस पल्य को भरना चाहिये।

दिगम्बर साहित्य में एक दिन से सात दिन तक जन्मे हुए मेष बालाग्रों का ही उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार से विभिन्न ग्रन्थों में बालाग्र विषयक पृथक्-पृथक् निर्देश हैं, तथापि उन सबके मूल आशय में कोई मौलिक अन्तर प्रतीत नहीं होता।

३७३. एतेहिं वावहारियउद्धारपलिओवम-सागरोवमेहिं किं पयोयणं ?

एतेहिं वावहारियउद्धारपलिओवम-सागरोवमेहिं णत्थि किंचि पओयणं, केवलं पण्णवणा पण्णविज्जति। से तं वावहारिए उद्धारपलिओवमे।

[३७३ प्र.] भगवन् ! इन व्यावहारिक उद्धार पल्योपम और सागरोपम का क्या प्रयोजन है ? अथवा इनसे किस प्रयोजन की सिद्धि होती है ?

[३७३ उ.] आयुष्मन् ! इन व्यावहारिक उद्धार पल्योपम और सागरोपम से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। ये दोनों केवल प्ररूपणामात्र के लिये हैं।

यह व्यावहारिक उद्धारपल्योपम का स्वरूप है।

विवेचन—इस सूत्र में व्यावहारिक उद्धार पल्योपम और सागरोपम के प्रयोजन के विषय में प्रश्नोत्तर है।

यहाँ जिज्ञासा होती है कि जब कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता तो फिर इनकी प्ररूपणा ही क्यों की गई ? उत्तर यह है कि प्रयोजन के दो प्रकार हैं—साक्षात् और परम्परा। परम्परा रूप से तो प्रयोजन यह है कि व्यावहारिक-बादर पल्योपम आदि का स्वरूप समझ लेने पर ही सूक्ष्म पल्योपमादि की प्ररूपणा सरलता से समझ में आती है। इस प्रकार से सूक्ष्म की प्ररूपणा में उपयोगी होने से व्यावहारिक की प्ररूपणा निरर्थक नहीं है। किन्तु साक्षात् रूप से इसके द्वारा किसी वस्तु का कालमान ज्ञात नहीं किया जाता। अतः सूत्रकार ने उसकी विवक्षा न करके मात्र प्ररूपणायोग्य बतलाया है।

३७४. से किं तं सुहुमे उद्धारपलिओवमे ?

सुहुमे उद्धारपलिओवमे से जहानामए पल्ले सिया—जोयणं आयाम-विक्खंभेणं, जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं, से णं पल्ले एगाहिय-बेहिय-तेहिय० उक्कोसेणं सत्तरत्तपरूढाणं सम्मट्ठे सन्निचिते भरिते वालग्गकोडीणं। तत्थ णं एगमेगे वालग्गे असंखेज्जाइं खंडाइं कज्जति। ते णं वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जतिभागमेत्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा। ते णं वालग्गा णो अग्गी डहेज्जा, णो वाऊ हरेज्जा, णो कुच्छेज्जा, णो पलिविद्धंसेज्जा, णो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा। तओ णं समए समए एगमेगं वालग्गं अवहाय जावतितेणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे णिट्ठिए भवति, से तं सुहुमे उद्धारपलिओवमे।

एतेसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया।
तं सुहुमस्स उद्धारसागरोवमस्स उ एगस्स भवे परीमाणं ॥ १०८ ॥

[३७४ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्म उद्धार पल्योपम का क्या स्वरूप है ?

[३७४ उ.] आयुमन् ! सूक्ष्म उद्धारपल्योपम का स्वरूप इस प्रकार है—धान्य के पल्य के समान कोई एक योजन लंबा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा एवं कुछ अधिक तीन योजन की परिधि वाला पल्य हो। इस पल्य को एक, दो, तीन यावत् उत्कृष्ट सात दिन तक के उगे हुए बालाग्रों से खूब ठसाठस भरा जाये और उन एक-एक बालाग्र के (कल्पना से) ऐसे असंख्यात—असंख्यात खंड किये जाए जो निर्मल चक्षु से देखने योग्य पदार्थ की अपेक्षा भी असंख्यातवें भाग प्रमाण हों और सूक्ष्म पनक जीव की शरीरावगाहना से असंख्यातगुणे हों,[१] जिन्हें अग्नि जला न सके, वायु उड़ा न सके, जो सड़-गल न सकें, नष्ट न हो सकें और न दुर्गंधित हो सकें। फिर समय-समय में उन बालाग्रखंडों को निकालते-निकालते जितने काल में वह पल्य बालाग्रों की रज से रहित, बालाग्रों के संश्लेष से रहित और पूरी तरह खाली हो जाए, उतने काल को सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहते हैं।

इस पल्योपम की दस गुणित कोटाकोटि का एक सूक्ष्म उद्धारसागरोपम का परिमाण होता है। (अर्थात् दस कोटाकोटि सूक्ष्म उद्धारपल्योपमों का एक सूक्ष्म उद्धारसागरोपम होता है)। १०८

३७५. एएहिं सुहुमेहिं उद्धारपलिओवम-सागरोवमेहिं किं पओयणं ?

एतेहिं सुहुमेहिं उद्धारपलिओवम-सागरोवमेहिं दीव-समुद्दाणं उद्धारे घेप्पति।

[३७५ प्र.] भगवन् ! इस सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है ?

[३७५ उ.] सूक्ष्म उद्धारपल्योपम और सूक्ष्म उद्धारसागरोपम से द्वीप-समुद्रों का उद्धार किया जाता है—द्वीप-समुद्रों का प्रमाण जाना जाता है।

---

१. पर्याप्त बादर पृथिवीकायिक के शरीर के बराबर—बादरपृथिवीकायिकपर्याप्तशरीरतुल्यानीति वृद्धवादः।
—अनुयोगद्वारटीका पत्र १८२

३७६. केवतिया णं भंते ! दीव-समुद्दा उद्धारेणं पन्नत्ता ?

गो० ! जावइया णं अड्डाइज्जाणं उद्धारसागरोवमाणं उद्धारसमया एवतिया णं दीव-समुद्दा उद्धारेणं पण्णत्ता । से तं सुहुमे उद्धारपलिओवमे । से तं उद्धारपलिओवमे ।

[३७६ प्र.] भगवन् ! कियत्प्रमाण द्वीप-समुद्र उद्धार प्रमाण से प्रतिपादन किये गये हैं ?

[३७६.उ] गौतम ! अढ़ाई उद्धार सूक्ष्म सागरोपम के उद्धार समयों के बराबर द्वीप समुद्र हैं ।

यही सूक्ष्म उद्धारपल्योपम का और साथ ही उद्धारपल्योपम का स्वरूप है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में सूक्ष्म उद्धार पल्योपम और सागरोपम का कालमान एवं उसका प्रयोजन बतलाया है ।

यद्यपि व्यावहरिक उद्धार पल्योपम और सागरोपम के वर्णन से यह कतिपय अंशों में मिलता-जुलता है, लेकिन आंशिक भिन्नता भी है और वह इस प्रकार कि सूक्ष्म पल्योपम का प्रमाण निर्देश करने के लिये जो एक से सात दिन तक के बालाग्र लिये गये हैं, उनके ऐसे खंड किये जाएँ जो निर्मल चक्षु से देखने योग्य वस्तु की अपेक्षा भी असंख्यातवें भाग हों और सूक्ष्म पनक जीव की शरीरा-वगाहना से असंख्यातगुण प्रमाण हों । उनको प्रत्येक समय निकालने पर जितना काल व्यतीत हो वह कालप्रमाण एक सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहलाता है और जब दस कोटाकोटी प्रमाण पल्य खाली हो जाएं तब एक सूक्ष्म उद्धारसागरोपम काल होता है ।

इसके प्रतिपादन करने का मुख्य प्रयोजन यह बतलाना है कि अढाई उद्धारसागरोपमों अर्थात् पच्चीस सूक्ष्म उद्धारपल्योपमों में से बालाग्र खंडों को उद्धृत करने—निकालने में जितने समय लगते हैं, उतने द्वीप-समुद्र हैं ।

अद्धापल्योपम-सागरोपमनिरूपण

३७७. से किं तं अद्धापलिओवमे ?

अद्धापलिओवमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—सुहुमे य वावहारिए य ।

[३७७ प्र.] भगवन् (पल्योपम प्रमाण के द्वितीय भेद) अद्धापल्योपम का क्या स्वरूप है ?

[३७७ उ.] आयुष्मन् ! अद्धापल्योपम के दो भेद हैं—१. सूक्ष्म अद्धापल्योपम और २. व्यावहारिक अद्धापल्योपम ।

३७८. तत्थ णं जे से सुहुमे से ठप्पे ।

३७९. तत्थ णं जे से वावहारिए से जहानामए पल्ले सिया जोयणं विक्खंभेणं, जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं, से णं पल्ले एगाहिय-वेहिय-तेहिय जाव भरिये वालग्गकोडीणं । ते णं वालग्गा नो अग्गी डहेज्जा, नो वाऊ हरेज्जा, नो कुच्छेज्जा, नो पलिविद्धंसेज्जा, नो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा । ततो णं वाससते वाससते गते एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे निट्ठिए भवति, से तं वावहारिए अद्धापलिओवमे ।

एएसिं पल्लाणं कोडाकोडी हविज्ज दसगुणिया ।
तं वावहारियस्स अद्धासागरोवमस्स एगस्स भवे परीमाणं ।। १०९ ।।

[३७८, ३७९.] उनमें से सूक्ष्म अद्धापल्योपम अभी स्थापनीय है (अर्थात् वह बाद में प्ररूपित किया जायेगा) । व्यावहारिक का वर्णन निम्न प्रकार है—

धान्य के पल्य के समान एक योजन प्रमाण दीर्घ, एक योजन प्रमाण विस्तार और एक योजन प्रमाण ऊर्ध्वता से युक्त तथा साधिक तीन योजन की परिधि वाला कोई पल्य हो । उस पल्य को एक, दो, तीन दिवस यावत् सात दिवस के उगे हुए बालाग्रों से इस प्रकार से पूरित कर दिया जाए कि वे बालाग्र अग्नि से जल न सकें, वायु उन्हें उड़ा न सके, वे सड़-गल न सकें, उनका विध्वंस भी न हो सके और उनमें दुर्गन्ध भी उत्पन्न न हो सके । तदनन्तर उस पल्य में से सौ-सौ वर्ष के पश्चात् एक-एक बालाग्र निकालने पर जितने काल में वह पल्य उन बालाग्रों से रहित, रजरहित और निर्लेप एवं निष्ठित—पूर्ण रूप से खाली हो जाए, उतने काल को व्यावहारिक अद्धापल्योपम कहते हैं ।

दस कोटाकोटि व्यावहारिक अद्धापल्योपमों का एक व्यावहारिक सागरोपम होता है । १०५

३८०. एएहिं वावहारिएहिं अद्धापलिओवम-सागरोवमेहिं किं पओयणं ?

एएहिं जाव नत्थि किंचिप्पओयणं, केवलं तु पण्णवणा पण्णविज्जति । से त्तं वावहारिए अद्धापलिओवमे ।

[३८० प्र.] भगवन् ! व्यावहारिक अद्धा पल्योपम और सागरोपम से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है ?

[३८० उ.] आयुष्मन् ! व्यावहारिक अद्धा पल्योपम एवं सागरोपम से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है । ये केवल प्ररूपणा के लिये हैं ।

इस प्रकार से व्यावहारिक अद्धापल्योपम का स्वरूप जानना चाहिये ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में व्यावहारिक अद्धा पल्योपम और सागरोपम के स्वरूप का निरूपण करते हुए इन दोनों के प्रयोजन का कथन किया है । इन दोनों के स्वरूप का निरूपण पूर्वोक्त व्यावहारिक उद्धार पल्योपम एवं सागरोपम के तुल्य ही है, किन्तु इतना अन्तर है कि व्यावहारिक अद्धा पल्योपम और सागरोपम में एक-एक बालाग्र को प्रत्येक समय न निकाल कर सौ-सौ वर्ष के बाद निकालने पर जितना समय लगता है उतना काल व्यावहारिक अद्धापल्योपम का है और दस कोटा-कोटि व्यावहारिक अद्धापल्योपमों का एक व्यावहारिक अद्धासागरोपम होता है ।

इस व्यावहारिक अद्धा पल्योपम और सागरोपम का साक्षात् प्रयोजन तो कुछ नहीं है, लेकिन परम्परा रूप में सूक्ष्म अद्धा पल्योपम और सागरोपम का ज्ञान कराने में सहायक हैं । इसलिये इनकी प्ररूपणा की गई है ।

३८१. से किं तं सुहुमे अद्धापलिओवमे ?

सुहुमे अद्धापलिओवमे से जहानामते पल्ले सिया—जोयणं आयाम-विक्खंभेणं, जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं; से णं पल्ले एगाहिय-बेहिय-तेहिय जाव भरिए वालग्गकोडीणं । तत्थ णं एगमेगे वालग्गे असंखेज्जाइं खंडाइं कज्जति । ते णं वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जति-

भागमेत्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा। ते णं वालग्गा णो अग्गी डहेज्जा, नो वाऊ हरेज्जा, नो कुच्छेज्जा, नो पलिविद्धंसेज्जा, नो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा। ततो णं वाससते वाससते गते एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे निट्ठिए भवति, से तं सुहुमे अद्धापलिओवमे।

एएसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया।
तं सुहुमस्स श्रद्धासागरोवमस्स एगस्स भवे परीमाणं॥ ११०॥

[३८१ प्र.] भगवन्! सूक्ष्म श्रद्धापल्योपम का क्या स्वरूप है?

[३८१ उ.] श्रायुष्मन्! सूक्ष्म श्रद्धापल्योपम का स्वरूप इस प्रकार है— एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा, एक योजन ऊंचा एवं साधिक (कुछ न्यून षष्ठ भाग श्रधिक) तीन योजन की परिधि वाला एक पल्य हो। उस पल्य को एक-दो-तीन दिन के यावत् बालाग्र कोटियों से पूरी तरह भर दिया जाए। फिर उनमें से एक-एक बालाग्र के ऐसे श्रसंख्यात श्रसंख्यात खण्ड किये जाएँ कि वे खण्ड दृष्टि के विषयभूत होने वाले पदार्थों की श्रपेक्षा श्रसंख्यात भाग हों श्रौर सूक्ष्म पनक जीव की शरीरावगाहना से श्रसंख्यात गुणे श्रधिक हों। उन खण्डों में से सौ-सौ वर्ष के पश्चात् एक-एक खण्ड को श्रपहृत करने—निकालने पर जितने समय में वह पल्य बालाग्रखण्डों से विहीन, नीरज, संश्लेषहित श्रौर संपूर्ण रूप से निष्ठित—खाली हो जाए, उतने काल को सूक्ष्म श्रद्धापल्योपम कहते हैं।

इस श्रद्धापल्योपम को दस कोटाकोटि से गुणा करने से श्रर्थात् दस कोटाकोटि सूक्ष्म श्रद्धापल्योपमों का एक सूक्ष्म श्रद्धासागरोपम होता है। ११०

३८२. एएहिं सुहुमेहिं अद्धापलिओवम-सागरोवमेहिं किं पयोयणं?

एतेहिं सुहुमेहिं अद्धापलिओवम-सागरोवमेहिं णेरतिय-तिरियजोणिय-मणूस-देवाणं आउयाइं मविज्जंति।

[३८२ प्र.] भगवन्! इस सूक्ष्म श्रद्धापल्योपम श्रौर सूक्ष्म श्रद्धासागरोपम से किस प्रयोजन की सिद्धि होती है?

[३८२ उ.] श्रायुष्मन्! इस सूक्ष्म श्रद्धापल्योपम श्रौर सूक्ष्म श्रद्धासागरोपम से नारक, तिर्यंच, मनुष्य श्रौर देवों के श्रायुष्य का प्रमाण जाना जाता है।

विवेचन—यहाँ सूक्ष्म श्रद्धापल्योपम श्रौर सूक्ष्म श्रद्धासागरोपम का स्वरूप बताया है। व्यावहारिक श्रद्धापल्योपम से इस सूक्ष्म श्रद्धापल्योपम के वर्णन में यह अन्तर है कि पल्य में भरे बालाग्रों के श्रसंख्यात-श्रसंख्यात खण्ड बुद्धि से कल्पित करके उन खण्डों को सौ-सौ वर्ष बाद पल्य में से निकाला जाता है। जितने काल में वे बालाग्रखण्ड निकल जाते हैं उतने काल को एक सूक्ष्म श्रद्धापल्योपम कहते हैं। व्यावहारिक श्रद्धापल्योपम में संख्यात करोड़ वर्ष श्रौर सूक्ष्म श्रद्धापल्योपम में श्रसंख्यात करोड़ वर्ष होते हैं।

इसके द्वारा नारक श्रादि चातुर्गतिक जीवों की भवस्थिति श्रौर साथ में कायस्थिति, कर्मस्थिति

आदि का मान ज्ञात किया जाता है। अतएव अब चतुर्गति के जीवों की भवस्थिति—आयुष्य का प्रमाणनिरूपण करते हैं।

नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गतियां हैं। अतः इसी क्रम से उनकी स्थिति का निर्देश करने के लिए जिज्ञासु प्रश्न करता है—

नारकों की स्थिति

३८३. [१] णेरइयाणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पण्णत्ता ?

गो० ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं।

[३८३-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीवों की स्थिति (आयु) कितने काल की कही गई है ?

[३८३-१ उ.] गौतम ! सामान्य रूप में (नारक जीवों की स्थिति) जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की कही है।

विवेचन—सूत्र में सामान्य रूप में नैरयिक जीवों की स्थिति बताई है किन्तु रत्नप्रभा आदि नाम वाली नरकपृथ्वियां सात हैं। अतः अब पृथक्-पृथक पृथ्वी के नारकों की स्थिति का निरूपण करते हैं।

[२] रयणप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवतियं कालं ठिती पं० ? गो० ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं एक्कं सागरोवमं, अपज्जत्तगरयणप्पभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवतिकालं ठिती पं० ?

गो० ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्को० अंतो०, पज्जत्तग जाव जह० दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तूणं।

[३८३-२ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों की स्थिति कितने काल की प्रतिपादन की गई है ?

[३८३-२ उ.] गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक सागरोपम की होती है।

[प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के अपर्याप्तक नारकों की स्थिति कितने काल की है ?

[उ.] गौतम ! इनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त की होती है।

[प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के पर्याप्तक नारकों की स्थिति कितने काल की कही है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त न्यून दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त न्यून एक सागरोपम की होती है।

[३] सक्करपभापुढविणेरइयाणं भंते ! केवतिकालं ठिती पं० ? गो० ! जहन्नेणं सागरोवमं उक्कोसेणं तिण्णि सागरोवमाइं।

[३८३-३ प्र.] भगवन् ! शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकों की स्थिति कितनी है ?

[३८३-३ उ.] गौतम (सामान्य रूप में) शर्कराप्रभापृथ्वी के नारकों की जघन्य स्थिति एक सागरोपम और उत्कृष्ट तीन सागरोपम प्रमाण कही गई है।

[४] एवं सेसपहासु वि पुच्छा भाणियव्वा—वालुयपभापुढविणेरइयाणं जह० तिण्णि सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्त सागरोवमाइं।

पंकपभापुढविनेरइयाणं जह० सत्त सागरोवमाइं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं।

धूमप्पभापुढविनेरइयाणं जह० दस सागरोवमाइं, उक्कोसेणं सत्तरस सागरोवमाइं।

तमपुढविनेरइयाणं भंते ! केवतिकालं ठिती पन्नत्ता ?

गो० ! जहन्नेणं सत्तरस सागरोवमाइं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं।

तमतमापुढविनेरइयाणं भंते ! केवतिकालं ठिती पन्नत्ता ?

गो० ! जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं।

[३८३-४] इसी प्रकार के प्रश्न शेष पृथ्वियों के विषय में भी पूछना चाहिये। जिनके उत्तर क्रमशः इस प्रकार हैं—

बालुकाप्रभा नामक तीसरी पृथ्वी के नैरयिकों की जघन्य स्थिति तीन सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की है।

(चतुर्थ) पंकप्रभा पृथ्वी के नारकों की जघन्य स्थिति सात सागरोपम और उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम की कही है।

धूमप्रभा (नामक पंचम) पृथ्वी के नारकों की जघन्य स्थिति दस सागरोपम और उत्कृष्ट स्थिति सत्रह सागरोपम प्रमाण जानना चाहिये।

[प्र.] भगवन् ! तमःप्रभा पृथ्वी के नारकों की स्थिति कितने काल की है ?

[उ.] गौतम ! तमःप्रभा नामक षष्ठ पृथ्वी के नारकों की जघन्य स्थिति सत्रह सागरोपम और उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागरोपम की होती है।

[प्र.] भगवन् ! तमस्तमःप्रभा पृथ्वी के नारकों की आयु-स्थिति कितने काल की बताई है ?

[उ.] आयुष्मन् ! तमस्तमःप्रभा (नामक सप्तम) पृथ्वी के नैरयिकों की जघन्य स्थिति बाईस सागरोपम प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है।[1]

---

१. सातों नरकपृथ्वियों के नारकों की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति दर्शक संग्रहणी गाथाएँ इस प्रकार है—

सागरमेयं तिय सत्त दस य सत्तरस तह य बावीसा।
तेतीसं जाव ठिई सत्तसु वि कमेण पुढवीसु॥
जा पढमाए जेट्ठा सा बीयाए कणिट्ठिया भणिया।

प्रथम नरकपृथ्वी से लेकर सप्तम पृथ्वी तक अनुक्रम से एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है तथा जो पूर्व पृथ्वी की उत्कृष्ट स्थिति है, वह उसकी उत्तरवर्ती पृथ्वी की जघन्य स्थिति जानना चाहिये।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में नरकगति के जीवों की सामान्य एवं प्रत्येक भूमि के नारकों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण बतलाया है।

जीव को जो नारकादि भवों में रोक कर रखती है, उसे स्थिति कहते हैं। कर्मपुद्गलों का बंधकाल से लेकर निर्जरणकाल तक आत्मा में अवस्थान रहने के काल का बोध करने के लिये भी कर्मशास्त्र में स्थिति शब्द का प्रयोग होता है लेकिन यहाँ आयुकर्म के निषेकों का अनुभवन—भोगने के अर्थ में स्थिति शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसलिये जब तक विवक्षित भव का आयुकर्म उदयावस्था में रहता है, तब तक जीव उस पर्याय में रहता है। विवक्षित पर्याय में आयुकर्म के सद्भाव तक रहना इसी का नाम जीवित या जीवन है और यहाँ इस जीवन के अर्थ में स्थिति शब्द रूढ है।[1] इसीलिये नारकों की दस हजार वर्ष आदि की जो स्थिति कही है, उसका तात्पर्य यह है कि जीव इतने काल तक विवक्षित नारक अवस्था में रहेगा।

ज्ञानावरण आदि अन्य कर्मों की स्थिति की तरह आयुकर्म की स्थिति के भी दो प्रकार हैं—१. कर्मरूपतावस्थानलक्षणा और २. अनुभवयोग्या।

भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यंच तथा देव और नारक अपनी-अपनी आयु के छह मास शेष रहने पर परभव की आयु बांधते हैं तथा कर्मभूमिज मनुष्यों और तिर्यंचों के प्रायः अपनी आयु के त्रिभाग में परभव की आयु का बंध होता है।

इस प्रकार से आयुकर्म के बंध की विशेष स्थिति होने के कारण एवं बंध की अनिश्चितता के कारण आयुकर्म की स्थिति में उसका अबाधाकाल संमिलित नहीं किया जाता है, जिससे उसकी कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति का निश्चित प्रमाण बताया जा सके, इसीलिये उसकी जो भी स्थिति कही जाती है वह शुद्ध स्थिति (भुज्यमान स्थिति) होती है। उसमें अबाधाकाल सम्मिलित नहीं रहता है। अतएव यहाँ जो नारक जीवों की आयुरूप स्थिति कही गई है तथा आगे के सूत्रों में तिर्यंच आदि जीवों की स्थिति कही जाएगी, वह अनुभवयोग्या-भुज्यमान आयु की अपेक्षा कही गई जानना चाहिये।

अपर्याप्त अवस्था की आयुस्थिति का काल सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त ही है। सामान्य स्थिति में से अपर्याप्त काल को कम कर देने पर जो स्थिति शेष रहती है, वह पर्याप्तकों की स्थिति जानना चाहिये।

देव, नारक और असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य, तिर्यंच करण की अपेक्षा ही अपर्याप्तक माने गये हैं, लब्धि की अपेक्षा नहीं। लब्धि की अपेक्षा तो ये सब पर्याप्तक ही होते हैं। इनके अतिरिक्त शेष जीव लब्धि से पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के होते हैं।

यहाँ नारकों की भवधारणीय स्थिति का मान निरूपित किया गया है। अब भवनपति देवों की स्थिति का कथन किया जाता है—

---

१. यद्यपि कर्मपुद्गलानां बंधकालादारभ्यनिर्जरणकालं यावत्सामान्येनावस्थितिः कर्मशास्त्रेषु स्थितिः प्रतीता, तथाऽप्यायुःकर्मपुद्गलानुभवनमेव जीवितं रूढम्। —अनुयोगद्वारटीका, पत्र १८४

भवनपति देवों की स्थिति

३८४. असुरकुमाराणं भंते ! देवाणं केवतिकालं ठिती पं० ?
गो० ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं।
असुरकुमारीणं भंते ! देवीणं केवतिकालं ठिती पं० ?
गो० ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेणं अद्धपंचमाइं पलिओवमाइं।

[३८४-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देवों की कितने काल की स्थिति प्रतिपादन की गई है ?

[३८४-१ उ.] गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट कुछ अधिक एक सागरोपम प्रमाण है।

[प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देवियों की स्थिति कितने काल की कही है ?
[उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट साढे चार पल्योपम की कही है।

[२] नागकुमाराणं जाव गो० ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणाइं दोण्णि पलिओवमाइं।

नागकुमारीणं जाव गो० ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणं पलिओवमं।

[३] एवं जहा णागकुमाराणं देवाणं देवीण य तहा जाव थणियकुमाराणं देवाणं देवीण य भाणियव्वं।

[३८४-२, ३ प्र.] भगवन् ! नागकुमार देवों की स्थिति कितनी है।
[३८४-२, ३ उ.] गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट देशोन दो पल्योपम की है।

[प्र.] भगवन् ! नागकुमारदेवियों की स्थिति कितने काल प्रमाण है ?
[उ.] गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट देशोन एक पल्योपम की होती है एवं जितनी नागकुमार देव, देवियों की स्थिति कही गई है, उतनी ही शेष—सुपर्णकुमार से स्तनितकुमार तक के देवों और देवियों की स्थिति जानना चाहिये।

विवेचन—उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों में चार देवनिकायों में से पहले भवनपति देवनिकाय के असुरकुमार आदि स्तनितकुमार पर्यन्त सभी दस भेदों के देव और देवियों की आयुस्थिति का प्रमाण बतलाया है। इन सभी देवों और देवियों की सामान्य से जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है किन्तु उत्कृष्ट स्थिति में अन्तर है, जो मूल पाठ से स्पष्ट है।

पंच स्थावरों की स्थिति

३८५. [१] पुढवीकाइयाणं भंते ! केवतिकालं ठिती पन्नत्ता ?
गो० ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्सा।
सुहुमपुढविकाइयाणं ओहियाणं अपज्जत्तयाणं पज्जत्तयाण य तिण्ह वि पुच्छा।

गो० ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

बादरपुढविकाइयाणं पुच्छा ।

गो० ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं ।

अपज्जत्तयबादरपुढविकाइयाणं पुच्छा ।

गो० ! जहण्णेण वि अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं, पज्जत्तयबादरपुढविकाइयाणं जाव गो० ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

[३८५-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति कितने काल तक होती है ?

[३८५-१ उ.] गौतम ! (पृथ्वीकायिक जीवों की) जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की होती है ।

[प्र.] भगवन् ! सामान्य सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों की तथा सूक्ष्म पृथ्वीकायिक अपर्याप्त और पर्याप्तों की स्थिति कितनी है ?

[उ.] गौतम ! इन तीनों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है ।

[प्र.] भगवन् ! बादर पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति के लिये पृच्छा है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति बाईस हजार वर्ष की होती है ।

[प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति कितने काल की होती है ?

[उ.] गौतम ! (अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक जीवों की) जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है तथा पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त न्यून बाईस हजार वर्ष की है ।

[२] एवं सेसकाइयाणं पि पुच्छावयणं भाणियव्वं—आउकाइयाणं जाव गो० ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तवाससहस्साइं ।

सुहुमआउकाइयाणं ओहियाणं अपज्जत्तयाणं तिण्ह वि जहण्णेण वि अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

बादरआउकाइयाणं जाव गो० ! जहा ओहियाणं ।

अपज्जत्तयबादरआउकाइयाणं जाव गो० ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

पज्जत्तयबादरआउ० जाव गो० ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

[३८५-२] इसी प्रकार से शेष कायिकों (अप्कायिक से वनस्पतिकायिक पर्यन्त) जीवों की स्थिति के विषय में भी प्रश्न कहना चाहिये । अर्थात् जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति जानने के लिये प्रश्न किये हैं, उसी प्रकार से शेष कायिक जीवों के विषय में प्रश्न करना चाहिये । उत्तर इस प्रकार हैं—

गौतम ! अप्कायिक जीवों की औधिक जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति सात हजार वर्ष की है।

सामान्य रूप में सूक्ष्म अप्कायिक तथा अपर्याप्त और पर्याप्त अप्कायिक जीवों की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

गौतम ! वादर अप्कायिक जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति सामान्य अप्कायिक जीयों के तुल्य जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष है।

गौतम ! अपर्याप्त वादर अप्कायिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

गौतम ! पर्याप्तक वादर अप्कायिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त न्यून सात हजार वर्ष की है।

[३] तेउकाइयाणं भंते ! जाव गो० ! जह अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं।

सुहुमतेउकाइयाणं ओहियाणं अपज्जत्तयाण पज्जत्तयाण य तिण्ह वि जह० अंतो० उक्को० अंतो०।

बादरतेउकाइयाणं भंते ! जाव गो० ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं।

अपज्जत्तयबायरतेउकाइयाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं अंतो०।

पज्जत्तयवायरतेउकाइयाणं जाव गो० ! जहं० अंतो० उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

[३८५-३ प्र.] भगवन् ! (सामान्य रूप में) तेजस्कायिक जीवों की कितनी स्थिति कही गई है ?

[३८५-३ उ.] आयुष्मन् ! सामान्य तेजस्कायिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन रात-दिन की वताई है।

औधिक सूक्ष्म तेजस्कायिक और पर्याप्त, अपर्याप्त सूक्ष्म तेजस्कायिक की जघन्य स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है।

[प्र.] भगवन् ! वादर तेजस्कायिक जीवों की स्थिति कितने काल की है ?

[उ.] गौतम ! वादर तेजस्कायिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीन रात्रि-दिन की होती है।

[प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त वादर तेजस्कायिक जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का कालप्रमाण कितना है ?

[उ.] गौतम ! उनकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

[प्र.] भगवन् ! पर्याप्त वादर तेजस्कायिक जीवों की स्थिति कितनी होती है ?

[उ.] गौतम ! पर्याप्त बादर तेजस्कायिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त न्यून तीन रात्रि-दिन की होती है।

[४] वाउकाइयाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० तिण्णि वाससहस्साइं।

सुहुमवाउकाइयाणं ओहियाणं अपज्जत्तयाणं पज्जत्तयाण य तिण्ह वि जह अंतो० उक्को० अंतोमुहुत्तं।

बादरवाउकाइयाणं जाव गो० ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि वाससहस्साइं।

अपज्जत्तयबादरवाउकाइयाणं जाव गो० ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

पज्जत्तयबादरवाउकातियाणं जाव गो० ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

[३८५-४ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक जीवों की स्थिति कितने काल की होती है ?

[३८५-४ उ.] गौतम ! वायुकायिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन हजार वर्ष की होती है। किन्तु सामान्य रूप में सूक्ष्म वायुकायिक जीवों की तथा उसके अपर्याप्त और पर्याप्त भेदों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है।

गौतम ! बादर वायुकायिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीन हजार वर्ष की होती है।

अपर्याप्तक बादर वायुकायिक जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। और—

गौतम ! पर्याप्तक बादर वायुकायिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त न्यून तीन हजार वर्ष की है।

[५] वणस्सइकाइयाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० दसवाससहस्साइं।

सुहुमाणं ओहियाणं अपज्जत्तयाणं पज्जत्तयाण य तिण्हि वि जह० अंतो० उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

बादरवणस्सइकाइयाणं भंते ! केवइयं कालं ठिती पन्नत्ता ? गो० ! जह० अंतो० उक्को० दस वाससहस्साइं, अपज्जत्तयाणं जाव गो० ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

पज्जत्तयबादरवणस्सइकाइयाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

[३८५-५ प्र.] भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीवों की स्थिति कितने काल की है ?

[३८५-५ उ.] गौतम ! सामान्य रूप से वनस्पतिकायिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति दस हजार वर्ष की होती है।

सामान्य सूक्ष्म वनस्पतिकायिक तथा उनके अपर्याप्तक और पर्याप्तक भेदों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

[प्र.] भगवन् ! बादर वनस्पतिकायिक जीवों की कितनी स्थिति बताई है ?

[उ.] गौतम ! बादर वनस्पतिकायिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति दस हजार वर्ष की कही है यावत् गौतम ! अपर्याप्तकों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है। किन्तु गौतम ! पर्याप्तक बादर वनस्पतिकायिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त न्यून दस हजार वर्ष की जानना चाहिए।

विवेचन—उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों में पहले तो सामान्य से पृथ्वीकायिक आदि पांच स्थावरों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण बताया है। किन्तु पृथ्वीकायिक आदि ये पांचों स्थावर सूक्ष्म और बादर के भेद से दो-दो प्रकार के हैं और ये प्रत्येक भेद भी अपर्याप्तक एवं पर्याप्तक इन दो अवस्थाओं वाले होते हैं।

उक्त भेदों में से पांचों सूक्ष्म स्थावरों की औघिक, पर्याप्त और अपर्याप्त भेदों तथा बादर अपर्याप्तकों की जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है, लेकिन पर्याप्त बादरों की उनके अपर्याप्तकाल की स्थिति कम करके शेष स्थिति इस प्रकार जानना चाहिये—

नाम	ज. स्थि.	उ. स्थि.	
पृथ्वी	अन्तर्मुहूर्त	बाईस हजार वर्ष	(अन्त० न्यून)
अप्	,,	सात ,, ,,	,,
तेज	,,	तीन दिन-रात	,,
वायु	,,	तीन हजार वर्ष	,,
वनस्पति	,,	दस ,, ,,	,,

सूक्ष्म और बादर अपर्याप्तक पृथ्वीकायिक आदि की सामान्य से तथा जघन्य और उत्कृष्ट एवं इन्हीं के पर्याप्तक भेद की जघन्य स्थिति का ठीक-ठीक परिमाण क्षुद्रभव रूप अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसका कारण यह है कि अन्तर्मुहूर्त के बहुत भेद हैं और निगोदिया जीव के भव की आयु को क्षुद्रभव कहते हैं। क्योंकि सब भवों की अपेक्षा उसकी स्थिति अति अल्प होती है। इतनी स्थिति मनुष्य तिर्यंचों में संभव होने से मनुष्य और तिर्यंच की जघन्य स्थिति का ठीक-ठीक प्रमाण क्षुद्रभव रूप अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिए।

विकलेन्द्रियों की स्थिति

३८६. [१] बेइंदियाणं जाव

गो० जह० अंतो० उक्कोसेणं बारस संवच्छराणि।

अपज्जत्तय जाव गोतमा ! जह० अंतो० उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

पज्जत्तयाणं जाव गोतमा ! जह० अंतो० उक्कोसेणं बारस संवच्छराणि अंतोमुहुत्तूणाइं।

[३८६-१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[३८६-१ उ.] गौतम ! उनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति बारह वर्ष की है।

अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

पर्याप्तक द्वीन्द्रिय जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तन्यून बारह वर्ष की है।

[२] तेइंदियाणं जाव
गो० ! जहन्नेणं अंतो० उक्को० एकूणपण्णासं राइंदियाइं।
अपज्जत्तय जाव गोतमा ! जह० अंतो० उक्कोसेणं अंतो०।
पज्जत्तय जाव गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं एकूणपण्णासं राइंदियाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

[३८६-२ प्र.] भगवन् ! त्रीन्द्रिय जीवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[३८६-२ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट उनपचास (४९) दिन-रात्रि की होती है।

अपर्याप्तक त्रीन्द्रिय जीवों की स्थिति जघन्य भी और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त की है।

पर्याप्तक त्रीन्द्रिय जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त न्यून उनपचास दिन-रात्रि की होती है।

[३] चउरिंदियाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० छम्मासा।
अपज्जत्तय जाव गो० ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्को० अंतो०।
पज्जत्तयाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं छम्मासा अंतोमुहुत्तूणा।

[३८६-३ प्र.] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीवों की स्थिति कितने काल की कही है ?

[३८६-३ उ.] गौतम ! चतुरिन्द्रिय जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छह मास की होती है।

अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

पर्याप्तक चतुरिन्द्रिय जीवों की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त न्यून छह मास की होती है।

विवेचन—ऊपर औघिक रूप में विकलेन्द्रियत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों की और उनके पर्याप्त, अपर्याप्त भेदों की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण बतलाया है। सामान्य से तथा अपर्याप्त जीवों की जघन्य स्थिति तो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होती है किन्तु पर्याप्त जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और उत्कृष्ट स्थिति अपर्याप्त अवस्थाभावी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को कम करके शेष जानना चाहिये, जिसका दर्शक प्रारूप इस प्रकार है—

नाम	ज. स्थि.	उ. स्थि.
द्वीन्द्रिय	अन्तर्मुहूर्त	बारह वर्ष (अन्त. न्यून)
त्रीन्द्रिय	,,	उनपचास दिन (,,)
चतुरिन्द्रिय	,,	छह मास (,,)

पंचेन्द्रियतिर्यंचों को स्थिति

३८७. [१] पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव

गो० ! जह० अंतो० उक्को० तिण्णि पलिओवमाइं ।

[३८७-१ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों की स्थिति कितने काल की बताई है ?

[३८७-१ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है ।

विवेचन—उक्त प्रश्नोत्तर में सामान्य से तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का निर्देश किया है, लेकिन जलचर, स्थलचर और खेचर के भेद से पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव तीन प्रकार के हैं और ये तीनों प्रकार भी प्रत्येक संमूर्च्छिम तथा गर्भज के भेद से दो-दो प्रकार के हैं । अतएव अब इन प्रत्येक की स्थिति का पृथक्-पृथक् कथन करते हैं—

जलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचों की स्थिति

[२] जलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव

गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं पुव्वकोडी ।

सम्मुच्छिमजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी ।

अपज्जत्तयसम्मुच्छिमजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव गोयमा ! जह० अंतो० उक्कोसेणं अंतो० ।

पज्जत्तयसम्मुच्छिमजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा ।

गब्भवक्कंतियजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव गो० ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी ।

अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० अंतो० ।

पज्जत्तयगब्भवक्कंतियजलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव गोयमा ! जह० अंतो० उक्को० पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा ।

[३८७-२ प्र.] भगवन् ! जलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की स्थिति कितनी कही गई है ?

[३८७-२ उ.] गौतम ! उनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण की होती है तथा संमूर्च्छिमजलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीव की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि वर्ष की होती है ।

अपर्याप्तक संमूर्च्छिमजलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है ।

पर्याप्तक संमूर्च्छिमजलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तन्यून पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण जानना चाहिये।

सामान्य से गर्भव्युत्क्रान्तिकजलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि वर्ष जितनी है।

अपर्याप्तक गर्भव्युत्क्रान्तिक जलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है।

पर्याप्तक गर्भव्युत्क्रान्तिक जलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि वर्ष की है।

विवेचन—यहाँ जलचरपंचेन्द्रियतिर्यंच जीवों की स्थिति का वर्णन किया है। पानी के अंदर रहने वाले जीवों को जलचर कहते हैं। ये दो प्रकार के हैं—संमूर्च्छिम और गर्भज। दिशा-विदिशा आदि से इधर-उधर से शरीरयोग्य पुद्गलों का ग्रहण होकर शरीराकार रूप परिणत हो जाने को संमूर्च्छिम जन्म और स्त्री के उदर में शुक्र-शोणित के परस्पर गरण अर्थात् मिश्रण को गर्भ कहते हैं। इस गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीव गर्भज कहलाते हैं। यह जन्मभेद मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यचगति के जीवों में पाया जाता है। इनमें कोई पर्याप्तक होते हैं और कोई अपर्याप्तक। इसीलिये तिर्यंच पंचेन्द्रिय के भेद जलचर जीवों की स्थिति संमूर्च्छिम और गर्भज तथा इन दोनों के पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेदों की अपेक्षा पृथक्-पृथक् बतलाई है।

पूर्व का प्रमाण पहले बताया जा चुका है कि चौरासी लाख वर्ष को एक पूर्वांग कहते हैं और चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व कहलाता है। अंकों में जिसकी गणना का प्रमाण ७०५६०००००००००० वर्ष होता है।[1] इस प्रकार के वर्ष प्रमाण वाले एक पूर्व के हिसाब से करोड़ पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति जलचरपंचेन्द्रियतिर्यंच जीवों की होती है।

चतुष्पद, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प के भेद से स्थलचर जीव तीन प्रकार के हैं। क्रम से उनकी स्थिति इस प्रकार है—

स्थलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचों की स्थिति

[३] चउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवतिकालं ठिती पन्नत्ता ?

गो० ! जह० अंतो० उक्को० तिण्णि पलिओवमाइं।

सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० चउरासीतिवाससहस्साइं।

अपज्जत्तयसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव गो० ! जहन्नेणं अंतो० उक्को० अंतो०।

---

१. पुव्वस्स हु परिमाणं सत्तरि खलु कोडिसदसहस्साइं।
छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं॥ —सर्वार्थसिद्धि पृ. १६५ से उद्धृत

पज्जत्तयसम्मुच्छिमचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० चउरासीतिवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयर० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० तिण्णि पलिओवमाइं।

अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियचउप्पय० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

पज्जत्तयगब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव जह० अंतो० उक्को० तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

उरपरिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवतिकालं ठिती पं० ? गो० ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी।

सम्मुच्छिमउरपरिसप्प० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० तेवन्नं वाससहस्साइं।

अपज्जत्तयसम्मुच्छिमउरपरिसप्प० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं अंतो०।

पज्जत्तयसम्मुच्छिमउरपरिसप्प० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० तेवण्णं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

गब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयर० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं पुव्वकोडी।

अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियउरपरिसप्प० जाव गोतमा ! जह० अंतो० उक्को० अंतो०।

पज्जत्तयगब्भवक्कंतियउरपरिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा।

भुयपरिसप्पथलयर० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं पुव्वकोडी।

सम्मुच्छिमभुयपरिसप्प० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं बायालीसं वाससहस्साइं।

अपज्जत्तयसम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० अंतो०।

पज्जत्तयसम्मुच्छिमभुयपरिसप्पथलयरपंचेंदिय० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० बायालीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

गब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयरपंचेंदियाणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० पुव्वकोडी।

अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयर० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० अंतोमुहुत्तं।

पज्जत्तयगब्भवक्कंतियभुयपरिसप्पथलयर० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तूणा।

[३८७-३ प्र.] भगवन् ! चतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की स्थिति कितने काल की होती है ?

[३८७-३ उ.] गौतम ! सामान्य रूप में जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की होती है।

गौतम ! संमूर्च्छिमचतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति चौरासी हजार वर्ष की है।

अपर्याप्तक संमूर्च्छिम चतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जानना चाहिये। तथा—

पर्याप्तक संमूर्च्छिमचतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त हीन चौरासी हजार वर्ष की जानना चाहिये।

गर्भव्युत्क्रान्तिकचतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है।

अपर्याप्तक गर्भव्युत्क्रान्तिकचतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

पर्याप्तक गर्भजचतुष्पदस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त हीन तीन पल्योपम की जानना चाहिये।

[प्र.] भगवन्! उरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंयोनिक जीवों की स्थिति कितनी है?

[उ.] गौतम! सामान्य रूप में उरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व वर्ष की है।

[प्र.] भगवन्! संमूर्च्छिमउरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की स्थिति कितने काल की कही है?

[उ.] गौतम! उनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति त्रेपन हजार वर्ष की है।

अपर्याप्तक संमूर्च्छिमउरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

पर्याप्तक संमूर्च्छिमउरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त न्यून त्रेपन हजार वर्ष की है। तथा—

[प्र.] भगवन्! गर्भजउरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की स्थिति कितने काल की कही है?

[उ.] गौतम! गर्भजउरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मूहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति कोटि पूर्व वर्ष की है।

गौतम! अपर्याप्तक गर्भव्युत्क्रान्तिकउरपरिसर्पस्थलचर पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की कही गई है।

पर्याप्तक गर्भजउरपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मूहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त न्यून पूर्वकोटि वर्ष की है।

[प्र.] भगवन्! भुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की स्थिति कितने काल की है?

[उ.] गौतम! सामान्य से तो भुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति करोड़ पूर्व वर्ष की है।

संमूर्च्छिमभुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति बयालीस हजार वर्ष की होती है। तथा—

अपर्याप्तक संमूर्च्छिमभुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की जानना चाहिये। और—

गौतम ! पर्याप्तक संमूर्च्छिमभुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त न्यून बयालीस हजार वर्ष की होती है।

गौतम ! गर्भव्युत्क्रान्तिकभुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की औधिक जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व वर्ष की है।

अपर्याप्तक गर्भव्युत्क्रान्तिकभुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

पर्याप्तक गर्भजभुजपरिसर्पस्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त न्यून करोड़ पूर्व वर्ष प्रमाण है।

विवेचन—यहाँ पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक के दूसरे भेद स्थलचर के चतुष्पद, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प इन तीन प्रकारों की प्रभेदों सहित जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण बतलाया है।

सामान्य से सभी की जघन्य स्थिति और अपर्याप्तकों की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है। लेकिन उत्कृष्ट स्थिति के प्रमाण में अंतर है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

गाय, भैंस आदि चार पैर वाले तिर्यंच चतुष्पदपंचेन्द्रियतिर्यंच, पेट के सहारे रेंगने वाले—चलने वाले सर्प आदि जीव उरपरिसर्प और पैरों के सहारे रेंगने वाले नेवला आदि जीव भुजपरिसर्प कहलाते हैं।

सामान्य से तो पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है, जो भोगभूमिजों की अपेक्षा समझना चाहिये।

संमूर्च्छिम स्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचों की उत्कृष्ट स्थिति सामान्य से चौरासी हजार वर्ष और गर्भज चतुष्पदों की तीन पल्योपम की है। पर्याप्तक संमूर्च्छिम स्थलचरों की अन्तर्मुहूर्त न्यून चौरासी हजार वर्ष तथा गर्भजों की अन्तर्मुहूर्त न्यून तीन पल्योपम प्रमाण है। क्योंकि अपर्याप्तकाल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है। इसीलिये उनको कम करने का संकेत किया है।

स्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचों के दूसरे भेद उरपरिसर्पों की सामान्य से उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है। संमूर्च्छिम की उत्कृष्ट स्थिति त्रेपन हजार वर्ष और गर्भज की पूर्वकोटि वर्ष है। किन्तु पर्याप्त की अपेक्षा संमूर्च्छिम की अन्तर्मुहूर्तन्यून त्रेपन हजार वर्ष और गर्भज की अन्तर्मुहूर्त-न्यून पूर्वकोटि वर्ष जानना चाहिये।

स्थलचरपंचेन्द्रियतिर्यंचों के तीसरे भेद भुजपरिसर्पों की सामान्य से उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि वर्ष तथा संमूर्च्छिमों की बयालीस हजार वर्ष और गर्भजों की पूर्वकोटि वर्ष है। पर्याप्त की अपेक्षा संमूर्च्छिमों की अन्तर्मुहूर्त न्यून बयालीस (४२) हजार वर्ष तथा गर्भजों की अन्तर्मुहूर्त न्यून पूर्वकोटि वर्ष है।

यहाँ सामान्य से तथा पृथक्-पृथक् भेदों की अपेक्षा जो जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण बताया है, उसमें जघन्य से ऊपर और उत्कृष्ट काल से न्यून सभी स्थितियां मध्यम स्थितियां कहलाती हैं। जिनके अनेक भेद होते हैं।

खेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचों की स्थिति

[४] खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवतिकालं ठिती पन्नत्ता ?

गो० ! जह० अंतो० उक्को० पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं।

सम्मुच्छिमखहयर० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० बावत्तरिं वाससहस्साइं।

अपज्जत्तयसम्मुच्छिमखहयर० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं अंतो०।

पज्जत्तगसम्मुच्छिमखहयर० जाव गोतमा ! जह० अंतो० उक्कोसेणं बावत्तरिं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

गब्भवक्कंतियखहयरपंचेदियतिरिक्ख० जाव गो० ! जह० अंतो० उक्को० पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं।

अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियखहयर० जाव गो० ! जह० अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं,

पज्जत्तयगब्भवक्कंतियखहयरपंचेंदियतिरिक्ख० जाव गोयमा ! जह० अंतो० उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं अंतोमुहुत्तूणं।

[३८७-४ प्र.] भगवन् ! खेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की स्थिति कितने काल की होती है ?

[३८७-४ उ.] गौतम ! सामान्य से खेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है।

संमूर्च्छिम खेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की औघिक स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट बहत्तर हजार वर्ष की है।

अपर्याप्तक संमूर्च्छिम खेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की स्थिति जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट से भी अन्तर्मुहूर्त की है।

पर्याप्तक संमूर्च्छिम खेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त न्यून बहत्तर हजार वर्ष की जानना चाहिये।

सामान्य रूप में गर्भव्युत्क्रान्तिकखेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों को जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

अपर्याप्तक गर्भज खेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त की है। तथा—

पर्याप्तक गर्भजखेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त न्यून पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है।

विवेचन—यहाँ खेचरपंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की स्थिति का प्रमाण वतलाया है। पूर्वनिर्धारित प्रणाली के अनुसार पहले सामान्य से, फिर उनके संमूर्च्छिम और गर्भज भेद की अपेक्षा और फिर इन दोनों के भी अपर्याप्तक और पर्याप्तक प्रकारों की अपेक्षा स्थिति का निरूपण किया है। जघन्य स्थिति तो सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है लेकिन उत्कृष्ट स्थिति संमूर्च्छिमों की बहत्तर हजार वर्ष और गर्भजों की पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है।

पर्याप्तकों की उत्कृष्ट स्थिति में से अन्तर्मुहूर्त न्यून करने का कारण यह है कि समस्त संसारी जीव अन्तर्मुहूर्त काल में यथायोग्य अपनी-अपनी पर्याप्तियों को पूर्ण कर पर्याप्त हो जाते हैं। अपर्याप्त अवस्था अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक नहीं रहती।

संग्रहणी गाथायें

[५] **एत्थ एतेसिं संगहणिगाहाओ भवंति। तं जहा—**

सम्मुच्छ पुव्वकोडी, चउरासीतिं भवे सहस्साइं।
तेवण्णा बायाला, बावत्तरिमेव पक्खीणं॥ १११॥
गब्भम्मि पुव्वकोडी, तिण्णि य पलिओवमाइं परमाउं।
उर-भुयग पुव्वकोडी, पलिउवमासंखभागो य॥ ११२॥

[३८७-५] पूर्वोक्त कथन की संग्रहणी गाथायें इस प्रकार हैं—

संमूर्च्छिम तिर्यचपंचेन्द्रिय जीवों में अनुक्रम से जलचरों की उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि वर्ष, स्थलचरचतुष्पद संमूर्च्छिमों की चौरासी हजार वर्ष, उरपरिसर्पों की त्रेपन हजार वर्ष, भुजपरिसर्पों की बियालीस हजार वर्ष और पक्षी (खेचरों) की बहत्तर हजार वर्ष की है। १११

गर्भज पंचेन्द्रियतिर्यंचों में अनुक्रम से जलचरों की उत्कृष्ट स्थिति पूर्वकोटि वर्ष, स्थलचरों की तीन पल्योपम, उरपरिसर्पों और भुजपरिसर्पों की पूर्वकोटि वर्ष और खेचरों की पल्योपम के असंख्यातवें भाग की है। ११२

विवेचन—पूर्व में सप्रभेद पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बताई गई है। उनमें से इन दो गाथाओं में सामान्य से उन्हीं की उत्कृष्ट स्थिति का उल्लेख किया है।

इस पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों की आयु-स्थिति के कथन के साथ तिर्यंचगति के समस्त जीवों की स्थिति का वर्णन पूर्ण हुआ।

मनुष्यों की स्थिति

३८८. [१] **मणुस्साणं भंते! केवइकालं ठिई पं०?**

गो०! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं।

[३८८-१ प्र.] भगवन्! मनुष्यों की स्थिति कितने काल की बताई है?
[३८८-१ उ.] गौतम! जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की कही है।

[२] **सम्मुच्छिममणुस्साणं जाव गो०! जह० अंतो० उक्को० अंतो०।**

[३८८-२] संमूर्च्छिम मनुष्यों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

[३] गब्भवक्कंतियमणुस्साणं जाव जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं।

अपज्जत्तयगब्भवक्कंतियमणुस्साणं जाव गो० ! जह० अंतो० उक्कोसेणं अंतो० ।

पज्जत्तयगब्भवक्कंतियमणुस्साणं जाव गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं।

[३८८-३] गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यों की स्थिति जघन्य अन्तर्मूहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है।

अपर्याप्तक गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यों की जघन्य स्थिति भी अन्तर्मूहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति भी अन्तर्मूहूर्त की ही जानना चाहिए।

पर्याप्तक गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यों की जघन्य स्थिति अन्तर्मूहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मूहूर्त न्यून तीन पल्योपम प्रमाण है।

विवेचन—सूत्र में मनुष्यगति के जीवों की आयुस्थिति का जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा निरूपण किया है। जम्बूद्वीप, धातकीखंड और अर्धपुष्करवरद्वीप मनुष्यक्षेत्र हैं। इतने क्षेत्र में ही मनुष्यों का निवास है। ये द्वीप अनेक खंडों (भरत आदि क्षेत्रों) में विभक्त हैं।

भरत, ऐरवत तथा देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर विदेह क्षेत्र में कालपरिवर्तन के अनुसार अकर्मभूमि रूप अवस्था भी होती है और कर्मभूमि रूप भी।

यहाँ जो मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की बताई है वह उत्तम भोगभूमि क्षेत्र देवकुरु और उत्तरकुरु की अपेक्षा जानना चाहिये। ये दोनों विदेहक्षेत्रान्तर्वर्ती स्थानविशेष हैं। यहाँ सदैव उत्तम भोगभूमि रूप स्थिति रहती है और कालापेक्षया सुषमासुषमा काल प्रवर्तमान रहता है।

व्यंतर देवों की स्थिति

३८९. वाणमंतराणं भंते ! देवाणं केवतिकालं ठिती पण्णत्ता ? गो० ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं पलिओवमं।

वाणमंतरीणं भंते ! देवीणं केवतिकालं ठिती पण्णत्ता ? गो० ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं।

[३८९ प्र.] भगवन् ! वाणव्यंतर देवों की स्थिति कितने काल की प्रतिपादन की गई है ?

[उ. ३८९] गौतम ! जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की होती है।

[प्र.] भगवन् ! वाणव्यंतरों की देवियों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[उ.] गौतम ! उनकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति अर्धपल्योपम की होती है।

विवेचन—उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों में व्यंतर देवनिकाय के देव-देवियों की जघन्य और उत्कृष्ट

स्थिति का निरूपण किया है। व्यंतर देवों और देवियों की जघन्य स्थिति तो एक समान दस हजार वर्ष की है, किन्तु उत्कृष्ट स्थिति में अन्तर है। देवों की स्थिति एक पल्योपम किन्तु देवियों की अर्धपल्योपम प्रमाण है।

ज्योतिष्क देवों की स्थिति

३९०. [१] जोतिसियाणं भंते ! देवाणं जाव।

गोयमा ! जह० सातिरेगं अट्ठभागपलिओवमं उक्कोसेणं पलिओवमं वाससतसहस्समब्भहियं।

जोइसीणं भंते ! देवीणं जाव गो० ! जह० अट्ठभागपलिओवमं उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं पण्णासाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं।

[३९०-१ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्क देवों की स्थिति कितने काल की बताई है ?

[३९०-१ उ.] गौतम ! जघन्य कुछ अधिक पल्योपम के आठवें भाग प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति एक लाख वर्ष अधिक पल्योपम की होती है।

[प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्क देवियों की स्थिति कितने काल की बताई है ?

[उ] गौतम ! उनकी जघन्य स्थिति पल्योपम का आठवां भाग प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति पचास हजार वर्ष अधिक अर्धपल्योपम की होती है।

[२] चंदविमाणाणं भंते ! देवाणं जाव जहन्नेणं चउभागपलिओवमं उक्कोसेणं पलिओवमं वाससतसहस्साहियं।

चंदविमाणाणं भंते ! देवीणं जाव जहन्नेणं चउभागपलिओवम उक्को० अद्धपलिओवमं पण्णासाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं।

[३९०-२ प्र.] भगवन् ! चंद्रविमानों के देवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[३९०-२ उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की होती है।

[प्र.] भगवन् ! चंद्रविमानों की देवियों की स्थिति कितने काल की प्रतिपादन की गई है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट स्थिति पचास हजार वर्ष अधिक अर्धपल्योपम की होती है।

[३] सूरविमाणाणं भंते ! देवाणं जाव जह० चउभागपलिओवमं उक्को० पलिओवमं वाससहस्साहियं।

सूरविमाणाणं भंते ! देवीणं जाव जह० चउभागपलिओवमं उक्को० अद्धपलिओवमं पंचहिं वाससएहिं अधियं।

[३९०-३ प्र.] भगवन् ! सूर्यविमानों के देवों की स्थिति कितने काल की बताई है ?

[३९०-३ उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थांश और उत्कृष्ट स्थिति एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम की होती है।

[प्र.] भगवन् ! सूर्यविमानों की देवियों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[उ] गौतम ! सूर्यविमानों की देवियों की जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट स्थिति पाँचसौ वर्ष अधिक अर्धपल्योपम की होती है।

[४] गहविमाणाणं भंते ! देवाणं जाव जहन्नेणं चउभागपलिओवमं उक्को० पलिओवमं। गहविमाणाणं भंते ! देवीणं जाव जह० चउभागपलिओवमं उक्कोसेणं अद्धपलिओवमं।

[३९०-४ प्र.] भगवन् ! ग्रहविमानों के देवों की स्थिति कितने काल की कही है ?

[३९०-४ उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की है।

[प्र.] भगवन् ! ग्रहविमानों की देवियों की स्थिति कितने काल की वताई है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण अर्धपल्योपम का है।

[५] णक्खत्तविमाणाणं भंते ! देवाणं जाव गोयमा ! जह० चउभागपलिओवमं उक्को० अद्धपलिग्रोवमं।

णक्खत्तविमाणाणं भंते ! देवीणं जाव गो० ! जहन्नेणं चउभागपलिग्रोवमं उक्को० सातिरेगं चउभागपलिओवमं।

[३९०-५ प्र.] भगवन् ! नक्षत्रविमानों के देवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[३९०-५ उ.] गौतम ! उनकी जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट स्थिति अर्धपल्योपम की होती है।

[प्र.] भगवन् ! नक्षत्रविमानों की देवियों की स्थिति का प्रमाण क्या है ?

[उ.] गौतम ! उनकी जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट स्थिति साधिक पल्योपम का चतुर्थ भाग प्रमाण है।

[६] ताराविमाणाणं भंते ! देवाणं जाव गो० ! जह० सातिरेगं अट्ठभागपलिग्रोवमं उक्को० चउभागपलिग्रोवमं।

ताराविमाणाणं भंते ! देवीणं जाव गो० ! जहन्नेणं अट्ठभागपलिग्रोवमं उक्को० सातिरेगं अट्ठभागपलिओवमं।

[३९०-६ प्र.] भगवन् ! ताराविमानों के देवों की स्थिति कितने काल की है ?

[३९०-६ उ.] गौतम ! कुछ अधिक पल्योपम का अष्टमांश भाग जघन्य स्थिति है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग है।

[प्र.] भगवन् ! ताराविमानों की देवियों की स्थिति का काल कितना कहा है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति पल्योपम का आठवां भाग और उत्कृष्ट स्थिति साधिक पल्योपम का आठवां भाग है।

विवेचन—उपर्युल्लिखित प्रश्नोत्तरों में ज्योतिष्क देवनिकाय के देवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण बतलाया है। सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा ये ज्योतिष्क देवों के पांच प्रकार हैं। इन पांचों के समुदाय को सामान्य भाषा में ज्योतिष्कमंडल कहते हैं। इनका अवस्थान हमारे इस समतल भूमिभाग से सात सौ नव्वे योजन ऊपर जाकर नौ सौ योजन तक के अन्तराल में है। जिसका क्रम इस प्रकार है—समतल भूमिभाग से सात सौ नव्वे योजन ऊपर ताराओं के विमान हैं। ये सब ज्योतिष्क देवों के विमानों से अधोभाग में स्थित हैं। इससे दस योजन ऊपर सूर्यविमान हैं, इससे अस्सी योजन ऊपर चन्द्रविमान है, इससे चार योजन ऊपर अश्वनी, भरणी आदि नक्षत्रों के विमान हैं, इनसे चार योजन ऊपर बुधग्रह का, इससे तीन योजन ऊपर शुक्रग्रह का, इससे तीन योजन ऊपर बृहस्पतिग्रह का, इससे तीन योजन ऊपर मंगलग्रह का और इससे तीन योजन ऊपर शनिग्रह का विमान है। यह ज्योतिष्क देवों से व्याप्त नभःप्रदेश एक सौ दस योजन मोटा और घनोदधिवातवलय पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र पर्यन्त लंबा है।

ये ज्योतिष्क देव मनुष्यलोक में मेरु की प्रदक्षिणा करने वाले और निरंतर गतिशील हैं। जो मेरुपर्वत से चारों ओर ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूर रहकर गोलाई में विचरण करते हैं। इनकी इस निरंतर गमनक्रिया के द्वारा मनुष्यक्षेत्र में दिन-रात्रि आदि का कालविभाग होता है। मनुष्यक्षेत्र से बाहर के ज्योतिष्क देवों के विमान अवस्थित रहते हैं। वे गतिशील नहीं हैं।

पुष्करवरद्वीप के मध्यभाग में स्थित मानुषोत्तरपर्वत के भीतर का क्षेत्र मनुष्यक्षेत्र कहलाता है। मानुषोत्तरपर्वत की एक बाजू से लेकर दूसरी बाजू तक कुल मिलाकर विस्तार पैंतालीस लाख योजन है।

वैमानिक देवों की स्थिति

३९१. [१] वेमाणियाणं भंते! देवाणं जाव गो०! जहण्णेणं पलिओवमं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं।

वेमाणीणं भंते! देवीणं जाव गो०! जह० पलिओवमं उक्को० पणपण्णं पलिओवमाइं।

[३९१-१ प्र.] भगवन्! वैमानिक देवों की स्थिति कितने काल की कही है?

[३९१-१ उ.] गौतम! वैमानिक देवों की स्थिति जघन्य एक पल्य की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है।

[प्र.] भगवन्! वैमानिक देवियों की स्थिति कितनी होती है?

[उ.] गौतम! वैमानिक देवियों की जघन्य स्थिति एक पल्य की और उत्कृष्ट स्थिति पचपन (५५) पल्योपम की है।

विवेचन—ऊपर के प्रश्नोत्तरों में सामान्य से वैमानिक देवों और देवियों की जघन्यतम और उत्कृष्टतम स्थिति का प्रमाण बतलाया है। शास्त्र में देवों की सामान्य से जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष बतलाई है, किन्तु यहाँ वैमानिक देवों की जघन्य स्थिति एक पल्योपम की बताने पर यह शंका हो सकती है कि देवगति वाले होने पर भी इन वैमानिक देवों की जघन्य स्थिति का पृथक् से निर्देश करने का क्या कारण है? इसका उत्तर यह है कि वैमानिक देव चतुर्विध देवनिकायों में विशुद्धतर

लेश्या-परिणाम-द्युति आदि से संपन्न हैं। इनकी अपेक्षा भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क देव विशुद्धि आदि में हीन हैं। अतएव वैमानिक देवों की पृथक् रूप से जघन्य स्थिति का निर्देश किया है। देवों की जो जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की बताई है, वह भवनपति और व्यंतर देवों की होती है और ये भवनपति व व्यंतर भी देवगति व देवायु वाले हैं। अतएव जब सामूहिक रूप में देवगति की जघन्य स्थिति का कथन करते हैं तो वह दस हजार वर्ष की बताई जाती है।

सौधर्म से लेकर अच्युत पर्यन्त के देव इन्द्र आदि दस भेदों की कल्पना होने से कल्पोपपन्न और इनके ऊपर ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी देव उक्त प्रकार की कल्पना न होने से कल्पातीत संज्ञा वाले हैं। यहाँ जो जघन्य स्थिति एक पल्योपम की बताई है, वह पहले सौधर्म देवों की अपेक्षा से है और तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति सर्वार्थसिद्ध देवों की होती है। अब अनुक्रम से एक-एक कल्प और कल्पातीत देवों की स्थिति का वर्णन करते हैं।

सौधर्म आदि अच्युत पर्यन्त कल्पों की स्थिति

[२] सोहम्मे णं भंते ! कप्पे देवाणं केवतिकालं ठिती पं० ?

गो० ! जह० पलिओवमं उक्कोसेणं दोन्नि सागरोवमाइं।

सोहम्मे णं भंते ! कप्पे देवीणं जाव गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमं उक्कोसेणं सत्त पलिओवमाइं।

सोहम्मे णं भंते ! कप्पे अपरिग्गहियाणं देवीणं जाव गो० ! जह० पलिओवमं उक्कोसेणं पन्नासं पलिओवमाइं।

[३९१-२ प्र.] भगवन् ! सौधर्मकल्प के देवों की स्थिति कितने काल की है ?

[३९१-२ उ.] गौतम ! उनकी जघन्य स्थिति एक पल्योपम की और उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम की है।

[प्र.] भगवन् ! सौधर्मकल्प में (परिगृहीता) देवियों की स्थिति कितने काल की है ?

[उ.] गौतम ! सौधर्मकल्प में (परिगृहीता) देवियों की जघन्य स्थिति एक पल्योपम की और उत्कृष्ट सात पल्योपम की है।

[प्र.] भगवन् ! सौधर्मकल्प में अपरिगृहीता देवियों की स्थिति कितनी है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति पल्योपम की और उत्कृष्ट स्थिति पचास पल्योपम की होती है।

[३] ईसाणे णं भंते ! कप्पे देवाणं केवतिकालं ठिती पन्नत्ता ?

गो० ! जहन्नेणं सातिरेगं पलिओवमं उक्को० सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं।

ईसाणे णं भंते ! कप्पे देवीणं जाव गो० ! जह० सातिरेगं पलिओवमं उक्को० नव पलिओवमाइं।

ईसाणे णं भंते ! कप्पे अपरिग्गहियाणं देवीणं जाव गो० ! जहन्नेणं साइरेगं पलिओवमं उक्कोसेणं पणपण्णं पलिओवमाइं।

[३९१-३ प्र.] भगवन् ! ईशानकल्प में देवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[३९१-३ उ.] गौतम ! ईशानकल्प के देवों की जघन्य स्थिति साधिक पल्योपम की और उत्कृष्ट स्थिति साधिक दो सागरोपम की है।

[प्र.] भगवन् ! ईशानकल्प की (परिगृहीता) देवियों की स्थिति कितने काल की कही है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति साधिक पल्योपम की और उत्कृष्ट स्थिति नौ पल्योपम की होती है।

[प्र.] भगवन् ! ईशानकल्प में अपरिगृहीता देवियों की स्थिति कितनी है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य कुछ अधिक पल्योपम की है और उत्कृष्ट स्थिति पचपन पल्योपम की है।

[४] सणंकुमारे णं भंते ! कप्पे देवाणं केवइकालं ठिती पन्नत्ता ?

गो० ! जह० दो सागरोवमाइं उक्कोसेणं सत्त सागरोवमाइं।

[३९१-४ प्र.] भगवन् ! सनत्कुमारकल्प के देवों की स्थिति कितनी होती है ?

[३९१-४ उ.] गौतम ! जघन्य दो सागरोपम की और उत्कृष्टतः सात सागरोपम की है।

[५] माहिंदे णं भंते ! कप्पे देवाणं जाव गोतमा ! जह० साइरेगाइं दो सागरोवमाइं, उक्को० साइरेगाइं सत्त सागरोवमाइं।

[३९१-५ प्र.] भगवन् ! माहेन्द्रकल्प में देवों की स्थिति का प्रमाण कितना है ?

[३९१-५ उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति साधिक दो सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागरोपम प्रमाण है।

[६] बंभलोए णं भंते ! कप्पे देवाणं जाव गोतमा ! जह० सत्त सागरोवमाइं उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं।

[३९१-६ प्र.] भगवन् ! ब्रह्मलोककल्प के देवों की स्थिति कितनी है ?

[३९१-६ उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति सात सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम की है।

[७] एवं कप्पे कप्पे केवतिकालं ठिती पन्नत्ता ? गो० ! एवं भाणियव्वं—

लंतए जह० दस सागरोवमाइं उक्को० चोद्दस सागरोवमाइं।

महासुक्के जह० चोद्दस सागरोवमाइ उक्कोसेणं सत्तरस सागरोवमाइं।

सहस्सारे जह० सत्तरस सागरोवमाइं उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमाइं।

आणए जह० अट्ठारस सागरोवमाइं उक्को० एक्कूणवीसं सागरोवमाइं।

पाणए जह० एक्कूणवीसं सागरोवमाइं उक्को० वीसं सागरोवमाइं।

आरणे जह० वीसं सागरोवमाइं उक्को० एक्कवीसं सागरोवमाइं।

अच्चुए जह० एक्कवीसं सागरोवमाइं उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं।

[३९१-७ प्र.] भगवन् ! इसी प्रकार प्रत्येक कल्प की कितने काल की स्थिति कही गई है ?
[३९१-७ उ.] गौतम ! वह इस प्रकार कहना जानना चाहिये—

लांतककल्प में देवों की जघन्य स्थिति दस सागरोपम, उत्कृष्ट स्थिति चौदह सागरोपम की होती है।

महाशुक्रकल्प के देवों की जघन्य स्थिति चौदह सागरोपम और उत्कृष्ट स्थिति सत्रह सागरोपम की है।

सहस्रारकल्प के देवों की जघन्य स्थिति सत्रह सागरोपम और उत्कृष्ट स्थिति अठारह सागरोपम की है।

आनतकल्प में जघन्य स्थिति अठारह सागरोपम और उत्कृष्ट स्थिति उन्नीस सागरोपम की है।

प्राणतकल्प में जघन्य स्थिति उन्नीस सागरोपम और उत्कृष्ट स्थिति वीस सागरोपम की है।

आरणकल्प के देवों की जघन्य स्थिति वीस सागरोपम और उत्कृष्ट इक्कीस सागरोपम की स्थिति है।

अच्युतकल्प के देवों की जघन्य स्थिति इक्कीस सागरोपम की और उत्कृष्ट बाईस सागरोपम की स्थिति होती है।

विवेचन—पूर्व में सामान्य से वैमानिक देवों की स्थिति बताने के बाद यहाँ विशेष रूप से स्थिति का निर्देश किया है। वैमानिक देवों के छब्बीस लोक हैं। उनमें सौधर्म आदि अच्युत पर्यन्त बारह देवलोक कल्पसंज्ञक हैं। इनकी सामान्य से जघन्य स्थिति एक पल्योपम की और उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागरोपम की है। देवियों की जघन्य स्थिति एक पल्य की और उत्कृष्ट स्थिति पचपन पल्योपम की है। किन्तु दूसरे ईशानकल्प से ऊपर देवियां उत्पन्न नहीं होती हैं, इसलिये दूसरे कल्प तक ही देवियों की स्थिति का कथन किया है। इनके दो भेद हैं—परिगृहीता और अपरिगृहीता। इन दोनों की जघन्य स्थिति प्रथम देवलोक में एक पल्योपम की और दूसरे देवलोक में साधिक एक पल्योपम की है, लेकिन प्रथम देवलोक की परिगृहीता देवियों की उत्कृष्ट स्थिति सात पल्योपम की और अपरिगृहीता की पचास पल्य की होती है। द्वितीय देवलोक की परिगृहीता देवियों की उत्कृष्ट स्थिति नौ पल्योपम की अपरिगृहीताओं की पचपन पल्योपम की होती है।

ईशानकल्प में देवों की उत्कृष्ट स्थिति सौधर्मकल्प के देवों से कुछ अधिक दो सागरोपम और सनत्कुमारकल्प की अपेक्षा माहेन्द्रकल्प के देवों की उत्कृष्ट स्थिति साधिक सात सागरोपम है। लेकिन इसके बाद ब्रह्मलोक से लेकर अच्युत कल्प तक पूर्व की उत्कृष्ट स्थिति उत्तर की जघन्य स्थिति जानना चाहिये।

ग्रैवेयक और अनुत्तर देवों को स्थिति

[८] हेट्ठिमहेट्ठिमगेवेज्जविमाणेसु णं भंते ! देवाणं केवइकालं ठिती पं० ?
गो० ! जह० बावीसं सागरोवमाइं उक्को० तेवीसं सागरोवमाइं।

हेट्ठिममज्झिमगेवेज्जविमाणेसु णं जाव गो० ! जह० तेवीसं सागरोवमाइं उक्कोसेणं चउवीसं सागरोवमाइं ।

हेट्ठिमउवरिमगेवेज्ज० जाव जह० चउवीसं सागरोवमाइं उक्को० पणुवीसं सागरोवमाइं ।

मज्झिमहेट्ठिमगेवेज्जविमाणेसु णं जाव गोयमा ! जह० पणुवीसं सागरोवमाइं उक्को० छव्वीसं सागरोवमाइं ।

मज्झिममज्झिमगेवेज्ज० जाव जह० छव्वीसं सागरोवमाइं उक्को० सत्तावीसं सागरोवमाइं ।

मज्झिमउवरिमगेवेज्जविमाणेसु णं जाव गोतमा ! जह० सत्तावीसं सागरोवमाइं उक्को० अट्ठावीसं सागरोवमाइं ।

उवरिमहेट्ठिमगेवेज्ज० जाव जह० अट्ठावीसं सागरोवमाइं उक्को० एक्कूणतीसं सागरोवमाइं ।

उवरिममज्झिमगेवेज्ज० जाव जह० एक्कूणतीसं सागरोवमाइं उक्को० तीसं सागरोवमाइं ।

उवरिमउवरिमगेवेज्ज० जाव जह० तीसं सागरोवमाइं उक्को० एक्कतीसं सागरोवमाइं ।

[३९१-८ प्र.] भगवन् ! अधस्तन-अधस्तन ग्रैवेयक विमान में देवों की स्थिति कितनी कही गई है ?

[३९१-८ उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति बाईस सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति तेईस सागरोपम की है।

[प्र.] भगवन् ! अधस्तनमध्यम ग्रैवेयक विमान के देवों की स्थिति कितनी कही है ?

[उ.] गौतम ! जघन्य स्थिति तेईस सागरोपम और उत्कृष्ट स्थिति चौवीस सागरोपम की है।

अधस्तन-उपरिम ग्रैवेयक के देवों की जघन्य स्थिति चौबीस सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति पच्चीस सागरोपम की है। तथा—

गौतम ! मध्यम-अधस्तन ग्रैवेयक के देवों की जघन्य स्थिति पच्चीस सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति छब्बीस सागरोपम की होती है। तथा—

मध्यम-मध्यम ग्रैवेयक देवों की जघन्य स्थिति छब्बीस सागरोपम की, उत्कृष्ट स्थिति सत्ताईस सागरोपम की है। तथा—

गौतम ! मध्यम-उपरिम ग्रैवेयक विमानों में देवों की जघन्य स्थिति सत्ताईस सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति अट्ठाईस सागरोपम की होती है। तथा—

उपरिम-अधस्तन ग्रैवेयक विमानों के देवों की जघन्य स्थिति अट्ठाईस सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति उनतीस सागरोपम की है।

उपरिम-मध्यम ग्रैवेयक देवों की जघन्य स्थिति उनतीस सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति तीस सागरोपम की है। तथा—

उपरिम-उपरिम ग्रैवेयक विमानों के देवों की जघन्य स्थिति तीस सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति इकतीस सागरोपम की है।

[६] विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजितविमाणेसु णं भंते ! देवाणं केवइकालं ठिती पण्णत्ता ?

गो० ! जहण्णेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ।

सव्वट्ठसिद्धे णं भंते ! महाविमाणे देवाणं केवइकालं ठिती पण्णत्ता ?

गो० ! अजहण्णमणुक्कोसं तेत्तीसं सागरोवमाइं । से तं सुहुमे अद्धापलिओवमे। से तं अद्धापलिओवमे ।

[३९१-९ प्र.] भगवन् ! विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमानों के देवों की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[३९१-९ उ.] गौतम ! जघन्य इकतीस सागरोपम की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की स्थिति है।

[प्र.] भगवन् ! सर्वार्थसिद्ध महाविमान के देवों की स्थिति कितने काल की कही है ?

[उ.] गौतम ! उनकी अजघन्य-अनुत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की होती है।

इस प्रकार से सूक्ष्म अद्धापल्योपम के अभिधेय का वर्णन करने के साथ अद्धापल्योपम का निरूपण पूर्ण हुआ ।

विवेचन—ऊपर कल्पातीत देवलोकों के देवों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन किया है। ये देवलोक दो वर्गों में विभक्त हैं—ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान । 'ग्रैवेयक' नाम का कारण यह है कि पुरुषाकार लोक के ग्रीवा रूप स्थान में ये अवस्थित हैं तथा विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्ध महाविमान सर्वोत्तम होने के कारण 'अनुत्तर' कहलाते हैं।

अनुत्तर विमानों का तो पृथक्-पृथक् नामनिर्देश किया है, वैसा ग्रैवेयक विमानों का नामोल्लेख नहीं किया है। लेकिन शास्त्रों में अधस्तनत्रिक, मध्यमत्रिक और उपरितनत्रिक के नाम इस प्रकार बताये हैं—अधस्तनत्रिक—भद्र, सुभद्र, सुजात, मध्यमत्रिक—सौमनस, प्रियदर्शन, सुदर्शन, उपरितनत्रिक—अमोह, सुमति, यशोधर ।

सर्वार्थसिद्ध महाविमान के अतिरिक्त शेष देवलोकों में जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति होती है। लेकिन सर्वार्थसिद्ध महाविमान में यह भेद नहीं होने से वहाँ तेतीस सागरोपम की ही स्थिति है। इसी का बोध कराने के लिये सूत्र में 'अजहण्णमणुक्कोसं' पद दिया है।

यहाँ पर्याप्तकों की अपेक्षा व्यंतरों से लेकर वैमानिक देवों तक की स्थिति का वर्णन किया गया है, लेकिन इन सभी की अपर्याप्त अवस्था भावी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त की समझना चाहिये। क्योंकि अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् वे अवश्य पर्याप्तक हो जाते हैं।

इस प्रकार से अद्धापल्योपम का वर्णन करने के बाद अब क्षेत्रपल्योपम का कथन करते हैं।

क्षेत्रपल्योपम का निरूपण

३९२. से किं तं खेत्तपलिओवमे ?

खेत्तपलिओवमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—सुहुमे य वावहारिए य ।

[३९२ प्र.] भगवन् ! क्षेत्रपल्योपम का क्या स्वरूप है ?

[३९२ उ.] गौतम ! क्षेत्रपल्योपम दो प्रकार का कहा है—सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम और व्यावहारिक क्षेत्रपल्योपम ।

३९३. तत्थ णं जे से सुहुमे से ठप्पे ।

[३९३] उनमें से सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम स्थापनीय है । अर्थात् उसका यहाँ वर्णन नहीं किया जाएगा । किन्तु—

३९४. तत्थ णं जे से वावहारिए से जहानामए पल्ले सिया—जोयणं आयाम-विक्खंभेणं,जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं; से णं पल्ले एगाहिय-बेहिय-तेहिय० जाव भरिए वालग्गकोडीणं । ते णं वालग्गा णो अग्गी डहेज्जा, णो वातो हरेज्जा, जाव णो पूइत्ताए हव्वमाग-च्छेज्जा । जे णं तस्स पल्लस्स आगासपदेसा तेहिं वालग्गेहिं अप्फुन्ना ततो णं समए समए गते एगमेगं आगासपएसं अवहाय जावतिएणं कालेणं से पल्ले खीणे जाव निट्ठिए भवइ । से तं वावहारिए खेत्तपलिओवमे ।

एएसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया ।
तं वावहारियस्स खेत्तसागरोवमस्स एगस्स भवे परीमाणं ।। ११३ ।।

[३९४] उन दोनों में से व्यावहारिक क्षेत्रपल्योपम का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—जैसे कोई एक योजन आयाम-विष्कम्भ और एक योजन ऊंचा तथा कुछ अधिक तिगुनी परिधि वाला धान्य मापने के पल्य के समान पल्य हो । उस पल्य को दो, तीन यावत् सात दिन के उगे बालाग्रों की कोटियों से इस प्रकार से भरा जाए कि उन बालाग्रों को अग्नि जला न सके, वायु उड़ा न सके आदि यावत् उनमें दुर्गन्ध भी पैदा न हो । तत्पश्चात् उस पल्य के जो आकाशप्रदेश बालाग्रों से व्याप्त हैं, उन प्रदेशों में से समय-समय (प्रत्येक समय) एक-एक आकाशप्रदेश का अपहरण किया जाए—निकाला जाए तो जितने काल में वह पल्य खाली यावत् विशुद्ध हो जाए, वह एक व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम है ।

इस (व्यावहारिक क्षेत्र-)पल्योपम की दस गुणित कोटाकोटि का एक व्यावहारिक क्षेत्र-सागरोपम का परिमाण होता है । अर्थात् दस कोटाकोटि व्यावहारिक क्षेत्रपल्योपमों का एक व्यावहारिक क्षेत्र सागरोपम होता है । ११३

विवेचन—यहाँ व्यावहारिक क्षेत्रपल्योपम का प्रमाण बताकर व्यावहारिक क्षेत्र सागरोपम का स्वरूप बताया है ।

पूर्व में जो व्यावहारिक उद्धारपल्योपम और अद्धापल्योपम का स्वरूप बताया है, उन्हीं के समान बालाग्रकोटियों से पल्य को भरने की प्रक्रिया यहाँ भी ग्रहण की गई है । किन्तु उनसे इसमें अन्तर यह है कि पूर्व के दोनों पल्यों में समय की मुख्यता है, जबकि यहाँ क्षेत्र मुख्य है ।

इस प्रकार से व्यावहारिक क्षेत्रपल्योपम और क्षेत्र सागरोपम का स्वरूप बतलाने के बाद अब उसके प्रयोजन का कथन करते हैं ।

३९५. एएहिं वावहारिएहिं खेत्तपलिओवम-सागरोवमेहिं किं पयोयणं ?

एएहिं० नत्थि किंचिप्पओयणं, केवलं तु पण्णवणा पण्णविज्जइ ।

से तं वावहारिए खेत्तपलिओवमे ।

[३९५ प्र.] भगवन् ! इन व्यावहारिक क्षेत्रपल्योपम और सागरोपम से कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है अर्थात् इनका कथन किसलिये किया गया है ?

[३९५ उ.] गौतम ! इन व्यावहारिक क्षेत्रपल्योपम और सागरोपम से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । मात्र इनके स्वरूप की प्ररूपणा ही की गई है ।

इस प्रकार से यह व्यावहारिक क्षेत्रपल्योपम एवं सागरोपम का स्वरूपवर्णन समाप्त हुआ ।

विवेचन—सूत्र में व्यावहारिक क्षेत्रपल्योपम एवं सागरोपम के स्वरूप और प्रयोजन का संकेत करने के बाद अब—'तत्थ णं जे से सुहुमे से ठप्पे' की सूचनानुसार सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम का स्वरूप बतलाते हैं ।

सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम-सागरोपम

३९६. से किं तं सुहुमे खेत्तपलिओवमे ?

सुहुमे खेत्तपलिओवमे से जहाणामए पल्ले सिया—जोयणं आयाम-विक्खंभेणं, जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं, तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं; से णं पल्ले एगाहिय-बेहिय-तेहिय० जाव उक्कोसेणं सत्तरत्त-परूढाणं सम्मट्ठे सन्निचिते भरिए वालग्गकोडीणं । तत्थ णं एगमेगे वालग्गे असंखेज्जाइं खंडाइं कज्जइ, ते णं वालग्गा दिट्ठीओगाहणाओ असंखेज्जइभागमेत्ता सुहुमस्स पणगजीवस्स सरीरोगाहणाओ असंखेज्जगुणा । ते णं वालग्गा णो अग्गी डहेज्जा, नो वातो हरेज्जा, णो कुच्छेज्जा, णो पलिविद्धंसेज्जा, णो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा । जे णं तस्स पल्लस्स आगासपदेसा तेहिं वालग्गेहिं अप्फुन्ना वा अणप्फुण्णा वा तओ णं समए समए गते एगमेगं आगासपदेसं अवहाय जावइएणं कालेणं से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे णिट्ठिए भवति । से तं सुहुमे खेत्तपलिओवमे ।

[३९६ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम का क्या स्वरूप है ?

[३९६ उ.] आयुष्मन् ! सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—जैसे धान्य के पल्य के समान एक पल्य हो जो एक योजन लम्बा-चौड़ा, एक योजन ऊंचा और कुछ अधिक तिगुनी परिधि वाला हो । फिर उस पल्य को एक दिन, दो दिन, तीन दिन यावत् सात दिन के उगे हुए बालाग्रों से भरा जाए और उन बालाग्रों के असंख्यात-असंख्यात ऐसे खण्ड किये जाएँ, जो दृष्टि के विषयभूत पदार्थ की अपेक्षा असंख्यात भाग-प्रमाण हों एवं सूक्ष्मपनक जीव की शरीरावगाहना से असंख्यात गुणे हों । उन बालाग्रखण्डों को न तो अग्नि जला सके और न वायु उड़ा सके, वे न तो सड़-गल सके और न जल से भीग सकें, उनमें दुर्गन्ध भी उत्पन्न न हो सके । उस पल्य के बालाग्रों से जो आकाशप्रदेश स्पृष्ट हुए हों और स्पृष्ट न हुए हों (दोनों प्रकार के प्रदेश यहाँ ग्रहण करना चाहिये) उनमें से प्रति समय एक-एक आकाशप्रदेश का अपहरण किया जाए तो जितने काल में वह पल्य क्षीण, नीरज, निर्लेप एवं सर्वात्मना विशुद्ध हो जाये, उसे सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम कहते हैं ।

३९७. तत्थ णं चोयए पण्णवगं एवं वदासी—

अत्थि णं तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे णं तेहिं वालग्गेहिं अणप्फुण्णा ?

हंता अत्थि,

जहा को दिट्ठंतो ?

से जहाणामते कोट्ठए सिया कोहंडाणं भरिए, तत्थ णं माउलुंगा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं बिल्ला पक्खित्ता ते वि माता, तत्थ णं आमलया पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं बयरा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं चणगा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं मुग्गा पक्खित्ता ते वि माया, तत्थ णं सरिसवा पक्खित्ता ते वि माता, तत्थ णं गंगावालुया पक्खित्ता सा वि माता, एवामेव एएणं दिट्ठंतेणं अत्थि णं तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे णं तेहिं वालग्गेहिं अणप्फुण्णा ।

एएसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया ।
तं सुहुमस्स खेत्तसागरोवमस्स एगस्स भवे परीमाणं ॥ ११४ ॥

[३९७] इस प्रकार प्ररूपणा करने पर जिज्ञासु शिष्य ने पूछा—

भगवन् ! क्या उस पल्य के ऐसे भी आकाशप्रदेश हैं जो उन वालाग्रखण्डों से अस्पृष्ट हों ?

आयुष्मन् ! हाँ, (ऐसे आकाशप्रदेश भी रह जाते) हैं ।

इस विषय में कोई दृष्टान्त है ?

हाँ है । जैसे कोई एक कोष्ठ (कोठा) कूष्मांड के फलों से भरा हुआ हो और उसमें बिजौराफल डाले गए तो वे भी उसमें समा गए । फिर उसमें बिल्वफल डाले तो वे भी समा जाते हैं । इसी प्रकार उसमें आंवला डाले जाएँ तो वे भी समा जाते हैं । फिर वहाँ बेर डाले जाएँ तो वे भी समा जाते हैं । फिर चने डालें तो वे भी उसमें समा जाते हैं । फिर मूंग के दाने डाले जाएँ तो वे भी उसमें समा जाते हैं । फिर सरसों डाले जायें तो वे भी समा जाते हैं । इसके बाद गंगा महानदी की वालू डाली जाए तो वह भी उसमें समा जाती है । इस दृष्टान्त से उस पल्य के ऐसे भी आकाशप्रदेश होते हैं जो उन वालाग्रखण्डों से अस्पृष्ट रह जाते हैं ।

इन पल्यों को दस कोटाकोटि से गुणा करने पर एक सूक्ष्म क्षेत्रसागरोपम का परिमाण होता है । ११४

विवेचन—सूत्र में सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम और सागरोपम का स्वरूप बतलाया है । व्यावहारिक क्षेत्रपल्योपम में तो पल्यान्तर्वर्ती बालाग्रों से स्पृष्ट आकाशप्रदेशों का अपहरण किया जाता है और उन बालाग्रों के अपहरण में ही असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियां समाप्त हो जाती हैं । किन्तु सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम में पल्य स्थित बालाग्रों के असंख्यात खण्ड किये जाते हैं, जिनसे आकाशप्रदेश अस्पृष्ट भी होते हैं और स्पृष्ट भी । कूष्माण्डफल आदि से युक्त कोठे के दृष्टान्त द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है । इसमें स्पृष्ट और अस्पृष्ट दोनों प्रकार के आकाशप्रदेशों का अपहरण किये जाने से इसका काल व्यावहारिक क्षेत्रपल्योपम से असंख्यात गुणा अधिक होता है ।

वालाग्रखण्डों से अस्पृष्ट और स्पृष्ट दोनों प्रकार के आकाशप्रदेशों को ग्रहण करने का कारण

यह है कि उन बालाग्रों के असंख्यात खण्ड कर दिये जाने पर भी वे बादर—स्थूल हैं। अतएव उन बालाग्रखण्डों से अस्पृष्ट प्रदेश सम्भवित हैं और बादरों में अन्तराल होना स्वाभाविक है। जो कूष्मांड से लेकर गंगा की बालुका तक के कोठे में समा जाने के दृष्टान्त से स्पृष्ट है।

असंख्यात आकाशप्रदेशों के अस्पृष्ट रहने को हम एक दूसरे दृष्टान्त से भी समझ सकते हैं। जैसे काष्ठस्तम्भ ठोस दिखता है और प्रदेशों की सघनता से हमें उसमें पोल प्रतीत नहीं होती है। फिर भी उसमें कील समा जाती है। इससे यह सिद्ध है कि उस काष्ठ में ऐसे अनेक अस्पृष्ट प्रदेश हैं जिनमें कील ने प्रवेश किया। अत: यह स्पष्ट है कि इस पल्य में भी ऐसे असंख्यात आकाशप्रदेश रह जाते हैं जो उन बादर बालाग्रखण्डों से अस्पृष्ट हैं। इसीलिये सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के स्वरूपवर्णन के लिये स्पृष्ट और अस्पृष्ट दोनों प्रकार के अकाशप्रदेशों का ग्रहण किया है।

सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम-सागरोपम का प्रयोजन

३९८. एतेहिं सुहुमेहिं खेत्तपलिओवम-सागरोवमेहिं किं पओयणं ?

एतेहिं सुहुमेहिं पलिओवम-सागरोवमेहिं दिट्ठिवाए दव्वाइं मविज्जंति ।

[३९८ प्र.] भगवन् ! इन सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम और सागरोपम का क्या प्रयोजन है ?

[३९८ उ.] आयुष्मन् ! इन सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम और सागरोपम द्वारा दृष्टिवाद में वर्णित द्रव्यों का मान (गणन) किया जाता है।

विवेचन—सूत्र में सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम और सागरोपम के प्रयोजन का कथन किया है। अतएव अब द्रव्यों का वर्णन करते हैं।

अजीव द्रव्यों का वर्णन

३९९. कइविधा णं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ?

गो० ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—जीवदव्वा य अजीवदव्वा य।

[३९९ प्र.] भगवन् ! द्रव्य कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

[३९९ उ.] गौतम ! द्रव्य दो प्रकार के हैं, वे इस प्रकार—जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य।

४००. अजीवदव्वा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गो० ! दुविहा पन्नत्ता। तं जहा—अरूविअजीवदव्वा य रूविअजीवदव्वा य।

[४०० प्र.] भगवन् ! अजीवद्रव्य कितने प्रकार के हैं ?

[४०० उ.] गौतम ! अजीवद्रव्य दो प्रकार के कहे गये हैं—अरूपी अजीवद्रव्य और रूपी अजीवद्रव्य।

४०१. अरूविअजीवदव्वा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?

गो० ! दसविहा पण्णत्ता। तं जहा—धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसा धम्मत्थिकायस्स पदेसा, अधम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकायस्स देसा अधम्मत्थिकायस्स पदेसा, आगासत्थिकाए आगासत्थिकायस्स देसा आगासत्थिकायस्स पदेसा, अद्धासमए।

[४०१ प्र.] भगवन् ! अरूपी अजीवद्रव्य कितने प्रकार के हैं ?

[४०१ उ.] गौतम ! अरूपी अजीवद्रव्य दस प्रकार के कहे गये हैं यथा—१. धर्मास्तिकाय, २. धर्मास्तिकाय के देश, ३. धर्मास्तिकाय के प्रदेश, ४. अधर्मास्तिकाय, ५. अधर्मास्तिकायदेश, ६. अधर्मास्तिकायप्रदेश, ७. आकाशास्तिकाय, ८. आकाशास्तिकायदेश, ९. आकाशास्तिकायप्रदेश और १०. अद्धासमय ।

४०२. रूविअजीवदव्वा णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?

गो० ! चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा—खंधा खंधदेसा खंधप्पदेसा परमाणुपोग्गला ।

[४०२ प्र.] भगवन् ! रूपी अजीवद्रव्य कितने प्रकार के प्रज्ञप्त किये गये हैं ?

[४०२ उ.] गौतम ! वे चार प्रकार के हैं, यथा—१. स्कन्ध, २. स्कन्धदेश, ३. स्कन्धप्रदेश और ४. परमाणु ।

४०३. ते णं भंते ! किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ?

गोतमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—ते णं नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता ?

गो० ! अणंता परमाणुपोग्गला अणंता दुपएसिया खंधा जाव अणंता अणंतपदेसिया खंधा, से एतेणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति—ते णं नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता ।

[४०३ प्र.] भगवन् ! ये स्कन्ध आदि संख्यात हैं, असंख्यात हैं अथवा अनन्त हैं ?

[४०३ उ.] गौतम ! ये स्कन्ध आदि संख्यात नहीं हैं, असंख्यात भी नहीं हैं किन्तु अनन्त हैं ।

[प्र.] भगवन् ! ऐसा कहने का क्या अर्थ है कि स्कन्ध आदि संख्यात नहीं हैं, असंख्यात नहीं हैं, किन्तु अनन्त हैं ?

[उ.] गौतम ! परमाणु पुद्गल अनन्त हैं, द्विप्रदेशिकस्कन्ध अनन्त हैं यावत् अनन्तप्रदेशिक-स्कन्ध अनन्त हैं । इसीलिये गौतम ! यह कहा है कि वे न संख्यात हैं, न असंख्यात हैं किन्तु अनन्त हैं ।

विवेचन—सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम सागरोपम से दृष्टिवाद-अंग में वर्णित द्रव्यों का स्वरूप जाना जाता है । द्रव्य दो प्रकार के हैं—अजीवद्रव्य और जीवद्रव्य । इनमें से उपर्युक्त सूत्रों में अल्पवक्तव्य होने से पहले अजीवद्रव्यों का वर्णन किया है ।

इस विराट् विश्व के मूल में दो ही तत्त्व हैं । इन दो तत्त्वों का विस्तार यह जगत् है । इन दोनों में से जीवद्रव्य ज्ञाता, द्रष्टा, भोक्ता है जबकि अजीवद्रव्य अचेतन है, जड है ।

इनको द्रव्य कहने का कारण यह है कि ये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाव वाले हैं । उत्पाद-व्यय स्वभाव के कारण पर्याय से पर्यायान्तर होते हुए भी ध्रुव स्वभाव के कारण सदैव अपने मौलिक रूप में स्थिर रहते हैं । कितना भी परिवर्तन आ जाए लेकिन अपने मूल गुणधर्म से कभी भी च्युत नहीं होते । जीव चेतना स्वभाव को छोड़कर अचेतन रूप में परिवर्तित नहीं होता है और अजीव अनेक सहकारी कारणों के मिलने पर भी अपने जडरूपत्व का त्याग नहीं करता है । इस स्थिति के कारण इनको द्रव्य कहा जाता है ।

इन दोनों प्रकार के द्रव्यों में से पहले अजीवद्रव्य का वर्णन किया है। अजीवद्रव्य के मुख्य पांच भेद हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अद्धासमय और पुद्गलास्तिकाय। इनमें से आदि के चार द्रव्य अरूपी-अमूर्त हैं और पुद्गल रूपी-मूर्त है। पुद्गल को रूपी, मूर्त इसलिये कहते हैं कि रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणयुक्त होने से यह द्रव्य विभिन्न आकारों को धारण करके हमें दृष्टिगोचर होता है।

उक्त पांच भेदों में से अद्धासमय को छोड़कर शेष चारों के साथ 'अस्तिकाय' विशेषण लगाया है। इसका कारण यह है कि ये द्रव्य प्रदेशप्रचय रूप या अनेक प्रदेशों के पिण्ड हैं। अद्धासमय मात्र एक समय रूप होने से उसमें प्रदेशप्रचय नहीं है। उसका अपने रूप में एकप्रदेशात्मक (समयात्मक) अस्तित्व है। इसी कारण सूत्र में काल को छोड़कर शेष अरूपी द्रव्यों के तीन-तीन भेद कहे गए हैं। पुद्गलास्तिकाय रूपी है और इसके चार भेद हैं। इस प्रकार अजीवद्रव्यों के अवान्तर भेद सब मिल कर चौदह होते हैं।

अरूपी अजीवद्रव्य के दस प्रकार नयविवक्षाओं से कहे गये हैं। विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

यद्यपि धर्मास्तिकाय मूलतः एक द्रव्य है किन्तु संग्रहनय, व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनय इन तीनों नयों की विवक्षा के भेद से भेद हो जाता है। इन तीनों नयों का अभिप्राय अलग-अलग है। संग्रहनय धर्मास्तिकाय को एक ही द्रव्य मानता है। व्यवहारनय उस द्रव्य के देश और ऋजुसूत्र-नय उसके निर्विभाग रूप प्रदेश मानता है। संग्रहनय वस्तु के सामान्य अंश को ग्रहण करता है। व्यवहारनय वस्तुगत विशेष अंशों को स्वीकार करता है और ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में वर्तमानवर्ती अवस्था ही वस्तु है। व्यवहारनय की मान्यता है कि जिस प्रकार संपूर्ण धर्मास्तिकाय जीव, पुद्गल की गति में सहायक—निमित्त बनता है, उसी प्रकार से उसके देश-प्रदेश भी जीव और पुद्गल की गति में निमित्त होते हैं। इसी कारण वे भी पृथक् द्रव्य हैं। ऋजुसूत्रनय की मान्यता है कि केवलिप्रज्ञाकल्पित प्रदेश रूप निर्विभाग भाग ही स्वसामर्थ्य से जीव और पुद्गल की गति में निमित्त होते हैं। अतएव वे स्वतन्त्र द्रव्य हैं।

इसी प्रकार से अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के तीन-तीन प्रकारों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

अद्धासमय को एक ही मानने का कारण यह है कि निश्चयनय के मत से वर्तमान काल रूप 'समय' का ही परमार्थतः सत्त्व है, अतीत-अनागत का नहीं। क्योंकि अनागत अनुत्पन्न है और अतीत विनष्ट हो चुका है। इसलिये उसमें देश, प्रदेश रूप विशेष नहीं हो सकते।

रूपी अजीवद्रव्य पुद्गल के चार भेदों में से स्कन्ध के बुद्धिकल्पित दो भाग, तीन भाग आदि देश हैं। द्व्यणुक से लेकर अनंताणुक पर्यन्त सब स्कन्ध ही हैं। स्कन्ध के अवयवभूत निर्विभाग भाग प्रदेश हैं तथा जो स्कन्धदशा को प्राप्त नहीं हैं—स्वतन्त्र हैं, ऐसे निरंश पुद्गल 'परमाणु' कहलाते हैं। ये सभी स्कन्धादि भी प्रत्येक अनन्त-अनन्त हैं।

इस प्रकार अजीवद्रव्य का वर्णन करके अब जीवद्रव्य का वर्णन करते हैं।

जीवद्रव्यप्ररूपणा

४०४. जीवदव्वा णं भंते ! किं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता ?

गो० ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवदव्वा णं नो संखेज्जा नो असंखेज्जा अणंता ?

गोयमा ! असंखेज्जा णेरइया, असंखेज्जा असुरकुमारा जाव असंखेज्जा थणियकुमारा, असंखेज्जा पुढवीकाइया जाव असंखेज्जा वाउकाइया, अणंता वणस्सइकाइया, असंखेज्जा बेंदिया जाव असंखेज्जा चउरिंदिया, असंखेज्जा पंचेंदियतिरिक्खजोणिया असंखेज्जा मणूसा, असंखेज्जा वाणमंतरिया, असंखेज्जा जोइसिया, असंखेज्जा वेमाणिया,: अणंता सिद्धा, से एएणं अट्ठेणं गोतमा ! एवं वुच्चइ जीवदव्वा णं नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता।

[४०४ प्र.] भगवन् ! क्या जीवद्रव्य संख्यात हैं, असंख्यात हैं अथवा अनन्त हैं ?

[४०४ उ.] गौतम ! जीवद्रव्य संख्यात नहीं हैं, असंख्यात नहीं हैं, किन्तु अनन्त हैं।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण ऐसा कहा जाता है कि जीवद्रव्य संख्यात नहीं, असंख्यात नहीं किन्तु अनन्त हैं ?

[उ.] गौतम ! अनन्त कहने का कारण यह है—असंख्यात नारक हैं, असंख्यात असुरकुमार यावत् असंख्यात स्तनितकुमार देव हैं, असंख्यात पृथ्वीकायिक जीव हैं यावत् असंख्यात वायुकायिक जीव हैं, अनन्त वनस्पतिकायिक जीव हैं, असंख्यात द्वीन्द्रिय हैं यावत् असंख्यात चतुरिन्द्रिय, असंख्यात पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीव हैं, असंख्यात मनुष्य हैं, असंख्यात वाणव्यंतर देव हैं, असंख्यात ज्योतिष्क देव हैं, असंख्यात वैमानिक देव हैं और अनन्त सिद्ध जीव हैं। इसीलिये गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि जीवद्रव्य संख्यात नहीं, असंख्यात भी नहीं किन्तु अनन्त हैं।

विवेचन—यहाँ जीवद्रव्य की अनन्तता का वर्णन किया गया है।

जो जीता था, जीता है और जीयेगा, इस प्रकार के त्रैकालिक जीवनगुणयुक्त द्रव्य को जीव कहते हैं। अर्थात् जो ज्ञान, दर्शन आदि भावप्राणों से अथवा भावप्राणों के साथ इन्द्रियादि रूप द्रव्य-प्राणों से जीता था, जीता है और जियेगा वह जीव है।

जीव दो प्रकार के हैं—मुक्त और संसारी। मुक्त जीव ज्ञान, दर्शन आदि भावप्राणों से ही युक्त हैं किन्तु संसारी जीव द्रव्यप्राणों की अल्पाधिकता एवं गति, शरीर आदि की विभिन्नता के कारण अनेक प्रकार के हैं। फिर भी सामान्यतः संसारी जीवों के मुख्य दो प्रकार हैं—त्रस और स्थावर। त्रसनामकर्मोदय से प्राप्त इन्द्रियादि प्राणों से युक्त जीव त्रस और स्थावरनामकर्म के उदय से प्राप्त इन्द्रियादि प्राणों से युक्त जीव स्थावर कहलाते हैं।

संसारी जीवों की संख्या अनन्त है, क्योंकि अकेले वनस्पतिकायिक जीव अनन्त हैं और अकेले मुक्त जीव भी अनन्त हैं। इसीलिये सामान्यतः जीवद्रव्यों की संख्या अनन्त बताई है।

संसारी जीवों की जो जो संख्या सामान्य रूप से कही गई, वे सभी शरीरधारी हैं अतः अब उनके शरीरों का वर्णन करते हैं।

शरीरनिरूपण

४०५. कति णं भंते ! सरीरा पं० ?

गो० ! पंच सरीरा पण्णत्ता । तं जहा—ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए ।

[४०५ प्र.] भगवन् ! शरीर कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

[४०५ उ.] गौतम ! शरीर पांच प्रकार के कहे गये हैं, यथा—१. औदारिक, २. वैक्रिय, ३. आहारक, ४. तैजस, ५. कार्मण ।

विवेचन—उक्त प्रश्नोत्तर में शरीर के पांच भेदों का नामोल्लेख किया गया है ।

शरीर—जो शीर्ण-जर्जरित होता है अर्थात् उत्पत्तिसमय से लेकर निरंतर जर्जरित होता रहता है उसे शरीर कहते हैं । संसारी जीवों के शरीर की रचना शरीरनामकर्म के उदय से होती है । शरीरनामकर्म कारण है और शरीर कार्य है । औदरिक आदि वर्गणाएँ उनका उपादानकारण हैं और औदारिकशरीरनामकर्म आदि निमित्तकारण हैं । इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

औदारिकशरीर—इसमें मूल शब्द 'उदार' है । शास्त्रों में 'उदार' के तीन अर्थ बताये हैं—१. जो शरीर उदार अर्थात् प्रधान है । औदारिकशरीर की प्रधानता तीर्थंकरों और गणधरों के शरीर की अपेक्षा समझना चाहिए । अथवा औदारिक शरीर से मुक्ति प्राप्त होती है एवं औदारिक शरीर में रहकर ही जीव मुक्तिगमन में सहायक उत्कृष्ट संयम की आराधना कर सकता है । इस कारण उसे प्रधान माना गया है । २. उदार अर्थात् विस्तारवान्—विशाल शरीर । औदारिक शरीर की उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक एक हजार योजन की है, जबकि वैक्रियशरीर का इतना प्रमाण नहीं है । उसकी अधिक से अधिक अवगाहना पांच सौ धनुष की है और वह मात्र सातवीं नरकपृथ्वी के नारकों की होती है, अन्य की नहीं । यद्यपि उत्तरवैक्रियशरीर एक लाख योजन तक का होता है, किन्तु वह भवान्त पर्यन्त स्थायी नहीं होता । अथवा शेष शरीरों की वर्गणाओं की अपेक्षा औदारिक शरीर की वर्गणाओं की अवगाहना अधिक है । इसलिये यह उदार-विस्तारवान् है । ३. उदार का अर्थ होता है—मांस, हड्डियों, स्नायु आदि से बद्ध शरीर । मांस-मज्जा आदि सप्त धातु-उपधातुएं औदारिकशरीर में ही होती हैं । इस शरीर के स्वामी मनुष्य और तिर्यंच है ।

वैक्रियशरीर—विविध क्रियाओं को करने में सक्षम शरीर अथवा विशिष्ट (विलक्षण) क्रिया करने वाला शरीर वैक्रिय कहलाता है । प्राकृत में 'वेउव्विए' शब्द है, जिसका संस्कृत रूप 'वैकुर्विक' होता है । विकुर्वणा के अर्थ में विकु धातु से वैकुर्विक शब्द बनता है । यह वैक्रियशरीर दो प्रकार का है—लब्धिप्रत्ययिक और भवप्रत्ययिक । तपोविशेष आदि विशिष्ट निमित्तों से जो प्राप्त हो उसे लब्धिप्रत्ययिक और जो भव-जन्म के निमित्त से प्राप्त हो उसे भवप्रत्ययिक वैक्रिय-शरीर कहते हैं । लब्धिजन्य मनुष्यों और तिर्यंचों को तथा भवजन्य देव-नारकों को होता है ।

आहारकशरीर—चतुर्दशपूर्वविद् मुनियों के द्वारा विशिष्ट प्रयोजन के होने पर योगबल से जिस शरीर का निर्माण किया जाता है अथवा जिसके द्वारा केवलज्ञानी के सामीप्य से सूक्ष्म पदार्थ संबंधी शंकाओं का समाधान प्राप्त किया जाता है, उसे आहारकशरीर कहते हैं । आहारक-

ऋद्धिसंपन्न संयत अपने क्षेत्र में केवलज्ञानी का अभाव होने और दूसरे क्षेत्र में उनके विद्यमान होने किन्तु उस क्षेत्र में औदारिकशरीर से पहुंचना संभव नहीं होने से इस शरीर को निष्पन्न करते हैं। इसका निर्माण प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्ती मुनि करते हैं।

तैजसशरीर—जो शरीर में दीप्ति और प्रभा का कारण हो। तेजोमय होने से भक्षण किये गये भोजनादि के परिपाक का कारण हो अथवा तेज का विकार हो उसे तैजसशरीर कहते हैं। यह सभी संसारी जीवों में पाया जाता है। यह दो प्रकार का है—निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक। अनिःसरणात्मक तैजसशरीर भुक्त अन्न-पान आदि का पाचक होकर शरीरान्तर्वर्ती रहता है तथा औदारिक, वैक्रिय और आहारकशरीरों में तेज, प्रभा, कांति का निमित्त है। निःसरणात्मक तैजस शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। शुभ तैजस सुभिक्ष, शांति आदि का कारण बनता है और अशुभ इसके विपरीत स्वभाव वाला है। यह शरीर तैजसलब्धिप्रत्ययिक होता है।

कार्मणशरीर—अष्टविध कर्मसमुदाय से जो निष्पन्न हो, औदारिक आदि शरीरों का जो कारण हो तथा जो जीव के साथ परभव में जाए वह कार्मणशरीर है।

पांच शरीरों का क्रमनिर्देश—औदारिक आदि शरीरों का क्रमविन्यास करने का कारण उनकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है। औदारिकशरीर स्वल्प पुद्‌गलों से निष्पन्न होता है और इसका परिणमन शिथिल एवं बादर रूप है। इसके अनन्तर बहुत और बहुतर पुद्‌गलपरमाणुओं से आगे-आगे के शरीर निष्पन्न होते हैं किन्तु उनका परिणमन सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होता जाता है। कार्मणशरीर इतना सूक्ष्म है कि उसको चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता। परमावधिज्ञानी और केवलज्ञानी ही उसको जानते—देखते हैं। उत्तरोत्तर परमाणुस्कन्धों की बहुलता के साथ इनकी सघनता भी क्रमशः अधिक-अधिक है। तैजस और कार्मणशरीर समस्त संसारी जीवों को प्राप्त होते हैं और इनका संबन्ध अनादिकालिक है। मुक्ति प्राप्त नहीं होने तक ये रहते हैं।

इस प्रकार सामान्य रूप से औदारिक आदि शरीरों का निरूपण करके अब चौबीस दंडकवर्ती जीवों में उनका विचार करते हैं।

चौबीस दंडकवर्ती जीवों की शरीरप्ररूपणा

४०६. णेरइयाणं भंते ! कति सरीरा पन्नत्ता ?

गो० ! तयो सरीरा पं०। तं०—वेउव्विए तेयए कम्मए।

[४०६ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के कितने शरीर कहे गये हैं ?

[४०६ उ.] गौतम ! उनके तीन शरीर कहे गये हैं। वे इस प्रकार—वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर।

४०७. असुरकुमाराणं भंते ! कति सरीरा पं० ?

गो० ! तओ सरीरा पण्णत्ता। तं जहा—वेउव्विए तेयए कम्मए। एवं तिण्णि तिण्णि एते चेव सरीरा जाव थणियकुमाराणं भाणियव्वा।

[४०७ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के कितने शरीर होते हैं ?

[४०७ उ.] गौतम ! उनके तीन शरीर कहे हैं। यथा—वैक्रिय, तैजस और कार्मण। इसी प्रकार यही तीन-तीन शरीर स्तनितकुमार पर्यन्त सभी भवनपति देवों के जानना चाहिये।

४०८. [१] पुढवीकाइयाणं भंते ! कति सरीरा पण्णत्ता ? गो० ! तयो सरीरा पण्णत्ता। तं जहा—ओरालिए तेयए कम्मए।

[४०८-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के कितने शरीर होते हैं ?

[४०८-१ उ.] गौतम ! उनके तीन शरीर कहे गये हैं—औदारिक, तैजस और कार्मण।

[२] एवं आउ-तेउ-वणस्सइकाइयाण वि एते चेव तिण्णि सरीरा भाणियव्वा।

[४०८-२] इसी प्रकार अप्कायिक, तेजस्कायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के भी यही तीन-तीन शरीर जानना चाहिए।

[३] वाउकाइयाणं जाव गो० ! चत्तारि सरीरा पन्नत्ता। तं०—ओरालिए वेउव्विए तेयए कम्मए।

[४०८-३ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक जीवों के कितने शरीर होते हैं ?

[४०८-३ उ.] गौतम ! वायुकायिक जीवों के चार शरीर होते हैं—औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीर।

४०९. बेंदिय-तेंदिय-चउरिंदियाणं जहा पुढवीकाइयाणं।

[४०९] पृथ्वीकायिक जीवों के समान द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के भी (औदारिक, तैजस, कार्मण यह तीन शरीर) जानना चाहिये।

४१०. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव गो० ! जहा—वाउकाइयाणं।

[४१० प्र.] पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवों के कितने शरीर होते हैं ?

[४१० उ.] गौतम ! पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिकों के शरीर वायुकायिक जीवों के समान जानना चाहिए। अर्थात् इनके भी औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण ये चार शरीर होते हैं।

४११. मणूसाणं जाव गो० ! पंच सरीरा पन्नत्ता। तं०—ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए कम्मए।

[४११] गौतम ! मनुष्यों के पांच शरीर कहे गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर।

४१२. वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं जहा नेरइयाणं, वेउव्विय-तेयग-कम्मगा तिन्नि तिन्नि सरीरा भाणियव्वा।

[४१२] वाणव्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के नारकों के समान वैक्रिय, तैजस और कार्मण ये तीन-तीन शरीर होते हैं।

विवेचन—ऊपर चौबीस दंडकवर्ती जीवों में पाये जाने वाले शरीरों की प्ररूपणा की है।

तैजस और कार्मण शरीर तो सभी संसारी जीवों में होते ही हैं। उनके अतिरिक्त मनुष्यों और तिर्यंचों में भवस्वभाव से औदारिक और देव-नारकों में वैक्रियशरीर होते हैं। आहारकशरीर मनुष्यों को लब्धिविशेष से प्राप्त होता है और किन्हीं विशिष्ट मनुष्यों के ही होता है। यहाँ सामान्य रूप से ही मनुष्यों में उसके होने का निर्देश किया है।

वायुकायिक और पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिक जीवों में जो वैक्रियशरीर का सद्भाव कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि वैक्रियशरीर जन्मसिद्ध और कृत्रिम दो प्रकार का है। जन्मसिद्ध वैक्रियशरीर देवों और नारकों के ही होता है अन्य के नहीं और कृत्रिम वैक्रिय का कारण लब्धि है। लब्धि एक प्रकार की शक्ति है, जो कतिपय गर्भज मनुष्यों और तिर्यंचों में भी संभवित है तथा कुछ बादर वायुकायिक जीवों में भी वैक्रियशरीर पाया जाता है। इसलिये वायुकायिक जीवों में चार शरीरों के होने का विधान किया है।

पांच शरीरों का संख्यापरिमाण

४१३. केवतिया णं भंते ! ओरालियसरीरा पण्णत्ता ?

गो० ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्ततो असंखेज्जा लोगा। तत्थ णं जे ते मुक्केल्लगा ते णं अणंता, अणंताहिं उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्ततो अणंता लोगा, दव्वओ अभवसिद्धिएहिं अणंतगुणा सिद्धाणं अणंतभागो।

[४१३ प्र.] भगवन् ! औदारिकशरीर कितने प्रकार के प्ररूपित किये हैं ?

[४१३ उ.] गौतम ! औदारिकशरीर दो प्रकार के प्ररूपित किये हैं। वे इस प्रकार—१. बद्ध औदारिकशरीर, २. मुक्त औदारिकशरीर। उनमें जो बद्ध औदारिकशरीर हैं वे असंख्यात हैं। वे कालतः असंख्यात उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों द्वारा अपहृत होते हैं और क्षेत्रतः असंख्यात लोकप्रमाण हैं। जो मुक्त हैं, वे अनन्त हैं। कालतः वे अनन्त उत्सर्पिणियोंअवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं और क्षेत्रतः अनन्त लोकप्रमाण हैं। द्रव्यतः वे मुक्त औदारिकशरीर अभवसिद्धिक (अभव्य) जीवों से अनन्त गुणे और सिद्धों के अनन्तवें भागप्रमाण हैं।

विवेचन—ऊपर बद्ध और मुक्त प्रकारों से औदारिकशरीरों की संख्या का परिमाण बतलाया है।

बद्ध—बंधे हुए। बद्ध उसे कहते हैं जो पृच्छा के समय जीव के साथ संबद्ध हैं और मुक्त वह है जिसे जीव ने पूर्वभवों में ग्रहण करके त्याग दिया है।

यहाँ औदारिकशरीर के प्रकारों के विषय में पूछे जाने पर उत्तर में बद्ध और मुक्त कहने का कारण यह है कि बद्ध और मुक्त शरीरों की पृथक्-पृथक् संख्या कही जाएगी और बद्ध तथा मुक्त औदारिकशरीरों की संख्या कहीं *द्रव्य* से, कहीं क्षेत्र से तथा कहीं काल से (समय, आवलिका आदि से) कही जायेगी। भाव की विवक्षा द्रव्य के अंतर्गत कर लेने से उसकी अपेक्षा संख्या का कथन सूत्र में नहीं किया है।

बद्ध औदारिकशरीरों की संख्या—बद्ध औदारिकशरीर असंख्यात हैं। यद्यपि बद्ध औदारिकशरीर के धारक जीव अनन्त हैं। क्योंकि औदारिकशरीर मनुष्यों और पृथ्वीकायिक आदि पांच प्रकार के एकेन्द्रियों से लगाकर पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में पाया जाता है। इनमें भी अकेले वनस्पतिकायिक जीव ही अनन्त हैं। किन्तु औदारिकशरीरधारी जीव दो प्रकार के हैं—१. प्रत्येकशरीरी, २. अनन्तकायिक। प्रत्येकशरीरी जीवों का अलग-अलग औदारिकशरीर होता है। उनकी संख्या असंख्यात है और जो अनन्तकायिक हैं, उनका औदारिकशरीर पृथक्-पृथक् नहीं होता किन्तु अनन्त जीवों का एक ही होता है। इसलिए औदारिकशरीरी जीव अनन्तानन्त होते हुए भी उनके शरीरों की संख्या असंख्यात ही है।

कालापेक्षया बद्ध औदारिकशरीरों की संख्या असंख्यात उत्सर्पिणियों और असंख्यात अवसर्पिणियों[1] से अपहृत होने योग्य बताई है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के एक-एक समय में एक-एक औदारिकशरीर का अपहरण किया जाए तो समस्त औदारिकशरीरों का अपहरण करने में असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी व्यतीत हो जाएं। असंख्यात के असंख्यात भेद होने से असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी काल के समय असंख्यात हैं, अतएव बद्ध औदारिकशरीर भी असंख्यात ही हैं।

क्षेत्रापेक्षया बद्ध औदारिक—शरीरों की संख्या का प्रमाण बताने के लिये सूत्र में कहा है—बद्ध औदारिकशरीर असंख्यात लोक-प्रमाण हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि समस्त बद्ध औदारिकशरीरों को अपनी-अपनी अवगाहना से परस्पर अपिंड रूप में (पृथक्-पृथक्) आकाशप्रदेशों में स्थापित किया जाए तो असंख्यात लोकाकाश उन पृथक्-पृथक् स्थापित शरीरों से व्याप्त हो जाएँ। अर्थात् एक-एक लोकाकाशप्रदेश पर एक-एक शरीर रखा जाए तो क्रमशः रखने पर भी वे बद्ध औदारिकशरीर इतने और बचे रहते हैं कि जिन्हें क्रमशः एक-एक प्रदेश पर रखने के लिये असंख्यात लोकों की आवश्यकता होगी।

मुक्त औदारिकशरीरों की संख्या—मुक्त औदारिकशरीरों का अनन्तत्व काल, क्षेत्र और द्रव्य की अपेक्षा इस प्रकार समझना चाहिये—

कालापेक्षया उन मुक्त औदारिकशरीरों का परिमाण अनन्त उत्सर्पिणियां-अवसर्पिणियों के अपहरण काल के बराबर है। अर्थात् उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों के एक-एक समय में एक-एक मुक्त औदारिकशरीर का अपहरण किया जाए तो अपहरण करने में अनन्त उत्सर्पिणियां और अनन्त अवसर्पिणियां व्यतीत हो जाएंगी।

क्षेत्रापेक्षया मुक्त औदारिकशरीरों का प्रमाण अनन्त लोक-प्रमाण है। अर्थात् एक लोक में असंख्यात प्रदेश हैं। ऐसे-ऐसे अनन्त लोकों के जितने आकाशप्रदेश हों, इतने मुक्त औदारिकशरीर हैं।

द्रव्यापेक्षया मुक्त औदारिक शरीर अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं। एतद्विषयक शंका-समाधान इस प्रकार है—

१. दस कोडाकोडी सागरोपम काल का एक उत्सर्पिणी काल और उतने ही सागरोपमों का एक अवसर्पिणी काल होता है।

शंका—जिन जीवों ने पहले सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया और बाद में मिथ्यादृष्टि हो गये ऐसे प्रतिपतित सम्यग्दृष्टि जीवों की संख्या अभव्यों से अनन्तगुणी और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण बतलाई है ।[1] तो क्या ये मुक्त औदारिकशरीर इन्हीं के बराबर हैं ?

समाधान—यदि ये उनकी समान संख्या वाले होते तो उनका सूत्र में निर्देश होता, किन्तु सूत्र में संकेत नहीं है । अतएव यह जानना चाहिये कि ये मुक्त औदारिकशरीर प्रतिपतित सम्यग्दृष्टियों की राशि की अपेक्षा कदाचित् हीन, कदाचित् तुल्य और कदाचित् अधिक भी होते हैं ।[2]

ये अनन्तानन्त औदारिकशरीर एक ही लोक में दीपक के प्रकाश के समान अवगाढ़ होकर रहे हुए हैं । जैसे एक दीपक का प्रकाश समग्र भवन में व्याप्त होकर रहता है और अन्य अनेक दीपकों का प्रकाश भी उसी भवन में रह सकता है, वैसे ही अनन्तानन्त मुक्त औदारिकशरीर भी एक लोकाकाश में समाविष्ट होकर रहते हैं ।

बद्ध-मुक्त वैक्रियशरीरों की संख्या

४१४. केवतिया णं भंते ! वेउव्वियसरीरा पं० ?

गोतमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणिओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पतरस्स असंखेज्जइभागो । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लया ते णं अणंता, अणंताहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, सेसं जहा ओरालियस्स मुक्केल्लया तहा एते वि भाणियव्वा ।

[४१४ प्र.] भगवन् ! वैक्रियशरीर कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

[४१४ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे हैं । यथा—बद्ध और मुक्त । उनमें से जो बद्ध हैं, वे असंख्यात हैं और कालतः असंख्यात उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों द्वारा अपहृत होते हैं । क्षेत्रतः वे असंख्यात श्रेणीप्रमाण हैं तथा वे श्रेणियां प्रतर के असंख्यातवें भाग हैं तथा मुक्त वैक्रियशरीर अनन्त हैं । कालतः वे अनन्त उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों द्वारा अपहृत होते हैं । शेष कथन मुक्त औदारिकशरीरों के समान जानना चाहिए ।

विवेचन—यहाँ सामान्य रूप से वैक्रियशरीर के बद्ध-मुक्त प्रकारों की संख्या का परिमाण बतलाया है । वैक्रियशरीर नारकों और देवों के सर्वदा ही बद्ध रहते हैं । परन्तु मनुष्य और तिर्यंचों के जो कि वैक्रियलब्धिशाली हैं, उत्तरवैक्रिय करने के समय ही बद्ध होते हैं । यह वर्णन पूर्वोक्त औदारिकशरीर के कथन से प्रायः मिलता-जुलता है । परन्तु क्षेत्रापेक्षया बद्ध वैक्रियशरीरों की संख्या का निर्देश करने में कुछ विशेषता है । जो इस प्रकार जानना चाहिये—

क्षेत्रापेक्षया बद्ध वैक्रियशरीर असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं और उन श्रेणियों का प्रमाण प्रतर का असंख्यातवां भाग है । जिसका आशय यह हुआ कि प्रतर के असंख्यातवें भाग में जितनी श्रेणियां हैं और उन श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने ही बद्ध वैक्रियशरीर हैं ।

मुक्त वैक्रियशरीरों का वर्णन मुक्त औदारिकशरीरों के समान है । अतः उनकी अनन्तता भी पूर्वोक्त मुक्त औदारिकशरीरों के समान समझ लेनी चाहिये ।

१-२. अनुयोगद्वार मलधारीया टीका पत्र १९७

बद्ध-मुक्त आहारकशरीरों का परिमाण

४१५. केवइया णं भंते ! आहारगसरीरा पं० ?

गोयमा ! दुविहा पं० । तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं सिया अत्थि सिया नत्थि, जइ अत्थि जहण्णेणं एगो वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सहस्सपुहत्तं । मुक्केल्लया जहा ओरालियसरीरस्स तहा भाणियव्वा ।

[४१५ प्र.] भगवन् ! आहारकशरीर कितने कहे गये हैं ?

[४१५ उ.] गौतम ! आहारकशरीर दो प्रकार के कहे गये हैं । वे इस प्रकार—बद्ध और मुक्त । उनमें से बद्ध स्यात्—कदाचित् होते है कदाचित् नहीं होते हैं । यदि होते हैं तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व होते हैं । मुक्त अनन्त हैं, जिनकी प्ररूपणा औदारिकशरीर के समान जानना चाहिए ।

विवेचन—यहाँ बद्ध और मुक्त आहारकशरीरों का परिमाण बतलाया है । बद्ध आहारकशरीर चतुर्दशपूर्वधारी संयत मनुष्य के होते हैं । बद्ध आहारकशरीर के कदाचित् होने और कदाचित् नहीं होने का कारण यह है कि आहारकशरीर का अंतर (विरहकाल) जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास का है । यदि आहारकशरीर होते हैं तो उनकी संख्या जघन्यतः एक, दो या तीन होती है और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) सहस्रपृथक्त्व हो सकती है । दो से नौ तक की संख्या का नाम पृथक्त्व है और सहस्र कहते हैं, दस सौ (हजार) को । अतएव इसका अर्थ यह हुआ कि उनकी उत्कृष्ट संख्या दो हजार से नौ हजार तक हो सकती है । अर्थात् एक समय में (पृच्छा काल में) उत्कृष्टतः एक साथ दो हजार से लेकर नौ हजार तक आहारकशरीरधारक हो सकते हैं ।

मुक्त आहारकशरीरों का परिमाण मुक्त औदारिकशरीरों की तरह समझना चाहिये ।

बद्ध-मुक्त तैजसशरीरों का परिमाण

४१६. केवतिया णं भंते ! तेयगसरीरा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पं० । तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं अणंता, अणंताहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, दव्वओ सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वजीवाणं अणंतभागूणा । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लया ते णं अणंता, अणंताहिं उस्सप्पिणिओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो अणंता लोगा, दव्वओ सव्वजीवेहिं अणंतगुणा जीववग्गस्स अणंतभागो ।

[४१६ प्र.] भगवन् ! तैजसशरीर कितने कहे गये हैं ?

[४१६ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे हैं—बद्ध और मुक्त । उनमें से बद्ध अनन्त हैं, जो कालतः अनन्त उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं । क्षेत्रतः वे अनन्त लोकप्रमाण हैं । द्रव्यतः सिद्धों से अनन्तगुणे और सर्व जीवों से अनन्तभाग न्यून हैं । मुक्त तैजसशरीर अनन्त हैं, जो कालतः अनन्त उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों में अपहृत होते हैं । क्षेत्रतः अनन्त लोकप्रमाण हैं, द्रव्यतः समस्त जीवों से अनन्तगुणे तथा जीववर्ग के अनन्तवें भाग हैं ।

विवेचन—यहाँ तैजसशरीरों का परिमाण बताया है । यह भी बद्ध और मुक्त के भेद से दो प्रकार के हैं । बद्ध तैजसशरीर अनन्त इसलिये हैं कि साधारणशरीरी निगोदिया जीवों के भी

तैजसशरीर पृथक्-पृथक् होते हैं, औदारिकशरीर की तरह एक नहीं । उसकी अनन्तता का कालत: परिमाण—अनन्त उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों के समयों के बराबर है । क्षेत्रतः अनन्त लोकप्रमाण है अर्थात् अनन्त लोकाकाशों में जितने प्रदेश हों, इतने प्रदेशप्रमाण वाले हैं । द्रव्य की अपेक्षा बद्ध तैजसशरीर सिद्धों से अनन्तगुणे और सर्वजीवों की अपेक्षा से अनन्तभाग न्यून होते हैं । इसका कारण यह है—तैजसशरीर समस्त संसारी जीवों के होते हैं और संसारी जीव सिद्धों से अनन्त-गुणे हैं, इसलिये तैजसशरीर भी सिद्धों से अनन्तगुणे हुए । किन्तु सर्वजीवराशि की अपेक्षा विचार करने पर समस्त जीवों से अनन्तवें भाग कम इसलिये हैं कि सिद्धों के तैजसशरीर नहीं होता और सिद्ध सर्वजीवराशि के अनन्तवें भाग हैं । अत: उन्हें कम कर देने से तैजसशरीर सर्वजीवों के अनन्तवें भाग न्यून हो जाते हैं । इस प्रकार बद्ध तैजसशरीर चाहे सिद्धों से अनन्तगुणे हैं, ऐसा कहो, चाहे सर्वजीवराशि के अनन्तवें भाग न्यून हैं, ऐसा कहो, अर्थ समान है । सारांश यह कि बद्ध तैजस-शरीर सर्व संसारी जीवों की संख्या के बराबर हैं, समस्त जीवराशि की संख्या के बराबर नहीं हैं ।

मुक्त तैजसशरीर भी सामान्यत: अनन्त हैं । काल की अपेक्षा अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों के समयों के बराबर हैं । क्षेत्र की अपेक्षा अनन्त लोकप्रमाण हैं । अर्थात् अनन्त लोकों की प्रदेशराशि के बराबर अनन्त हैं । द्रव्यत: मुक्त तैजसशरीर सर्वजीवों से अनन्तगुणे हैं तथा सर्व जीववर्ग के अनन्तवें भागप्रमाण हैं ।

मुक्त तैजसशरीरों का परिमाण समस्त जीवों से अनन्तगुणा मानने का कारण यह है कि प्रत्येक जीव भूतकाल में अनन्त-अनन्त तैजसशरीरों का त्याग कर चुके हैं । जीवों के द्वारा जब उनका परित्याग कर दिया जाता है, उन शरीरों का असंख्यात काल पर्यन्त उस पर्याय में अवस्थान रह सकता है । अत: उन सबकी संख्या समस्त जीवों से अनन्तगुणी कही गई है तथा जो जीववर्ग के अनन्तवें भागप्रमाण कही गई है, उसको इस रीति से समझना चाहिये—

मुक्त तैजसशरीर जीववर्ग के अनन्तवें भागप्रमाण हैं । इसका कारण यह है कि समस्त मुक्त तैजसशरीर जीववर्ग प्रमाण तो तब हो पाते जब कि एक-एक जीव के तैजसशरीर सर्वजीव-राशिप्रमाण होते या उससे कुछ अधिक होते और उनके साथ सिद्ध जीवों के अनन्त भाग की पूर्ति होती । परन्तु सिद्ध जीवों के तो तैजसशरीर होता नहीं, अत: उनको मिलाया नहीं जा सकता है तथा एक-एक जीव के मुक्त तैजसशरीर सर्व जीवराशिप्रमाण या उससे कुछ अधिक नहीं अपितु उससे बहुत कम ही होते हैं और वे भी असंख्यात काल तक ही उस पर्याय में रहते है, उसके बाद तैजसशरीर रूप परिणाम—पर्याय का परित्याग करके नियम से दूसरी पर्याय को प्राप्त हो जाते हैं । इसलिये प्रतिनियत काल तक अवस्थित होने के कारण उनकी संख्या उत्कृष्ट से भी अनन्त रूप ही है, इससे अधिक नहीं । उतने काल में जो अन्य मुक्त तैजसशरीर होते हैं, वे भी थोड़े ही होते हैं, क्योंकि काल थोड़ा है । इस कारण मुक्त तैजसशरीर जीववर्गप्रमाण नहीं होते किन्तु जीववर्ग के अनन्तभाग मात्र ही होते हैं ।

द्रव्य की अपेक्षा उपर्युक्त मुक्त तैजसशरीर सर्वजीवों से अनन्तगुणे अथवा सर्व जीववर्ग के अनन्तवें भागप्रमाण होने को असत्कल्पना से स्पष्ट करते हैं—

किसी एक राशि को उसी राशि से गुणा करने पर वर्ग होता है । जैसे ४ को ४ से गुणा

करनें पर ४×४=१६ सोलह संख्या वाला वर्ग होता है। इसी प्रकार जीवराशि से जीवराशि को गुणा करने पर प्राप्त राशि जीववर्ग है। सर्व जीवराशि अनन्त है। उसे कल्पना से दस हजार और अनन्त का प्रमाण १०० मान लिया जाए तो दस हजार के साथ १०० का गुणा करने पर दस लाख हुए। यह हुआ मुक्त तैजस शरीरों का सर्वजीवों से अनन्तगुणा परिमाण। जीववर्ग का अनन्त भाग इस प्रकार होगा कि सर्व जीवराशि कल्पना से १०००० मानकर वर्ग के लिये इस दस हजार को दस हजार से गुणा करें। इस प्रकार गुणा करने से दस करोड़ की राशि आई। वह जीववर्ग का प्रमाण हुआ। अब अनन्त के स्थान पर पूर्वोक्त १०० रखकर दस करोड़ में उनका भाग देने पर दस लाख आये। वही जीवराशि के वर्ग का अनन्तवां भाग हुआ। इस प्रकार से मुक्त तैजसशरीर इतने प्रमाण में जीवराशि के वर्ग के अनन्तवें भाग रूप हैं, ऐसा असत्कल्पना से समझ लेना चाहिये।

मुक्त तैजसशरीर द्रव्य की अपेक्षा सर्वजीवों से अनन्तगुणे हैं या जीववर्ग के अनन्तवें भागप्रमाण हैं, इन दोनों कथनों का एक ही तात्पर्य है। केवल कथन की भिन्नता है, अर्थ की नहीं है।

बद्ध-मुक्त कार्मणशरीरों की संख्या

४१७. केवइया णं भंते! कम्मयसरीरा पन्नत्ता?

गो०! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। जहा तेयगसरीरा तहा कम्मगसरीरा वि भाणियव्वा।

[४१७ प्र.] भगवन्! कार्मणशरीर कितने कहे गये हैं?

[४१७ उ.] गौतम! वे दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—बद्ध और मुक्त। जिस प्रकार से तैजसशरीर की वक्तव्यता पूर्व में कही गई है, उसी प्रकार कार्मणशरीर के विषय में भी कहना चाहिये।

विवेचन—तैजसशरीरों के समान ही कार्मणशरीरों की वक्तव्यता जान लेने का निर्देश करने का कारण यह है कि तैजस और कार्मण शरीरों की संख्या एवं स्वामी समान हैं तथा ये दोनों शरीर एक साथ रहते हैं—अतएव इतनी समानता होने से विशेष कथनीय शेष नहीं रह जाता है।

इस प्रकार पांच शरीरों का सामान्य रूप से कथन करके अब नारकादि चौबीस दंडकों में उनकी प्ररूपणा की जाती है।

नारकों में बद्ध-मुक्त पंच शरीरों की प्ररूपणा

४१८. [१] नेरइयाणं भंते! केवतिया ओरालियसरीरा पन्नत्ता?

गोतमा! दुविहा पण्णत्ता। तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं नत्थि। तत्थ णं जे ते मुक्केल्लया ते जहा ओहिया ओरालिया तहा भाणियव्वा।

[४१८-१ प्र.] भगवन्! नैरयिक जीवों के कितने औदारिकशरीर कहे गये हैं?

[४१८-१ उ.] गौतम! औदारिकशरीर दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त। उनमें से बद्ध औदारिकशरीर उनके नहीं होते हैं और मुक्त औदारिकशरीर पूर्वोक्त सामान्य मुक्त औदारिकशरीर के बराबर जानना चाहिये।

[२] नेरइयाणं भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो, तासि णं सेढीणं विक्खंभसूयी अंगुलपढमवग्गमूलं बितियवग्गमूल-पडुप्पण्णं अहव णं अंगुलबितियवग्गमूलघणपमाणमेत्ताओ सेढीओ । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लया ते णं जहा ओहिया ओरालियसरीरा तहा भाणियव्वा ।

[४१८-२ प्र.] भगवन् ! नारक जीवों के वैक्रियशरीर कितने कहे गये हैं ?

[४१८-२ उ.] गौतम ! दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त । उनमें से बद्ध वैक्रियशरीर तो असंख्यात हैं जो कालतः असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों के समयप्रमाण हैं । क्षेत्रतः वे असंख्यात श्रेणीप्रमाण है । वे श्रेणियां प्रतर का असंख्यात भाग हैं । उन श्रेणियों की विष्कम्भ, सूची[१] अंगुल के प्रथम वर्गमूल को दूसरे वर्गमूल से गुणित करने पर निष्पन्न राशि जितनी होती है । अथवा अंगुल के द्वितीय वर्गमूल के घनप्रमाण श्रेणियों जितनी है । मुक्त वैक्रियशरीर सामान्य से मुक्त औदारिकशरीरों के बराबर जानना चाहिये ।

[३] णेरइयाणं भंते ! केवइया आहारगसरीरा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं नत्थि । तत्थ णं जे ते मुक्केल्लया ते जहा ओहिया ओरालिया तहा भाणियव्वा ।

[४१८-३ प्र.] भगवन् ! नारक जीवों के कितने आहारकशरीर कहे गये हैं ?

[४१८-३ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—बद्ध और मुक्त । बद्ध आहारक-शरीर तो उनके नहीं होते हैं तथा मुक्त जितने सामान्य औदारिक शरीर कहे गये हैं, उतने जानना चाहिये ।

[४] तेयग-कम्मगसरीरा जहा एतेसिं चेव वेउव्वियसरीरा तहा भाणियव्वा ।

[४१८-४] तैजस और कार्मण शरीरों के लिये जैसा इनके वैक्रियशरीरों के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार समझना चाहिये ।

विवेचन—उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों में नारक जीवों में बद्ध और मुक्त औदारिक आदि पंच शरीरों के परिमाण की प्ररूपणा की गई है ।

वैक्रियशरीर वाले होने से नारकों में बद्ध औदारिकशरीर नहीं होते हैं । मुक्त औदारिक-शरीर सामान्य से बताये गये मुक्त औदारिकशरीरों के समान अनन्त हैं । क्योंकि पूर्वप्रज्ञापननय की अपेक्षा नारक जीवों के औदारिकशरीर होते हैं । नारक जीव जब पूर्व भवों में तिर्यंच या मनुष्य पर्याय में था, तब वहाँ औदारिकशरीर था और अब उसे छोड़कर नरकपर्याय में आया है । इसीलिये नारक जीवों के मुक्त औदारिकशरीर सामान्यतः अनन्त कहे हैं ।

नैरयिक जीवों का भवस्थ शरीर वैक्रिय होता है । अतएव नैरयिकों के बद्ध वैक्रियशरीर उतने

---

१. विस्तार की अपेक्षा—लम्बाई को लिये हुई एक प्रादेशिकी श्रेणी ।

ही हैं जितने नैरयिक हैं। नैरयिकों की संख्या असंख्यात है, अतः एक-एक नारक के एक-एक वैक्रियशरीर होने से उनके वैक्रियशरीरों की संख्या भी असंख्यात है।

इस असंख्याततता की शास्त्रकार ने कालतः और क्षेत्रतः प्ररूपणा की है। कालतः प्ररूपणा का अर्थ यह है कि असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों के जितने समय हैं, उतने ही नारकों के बद्ध वैक्रियशरीर हैं।

क्षेत्रतः बद्ध वैक्रियशरीर असंख्यात श्रेणी प्रमाण हैं। यहाँ श्रेणी की व्याख्या के लिये संकेत किया है—पयरस्स असंखेज्जइभागो—प्रतर का असंख्यातवां भाग ही श्रेणी कहलाता है। ऐसी असंख्यात श्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश हैं, उतने ही नारकों के बद्ध वैक्रियशरीर होते हैं।

अब यहाँ प्रश्न है कि प्रतर के असंख्यातवें भाग में असंख्यात योजन कोटियां भी आ जाती हैं तो क्या इतने क्षेत्र में जो आकाश-श्रेणियां हैं, उनको यहाँ ग्रहण किया गया है? इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिये शास्त्र में संकेत दिया है—प्रतर के असंख्येय भाग में वर्तमान असंख्यात श्रेणियों की विस्तारसूची—श्रेणी यहाँ ग्रहण की गई है किन्तु प्रतर के असंख्येय भाग में रही हुई असंख्यात योजन कोटि रूप क्षेत्रवर्ती नभःश्रेणी ग्रहण नहीं की गई है। इस विष्कम्भसूची का प्रमाण द्वितीय वर्गमूल से गुणित प्रथम वर्गमूल जितना ग्रहण किया गया है। इसका आशय यह हुआ कि अंगुल प्रमाण क्षेत्र में जो प्रदेशराशि है, उसमें असंख्यात वर्गमूल हैं, उनमें प्रथम वर्गमूल को द्वितीय वर्गमूल[1] से गुणा करने पर जितनी श्रेणियां लभ्य हों, उतनी प्रमाण वाली विष्कम्भसूची यहाँ ग्रहण करना चाहिए। इसे यों समझना चाहिए कि वस्तुतः असंख्येयप्रदेशात्मक प्रतरक्षेत्र में असत्कल्पना से मान लें कि २५६ श्रेणियां हैं। इन २५६ का प्रथम वर्गमूल सोलह (१६ × १६ = २५६) अथवा (२ × ५ + ६ = १६) हुआ और दूसरा वर्गमूल ४ एवं तीसरा वर्गमूल २ होता है। प्रथम वर्गमूल १६ के साथ द्वितीय वर्गमूल ४ का गुणा करने पर (१६ × ४ = ६४) चौंसठ हुए। बस इतनी ही (६४) उसकी श्रेणियां हुईं। ऐसी श्रेणियां यहाँ ग्रहण की गई हैं।

प्रकारान्तर से इसी बात को सूत्र में इस प्रकार कहा गया है—अंगुल के द्वितीय वर्गमूल के घनप्रमाण श्रेणियां समझना चाहिये। इसका आशय हुआ कि अंगुल मात्र क्षेत्र में जितने प्रदेश हैं, उस राशि के द्वितीय वर्गमूल का घन करें, उतने प्रमाण वाली श्रेणियां समझना चाहिये। जिस राशि का जो वर्ग हो उसे उसी राशि से गुणा करने पर घन होता है। यहाँ असत्कल्पना से असंख्यात प्रदेशराशि को २५६ माना था। उसका प्रथम वर्गमूल '१६ और द्वितीय वर्गमूल ४ हुआ। अतः इस द्वितीय वर्ग की राशि का घन करने से ४ × ४ × ४ = ६४ हुआ। सो ये ६४ प्रमाण रूप श्रेणियां यहाँ जानना चाहिए। इस प्रकार के कथन में वर्णनशैली की विचित्रता है, अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। यह असत्कल्पना से कल्पित हुई ६४ संख्या रूप श्रेणियों की जो प्रदेशराशि है, जिन्हें सैद्धान्तिक दृष्टि से असंख्यात माना है, उस राशिगत प्रदेशों की संख्या के बराबर नारकों के बद्ध वैक्रियशरीर होते हैं।

नारकों के बद्ध वैक्रियशरीरों को असंख्यात मानने का कारण यह भी है कि प्रत्येकशरीरी होने से नारकों की संख्या इतनी ही—असंख्यात है। अतएव उनके बद्ध वैक्रियशरीर इतने ही हो सकते

१. प्रथम वर्गमूल के भी वर्गमूल को द्वितीय वर्गमूल कहते हैं, इसी प्रकार तृतीय आदि वर्गमूलों के विषय में जानना चाहिये।

हैं, अल्पाधिक नहीं। इसी प्रकार अन्यत्र भी जो जीव प्रत्येकशरीरी हों—स्वतन्त्र एक-एक शरीर के स्वामी हों—उनके बद्ध शरीरों की संख्या भी तत्प्रमाण समझ लेना चाहिये।

नारकों के मुक्त वैक्रियशरीरों की प्ररूपणा औघिक मुक्त औदारिकशरीर के समान जानने के कथन का आशय यह है कि मुक्त औदारिकशरीरों की संख्या सामान्यतः अनन्त कही गई है, उतनी ही संख्या वाले नारक जीवों के मुक्त वैक्रियशरीर हैं।

नारकों के बद्ध औदारिकशरीर की तरह बद्ध आहारकशरीर के विषय से भी जानना चाहिये। क्योंकि नारकों के बद्ध आहारकशरीर नहीं होते हैं तथा जैसे पूर्व में मुक्त औदारिकशरीरों की संख्या सामान्यतः अनन्त कही है, उतनी ही संख्या मुक्त आहारकशरीरों की है।

बद्ध और मुक्त तैजस-कार्मण शरीरों की संख्या बद्ध-मुक्त वैक्रियशरीरों के बराबर बताने का कारण यह है कि ये दोनों शरीर सभी नारकों के होते हैं, अतएव इनकी संख्या तत्प्रमाण समझना चाहिये।

भवनवासियों के बद्ध-मुक्त शरीर

४१९. [१] असुरकुमाराणं भंते ! केवतिया ओरालियसरीरा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहा नेरइयाणं ओरालियसरीरा तहा भाणियव्वा।

[४१९-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के कितने औदारिकशरीर कहे गये हैं ?

[४१९-१ उ.] गौतम ! जैसी नारकों के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों की प्ररूपणा की, उसी प्रकार इनके विषय भी जानना चाहिए।

विवेचन—वैक्रियशरीर वाले होने से जैसे नारकों के बद्ध औदारिकशरीर नहीं हैं, उसी प्रकार असुरकुमारों के भी बद्ध औदारिकशरीर नहीं होते। उनके वैक्रियशरीर होता है। परन्तु मुक्त औदारिकशरीर जैसे नारकों के अनन्त कहे हैं इसी प्रकार इनके भी जानना चाहिये।

[२] असुरकुमाराणं भंते ! केवतिया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं असंखेज्जा असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्ततो असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो, तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलपढमवग्गमूलस्स असंखेज्जतिभागो। मुक्केल्लया जहा ओहिया ओरालियसरीरा तहा भाणियव्वा।

[४१९-२ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के कितने वैक्रियशरीर कहे गये हैं ?

[४१९-२ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त। उनमें से बद्ध असंख्यात हैं। जो कालतः असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों में अपहृत होते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा वे असंख्यात श्रेणियों जितने हैं और वे श्रेणियां प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं। उन श्रेणियों की विष्कम्भसूची अंगुल के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है तथा मुक्त वैक्रियशरीरों के लिये जैसे सामान्य से मुक्त औदारिकशरीरों के लिये कहा गया है, उसी तरह कहना चाहिये।

विवेचन—यहाँ असुकुमारों के बद्ध-मुक्त वैक्रियशरीरों का परिमाण वताया है। सामान्यतः तो असुरकुमारों के बद्ध वैक्रियशरीर असंख्यात हैं किन्तु वे असंख्यात, कालतः असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के जितने समय होते हैं, उतने हैं। क्षेत्रतः असंख्यात का परिमाण इस प्रकार बताया है कि प्रतर के असंख्यातवें भाग में वर्तमान असंख्यात श्रेणियों के जितने प्रदेश होते हैं, उतने हैं। यहाँ उन श्रेणियों की विष्कम्भसूची ली गई है जो अंगुलप्रमाण क्षेत्र के प्रदेशों की राशि के प्रथम वर्गमूल का असंख्यातवां भाग है। यह विष्कम्भसूची नारकों की विष्कम्भसूची की अपेक्षा उसके भाग प्रमाण वाली है। इस प्रकार असुरकुमार, नारकों की अपेक्षा उनके असंख्यातवें भागप्रमाण होते हैं। प्रज्ञापनासूत्र के महादण्डक में रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों की संख्या की अपेक्षा समस्त भवनवासी देव असंख्यातवें भागप्रमाण कहे गये हैं। अतः समस्त नारकों की अपेक्षा असुरकुमार उनके असंख्यातवें भागप्रमाण हैं, अर्थात् अल्प हैं यह सिद्ध हो जाता है।

असुरकुमारों के मुक्त वैक्रियशरीरों की प्ररूपणा औधिक मुक्त औदारिकशरीरों के तुल्य समझने का संकेत किया है, अर्थात् सामान्य रूप से मुक्त औदारिकशरीर के समान अनन्त हैं।

[३] असुरकुमाराणं भंते ! केवइया आहारगसरीरा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। जहा एएसिं चेव ओरालिय-सरीरा तहा भाणियव्वा।

[४१९-३ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के कितने आहारकशरीर कहे गये हैं ?

[४१९-३ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त। ये दोनों प्रकार के आहारकशरीर इन असुरकुमार देवों में औदारिकशरीर के जैसे जानने चाहिये। तथा—

[४] तेयग-कम्मगससरीरा जहा एतेसिं चेव वेउव्वियसरीरा तहा भाणियव्वा।

[४१९-४] तैजस और कार्मण शरीर जैसे इनके (असुरकुमारों के) वैक्रियशरीर बताये, उसी प्रकार जानना चाहिये।

[५] जहा असुरकुमाराणं तहा जाव थणियकुमाराणं ताव भाणियव्वं।

[४१९-५] असुरकुमारों में जैसे इन पांच शरीरों का कथन किया है, वैसा ही स्तनितकुमार पर्यन्त के सब भवनवासी देवों के विषय में जानना चाहिये।

विवेचन—यहाँ असुरकुमारों के बद्ध और मुक्त आहारकशरीर आदि शरीरत्रय की तथा असुरकुमारों के अतिरिक्त शेष नौ प्रकार के भवनपति देवों के बद्ध-मुक्त औदारिक आदि पांच शरीरों की प्ररूपणा की है।

बद्ध और मुक्त आहारकशरीर असुरकुमार देवों में औदारिकशरीरवत् जानने के कथन का यह आशय है कि जिस प्रकार बद्ध औदारिकशरीर असुरकुमार देवों के नहीं होते उसी प्रकार बद्ध आहारकशरीर भी नहीं होते हैं। मुक्त औदारिकशरीर जिस प्रकार असुरकुमारों के अनन्त होते हैं, उसी प्रकार मुक्त आहारकशरीर भी अनन्त जानने चाहिये।

तैजस-कार्मण शरीर बद्ध असंख्यात और मुक्त अनन्त जानने चाहिए। स्पष्टीकरण पूर्व में किया जा चुका है।

असुरकुमारों के बद्ध और मुक्त शरीरों का जो परिमाण बताया है, वही तज्जातीय होने से शेष भवनवासियों के शरीरों का भी समझ लेना चाहिये।

पृथ्वी-अप्-तेजस्कायिक जीवों के बद्ध-मुक्त शरीर

४२०. [१] पुढविकाइयाणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पं०। तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। एवं जहा ओहिया ओरालियसरीरा तहा भाणियव्वा।

पुढविकाइयाणं भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पं०। तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं णत्थि। मुक्केल्लया जहा ओहिया ओरालियसरीरा तहा भाणियव्वा।

आहारगसरीरा वि एवं चेव भाणियव्वा। तेयग-कम्मगसरीराणं जहा एएसिं चेव ओरालियसरीरा तहा भाणियव्वा।

[४२०-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के कितने औदारिकशरीर कहे गये हैं ?

[४२०-१ उ.] गौतम ! इनके औदारिकशरीर दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त। इनके दोनों शरीरों की संख्या सामान्य बद्ध और मुक्त औदारिकशरीरों जितनी जानना चाहिये।

[प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिकों के वैक्रियशरीर कितने कहे गये हैं ?

[उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त। इनमें से बद्ध तो इनके नहीं होते है और मुक्त के लिए औदारिकशरीरों के समान जानना चाहिये।

आहारकशरीरों की वक्तव्यता भी इसी प्रकार जानना चाहिये। इनके बद्ध और मुक्त तैजस-कार्मण शरीरों की प्ररूपणा भी इनके बद्ध और मुक्त औदारिकशरीरों के समान समझना चाहिए।

[२] जहा पुढविकाइयाणं एवं आउकाइयाणं तेउकाइयाण य सव्वसरीरा भाणियव्वा।

[४२०-२] जिस प्रकार की वक्तव्यता पृथ्वीकायिकों के पांच शरीरों की है, वैसी ही वक्तव्यता अर्थात् उतनी ही संख्या अप्कायिक और तेजस्कायिक जीवों के पांच शरीरों को जाननी चाहिए।

विवेचन—ऊपर पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तैजस्कायिक जीवों के बद्ध और मुक्त शरीरों का परिमाण बतलाया है।

पृथ्वीकायिकों के बद्ध-मुक्त शरीरों का परिमाण बताने के लिये औघिक औदारिकशरीरों का संकेत दिया गया है। प्रज्ञापनासूत्र के शरीरपद के अनुसार उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

बद्ध शरीर असंख्यात हैं। काल की अपेक्षा वे असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं। क्षेत्रतः वे असंख्यलोक प्रमाण हैं। मुक्त औदारिकशरीर अनन्त हैं। कालतः अनन्त उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं। क्षेत्रतः वे अनन्त लोकप्रमाण हैं तथा द्रव्यतः वे अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग हैं।

अप्कायिक और तेजस्कायिक जीवों के बद्ध और मुक्त औदारिकशरीरों का परिमाण भी इतना ही जानना चाहिये।

पृथ्वीकायिक आदि जीवों के बद्ध और मुक्त औदारिकशरीरों का क्रमशः जो असंख्यात और अनन्त परिमाण बताया है, उसका विशदता के साथ स्पष्टीकरण पूर्व में सामान्य से बद्ध और मुक्त औदारिकशरीरों की प्ररूपणा के प्रसंग में किया जा चुका है, तदनुरूप वह समस्त वर्णन यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

बद्ध वैक्रिय और आहारक शरीर इनको भवस्वभाव से ही नहीं होते हैं। किन्तु मुक्त शरीर होते हैं। वैक्रियशरीर सामान्य मुक्त औदारिकशरीरों के समान अनन्त और मुक्त आहारकशरीर भूतकालिक मनुष्यभवों की अपेक्षा अनन्त होते हैं।

पृथ्वीकायिकों आदि के बद्ध और मुक्त तैजस-कार्मण शरीरों के लिये जो औदारिक शरीरों के परिमाण का संकेत किया है, उसका तात्पर्य यह है कि बद्ध तैजस-कार्मण बद्ध औदारिकवत् असंख्यात और मुक्त तैजस-कार्मण मुक्त औदारिकवत् अनन्त हैं।

वायुकायिकों के बद्धमुक्त शरीर

[३] वाउकाइयाणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरा पन्नत्ता ?

गो० ! जहा पुढविकाइयाणं ओरालियसरीरा तहा भाणियव्वा।

वाउकाइयाणं भंते ! केवतिया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता ?

गो० ! दुविहा पं०। तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं असंखेज्जा समए २ अवहीरमाणा २ पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमेत्तेणं कालेणं अवहीरंति। नो चेव णं अवहिया सिया। मुक्केल्लया जहा ओहिया ओरालियमुक्केल्लया। आहारयसरीरा जहा पुढविकाइयाणं वेउव्वियसरीरा तहा भाणियव्वा।

तेयग-कम्मयसरीरा जहा पुढविकाइयाणं तहा भाणियव्वा।

[४२०-३ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक जीवों के औदारिकशरीर कितने कहे गये हैं ?

[४२०-३ उ.] गौतम ! जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों के औदारिक शरीरों की वक्तव्यता है, वैसी ही यहाँ जानना चाहिये।

[प्र.] भगवन् ! वायुकायिक जीवों के वैक्रियशरीर कितने हैं ?

[उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त। उनमें से बद्ध असंख्यात हैं। यदि समय-समय में एक-एक शरीर का अपहरण किया जाये तो (क्षेत्र) पल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने प्रदेश हैं, उतने काल में पूर्णतः अपहृत हों। किन्तु उनका किसी ने कभी अपहरण किया नहीं है और मुक्त औधिक औदारिक के बराबर हैं और आहारकशरीर पृथ्वीकायिकों के वैक्रियशरीर के समान कहना चाहिये।

बद्ध, मुक्त तैजस, कार्मण, शरीरों की प्ररूपणा पृथ्वीकायिक जीवों के बद्ध एवं मुक्त तैजस और कार्मण शरीरों जैसी समझना चाहिये।

विवेचन—वायुकायिक जीवों के बद्ध और मुक्त औदारिकशरीरों के परिमाण में तो कोई विशेषता नहीं है। वे क्रमशः पृथ्वीकायिक जीवों के समान असंख्यात और अनन्त हैं। लेकिन इनमें वैक्रियशरीर भी संभव होने से तत्सम्बन्धित स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वायुकायिक जीवों के बद्ध वैक्रियशरीर असंख्यात हैं और उस असंख्यात का परिमाण बताने के लिये कहा है कि यदि ये शरीर एक-एक समय में निकाले जाएँ तो क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने समयों में इनको निकाला जा सकता है। तात्पर्य यह है कि क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग के आकाश में जितने प्रदेश हैं, उतने ये बद्ध वैक्रियशरीर होते हैं। परन्तु यह प्ररूपणा समझने के लिये है। वस्तुतः आज तक किसी ने इस प्रकार अपहरण करके निकाला नहीं है।

कदाचित् यह कहा जाए कि असंख्यात लोकाकाशों के जितने प्रदेश हैं, उतने वायुकायिक जीव हैं, ऐसा शास्त्रों में उल्लेख है, तो फिर उनमें से वैक्रियशरीरधारी वायुकायिक जीवों की इतनी अल्प संख्या बताने का क्या कारण है? इसका समाधान यह है कि वायुकायिक जीव चार प्रकार के हैं—१. सूक्ष्म अपर्याप्त वायुकायिक, २. सूक्ष्म पर्याप्त वायुकायिक, ३. बादर अपर्याप्त वायुकायिक और ४ बादर पर्याप्त वायुकायिक। इनमें से आदि के तीन प्रकार के वायुकायिक जीव तो असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेशों जितने हैं और उनमें वैक्रियलब्धि नहीं होती है। बादर पर्याप्त वायुकायिक जीव प्रतर के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने हैं, किन्तु वे सभी वैक्रियलब्धि-सम्पन्न नहीं होते हैं। इनमें भी असंख्यातवें भागवर्ती जीवों के ही वैक्रियलब्धि होती है। वैक्रियलब्धि-सम्पन्नों में भी सब बद्ध वैक्रियशरीरयुक्त नहीं होते, किन्तु असंख्येय भागवर्ती जीव ही बद्धवैक्रिय शरीरधारी होते हैं। इसलिये वायुकायिक जीवों में जो बद्धवैक्रियशरीरधारी जीवों की संख्या कही गई है, वही सम्भव है। इससे अधिक बद्धवैक्रियशरीरधारी वायुकायिक जीव नहीं होते हैं।

वायुकायिक जीवों के बद्ध-मुक्त आहारकशरीर के विषय में पृथ्वीकायिक जीवों के मुक्त वैक्रियशरीर के समान जानना चाहिये। अर्थात् वायुकायिक जीवों के आहारकलब्धि का अभाव होने से बद्धआहारकशरीर तो होते ही नहीं किन्तु अनन्त मुक्त आहारकशरीर हो सकते हैं। बद्ध-मुक्त तैजस-कार्मणशरीरों की संख्या पृथ्वीकायिकों के इन्हीं दो शरीरों के बराबर क्रमशः असंख्यात और अनन्त जानना चाहिये।

वनस्पतिकायिकों के बद्ध-मुक्त शरीर

[४] वणस्सइकाइयाणं ओरालिय-वेउव्विय-आहारगसरीरा जहा पुढविकाइयाणं तहा भाणियव्वा।

वणस्सइकाइयाणं भंते! केवइया तेयग-कम्मगसरीरा पण्णत्ता?

गो०! जहा ओहिया तेयग-कम्मगसरीरा तहा वणस्सइकाइयाण वि तेयग-कम्मगसरीरा भाणियव्वा।

[४२०-४] वनस्पतिकायिक जीवों के औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरों को पृथ्वीकायिक जीवों के औदारिकादि शरीरों के समान समझना चाहिये।

[प्र.] भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीवों के तैजस-कार्मण शरीर कितने कहे गए हैं ?

[उ.] गौतम ! औघिक तैजस-कार्मण शरीरों के प्रमाण के बराबर वनस्पतिकायिक जीवों के तैजस-कार्मण शरीरों का प्रमाण जानना चाहिये।

विवेचन—उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि वनस्पतिकायिकों के बद्धऔदारिकशरीर पृथ्वीकायिक जीवों के समान जानना चाहिये। अर्थात् असंख्यात होते हैं। इसका कारण यह है कि साधारण वनस्पतिकायिक जीव अनन्त होने पर भी उनका एक शरीर होने से औदारिकशरीर असंख्यात ही हो सकते हैं। इनके वैक्रियलब्धि और आहारकलब्धि नहीं होने से मुक्त-वैक्रिय-आहारक-शरीर ही होते हैं। उनका परिमाण अनन्त है। परन्तु इनके बद्ध और मुक्त तैजस-कार्मणशरीर-अनन्त हैं। क्योंकि वे प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र होते हैं और साधारण जीवों के अनन्त होने से इन दोनों को अनन्त जानना चाहिये।

विकलत्रिकों के बद्ध-मुक्त शरीर

४२१. [१] बेइंदियाणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरा पन्नत्ता ?

गोतमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो, तासि णं सेढीणं विक्खंभसूयी असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ असंखेज्जाइं सेढिवग्गमूलाइं; बेइंदियाणं ओरालियसरीरेहिं बद्धेल्लएहिं पयरं अवहीरइ असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं कालओ, खेत्तओ अंगुलपयरस्स आवलियाए य असंखेज्जइभागपडिभागेणं। मुक्केल्लया जहा ओहिया ओरालियसरीरा तहा भाणियव्वा।

वेउव्विय-आहारगसरीरा णं बद्धेल्लया नत्थि, मुक्केल्लया जहा ओरालियसरीरा ओहिया तहा भाणियव्वा।

तेया-कम्मगसरीरा जहा एतेसिं चेव ओरालियसरीरा तहा भाणियव्वा।

[४२१-१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रियों के औदारिकशरीर कितने कहे गये हैं ?

[४२१-१ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गये हैं। यथा—बद्ध और मुक्त। उनमें से बद्धऔदारिकशरीर असंख्यात हैं। कालतः असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों से अपहृत होते हैं। अर्थात् असंख्यात उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों के समय जितने हैं। क्षेत्रतः प्रतर के असंख्यातवें भाग में वर्तमान असंख्यात श्रेणियों के प्रदेशों की राशिप्रमाण हैं। उन श्रेणियों की विष्कंभसूची असंख्यात कोटाकोटि योजनप्रमाण है। इतने प्रमाण वाली विष्कम्भसूची असंख्यात श्रेणियों के वर्गमूल रूप है। द्वीन्द्रियों के बद्धऔदारिकशरीरों द्वारा प्रतर अपहृत किया जाए तो काल की अपेक्षा असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों में अपहृत होता है तथा क्षेत्रतः अंगुल मात्र प्रतर और आवलिका के असंख्यातवें भाग-प्रतिभाग (प्रमाणांश) से अपहृत होता है। जैसा औधिक मुक्तऔदारिक-शरीरों का परिमाण कहा है, वैसा इनके मुक्तऔदारिकशरीरों के लिये भी जानना चाहिए।

द्वीन्द्रियों के बद्धवैक्रिय-आहारकशरीर नहीं होते हैं और मुक्त के विषय में जैसा औघिक मुक्तऔदारिकशरीर के विषय में कहा है, वैसा जानना चाहिये।

तैजस और कार्मण के बद्ध-मुक्त शरीरों के लिए जैसा इनके औदारिकशरीरों के विषय में कहा है, तदनुरूप कथन करना चाहिए।

[२] जहा बेइंदियाणं तहा तेइंदियाणं चउरिंदियाण वि भाणियव्वं।

[४२१-२] द्वीन्द्रियों के बद्ध-मुक्त पांच शरीरों के सम्बन्ध में जो निर्देश किया है, वैसा ही त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में भी कहना चाहिये।

विवेचन—प्रस्तुत पाठ में द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के बद्ध और मुक्त शरीरों की प्ररूपणा की है। उसका द्वीन्द्रिय की अपेक्षा से स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

द्वीन्द्रियों के बद्धऔदारिकशरीर असंख्यात हैं और उस असंख्यात का परिमाण काल की अपेक्षा असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के जितने समय होते हैं, तत्प्रमाण है। क्षेत्र की अपेक्षा वे शरीर प्रतर के असंख्यातवें भाग में वर्तमान असंख्यात श्रेणियों के प्रदेशों की राशिप्रमाण हैं। इन श्रेणियों की विष्कंभसूची असंख्यात कोटाकोटि योजनों की जानना चाहिये। इतने प्रमाण वाली विष्कंभ (विस्तार) सूची असंख्यात श्रेणियों के वर्गमूल रूप होती है। इसका तात्पर्य यह है कि आकाशश्रेणि में रहे हुए समस्त प्रदेश असंख्यात होते हैं, जिनको असत्कल्पना से ६५५३६ समझ लें। ये ६५५३६ असंख्यात के बोधक हैं। इस संख्या का प्रथम वर्गमूल २५६, दूसरा वर्गमूल १६, तीसरा वर्गमूल ४ तथा चौथा वर्गमूल २ हुआ। कल्पित ये वर्गमूल असंख्यात वर्गमूल रूप हैं। इन वर्गमूलों का जोड़ करने पर (२५६+१६+४+२=२७८) दो सौ अठहत्तर हुए। यह २७८ प्रदेशों वाली वह विष्कम्भसूची है। अब इसी शरीरप्रमाण को दूसरे प्रकार से बताने के लिये सूत्र में पद दिया है '............पयरं अवहीरइ असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं कालओ' अर्थात् द्वीन्द्रिय जीवों के बद्धऔदारिकशरीरों से यदि सब प्रतर खाली किया जाए तो असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों के समयों से वह समस्त प्रतर द्वीन्द्रिय जीवों के बद्ध औदारिक शरीरों से खाली किया जा सकता है और क्षेत्रतः 'अंगुलपयरस्स आवलियाए यं असंखेज्जइभागं पडिभागेणं' अर्थात् अंगुल प्रतर के जितने प्रदेश हैं उनको एक-एक द्वीन्द्रिय जीवों से भरा जाए और फिर उन प्रदेशों से आवलिका के असंख्यातवें भाग रूप समय में एक-एक द्वीन्द्रिय जीव को निकाला जाए तो आवलिका के असंख्यात भाग लगते हैं। इतने प्रदेश अंगुल प्रतर के हैं। उस प्रतर के जितने प्रदेश हैं, उतने द्वीन्द्रिय जीवों के बद्धऔदारिकशरीर हैं। इस प्रकार से बताई गई संख्या में पूर्वोक्त कथन से कोई भेद नहीं है, मात्र कथन-शैली की भिन्नता है।

द्वीन्द्रियों के मुक्त औदारिकशरीरों की प्ररूपणा औधिक मुक्तऔदारिकशरीरों के समान है।

द्वीन्द्रियों के बद्धवैक्रिय-आहारकशरीर नहीं होते हैं। मुक्तवैक्रिय-आहारकशरीरों की प्ररूपणा औधिक मुक्त औदारिकशरीरों के समान है—वे अनन्त हैं।

इनके बद्ध, मुक्त तैजस, कार्मण शरीरों की प्ररूपणा इन्हीं के बद्ध, मुक्त औदारिकशरीरों की तरह क्रमशः असंख्यात और अनन्त जानना चाहिए।

त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों के बद्ध-मुक्त शरीरों की प्ररूपणा द्वीन्द्रियों के बद्ध-मुक्त शरीरों के समान है। मात्र 'द्वीन्द्रिय' के स्थान में 'त्रीन्द्रिय' और 'चतुरिन्द्रिय' शब्द का प्रयोग करना चाहिये।

पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिकों के बद्ध-मुक्त शरीर

४२२. [१] पंचेंदियतिरिक्खजोणियाण वि ओरालियसरीरा एवं चेव भाणियव्वा।

[४२२-१] पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों के भी औदारिकशरीर इसी प्रकार (द्विन्द्रिय जीवों के औदारिकशरीरों के समान ही) जानना चाहिये।

[२] पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पं०। तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ जाव विक्खंभसूयी अंगुलपढमवग्गमूलस्स असंखेज्जइभागो। मुक्केल्लया जहा ओहिया ओरालिया। आहारयसरीरा जहा बेइंदियाणं। तेयग-कम्मगसरीरा जहा ओरालिया।

[४२२-२ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों के वैक्रियशरीर कितने कहे गये हैं ?

[४२२-२ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त। उनमें से बद्धवैक्रियशरीर असंख्यात हैं' जिनका कालत: असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों से अपहरण होता है और क्षेत्रत: यावत् (श्रेणियों की) विष्कम्भसूची अंगुल के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में वर्त्तमान श्रेणियों जितनी है। मुक्तवैक्रियशरीरों का प्रमाण सामान्य औदारिकशरीरों के प्रमाण तथा इनके आहारकशरीरों का प्रमाण द्वीन्द्रियों के आहारकशरीरों के बराबर है। तैजस-कार्मण शरीरों का परिमाण औदारिकशरीरों के प्रमाणवत् है।

विवेचन—यहाँ पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिक जीवों के बद्ध-मुक्त औदारिक आदि शरीरों की प्ररूपणा की है। बद्ध-मुक्त औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरों के विषय में विशेष वर्णनीय नहीं है। क्योंकि इनके बद्ध और मुक्त औदारिकशरीर द्वीन्द्रिय जीवों के बराबर हैं। इनके बद्धआहारकशरीर नहीं होते हैं और मुक्तआहारकशरीर द्वीन्द्रियों के समान हैं। बद्ध तैजस-कार्मण शरीर इनके बद्धऔदारिकशरीरवत् हैं। किन्तु किन्हीं-किन्हीं के वैक्रियलब्धि संभव होने से वैक्रियशरीर को लेकर जो विशेषता है, इसका संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है—

पंचेन्द्रियतिर्यचयोनिकों के बद्धवैक्रियशरीर असंख्यात हैं, अर्थात् काल की अपेक्षा असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों के समयों जितने प्रमाण वाले हैं तथा क्षेत्र की अपेक्षा ये प्रतर के असंख्यातवें भाग में वर्तमान असंख्यात श्रेणी रूप हैं और उन श्रेणियों की विष्कम्भसूची अंगुल के प्रथम वर्गमूल के असंख्यातवें भाग में वर्तमान श्रेणियों जितनी है। मुक्तवैक्रियशरीर औधिक मुक्तऔदारिकशरीरवत् अनन्त हैं।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि यहाँ त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियों के लिये सामान्य से असंख्यात कहा गया है। लेकिन असंख्यात के असंख्यात भेद होने से विशेषापेक्षा उनकी संख्या में अल्पाधिकता है। वह इस प्रकार—पंचेन्द्रिय जीव अल्प हैं, उनसे कुछ अधिक चतुरिन्द्रिय, उनसे त्रीन्द्रिय विशेषाधिक, उनसे द्वीन्द्रिय विशेषाधिक और एकेन्द्रिय अनन्त गुणे हैं। इसलिये उनके शरीरों की असंख्यातता में भी भिन्नता होती है।

मनुष्यों के बद्ध-मुक्त पंच शरीर

४२३. [१] मणूसाणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरा पन्नत्ता ?

गो० ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, जहण्णपदे संखेज्जा संखेज्जाओ कोडीओ, एगुणतीसं ठाणाइं तिजमलपयस्स उवरिं चउजमलपयस्स हेट्ठा, अहवणं छट्ठो वग्गो पंचमवग्गपडुप्पण्णो, अहवणं छण्णउतिछेयणगदाइरासी, उक्कोसपदे असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तो उक्कोसपए रूवपक्खित्तेहिं मणूसेहिं सेढी अवहीरंति, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीहिं कालओ, खेत्तओ अंगुलपढमवग्गमूलं ततियवग्गमूलपडुप्पण्णं। मुक्केल्लया जहा ओहिया ओरालिया।

[४२३-१ प्र.] भदन्त ! मनुष्यों के औदारिकशरीर कितने कहे गये हैं ?

[४२३-१ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त। उनमें से बद्ध तो स्यात् संख्यात और स्यात् असंख्यात होते हैं। जघन्य पद में संख्यात कोटाकोटि होते हैं अर्थात् उनतीस अंकप्रमाण होते हैं। ये उनतीस अंक तीन यमल पद के ऊपर तथा चार यमल पद से नीचे हैं, अथवा पंचमवर्ग से गुणित छठे वर्गप्रमाण होते हैं, अथवा छियानवै (९६) छेदनकदायी राशि जितनी संख्या प्रमाण हैं। उत्कृष्ट पद में वे शरीर असंख्यात हैं। जो कालतः असंख्यात उत्सर्पिणियों-अवसर्पिणियों द्वारा अपहृत होते हैं और क्षेत्र की अपेक्षा एक रूप प्रक्षिप्त किये जाने पर मनुष्यों से श्रेणी अपहृत होती है। कालतः असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों से अपहार होता है और क्षेत्रतः तीसरे मूलवर्ग से गुणित अंगुल के प्रथम वर्गमूल प्रमाण होते हैं। उनके मुक्तऔदारिकशरीर औघिक मुक्तऔदारिकशरीरों के समान जानना चाहिए।

[२] मणूसाणं भंते ! केवतिया वेउव्वियसरीरा पण्णत्ता ?

गो० दुविहा पं०। तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं संखेज्जा समए २ अवहीरमाणा २ संखेज्जेणं कालेणं अवहीरंति, नो चेव णं अवहिया सिया। मुक्केल्लया जहा ओहिया ओरालिया।

[४२३-२ प्र.] भगवन् ! मनुष्यों के वैक्रियशरीर कितने कहे हैं ?

[४२३-२ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त। उनमें से बद्ध संख्यात हैं जो समय-समय में अपहृत किये जाने पर संख्यात काल में अपहृत होते हैं किन्तु अपहृत नहीं किये गये हैं। मुक्तवैक्रियशरीर मुक्त औघिक औदारिकशरीरों के बराबर जानना चाहिये।

[३] मणूसाणं भंते ! केवइया आहारयसरीरा पन्नत्ता ?

गो० ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं सिय अत्थि सिय नत्थि, जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं सहस्सपुहत्तं। मुक्केल्लया जहा ओहिया ओरालिया।

[४२३-३ प्र.] भगवन् ! मनुष्यों के आहारकशरीर कितने कहे गये हैं ?

[४२३-३ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—बद्ध और मुक्त। उनमें से बद्ध तो कदाचित् होते हैं और कदाचित् नहीं भी होते हैं। जब होते हैं तब जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व होते हैं। मुक्तआहारकशरीर औधिक मुक्तऔदारिकशरीरों के बराबर जानना चाहिये।

[४] तेयग-कम्मगसरीरा जहा एतेसिं चेव ओहिया ओरालिया तहा भाणियव्वा।

[४२३-४] मनुष्यों के बद्ध-मुक्त तैजस-कार्मण शरीर का प्रमाण इन्हीं के बद्ध-मुक्त औदारिक शरीरों के समान जानना चाहिये।

विवेचन—ऊपर मनुष्यों के बद्ध-मुक्त औदारिक आदि पंच शरीरों का परिमाण बतलाया है।

मनुष्य मुख्य रूप से औदारिकशरीरधारी हैं। अतः उनके विषय में विशेष रूप से वक्तव्यता इस प्रकार है—

मनुष्यों के बद्धऔदारिकशरीर कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात, होते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य दो प्रकार के हैं—गर्भज और संमूर्च्छिम। इनमें से गर्भज मनुष्य तो सदैव होते हैं किन्तु संमूर्च्छिम मनुष्य कभी होते हैं और कभी नहीं होते हैं। उनकी उत्कृष्ट आयु भी अंतर्मुहूर्त की होती है और उत्पत्ति का विरहकाल उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त प्रमाण कहा गया है। अतएव जब संमूर्च्छित मनुष्य नहीं होते और केवल गर्भज मनुष्य ही होते हैं, तब वे संख्यात होते हैं। इसी अपेक्षा उस समय बद्ध औदारिकशरीर संख्यात कहे हैं। जब संमूर्च्छिम मनुष्य होते हैं तब समुच्चय मनुष्य असंख्यात हो जाते हैं। क्योंकि संमूर्च्छिम मनुष्यों का प्रमाण अधिक से अधिक श्रेणी के असंख्यातवें भाग में स्थित आकाशप्रदेशों की राशि के तुल्य कहा गया है। ये संमूर्च्छिम मनुष्य प्रत्येकशरीरी होते हैं, इसलिये गर्भज और संमूर्च्छिम—दोनों के बद्धऔदारिकशरीर मिलकर असंख्यात होते हैं।

यद्यपि जघन्यपद में संख्यात होने से गर्भज मनुष्यों के औदारिकशरीरों का परिमाण निर्दिष्ट हो गया किन्तु संख्यात के भी संख्यात भेद होते हैं। इसलिये संख्यात कहने से नियत संख्या का बोध नहीं होता है। अतएव नियत संख्या बताने के लिये संख्यात कोटाकोटि कहा गया है और इसकी विशेष स्पष्टता के लिये तीन यमल पद से ऊपर और चार यमल पद से नीचे कहा है। इसका आशय इस प्रकार है—ये संख्यात कोटाकोटि २९ अंकप्रमाण होती है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार आठ-आठ पदों की एक यमलपद संख्या है। अतः चौबीस अंकों के तो तीन यमलपद हो गये और उसके बाद पांच अंक शेष रहते हैं, जिनसे चौथे यमल पद की पूर्ति नहीं होती। इसी कारण यहाँ तीन यमलपदों से ऊपर और चार यमलपदों से नीचे यह पाठ दिया है।

अब इसी बात को विशेष स्पष्ट करने के लिये सूत्र में दूसरी विधि बताई है। पंचम वर्ग से छठे वर्ग को गुणित करने पर जो राशि निष्पन्न हो, जघन्य पद में उस राशिप्रमाण मनुष्यों की संख्या है। तात्पर्य इस प्रकार है कि एक का वर्ग नहीं होता। एक को एक से गुणा करने पर गुणनफल एक ही आता है, संख्या में वृद्धि नहीं होती अतः एक की वर्ग रूप में गणना नहीं होती। वर्ग का प्रारम्भ

दो की संख्या से होता है। अतः दो का दो से गुणा करने पर ४ संख्या हुई। यह प्रथम वर्ग हुआ। चार का चार से गुणा करने पर १६ संख्या हुई, यह दूसरा वर्ग हुआ। फिर १६ को १६ से गुणा करने पर २५६ संख्या हुई, यह तृतीय वर्ग हुआ। २५६ को २५६ से गुणा करने पर ६५५३६ संख्या हुई, यह चौथा वर्ग हुआ। इस चौथे वर्ग की राशि ६५५३६ को पुनः इसी राशि ६५५३६ से गुणित करने पर ४२९४९६७२९६ चार अरब उनीस करोड़ उनचास लाख सड़सठ हजार दो सौ छियानवै राशि पंचम वर्ग की हुई।[1] इस पंचम वर्ग की राशि का उसी से गुणा करने पर १८४४६७४४०७३-७०९५५१६१६ राशि हुई, यह छठा वर्ग हुआ।[2] इस छठे वर्ग का पूर्वोक्त पंचम वर्ग के साथ गुणा करने पर निष्पन्न राशि जघन्य पद में मनुष्यों की संख्या की बोधक है। यह राशि अंकों में इस प्रकार है—७९२२८१६२ ५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६।[3] इन अंकों की संख्या २९ है, अतः २९ अंक प्रमाण राशि से गर्भज मनुष्यों की संख्या कही गई है।

ये उनतीस अक कोटाकोटि आदि के द्वारा कहा जाना कठिन है, अतः इसका बोध कराने के लिये उक्त संख्या दो गाथाओं द्वारा इस प्रकार कही जा सकती है—

छत्तिन्नि तिन्नि सुन्नं पंचेव य नव य तिन्नि चत्तारि।
पंचेव तिण्णि नव पंच सत्त तिन्नेव तिन्नेव।१।

चउ छ द्दो चउ एक्को पण दो छक्के क्कगो य अट्ठेव।
दो-दो नव सत्तेव य अंकट्ठाणा पराहुत्ता।२।

उक्त २९ अंकों को इस रीति से बोला जा सकता है—

सात कोडाकोडी-कोडाकोडी, वानवै लाख कोडाकोडी कोडी, अट्ठाईस हजार कोडाकोडी कोडी, एक सौ कोडाकोडी कोडी, वासठ कोडाकोडी कोडी, इक्यावन लाख कोडाकोडी, वयालीस

---

१. चत्तारि य कोडिसया अउणतीसं च होंति कोडीओ।
अउण्णावन्नं लक्खा सत्तट्ठी चेव य सहस्सा।१।
दो य सया छण्णउया पंचमवग्गो समासओ होइ।
एयस्स कतो वग्गो छट्ठो जो होई तं वोच्छ।२। —प्रज्ञापना मलयवृत्ति पत्रांक २८

२. लक्खं कोडाकोडी चउरासी इ भवे सहस्साइं।
चत्तारि य सत्तट्ठा होंति सया कोडकोडीणं।३।
चउयालं लक्खाइं कोडीणं सत्त चेव य सहस्सा।
तिण्णि सया सत्तयरी कोडीणं हुंति नायव्वा।४।
पंचाणउई लक्खा एकावन्नं भवे सहस्साइं।
छसोल सुत्तरसया एसो छट्ठो हवइ वग्गो।५। —प्रज्ञापना मलयवृत्ति पत्रांक २८

इन गाथाओं में निर्दिष्ट अंकों की 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार विपरीत क्रम से गणना करना तथा आगे भी यही नियम जानना चाहिये।

३. (क) अनुयोगद्वार मलधारीय वृत्ति पत्रांक २०६।
(ख) छ-ति-ति-सु-पण-नव-ति-च-प-ति-ण-प-स-ति-ति-चउ-छ-दो।
च-ए-प-दो-छ-ए-अ-वे-वे-ण-स पढ मक्खरसंतियट्ठाणा ॥ —प्रज्ञापना मलयवृत्ति पत्रांक २८१

हजार कोडाकोडी, छहसौ कोडाकोडी, तेतालीस कोडाकोडी, सैंतीस लाख कोडी, उनसठ हजार कोडी, तीनसौ कोडी, चौपन कोडी, उनतालीस लाख पचास हजार तीनसौ छत्तीस।

इसी संख्या को प्रकारान्तर से समझाया गया है कि मनुष्यों के औदारिकशरीर छियानवै छेदनकदायी प्रमाण हैं। जो आधी-आधी करते-करते छियानवें वार छेदन को प्राप्त हो और अंत में एक वच जाये, उसे छियानवें छेदनकदायीराशि कहते हैं। उसको इस प्रकार समझना चाहिये—प्रथम वर्ग (४ संख्या) को छेदने पर दो छेदनक होते हैं, पहला छेदनक दो और दूसरा छेदनक एक। दोनों को मिलाकर दो छेदनक हुए। इसी प्रकार दूसरे वर्ग १६ के चार छेदनक हुए, वह इस प्रकार-प्रथम ८, द्वितीय ४, तृतीय २ और चतुर्थ १। तृतीय वर्ग २५६ के आठ छेदनक, चतुर्थ वर्ग के १६ छेदनक, पांचवें वर्ग के ३२ और छठे वर्ग ६४ छेदनक हुए। इस प्रकार पांचवें और छठे वर्ग के छेदनकों का योग करने पर कुल ९६ छेदनक होते हैं। यह छियानवें छेदनकदायी राशि है। अथवा एक के अंक को स्थापित करके उत्तरोत्तर उसे छियानवै वार दुगुना-दुगुना करने पर जितनी राशि हो वह राशि छियानवै छेदनकदायीराशि कहलाती है। इस छियानवै छेदनकदायी राशि का परिमाण उतना ही होगा, जिसे छठे वर्ग से गुणित पंचम वर्ग की राशि के प्रसंग में वताया गया है। यह जघन्यपद में मनुष्यों की संख्या का प्रमाण है।

जघन्यपद में मनुष्यों की संख्या उक्त प्रमाण वाली संख्यात है। अतएव उतने ही मनुष्यों के जघन्य पदवर्ती वद्धऔदारिकशरीर जानना चाहिये।

उत्कृष्ट पद में मनुष्यों की संख्या और उनके वद्ध औदारिकशरीरों का प्रमाण इस प्रकार है—उत्कृष्ट पद में मनुष्यों की संख्या असंख्यात है। जो संमूर्च्छिम मनुष्यों की संख्या की अपेक्षा पाई जाती है। जव संमूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं तव वे एक साथ अधिक से अधिक असंख्यात होते हैं। असंख्यात संख्या के असंख्यात भेद हैं। इन भेदों में से जो असंख्यात संख्या मनुष्यों के लिये मानी है, उसका परिचय यहाँ काल और क्षेत्र दोनों प्रकारों से दिया गया है।

मनुष्यों के मुक्त औदारिकशरीरों का प्रमाण सामान्य मुक्त औदारिकशरीरों के समान अनन्त है।

मनुष्यों के वद्ध वैक्रियशरीर संख्यात हैं, क्योंकि वैक्रियलब्धि गर्भज मनुष्यों में ही होती है और वह भी किसी किसी में, सव में नहीं। कालत: इस संख्यात का प्रमाण इस प्रकार है—एक-एक समय में एक-एक वैक्रियशरीर का अपहार किया जाए तो संख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल व्यतीत हो जाए।

मुक्तवैक्रियशरीरों का प्रमाण सामान्य मुक्तऔदारिकशरीरों जितना अनन्त समझना चाहिये।

मनुष्यों के वद्ध आहारकशरीर होते भी हैं और नहीं भी होते हैं। हों तो जघन्य एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व तक हो सकते हैं। मुक्त आहारकशरीर सामान्य मुक्त आहारक-शरीरों जितने हैं।[1]

---

१. वद्ध-मुक्त आहारकशरीरों का प्रमाण सामान्य बद्ध-मुक्त आहारकशरीरों के प्रसंग में कारण सहित स्पष्ट किया जा चुका है।

मनुष्यों के बद्ध-मुक्त तैजस और कार्मण शरीरों का प्रमाण इनके बद्ध-मुक्त औदारिक-शरीरों के प्रमाण जितना है। अर्थात् बद्ध असंख्यात और मुक्त अनन्त हैं।[1]

वाणव्यंतर देवों के बद्ध-मुक्त शरीर

४२४. [१] वाणमंतराणं ओरालियसरीरा जहा नेरइयाणं।

[४२४-१] वाणव्यंतर देवों के औदारिकशरीरों का प्रमाण नारकों के औदारिकशरीरों जैसा जानना चाहिये।

[२] वाणमंतराणं भंते! केवइया वेउव्वियसरीरा पन्नत्ता?

गो० ! दुविहा पं०। तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालतो, खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो, तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई संखेज्जजोयणसयवग्गपलिभागो पतरस्स। मुक्केल्लया जहा ओहिया ओरालिया।

[४२४-२ प्र.] भगवन्! वाणव्यंतर देवों के कितने वैक्रियशरीर कहे गये हैं?

[४२४-२ उ.] गौतम! वे दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त। उनमें से बद्धवैक्रिय शरीर सामान्य रूप से असंख्यात हैं जो काल की अपेक्षा असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों में अपहृत होते हैं। क्षेत्रत: प्रतर के असंख्यातवें भाग में रही हुई असंख्यात श्रेणियों जितने हैं। उन श्रेणियों की विष्कंभसूची प्रतर के संख्येययोजनशतवर्ग प्रतिभाग (अंश) रूप है। मुक्तवैक्रियशरीरों का प्रमाण औघिक औदारिकशरीरों की तरह जानना चाहिये।

[३] आहारगसरीरा दुविहा वि जहा असुरकुमाराणं।

[४२४-३] दोनों प्रकार के आहारकशरीरों का परिमाण असुरकुमारों के दोनों आहारक-शरीरों के प्रमाण जितना जानना चाहिये।

[४] वाणमंतराणं भंते! केवइया तेयग-कम्मगसरीरा पं०?

गो० ! जहा एएसिं चेव वेउव्वियसरीरा तहा तेयग-कम्मगसरीरा वि भाणियव्वा।

[४२४-४ प्र.] भगवन्! वाणव्यंतरों के कितने तैजस-कार्मण शरीर कहे हैं?

[४२४-४ उ.] गौतम! जैसे इनके वैक्रियशरीर कहे हैं, वैसे ही तैजस-कार्मण शरीर भी जानना चाहिये।

विवेचन—वाणव्यंतर देवों के बद्ध-मुक्त शरीरों की प्ररूपणा का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वाणव्यंतर देवों के औदारिकशरीरों का प्रमाण नारकों के औदारिकशरीरों के प्रमाण

---

१. यद्यपि एक मनुष्य के एक साथ चार शरीर तक हो सकते हैं, पांच नहीं। परन्तु यहाँ पांच बद्ध शरीरों की प्ररूपणा की गई है, उसका तात्पर्य यह है कि नाना मनुष्यों की अपेक्षा एक साथ पांच शरीर भी होते हैं।

जितना कहने का तात्पर्य यह है कि वाणव्यंतर देवों के बद्धऔदारिकशरीर तो होते नहीं हैं। मुक्त औदारिकशरीर पूर्वभवों की अपेक्षा अनन्त हैं।

वाणव्यंतर देवों के बद्धवैक्रियशरीर असंख्यात हैं, क्योंकि इन देवों की संख्या असंख्यात है। इस असंख्यात को स्पष्ट करने के लिये कहा है कि कालतः एक-एक समय में एक-एक बद्धवैक्रियशरीर का अपहार किया जाये तो असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी कालों के समयों में इनका अपहार होता है। क्षेत्र की अपेक्षा प्रतर के असंख्यातवें भाग में रही हुई जो असंख्यात श्रेणियाँ हैं, उन श्रेणियों के जितने प्रदेश हों उतने प्रदेश प्रमाण वाणव्यंतरों के बद्धवैक्रियशरीर हैं। उन असंख्यात श्रेणियों की विष्कंभसूची तिर्यंच पंचेन्द्रियों की बद्धऔदारिकशरीर की विष्कंभसूची से असंख्यातगुणहीन जानना चाहिये।

वाणव्यंतर देवों के मुक्तवैक्रियशरीरों का प्रमाण औधिक मुक्तऔदारिकशरीरों के समान है, अर्थात् अनन्त है।

बद्ध और मुक्त आहारकशरीरों का प्रमाण असुरकुमारों के समान कहने का तात्पर्य यह है कि वाणव्यंतर देवों के बद्धआहारकशरीर होते नहीं हैं और मुक्तआहारकशरीर मुक्तऔदारिकशरीरों के समान अनन्त हैं। बद्ध तैजस-कार्मण शरीर वाणव्यंतरों के बद्धवैक्रियशरीर के समान असंख्यात हैं और मुक्त तैजस-कार्मण शरीर अनन्त होते हैं।

ज्योतिष्क देवों के बद्ध-मुक्त पंच शरीर

४२५. [१] जोइसियाणं भंते ! केवइया ओरालियसरीरा पं० ?

गो० ! जहा नेरइयाणं तहा भाणियव्वा।

[४२५-१ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्क देवों के कितने औदारिकशरीर होते हैं ?

[४२५-१ उ.] गौतम ! ज्योतिष्क देवों के औदारिकशरीर नारकों के औदारिकशरीरों के समान जानना चाहिये।

[२] जोइसियाणं भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पण्णत्ता ?

गो० ! दुविहा पं०। तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य। तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया जाव तासि णं सेढीणं विक्खंभसूची बेछप्पण्णंगुलसयवग्गपलिभागो पयरस्स। मुक्केल्लया जहा ओहिय-ओरालिया।

[४२५-२ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्क देवों के कितने वैक्रियशरीर कहे हैं ?

[४२५-२ उ.] गौतम ! दो प्रकार के कहे गये हैं—बद्ध और मुक्त। उनमें जो बद्ध हैं यावत् उनकी श्रेणी की विष्कंभसूची दो सौ छप्पन प्रतरांगुल के वर्गमूल रूप अंश प्रमाण समझना चाहिये। मुक्तवैक्रियशरीरों का प्रमाण सामान्य मुक्तऔदारिकशरीरों जितना जानना चाहिये।

[३] आहारयसरीरा जहा नेरइयाणं तहा भाणियव्वा।

[४२५-३] ज्योतिष्कदेवों के आहारकशरीरों का प्रमाण नारकों के आहारकशरीरों के बराबर है ।

[४] तेयग-कम्मगसरीरा जहा एएसिं चेव वेउव्विया तहा भाणियव्वा ।

[४२५-४] ज्योतिष्कदेवों के बद्ध-मुक्त तैजस और कार्मण शरीरों का प्रमाण इनके बद्ध-मुक्त वैक्रियशरीरों के बराबर है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में ज्योतिष्कदेवों के बद्ध-मुक्त शरीरों की प्ररूपणा की गई है ।

इनके बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों की प्ररूपणा नारकवत् समझने का तात्पर्य यह है कि बद्ध-औदारिकशरीर तो ज्योतिष्कदेवों के होते नहीं और मुक्तऔदारिकशरीर पूर्वभवों की अपेक्षा अनन्त हैं ।

ज्योतिष्कदेवों के बद्धवैक्रियशरीरों का निर्देश अति संक्षेप में किया है । उसका आशय यह है कि वे असंख्यात हैं । कालतः असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों के समयों के बराबर हैं । क्षेत्रतः उनका प्रमाण प्रतर के असंख्यातवें भाग में वर्तमान असंख्यात श्रेणियों के प्रदेशों के बराबर है । विशेष यह है कि उन श्रेणियों की विष्कंभसूची व्यंतरों की विष्कंभसूची से संख्यात गुणी अधिक होती है । क्योंकि महादंडक में व्यंतरों से ज्योतिष्क देव संख्यातगुणा अधिक बताये गये हैं । इसीलिये प्रतिभाग के विषय में विशेष स्पष्ट करते हुए कहा है कि उन श्रेणियों की विष्कंभसूची २५६ प्रतरांगुलों का वर्गमूल रूप जो प्रतिभाग—अंश है, उस अंशरूप यह विष्कंभसूची जानना चाहिये । आशय यह है कि २५६ अंगुल वर्गप्रमाण श्रेणीखंड में यदि एक-एक ज्योतिष्क देव की स्थापना की जाये तो वे संपूर्ण प्रतर को पूर्ण कर सकेंगे । अथवा यदि एक-एक ज्योतिष्कदेव के अपहार से एक-एक दो सौ छप्पन अंगुल वर्ग प्रमाण श्रेणी खंड का अपहार होता है, तब सब मिलकर ज्योतिष्क देवों की संख्या की पूर्णता हो और दूसरी ओर संपूर्ण प्रतर खाली होगा । मुक्तवैक्रियशरीर सामान्य मुक्त-औदारिकशरीरों के तुल्य अर्थात् अनन्त हैं ।

नारकों के जैसे बद्धआहारकशरीर नहीं होते, इसी प्रकार ज्योतिष्क देवों के भी नहीं हैं । मुक्तआहारकशरीर नारकों के शरीरों के समान अनन्त हैं ।

ज्योतिष्कों के बद्ध तैजस-कार्मण शरीर असंख्यात हैं, क्योंकि ये देव असंख्यात हैं । मुक्त तैजस-कार्मण शरीर अनन्त हैं । अनन्त होने का कारण नारकों के मुक्त तैजस-कार्मण शरीरों का प्रमाण बताने के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है ।

वैमानिक देवों के बद्ध-मुक्त शरीर एवं कालप्रमाण का उपसंहार

४२६. [१]. वेमाणियाणं भंते ! केवतिया ओरालियसरीरा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहा नेरइयाणं तहा भाणियव्वा ।

[४२६-१ प्र.] भगवन् ! वैमानिक देवों के कितने औदारिकशरीर कहे गये हैं ?

[४२६-१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार नैरयिकों के औदारिकशरीरों की प्ररूपणा की गई है, उसी प्रकार वैमानिक देवों की भी जानना चाहिये ।

[२] वेमाणियाणं भंते ! केवइया वेउव्वियसरीरा पण्णत्ता ?

गो० ! दुविहा पं० । तं०—बद्धेल्लया य मुक्केल्लया य । तत्थ णं जे ते बद्धेल्लया ते णं असंखेज्जा, असंखेज्जाहिं उस्सप्पिणि-ओसप्पिणीहिं अवहीरंति कालओ, खेत्तओ असंखेज्जाओ सेढीओ पयरस्स असंखेज्जइभागो, तासि णं सेढीणं विक्खंभसूई अंगुलबितियवग्गमूलं ततियवग्गमूलपडुप्पण्णं, अहव णं अंगुलततियवग्गमूलघणप्पमाणमेत्ताओ सेढीओ । मुक्केल्लया जहा ओहिया ओरालिया ।

[४२६-२ प्र.] भगवन् ! वैमानिक देवों के कितने वैक्रिय शरीर कहे गये हैं ?

[४२६-२ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के हैं—बद्ध और मुक्त । उनमें से बद्धवैक्रियशरीर असंख्यात हैं । उनका काल की अपेक्षा असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों में अपहरण होता है और क्षेत्रतः प्रतर के असंख्यातवें भाग में रही हुई असंख्यात श्रेणियों जितने हैं । उन श्रेणियों की विष्कंभसूची अंगुल के तृतीय वर्गमूल से गुणित द्वितीय वर्गमूल प्रमाण है अथवा अंगुल के तृतीय वर्गमूल के घनप्रमाण श्रेणियां हैं । मुक्तवैक्रियशरीर औधिक औदारिकशरीर के तुल्य जानना चाहिये ।

[३] आहारयसरीरा जहा नेरइयाणं ।

[४२६-३] वैमानिक देवों के बद्ध-मुक्त आहारकशरीरों का प्रमाण नारकों के बद्ध-मुक्त आहारकशरीरों के बराबर जानना चाहिये ।

[४] तेयग-कम्मगसरीरा जहा एएसिं चेव वेउव्वियसरीरा तहा भाणियव्वा ।

से तं सुहुमे खेत्तपलिओवमे । से तं खेत्तपलिओवमे । से तं पलिओवमे । से तं विभाग-णिप्फण्णे । से तं कालप्पमाणे ।

[४२६-४] इनके बद्ध और मुक्त तैजस-कार्मण शरीरों का प्रमाण इन्हीं के (बद्ध-मुक्त) वैक्रियशरीरों जितना जानना चाहिये ।

यह सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम का स्वरूप है । इसके साथ ही क्षेत्रपल्योपम तथा पल्योपम का स्वरूप भी निरूपित हो चुका । साथ ही विभागनिष्पन्न कालप्रमाण एवं समग्र कालप्रमाण का कथन भी पूर्ण हुआ ।

विवेचन—सूत्र में वैमानिक देवों के बद्ध-मुक्त पंच शरीरों की प्ररूपणा करके कालप्रमाण का उपसंहार किया है । वैमानिकों के बद्ध-मुक्त औदारिकशरीरों के लिये नैरयिकों के शरीरों की संख्या का निर्देश किया है । इसका तात्पर्य यह है कि नैरयिकों की तरह वैमानिक देवों के भी बद्धऔदारिक-शरीर नहीं होते । मुक्तऔदारिकशरीर पूर्व के अनन्त जन्मों की अपेक्षा अनन्त होते हैं ।

बद्धवैक्रियशरीर असंख्यात हैं। काल की अपेक्षा उनका अपहरण किये जाने पर असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों के समयों जितने होंगे। क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात का प्रमाण बताने के लिये कहा है कि प्रतर के असंख्यातवें भाग में वर्तमान असंख्यात श्रेणियों की जितनी प्रदेशराशि होती है, उतने हैं। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये कहा है कि इन श्रेणियों की विष्कंभसूची का प्रमाण तृतीय वर्गमूल से गुणित द्वितीय वर्गमूलप्रमाण अथवा अंगुल के तृतीय वर्गमूल का घन करने पर प्राप्त संख्याप्रमाण जानना चाहिये। जिसका असत्कल्पना से स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मान लें कि असंख्यात श्रेणियां २५६ हैं। इनका प्रथम वर्गमूल १६, द्वितीय वर्गमूल ४ और तृतीय वर्गमूल २ हुआ। इस द्वितीय वर्गमूल ४ और तृतीय वर्गमूल २ से गुणा करने पर (४×२=८) आठ हुए। इन आठ को हम असंख्यात श्रेणियों की विष्कंभसूची मान लें। इन असंख्यात श्रेणियों की जितनी प्रदेशराशि होगी उतने वैमानिक देवों के क्षेत्र की अपेक्षा बद्धवैक्रियशरीर हैं। अथवा अंगुल का प्रमाण २५६ है। इसका तृतीय वर्गमूल २ हुआ। उसका घन करने पर (२×२×२=८) हुए। इस आठ को हम कल्पना से असंख्यात श्रेणियों की विष्कंभसूची मान लें। इस प्रकार दोनों प्रकार के कथन में अर्थ का कोई भेद नहीं है।

मुक्तवैक्रियशरीरों का परिमाण सामान्य मुक्तऔदारिकशरीरों जितना अनन्त जानना चाहिये।

वैमानिक देवों के बद्ध और मुक्त आहारकशरीरों का प्रमाण नारकों जैसा जानने के संकेत का यह आशय है कि जैसे नारकों के बद्धआहारकशरीर नहीं होते, इसी प्रकार वैमानिक देवों के भी नहीं होते हैं। मुक्तआहारकशरीर पूर्वभवों की अपेक्षा होते हैं। इनका प्रमाण नारकों के मुक्तआहारकशरीरों जितना अनन्त है।

बद्ध-तैजस-कार्मण शरीरों का प्रमाण इन्हीं के बद्धवैक्रियशरीरों के समान असंख्यात और मुक्त-तैजस-कार्मण शरीर मुक्त वैक्रियशरीरों के समान अनन्त हैं।

इस प्रकार से चौवीस दंडकवर्ती जीवों के शरीरों की प्ररूपणा जानना चाहिये।

इसके पश्चात् 'से तं' आदि पदों द्वारा कालप्रमाण के वर्णन के पूर्ण होने की सूचना दी गई है। अब क्रमप्राप्त भावप्रमाण का वर्णन प्रारंभ करते हैं।

भावप्रमाण

४२७. से किं तं भावप्पमाणे ?

भावप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—गुणप्पमाणे णयप्पमाणे संखप्पमाणे।

[४२७ प्र.] भगवन् ! भावप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[४२७ उ.] आयुष्मन् ! भावप्रमाण तीन प्रकार का कहा है। यथा—१. गुणप्रमाण, २. नयप्रमाण और ३. संख्याप्रमाण।

विवेचन—यह सूत्र भावप्रमाण का वर्णन करने के लिये भूमिका रूप है। 'भवनं भावः' यह भाव शब्द की व्युत्पत्ति है, अर्थात् होना यह भाव है।

भाव वस्तु का परिणाम है। लोक में वस्तुएं दो प्रकार की है—जीव-सचेतन और अजीव-अचेतन। सचेतन वस्तु का परिणाम ज्ञानादि रूप है और अचेतन का परिणाम वर्णादि रूप है।

उपर्युक्त कथन का सारांश यह है कि विद्यमान पदार्थों के वर्णादि और ज्ञानादि परिणामों को भाव और जिसके द्वारा उन वर्णादि परिणामों का भलीभांति बोध हो, उसे भावप्रमाण कहते हैं। वह भावप्रमाण तीन प्रकार का है—गुणप्रमाण, नयप्रमाण और संख्याप्रमाण।

गुणों से द्रव्यादि का अथवा गुणों का गुण रूप से ज्ञान होता है अतएव वे गुणप्रमाण कहलाते हैं। अनन्तधर्मात्मक वस्तु का एक अंश द्वारा निर्णय करना नय है। इसी को नयप्रमाण कहते हैं। संख्या का अर्थ है गणना करना। यह गणना रूप प्रमाण संख्याप्रमाण है।

भावप्रमाण के उक्त तीन भेदों का आगे विस्तृत वर्णन किया जाता है।

गुणप्रमाण

४२८. से किं तं गुणप्पमाणे ?

गुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—जीवगुणप्पमाणे य अजीवगुणप्पमाणे य।

[४२८ प्र.] भगवन् ! गुणप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[४२८ उ.] आयुष्मन् ! गुणप्रमाण दो प्रकार का कहा गया है—जीवगुणप्रमाण और अजीवगुणप्रमाण।

विवेचन—गुणप्रमाण के स्वरूपवर्णन को प्रारंभ करते हुए उसके दो भेदों का उल्लेख किया है। इन भेदों में से अल्पवक्तव्य होने से पहले अजीवगुणप्रमाण का निर्देश करते हैं।

अजीवगुणप्रमाणनिरूपण

४२९. से किं तं अजीवगुणप्पमाणे ?

अजीवगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा- वण्णगुणप्पमाणे गंधगुणप्पमाणे रसगुणप्पमाणे फासगुणप्पमाणे संठाणगुणप्पमाणे।

[४२९ प्र.] भगवन् ! अजीवगुणप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[४२९ उ.] आयुष्मन् ! अजीवगुणप्रमाण पांच प्रकार का कहा गया है—१. वर्णगुणप्रमाण, २. गंधगुणप्रमाण, ३. रसगुणप्रमाण, ४. स्पर्शगुणप्रमाण और ५. संस्थानगुणप्रमाण।

४३०. से किं तं वण्णगुणप्पमाणे ?

वण्णगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते। तं०—कालवण्णगुणप्पमाणे जाव सुक्किल्लवण्णगुणप्पमाणे। से तं वण्णगुणप्पमाणे।

[४३० प्र.] भगवन् ! वर्णगुणप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[४३० उ.] आयुष्मन् ! वर्णगुणप्रमाण पांच प्रकार का कहा है। यथा—कृष्णवर्णगुणप्रमाण यावत् शुक्लवर्णगुणप्रमाण। यह वर्णगुणप्रमाण का स्वरूप है।

४३१. से किं तं गंधगुणप्पमाणे ?

गंधगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं०—सुरभिगंधगुणप्पमाणे दुरभिगंधगुणप्पमाणे य। से तं गंधगुणप्पमाणे।

[४३१ प्र.] भगवन् ! गंधगुणप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[४३१ उ.] आयुष्मन् ! गंधगुणप्रमाण दो प्रकार का है। यथा—सुरभिगंधगुणप्रमाण, दुरभिगंधगुणप्रमाण। इस प्रकार यह गंधगुणप्रमाण का स्वरूप जानना चाहिए।

४३२. से किं तं रसगुणप्पमाणे ?

रसगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते। तं०—तित्तरसगुणप्पमाणे जाव महुररसगुणप्पमाणे। से तं रसगुणप्पमाणे।

[४३२ प्र.] भगवन् ! रसगुणप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[४३२ उ.] आयुष्मन् ! रसगुणप्रमाण पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—तिक्तरसगुणप्रमाण यावत् मधुररसगुणप्रमाण। यह रसगुणप्रमाण का स्वरूप है।

४३३. से किं तं फासगुणप्पमाणे ?

फासगुणप्पमाणे अट्ठविहे पण्णत्ते। तं०—कक्खडफासगुणप्पमाणे जाव लुक्खफासगुणप्पमाणे। से तं फासगुणप्पमाणे।

[४३३ प्र.] भगवन् ! स्पर्शगुणप्रमाण का स्वरूप क्या है ?

[४३३ उ.] आयुष्मन् ! स्पर्शगुणप्रमाण आठ प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—कर्कशस्पर्शगुणप्रमाण यावत् रूक्षस्पर्शगुणप्रमाण। यह स्पर्शगुणप्रमाण है।

४३४. से किं तं संठाणगुणप्पमाणे ?

संठाणगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते। तं०—परिमंडलसंठाणगुणप्पमाणे जाव आययसंठाणगुणप्पमाणे। से तं संठाणगुणप्पमाणे। से तं अजीवगुणप्पमाणे।

[४३४ प्र.] भगवन् ! संस्थानगुणप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[४३४ उ.] आयुष्मन् ! संस्थानगुणप्रमाण पांच प्रकार का कहा गया है। जैसे—परिमंडलसंस्थानगुणप्रमाण यावत् आयतसंस्थानगुणप्रमाण। यह संस्थानगुणप्रमाण का स्वरूप है।

इस प्रकार से अजीवगुणप्रमाण का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—यहाँ अजीवगुणप्रमाण का कथन किया है। प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति भाव, करण और कर्म इन तीन साधनों में होती है, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। भावसाधन पक्ष में गुणों को जानने रूप प्रमिति प्रमाण है। यद्यपि गुण स्वयं प्रमाणभूत नहीं होते हैं किन्तु जानने रूप क्रिया

गुणों में होती है, इसलिये अभेदोपचार से गुणों को भी प्रमाण मान लिया जाता है। करणसाधन पक्ष में गुणों के द्वारा द्रव्य जाना जाता है, इसलिये गुण प्रमाणभूत हो जाते हैं। कर्मसाधन पक्ष में गुण गुणरूप से जाने जाते हैं, इसलिये गुण प्रमाण रूप हैं।

यहाँ जिन गुणों को प्रमाण रूप से प्रस्तुत किया है, वे मूर्त अजीव द्रव्य पुद्गल के हैं। ये सभी पुद्गलद्रव्य के असाधारण स्वरूप के बोधक हैं। अन्य द्रव्यों में नहीं होते हैं। जिस द्रव्य में रूप होता है, उसी में संस्थान-आकार होता है। आकार के माध्यम से वह दृश्य होता है। इसीलिये परिमंडल आदि संस्थानों को भी गुणप्रमाण के रूप में माना है।

संस्थानों के नामोल्लेख में 'यावत्' पद से परिमंडल और आयत संस्थान के साथ वृत्त, त्र्यस और चतुरस्र संस्थान को ग्रहण किया है। वलय (चूड़ी) के आकार के संस्थान को परिमंडल-संस्थान कहते हैं। लोहगोलक (गोली) के आकार को वृत्तसंस्थान, सिंघाड़े जैसे आकार को त्र्यस (त्रिकोण) संस्थान, समचौरस (चौकौर) आकार को चतुरस्रसंस्थान और लम्बे आकार को आयत-संस्थान कहते हैं।

स्थानांगसूत्र में संस्थान सात कहे गए हैं—१. दीर्घ, २. ह्रस्व, ३. वृत्त (गेंद के समान गोल), ४. त्रिकोण, ५. चतुष्कोण, ६. पृथुल-विस्तीर्ण और ७. परिमंडल-वलय की भांति गोल।[1]

ये सभी वर्णादि गुण अजीव पदार्थ के हैं। इसलिये इनको अजीवगुणप्रमाण में ग्रहण किया है।

जीवगुणप्रमाणनिरूपण

४३५. से किं तं जीवगुणप्पमाणे ?

जीवगुणप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—णाणगुणप्पमाणे दंसणगुणप्पमाणे चरित्तगुणप्पमाणे य।

[४३५ प्र.] भगवन् ! जीवगुणप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[४३५ उ.] आयुष्मन् ! जीवगुणप्रमाण तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। वह इस प्रकार—ज्ञानगुणप्रमाण, दर्शनगुणप्रमाण और चारित्रगुणप्रमाण।

विवेचन—यहाँ जीव के मूलभूत गुणों का उल्लेख करके जीवगुणप्रमाण के तीन भेद बताये है।

४३६. से किं तं णाणगुणप्पमाणे ?

णाणगुणप्पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं०—पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे।

[४३६ प्र.] भगवन् ! ज्ञानगुणप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[४३६ उ.] आयुष्मन् ! ज्ञानगुणप्रमाण चार प्रकार का कहा गया है—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान और ४ आगम।

---

१. स्थानांगसूत्र, स्थान ७।

विवेचन—सूत्र में जीवगुणप्रमाण के प्रथम भेद ज्ञानगुणप्रमाण के चार भेदों का नामोल्लेख किया है। जिनका अत्र विस्तार से वर्णन करते हैं।

प्रत्यक्षप्रमाणनिरूपण

४३७. से किं तं पच्चक्खे ?

पच्चक्खे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—इंदियपच्चक्खे य णोइंदियपच्चक्खे य।

[४३७ प्र.] भगवन् ! प्रत्यक्ष का क्या स्वरूप है ?

[४३७ उ.] आयुष्मन् ! प्रत्यक्ष के दो भेद हैं। यथा—इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष।

४३८. से किं तं इंदियपच्चक्खे ?

इंदियपच्चक्खे पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—सोइंदियपच्चक्खे चक्खुरिंदियपच्चक्खे घाणिंदियपच्चक्खे जिब्भिंदियपच्चक्खे फासिंदियपच्चक्खे। से तं इंदियपच्चक्खे।

[४३८ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियप्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

[४३८ उ.] आयुष्मन् ! इन्द्रियप्रत्यक्ष पांच प्रकार का कहा है। यथा—१. श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष, २. चक्षुरिन्द्रियप्रत्यक्ष, ३. घ्राणेन्द्रियप्रत्यक्ष, ४. जिह्वेन्द्रियप्रत्यक्ष, ५. स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्ष।

इस प्रकार यह इन्द्रियप्रत्यक्ष है।

४३९. से किं तं णोइंदियपच्चक्खे ?

णोइंदियपच्चक्खे तिविहे पं०। तं०—ओहिणाणपच्चक्खे मणपज्जवणाणपच्चक्खे केवलणाणपच्चक्खे। से तं णोइंदियपच्चक्खे। से तं पच्चक्खे।

[४३९ प्र.] भगवन् ! नोइन्द्रियप्रत्यक्ष का क्या स्वरूप है ?

[४३९ उ.] आयुष्मन् ! नोइन्द्रियप्रत्यक्ष तीन प्रकार का कहा गया है—१. अवधिज्ञानप्रत्यक्ष, २. मनःपर्यवज्ञानप्रत्यक्ष, ३. केवलज्ञानप्रत्यक्ष। यही प्रत्यक्ष का स्वरूप है।

विवेचन—उक्त प्रश्नोत्तरों में भेद सहित प्रत्यक्षप्रमाण का स्वरूप बतलाया है।

प्रत्यक्ष शब्द में प्रति+अक्ष ऐसे दो शब्द हैं। अक्ष शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'अक्ष्णोति ज्ञानात्मना व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा।' अर्थात् अक्ष जीव—आत्मा को कहते हैं, क्योंकि जीव ज्ञान रूप से समस्त पदार्थों को व्याप्त करता है—जानता है। जो ज्ञान साक्षात् आत्मा से उत्पन्न हो, जिसमें इन्द्रियादि किसी माध्यम की अपेक्षा न हो, वह प्रत्यक्ष कहलाता है।

यद्यपि 'अक्षं-अक्षं प्रतिगतम्'—ऐसी भी व्युत्पत्ति प्रत्यक्ष शब्द की हो सकती है, लेकिन वह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसी व्युत्पत्ति करने में अव्ययीभाव समास होता है और अव्ययीभाव समास से बना शब्द सदा नपुंसकलिंग में होता है। तब 'प्रत्यक्षो बोधः, प्रत्यक्षा बुद्धिः प्रत्यक्षं ज्ञानम्' इस प्रकार से त्रिलिंगता प्रत्यक्ष शब्द में नहीं आ सकेगी। अतः प्रत्यक्ष शब्द की पूर्वोक्त व्युत्पत्ति ही निर्दोष है।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं—१. इन्द्रियप्रत्यक्ष और २. नोइन्द्रियप्रत्यक्ष। जिस प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियाँ सहकारी हों वह इन्द्रियप्रत्यक्ष है और जिस ज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय आदि की सहायता से नहीं होती है, उसे नोइन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं। 'नो' शब्द यहाँ निषेधवाचक है। तात्पर्य यह हुआ कि जिस ज्ञान की उत्पत्ति केवल आत्माधीन होती है, वह नोइन्द्रियप्रत्यक्ष है।

इन्द्रियजन्य ज्ञान को लौकिक व्यवहार की अपेक्षा से प्रत्यक्ष कहा गया है, क्योंकि लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है—'मैंने अपने नेत्रों से प्रत्यक्ष देखा है।' परमार्थ की अपेक्षा तो इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष ही है। नन्दीसूत्र में जो इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है वह भी लोकव्यवहार की अपेक्षा से कहा गया है।

इन्द्रियप्रत्यक्ष के पांच भेद श्रोत्र आदि पांचों इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले अपने-अपने विषयों की अपेक्षा जानना चाहिये। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है, चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप, घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध, रसनेन्द्रिय का विषय रस एवं स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श है।

इन्द्रियप्रत्यक्ष के भेदों के क्रम-विन्यास से जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि शास्त्रों में जीवों की इन्द्रियवृद्धि का क्रम स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, इस प्रकार का है। उस क्रम को छोड़कर पश्चानुपूर्वी से इसका उल्लेख क्यों किया है? इसका उत्तर यह है कि क्षयोपशम और पुण्य की प्रकर्षता अधिक होने पर जीव पंचेन्द्रिय बनता है और उसके बाद उससे न्यून होने पर चतुरिन्द्रिय। त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय के लिये भी यही समझना चाहिये। अतएव पुण्य और क्षयोपशम की प्रकर्षता को ध्यान में रखकर सर्वप्रथम श्रोत्रेन्द्रियप्रत्यक्ष का और फिर पश्चानुपूर्वी के क्रम से चक्षुरिन्द्रिय आदि का विधान किया है। अभिप्राय यह है कि पुण्य और क्षयोपशम की मुख्यता से तो पश्चानुपूर्वी से और जाति की अपेक्षा पूर्वानुपूर्वी से इन्द्रियों का क्रम कहा गया है। इन इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान इन्द्रियप्रत्यक्ष है।

नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के तीन भेद हैं—अवधिज्ञानप्रत्यक्ष, मनःपर्यायज्ञानप्रत्यक्ष और केवलज्ञान-प्रत्यक्ष। इनको नोइन्द्रियप्रत्यक्ष कहने का कारण यह है कि इनकी उत्पत्ति केवल आत्माधीन है। इनमें इन्द्रियव्यापार सर्वथा नहीं होता है किन्तु साक्षात् जीव ही अर्थ को जानता है। अवधिज्ञान आदि तीनों के लक्षण पूर्व में बताये जा चुके हैं।

अनुमानप्रमाणप्ररूपणा

४४०. से किं तं अणुमाणे ?

अणुमाणे तिविहे पण्णत्ते। तं०—पुव्ववं सेसवं दिट्ठसाहम्मवं।

[४४० प्र.] भगवन्! अनुमान का क्या स्वरूप है?

[४४० उ.] आयुष्मन्! अनुमान तीन प्रकार का कहा है—पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्ट-साधर्म्यवत्।

विवेचन—अनुमान शब्द के 'अनु' और 'मान' ऐसे दो अंश हैं। 'अनु' का अर्थ है पश्चात् और मान का अर्थ है ज्ञान। अर्थात् साधन के ग्रहण (दर्शन) और संबन्ध के स्मरण के पश्चात् होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं। तात्पर्य यह है कि साधन से साध्य का जो ज्ञान हो, वह अनुमान

हैं। साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले हेतु को साधन कहते हैं। अतएव उस हेतु के दर्शन होते ही साध्य-साधन की व्याप्ति का स्मरण होता है, तब जहाँ-जहाँ साध्याविनाभावी साधन होता है, वहाँ-वहां साध्य होता है, इस नियम के अनुसार जहाँ अविनाभावी साधन दृष्टिगत हो रहा हो वहाँ अवश्य ही साध्य है, इस प्रकार से परोक्ष अर्थ की सत्ता जानने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं। यह अनुमान प्रत्यक्षज्ञान की तरह प्रमाण है।

पूर्ववत्-अनुमाननिरूपण

४४१. से किं तं पुव्ववं ? पुव्ववं

माता पुत्तं जहा नट्ठं जुवाणं पुणरागतं।
काई पच्चभिजाणेज्जा पुव्वलिंगेण केणइ ॥ ११५ ॥

तं जहा—खतेण वा वणेण वा मसेण वा लंछणेण वा तिलएण वा। से तं पुव्ववं।

[४४१ प्र.] भगवन् ! पूर्ववत्-अनुमान किसे कहते हैं ?

[४४१ उ.] आयुष्मन् ! पूर्व में देखे गये लक्षण से जो निश्चय किया जाये उसे पूर्ववत् कहते हैं। यथा—

माता बाल्यकाल से गुम हुए और युवा होकर वापस आये हुए पुत्र को किसी पूर्व-निश्चित चिह्न से पहचानती है कि यह मेरा ही पुत्र है। ११५

जैसे—देह में हुए क्षत--घाव, व्रण—कुत्ता आदि के काटने से हुए घाव, लांछन, डाम आदि से बने चिह्नविशेष, मष, तिल आदि से जो अनुमान किया जाता है, वह पूर्ववत्-अनुमान है।

विवेचन—यहाँ अनुमान के पूर्ववत् भेद का लक्षण बताया है। तात्पर्य यह है कि पूर्वज्ञात किसी लिंग (चिह्न) के द्वारा पूर्वपरिचित वस्तु का ज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है।[1]

यहाँ अनुमानप्रयोग इस प्रकार किया जायेगा—यह मेरा पुत्र है, क्योंकि अन्य में नहीं पाए जाने वाले क्षतादि विशिष्ट लिंग वाला है।

कदाचित् यह कहा जाये कि इस अनुमानप्रयोग में साधर्म्यदृष्टान्त का अभाव होने से यह साध्य की सिद्धि करने में अक्षम है तो इसका उत्तर यह है कि हेतु दृष्टान्त के बल से ही अपने साध्य का निश्चायक हो, यह नियम नहीं है। परन्तु जिस हेतु में अन्यथानुपपन्नत्व (साध्य के अभाव में हेतु का न होना) है, वह नियम से अपने साध्य का गमक होता है। अर्थात् अन्यथानुपपन्नत्व ही हेतु का लक्षण है। दृष्टान्त के अभाव में भी ऐसा हेतु गमक होता है।

यदि यह कहा जाये कि जब पुत्र प्रत्यक्षज्ञान का विषय है, तब अनुमानप्रयोग करने की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान यह है, पुरुष का पिंडमात्र दिखने पर भी 'यह मेरा पुत्र है या नहीं' ऐसा संदेह बना हुआ है। इस संदेह का निराकरण करने के लिये अनुमानप्रयोग किया जाना संगत है कि—यह मेरा पुत्र है, क्योंकि अमुक असाधारण चिह्न से युक्त है।

---

१. अनुयोगद्वार. मलयवृत्ति. पृ. २१२

शेषवत्-अनुमाननिरूपण

४४२. **से किं तं सेसवं ?**

सेसवं पंचविहं पण्णत्तं । तं जहा—कज्जेणं कारणेणं गुणेणं अवयवेणं आसएणं ।

[४४२ प्र.] भगवन् ! शेषवत्-अनुमान किसे कहते हैं ?

[४४२ उ.] आयुष्मन् ! शेषवत्-अनुमान पांच प्रकार का कहा गया है । यथा—१. कार्येण (कार्य से), २. कारणेन (कारण द्वारा), ३. गुणेण (गुण से), ४. अवयवेन (अवयव से) और ५. आश्रयेण (आश्रय से) । (इन पांचों द्वारा जो अनुमान किया जाता है, उसे शेषवत्-अनुमान कहते हैं ।)

४४३. **से किं तं कज्जेणं ?**

कज्जेणं संखं सद्देणं, भेरिं तालिएणं, वसभं ढंकिएणं, मोरं केकाइएणं, हयं हेसिएणं, गयं गुलगुलाइएणं, रहं घणघणाइएणं । से तं कज्जेणं ।

[४४३ प्र.] भगवन् ! कार्य से उत्पन्न होने वाले शेषवत्-अनुमान का क्या स्वरूप है ?

[४४३ उ.] आयुष्मन् ! शंख के शब्द को सुनकर शंख का अनुमान करना, भेरी के शब्द (ध्वनि) से भेरी का, बैल के रंभाने-दलांकने से बैल का, केकारव सुनकर मोर का, हिनहिनाना सुनकर घोड़े का, गुलगुलाहट सुनकर हाथी का और घनघनाहट सुनकर रथ का अनुमान करना ।

यह कार्यलिंग से उत्पन्न शेषवत्-अनुमान है ।

४४४. **से किं तं कारणेणं ?**

कारणेणं तंतवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं, वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणाकारणं, मिप्पिंडो घडस्स कारणं ण घडो मिप्पिंडकारणं । से तं कारणेणं ।

[४४४ प्र.] भगवन् ! कारणरूप लिंग से उत्पन्न शेषवत्-अनुमान क्या है ?

[४४४ उ.] आयुष्मन् ! कारणरूप लिंग से उत्पन्न हुआ शेषवत्-अनुमान इस प्रकार है—तंतु पट के कारण हैं, किन्तु पट तंतु का कारण नहीं है, वीरणा-तृण कट (चटाई) के कारण हैं, लेकिन कट वीरणा का कारण नहीं है. मिट्टी का पिंड घड़े का कारण है किन्तु घड़ा मिट्टी का कारण नहीं है ।

यह कारणलिंगजन्य शेषवत्-अनुमान है ।

४४५. **से किं तं गुणेणं ?**

गुणेणं सुवण्णं निकसेणं, पुप्फं गंधेणं, लवणं रसेणं, मदिरं आसायिएणं, वत्थं फासेणं । से तं गुणेणं ।

[४४५ प्र.] भगवन् ! गुणलिंगजन्य शेषवत्-अनुमान किसे कहते हैं ?

[४४५ उ.] आयुष्मन् ! निकष—कसौटी से स्वर्ण का, गंध से पुष्प का, रस से नमक का, आस्वाद (चखने) से मदिरा का, स्पर्श से वस्त्र का अनुमान करना गुणनिष्पन्न शेषवत्-अनुमान है ।

४४६. से किं तं अवयवेणं ?

अवयवेणं महिसं सिंगेणं, कुक्कुडं सिहाए, हत्थिं विसाणेणं, वराहं दाढाए, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, वग्घं नहेणं, चमरं वालगंडेणं, दुपयं मणूसमाइ, चउपयं गवमादि, बहुपयं गोम्हियादि, सीहं केसरेणं, वसहं ककुहेणं, महिलं वलयबाहाए ।

परियरबंधेण भडं, जाणिज्जा महिलियं णिवसणेणं ।
सित्थेण दोणपागं, कइं च एक्काए गाहाए ।। ११६ ।।

से तं अवयवेणं ।

[४४६ प्र.] भगवन् ! अवयव रूप-लिंग से निष्पन्न शेषवत्-अनुमान किसे कहते हैं ?

[४४६ उ.] आयुष्मन् ! सींग से महिष का, शिखा से कुक्कुट (मुर्गा) का, दांत से हाथी का, दाढ से वराह (सूअर) का, पिच्छ से मयूर का, खुर से घोड़े का, नखों से व्याघ्र का, बालों के गुच्छे से चमरी गाय का, द्विपद से मनुष्य का, चतुष्पद से गाय आदि का, बहु पदों से गोमिका आदि का, केसरसटा से सिंह का, ककुद (कांधले) से वृषभ का, चूड़ी सहित बाहु से महिला का अनुमान करना । तथा—

बद्धपरिकरता (योद्धा की विशेष प्रकार की पोशाक) से योद्धा का, वेष से महिला का, एक दाने के पकने से द्रोण-पाक का और एक गाथा से कवि का ज्ञान होना । ११६

यह अवयवलिंगजन्य शेषवत्-अनुमान है ।

४४७. से किं तं आसएणं ?

आसएणं अग्गिं धूमेणं, सलिलं बलगाहिं, वुट्ठं अब्भविकारेणं, कुलपुत्तं सीलसमायारेणं ।

इङ्गिताकारितैर्ज्ञेयैः क्रियाभिर्भाषितेन च ।
नेत्र-वक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ।। ११७ ।।

से तं आसएणं । से तं सेसवं ।

[४४७ प्र.] भगवन् ! आश्रयजन्य शेषवत्-अनुमान किसे कहते हैं ?

[४४७ उ.] आयुष्मन् ! धूम से अग्नि का, बकपंक्ति से पानी का, अभ्रविकार (मेघविकार) से वृष्टि का और शील सदाचार से कुलपुत्र का तथा—

शरीर की चेष्टाओं से, भाषण करने से और नेत्र तथा मुख के विकार से अन्तर्गत मन— आन्तरिक मनोभाव का ज्ञान होना ।

यह आश्रयजन्य शेषवत्-अनुमान है । यही शेषवत्-अनुमान है ।

विवेचन—ऊपर शेषवत्-अनुमान का स्वरूप बतलाया है ।

कार्य से कारण का, कारण से कार्य का, गुण से गुणी का, अवयव से अवयवी का और आश्रय से तदाश्रयवान् का अनुमान शेषवत्-अनुमान कहलाता है । सूत्र में उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट किया गया है ।

कार्यानुमान में कार्य के होने पर उसके कारण का ज्ञान होता है। जैसे हिनहिनाहट रूप कार्य के द्वारा उसके कारण घोड़े की प्रतीति होती है। इसीलिये यह कार्यजन्य शेषवत्-अनुमान है।

कारणानुमान में कारण के द्वारा कार्य की अनुमिति होती है। जैसे—आकाश में विशिष्ट मेघघटाओं को देखने पर वृष्टि का अनुमान किया जाता है, क्योंकि विशिष्ट प्रकार के मेघों से वृष्टि अवश्य होती ही है। विशिष्ट मेघ कारण हैं और वृष्टि कार्य है।

कारण-कार्यभाव संबंधी मतभिन्नता का निवारण करने के लिए सूत्रकार ने अन्य उदाहरण दिया है—तंतु पट के कारण होते हैं, पट तन्तुओं का कारण नहीं है। क्योंकि आतानवितानीभूत बने हुए तंतुओं से पहले पट की उपलब्धि नहीं होती है, किन्तु आतानवितानीभूत बने हुए तंतुओं की सत्ता में ही होती है। परन्तु तन्तुओं के लिये ऐसी बात नहीं है, पट के अभाव में भी तंतुओं की उपलब्धि देखी जाती है।

चाहे कोई निपुण पुरुष पट रूप से संयुक्त हुए तंतुओं को उस पट से अलग कर दे तब भी वह पट उन तंतुओं का कारण नहीं है।

गुणजन्य शेषवत्-अनुमान से गुणों के द्वारा गुणी—वस्तु का ज्ञान होता है। जैसे कसौटी पर स्वर्ण को कसने से उभरी हुई रेखा से स्वर्ण का, गंध की उपलब्धि से पुष्प की जाति आदि का ज्ञान होता है। इस प्रकार के अनुमान को गुणजन्य शेषवत्-अनुमान कहा है।

अवयव से अवयवी के अनुमान की प्रवृत्ति तभी होती है जब ढंके—छिपे होने के कारण अवयवी न दिखता हो, मात्र तदविनाभावी अवयव की उपलब्धि हो रही हो।

आश्रयानुमान में अग्नि का धूम से ज्ञान होना आदि जो उदाहरण दिये गये हैं, उनका आशय यह है कि धूम आदि अग्नि आदि के आश्रित रहते हैं। इसलिये धूम आदि को देखने से उनके आश्रयी का ज्ञान हो जाता है। यद्यपि धूम, अग्नि का कार्य है और ऐसा अनुमान कार्य से कारण के अनुमान में अन्तर्भूत होता है, तथापि उसे यहाँ जो आश्रयानुमान कहा है, उसका कारण यह है कि धूम अग्नि के आश्रय रहता है, ऐसी लोक में प्रसिद्धि है। इसे लक्ष्य में रखकर धूम को आश्रित मानकर तदाश्रयी अग्नि का उसे अनुमापक कहा है।

दृष्टसाधर्म्यवत्-अनुमान

४४८. से किं तं दिट्ठसाहम्मवं ?

दिट्ठसाहम्मवं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा—सामन्नदिट्ठं च विसेसदिट्ठं च।

[४४८ प्र.] भगवन् ! दृष्टसाधर्म्यवत्-अनुमान का क्या स्वरूप है ?

[४४८ उ.] आयुष्मन् ! दृष्टसाधर्म्यवत्-अनुमान दो प्रकार का कहा है। यथा—१. सामान्यदृष्ट, २. विशेषदृष्ट।

४४९. से किं तं सामण्णदिट्ठं ?

सामण्णदिट्ठं जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो,

जहा एगो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा जहा बहवे करिसावणा तहा एगो करिसावणो। से तं सामण्णदिट्ठं।

[४४९ प्र.] भगवन् ! सामान्यदृष्ट अनुमान का क्या स्वरूप है ?

[४४९ उ.] आयुष्मन् ! सामान्यदृष्ट अनुमान का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—जैसा एक पुरुष होता है, वैसे ही अनेक पुरुष होते हैं। जैसे अनेक पुरुष होते हैं, वैसा ही एक पुरुष होता है। जैसा एक कार्षापण (सिक्काविशेष) होता है वैसे ही अनेक कार्षापण होते हैं, जैसे अनेक कार्षापण होते हैं, वैसा ही एक कार्षापण होता है।

यह सामान्यदृष्ट साधर्म्यवत्-अनुमान है।

४५०. से किं तं विसेसदिट्ठं ?

विसेसदिट्ठं से जहाणमाए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं बहूणं पुरिसाणं मज्झे पुव्वदिट्ठं पच्चभिजाणेज्जा—अयं से पुरिसे, बहूणं वा करिसावणाणं मज्झे पुव्वदिट्ठं करिसावणं पच्चभिजाणिज्जा—अयं से करिसावणे। तस्स समासतो तिविहं गहणं भवति। तं जहा—तीतकालगहणं पडुप्पण्णकालगहणं अणागतकालगहणं।

[४५० प्र.] भगवन् ! विशेषदृष्ट अनुमान का क्या स्वरूप है ?

[४५० उ.] आयुष्मन् ! विशेषदृष्ट अनुमान का स्वरूप यह है—जैसे कोई एक पुरुष अनेक पुरुषों के बीच में किसी पूर्वदृष्ट पुरुष को पहचान लेता है कि यह वह पुरुष है। इसी प्रकार अनेक कार्षापणों (सिक्काओं) के बीच में से पूर्व में देखे हुए कार्षापण को पहिचान लेता है कि यह वही कार्षापण है।

उसका विषय संक्षेप से तीन प्रकार का है। वह इस प्रकार—अतीतकालग्रहण, प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) कालग्रहण और अनागत (भविष्य) कालग्रहण। (अर्थात् अनुमान द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों के पदार्थ का अनुमान किया जाता है।)

विवेचन—यहाँ दृष्टसाधर्म्यवत्-अनुमान का विचार किया गया है।

पूर्व में दृष्ट—उपलब्ध पदार्थ की समानता के आधार पर होने वाले अनुमान को दृष्टसाधर्म्यवत् कहते हैं।

पूर्व में कोई पदार्थ सामान्य रूप से दृष्ट होता है और कोई विशेष रूप से। इसीलिये दृष्ट पदार्थ के भेद से इस अनुमान के सामान्यदृष्ट और विशेषदृष्ट ये दो भेद हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी एक वस्तु को देखकर तत्सदृश सभी वस्तुओं का ज्ञान करना या बहुत वस्तुओं को देखकर किसी एक का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट है। विशेषदृष्ट में अनेक वस्तुओं में से किसी एक को पृथक् करके उसके वैशिष्टय का ज्ञान किया जाता है।

शास्त्रकार ने इन दोनों अनुमानों के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें से सामान्यदृष्टसाधर्म्यवत् के दृष्टान्त का आशय यह है कि एक में दृष्ट सामान्य धर्म की समानता से अन्य अदृष्ट अनेकों में भी

उस सामान्यधर्म का तथा अनेकों में दृष्ट सामान्य से तदनुरूप एक में सामान्य का निर्णय किया जाता है।

विशेषदृष्टसाधर्म्यवत्-अनुमान में भी यद्यपि सामान्य अंश तो अनुस्यूत रहता ही है, किन्तु इतनी विशेषता है कि पूर्व-दर्शन से प्राप्त संस्कारों से वर्तमान में उपलब्ध उसी पदार्थ को देखकर अनुमान कर लिया जाता है कि यह वही है जिसे मैंने पूर्व में देखा था।

अब अनुकूल विषय की अपेक्षा तीन प्रकारों का वर्णन करते हैं—

४५१. से किं तं तीतकालगहणं ?

तीतकालगहणं उत्तिणाणि वणाणि निप्फण्णसस्सं वा मेदिणिं पुण्णाणि य कुंड-सर-णदि-दीहिया-तलागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा—सुवुट्ठी आसि। से तं तीतकालगहणं।

[४५१ प्र.] भगवन् ! अतीतकालग्रहण अनुमान का क्या स्वरूप है ?

[४५१ उ.] आयुष्मन् ! वनों में ऊगी हुई घास, धान्यों से परिपूर्ण पृथ्वी, कुंड, सरोवर, नदी और बड़े-बड़े तालाबों को जल से संपूरित देखकर यह अनुमान करना कि यहाँ अच्छी वृष्टि हुई है। यह अतीतकालग्रहणसाधर्म्यवत्-अनुमान है।

४५२. से किं तं पडुप्पण्णकालगहणं ?

पडुप्पण्णकालगहणं साहुं गोयरग्गगयं विच्छड्डियपउरभत्त-पाणं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा—सुभिक्खे वट्टइ। से तं पडुप्पण्णकालगहणं।

[४५२ प्र.] भगवन् ! प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) कालग्रहण अनुमान का क्या स्वरूप है ?

[४५२ उ.] आयुष्मन् ! गोचरी गये हुए साधु को गृहस्थों से विशेष प्रचुर आहार-पानी प्राप्त करते हुए देखकर अनुमान किया जाता है कि यहाँ सुभिक्ष है। यह प्रत्युत्पन्नकालग्रहण अनुमान है।

४५३. से किं तं अणागयकालगहणं ?

अणागयकालगहणं—

अब्भस्स निम्मलत्तं कसिणा य गिरी सविज्जुया मेहा।
थणियं वाउब्भामो संझा रत्ता य णिद्धा य॥ ११८॥

वारुणं वा माहिंदं वा अण्णयरं वा पसत्थं उप्पायं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा—सुवुट्ठी भविस्सइ। से तं अणागतकालगहणं।

[४५३ प्र.] भगवन् ! अनागतकालग्रहण का क्या स्वरूप है ?

[४५३ उ.] आयुष्मन् ! आकाश की निर्मलता, पर्वतों का काला दिखाई देना, बिजली सहित मेघों की गर्जना, अनुकूल पवन और संध्या की गाढ लालिमा। ११८

वारुण—आर्द्रा आदि नक्षत्रों में एवं माहेन्द्र—रोहिणी आदि नक्षत्रों में होने वाले अथवा

किसी अन्य प्रशस्त उत्पात—उल्कापात या दिग्दाहादि को देखकर अनुमान करना कि अच्छी वृष्टि होगी। इसे अनागतकालग्रहणविशेषदृष्टसाधर्म्यवत्-अनुमान कहते हैं।

विवेचन—यहाँ ग्रहणकाल की अपेक्षा अनुकूल विशेषदृष्ट-दृष्टसाधर्म्यवत्-अनुमान का विवेचन किया गया है।

विशेषता का विचार किसी न किसी आधार—निमित्त से किया जाता है। यहाँ काल के निमित्त से अनुकूल विशेषदृष्ट के तीन प्रकार बताये हैं। यद्यपि काल का कोई भेद नहीं है, वह अनन्तसमयात्मक है, किन्तु जब घड़ी, घंटा, मिनिट आदि व्यवहार से काल के खंड करते हैं तब स्थूल रूप से भूत, वर्तमान और भविष्य, ऐसा नामकरण करते हैं। जो ऊपर दिये गये काल-विषयक उदाहरणों से स्पष्ट है।

कालत्रयविषयक अनुमानों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. अतीतकाल से संबन्धित ग्राह्य वस्तु का जिसके द्वारा ज्ञान किया जाता है, उसे अतीत-कालग्रहण-अनुमान कहते हैं। उसका अनुमानप्रयोग इस प्रकार है—'इह देशे सुवृष्टि: आसीत् समुत्पन्नतृणवनसस्यपूर्णमेदनीजलपूर्णकुण्डादिदर्शनात् तद्देशवत्।' इसमें ग्राह्य वस्तु सुवृष्टि है, जिसका अतीतकाल में होना अनुमान द्वारा ग्रहण किया गया है। यहाँ सुवृष्टि हुई है, यह पक्ष है, तृण, धान्य, जलाशयादि ये उसके कार्य होने से हेतु और अन्यदेशवत् यह अन्वयदृष्टान्त है। इसी प्रकार ये तीन-तीन (पक्ष, हेतु और दृष्टान्त) सर्वत्र जानना चाहिये।

२. वर्तमानकालसंबन्धी वस्तु को ग्रहण करने वाले अनुमान को प्रत्युत्पन्नकालग्रहण-अनुमान कहते हैं। जैसे—'इस प्रदेश में सुभिक्ष है' क्योंकि साधुओं को प्रचुर भोजनादि की प्राप्ति देखने में आती है। इसमें सुभिक्ष साध्य है और भोजनादि की प्राप्ति हेतु है।

३. भविष्यत्कालसंबन्धी विषय जिसका ग्राह्य-साध्य हो, उसे अनागतकालग्रहण अनुमान कहते हैं। यथा—इस देश में सुवृष्टि होगी क्योंकि वृष्टिनिमित्तक आकाश की निर्मलता आदि लक्षण दिख रहे हैं, उस देश की तरह। इस अनुमानप्रयोग में सुवृष्टि साध्य है, आकाश की निर्मलता दिखना हेतु और उस देश की तरह दृष्टान्त है।

सुवृष्टि होने के अनुमापक नक्षत्र इस प्रकार हैं—

वरुण के नक्षत्र—१. पूर्वाषाढा, २. उत्तराभाद्रपद, ३. आश्लेषा, ४. आर्द्रा, ५. मूल, ६. रेवती और ७. शतभिष।

महेन्द्र के नक्षत्र—१. अनुराधा, २. अभिजित, ३. ज्येष्ठा, ४. उत्तराषाढ़ा, ५. धनिष्ठा, ६. रोहिणी और ७. श्रवण।

प्रतिकूलविशेषदृष्ट-साधर्म्यवत्-अनुमान के उदाहरण

४५४. एएसिं चेव विवच्चासे तिविहं गहणं भवति। तं जहा—तीतकालगहणं पडुप्पण्णकाल-गहणं अणागयकालगहणं।

[४५४] इनकी विपरीतता में भी तीन प्रकार से ग्रहण होता है—अतीतकालग्रहण, प्रत्युत्पन्न-कालग्रहण और अनागतकालग्रहण।

४५५. से किं तं तीतकालगहणं ?

नित्तणाइं वणाइं अनिप्फण्णसस्सं च मेतिणिं सुक्काणि य कुंड-सर-णदि-दह-तलागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जति जहा—कुवुट्ठी आसी। से तं तीतकालगहणं।

[४५५ प्र.] भगवन् ! अतीतकालग्रहण का क्या स्वरूप है ?

[४५५ उ.] आयुष्मन् ! तृणरहित वन, अनिष्पन्न धान्ययुक्त भूमि और सूखे कुंड, सरोवर, नदी, द्रह और तालाबों को देखकर अनुमान किया जाता है कि यहाँ कुवृष्टि हुई है—वृष्टि हुई नहीं है, यह अतीतकालग्रहण है।

४५६. से किं तं पडुप्पण्णकालगहणं ?

पडुप्पण्णकालगहणं साहुं गोयरग्गगयं भिक्खं अलभमाणं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा—दुभिक्खं वट्टइ। से तं पडुप्पण्णकालगहणं।

[४५६ प्र.] भगवन् ! प्रत्युत्पन्न-वर्तमानकालग्रहण का क्या स्वरूप है ?

[४५६ उ.] आयुष्मन् ! गोचरी गये हुए साधु को भिक्षा नहीं मिलते देखकर अनुमान किया जाना कि यहाँ दुर्भिक्ष है। यह प्रत्युत्पन्नकालग्रहण-अनुमान है।

४५७. से किं तं अणागयकालगहणं ?

अणागयकालगहणं अग्गेयं वा वायव्वं वा अण्णयरं वा अप्पसत्थं उप्पायं पासित्ता तेणं साहिज्जइ जहा—कुवुट्ठी भविस्सइ। से तं अणागतकालगहणं। से तं विसेसदिट्ठं। से तं दिट्ठ-साहम्मवं। से तं अणुमाणे।

[४५७ प्र.] भगवन् ! अनागतकालग्रहण का क्या स्वरूप है ?

[४५७ उ.] आयुष्मन् ! (जैसे)—आग्नेय मंडल के नक्षत्र, वायव्य मंडल के नक्षत्र या अन्य कोई उत्पात देखकर अनुमान किया जाना कि कुवृष्टि होगी, ठीक वर्षा नहीं होगी। यह अनागतकालग्रहण-अनुमान है।

यही विशेषदृष्ट है। यही दृष्टसाधर्म्यवत् है। इस प्रकार से अनुमानप्रमाण का विवेचन जानना चाहिये।

विवेचन—जैसे पूर्व में अनुकूलता की अपेक्षा विशेषदृष्टसाधर्म्यवत्-अनुमान के कालविषयक तीन उदाहरण दिये हैं, उसी प्रकार यहाँ प्रतिकूलग्रहण संबंधी तीन उदाहरणों का उल्लेख किया है। विपरीत हेतुओं—निमित्तों को देखकर तत्तत्कालभावी ग्राह्य वस्तुओं की सिद्धि का भी अनुमान किया जाता है। जैसे—

१. तृणरहित वनों, सूखे खेतों और सूखे सरोवरों आदि को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इस देश में ठीक वर्षा नहीं हुई। यह अतीतकालग्रहण का अनुमान है।

२. वर्तमानकाल का ग्राहक अनुमान इस प्रकार से जानना चाहिए—यहाँ दुर्भिक्ष है, क्योंकि साधुओं को भिक्षा नहीं मिलती। इसमें भिक्षुओं को भिक्षा प्राप्त नहीं होते देखकर अनुमान किया कि यहाँ दुर्भिक्ष है।

३. भविष्यत्काल सम्बन्धी अनुमान, यथा—सभी दिशाओं में धुंआ हो रहा है, आकाश में भी अशुभ उत्पात हो रहे हैं, इत्यादि से यह अनुमान कर लिया जाता है कि यहाँ कुवृष्टि होगी, क्योंकि वृष्टि के अभाव के सूचक चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। भविष्य में कुवृष्टिसूचक नक्षत्र इस प्रकार हैं—

आग्नेय मंडल के नक्षत्र—१. विशाखा २. भरणी ३. पुष्य ४. पूर्वाफाल्गुनी ५. पूर्वाभाद्रपदा ६. मघा और ७. कृत्तिका।

वायव्य मंडल के नक्षत्र—१. चित्रा, २. हस्त, ३. अश्वनी, ४. स्वाति, ५. मार्गशीर्ष, ६. पुनर्वसु और ७. उत्तराफाल्गुनी।

इन सबको अनुमान प्रमाण कहने का कारण यह है कि इनमें अनु-लिंगग्रहण और अविनाभावसंबन्ध के स्मरण के पश्चात् बोध होता है।

अनुमानप्रयोग के अवयव—प्रासंगिक होने से यहाँ अनुमानप्रयोग के अवयवों का कुछ विचार करते हैं। अनुमानप्रयोग के अवयवों के विषय में आगमों में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा गया है। लेकिन प्राचीन वादशास्त्र को देखने से यह पता चलता है कि प्रारंभ में किसी साध्य की सिद्धि में अधिकांशतः दृष्टान्त की सहायता अधिक ली जाती थी, जो अनुयोगद्वारसूत्रगत अनुमानप्रयोगों के उदाहरणों से स्पष्ट है। परन्तु जब हेतु का स्वरूप व्याप्ति के कारण निश्चित हुआ और हेतु से ही मुख्य रूप से साध्य की सिद्धि मानी जाने लगी तब हेतु और उदाहरण इन दोनों को साध्य के साथ मिलाकर प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण ये तीन अनुमान के अंग बन गये। फिर दर्शनान्तरों के शास्त्रों के दूसरे-दूसरे अवयवों का भी समावेश होने से इनकी संख्या दस तक पहुंच गई।

आचार्य भद्रबाहु ने दशवैकालिकनिर्युक्ति में अनुमानप्रयोग के अवयवों की चर्चा की है। यद्यपि संख्या गिनाते हुए उन्होंने पांच[1] और दस[2] अवयव होने की बात कही है किन्तु अन्यत्र उन्होंने मात्र उदाहरण या हेतु और उदाहरण से भी अर्थसिद्धि होने की सूचना दी है।[3] दस अवयवों को भी उन्होंने दो प्रकार से गिनाया है।[4] इस प्रकार भद्रबाहु के मत में अनुमानवाक्य के दो, तीन, पांच या दस अवयव होते हैं। अवयव इस प्रकार हैं—

२. प्रतिज्ञा, उदाहरण;
३. प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण;
५. प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार, निगमन।

१०. (क) प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविशुद्धि, हेतु, हेतुविशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्तविशुद्धि, उपसंहार, उपसंहारविशुद्धि, निगमन, निगमनविशुद्धि।

---

१. दशवैकालिक निर्युक्ति
२. वही गाथा ५०
३. वही गाथा ४९
४. वही गाथा १३७

१० (ख) प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविभक्ति, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, विपक्ष-प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, आशंकाप्रतिषेध, निगमन।

लेकिन अनुमानप्रयोग में कितने अवयव होने चाहिये—इस विषय में जैनदर्शन का कोई आग्रह नहीं है। सर्वत्र यह स्वीकार किया है कि जितने अवयवों से जिज्ञासु को तद्विषयक ज्ञान हो जाये उतने ही अवयवों का प्रयोग करना चाहिये।

इस प्रकार से भावप्रमाण के दूसरे भेद अनुमान की चर्चा करने के बाद अब तीसरे भेद उपमान का वर्णन करते हैं।

उपमानप्रमाण

४५८. से किं तं ओवम्मे ?

ओवम्मे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—साहम्मोवणीते य वेहम्मोवणीते य।

[४५८ प्र.] भगवन्! उपमान प्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[४५८ उ.] उपमान प्रमाण दो प्रकार का कहा है, जैसे—साधर्म्योपनीत और वैधर्म्योपनीत।

विवेचन—यहाँ भेदमुखेन उपमान प्रमाण का वर्णन किया गया है। सदृशता के आधार पर वस्तु को ग्रहण करना उपमान है।

उपमा दो प्रकार से दी जा सकती है—समान—सदृश गुणधर्म वाले तुल्य पदार्थ को देखकर अथवा विसदृश गुणधर्म वाले पदार्थ को देखकर। इसीलिये उपमान प्रमाण के दो भेद बताये हैं—१. साधर्म्योपनीत और २. वैधर्म्योपनीत। समानता के आधार से जो उपमा दी जाती है उसे साधर्म्योपनीत कहते हैं तथा दो अथवा अधिक पदार्थों में जिसके द्वारा विलक्षणता बतलाई जाती हैं उसे वैधर्म्योपनीत कहते हैं। यह साधर्म्य और वैधर्म्य किंचित्, प्राय: और सर्वत: इन प्रकारों द्वारा व्यक्त होता है। इसी अपेक्षा से इनके तीन-तीन अवान्तर भेद हो जाते हैं, जिनका स्पष्टीकरण करते हैं—

साधर्म्योपनीत उपमान

४५९. से किं तं साहम्मोवणीए ?

साहम्मोवणीए तिविहे पण्णत्ते। तं०—किंचिसाहम्मे पायसाहम्मे सव्वसाहम्मे य।

[४५९ प्र.] भगवन्! साधर्म्योपनीत-उपमान किसे कहते हैं।

[४५९ उ.] आयुष्मन्! जिन पदार्थों की सदृशत उपमा द्वारा सिद्ध की जाये उसे साधर्म्योपनीत कहते हैं। उसके तीन प्रकार हैं—१. किंचित्साधर्म्योपनीत, २. प्राय:साधर्म्योपनीत और ३. सर्वसाधर्म्योपनीत।

४६०. से किं तं किंचिसाहम्मे ?

किंचिसाहम्मे जहा मंदरो तहा सरिसवो जहा सरिसवो तहा मंदरो, जहा समुद्दो तहा गोप्पयं जहा गोप्पयं तहा समुद्दो, जहा आइच्चो तहा खज्जोतो, जहा खज्जोतो तहा आइच्चो, जहा चंदो तहा कुंदो जहा कुंदो तहा चंदो। से तं किंचिसाहम्मे।

[४६० प्र.] भगवन् ! किंचित्साधर्म्योपनीत किसे कहते हैं ?

[४६० उ.] आयुष्मन् ! जैसा मंदर (मेरु) पर्वत है वैसा ही सर्षप (सरसों) है और जैसा सर्षप है वैसा ही मन्दर है। जैसा समुद्र है, उसी प्रकार गोष्पद—(जल से भरा गाय के खुर का निशान) है और जैसा गोष्पद है, वैसा ही समुद्र है तथा जैसा आदित्य—सूर्य है, वैसा खद्योत—जुगनू है। जैसा खद्योत है, वैसा आदित्य है। जैसा चन्द्रमा है, वैसा कुंद पुष्प है, और जैसा कुंद है, वैसा चन्द्रमा है। यह किंचित्साधर्म्योपनीत है।

४६१. से किं तं पायसाहम्मे ?

पायसाहम्मे जहा गो तहा गवयो, जहा गवयो तहा गो। से तं पायसाहम्मे।

[४६१ प्र.] भगवन् ! प्राय:साधर्म्योपनीत किसे कहते हैं ?

[४६१ उ.] आयुष्मन् ! जैसी गाय है वैसा गवय (रोझ) होता है और जैसा गवय है, वैसी गाय है। यह प्राय:साधर्म्योपनीत है।

४६२. से किं तं सव्वसाहम्मे ?

सव्वसाहम्मे ओवम्मं णत्थि, तहा वि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ, जहा—अरहंतेहिं अरहंतसरिसं कयं, एवं चक्कवट्टिणा चक्कवट्टिसरिसं कयं, बलदेवेण बलदेवसरिसं कयं, वासुदेवेण वासुदेवसरिसं कयं, साहुणा साहुसरिसं कयं। से तं सव्वसाहम्मे। से तं साहम्मोवणीए।

[४६२ प्र.] सर्वसाधर्म्योपनीत किसे कहते हैं ?

[४६२ उ.] आयुष्मन् ! सर्वसाधर्म्य में उपमा नहीं होती, तथापि उसी से उसको उपमित किया जाता है। वह इस प्रकार—अरिहंत ने अरिहंत के सदृश, चक्रवर्ती ने चक्रवर्ती के जैसा, बलदेव ने बलदेव के सदृश, वासुदेव ने वासुदेव के समान, साधु ने साधु सदृश किया। यही सर्वसाधर्म्योपनीत है।

यह साधर्म्योपनीत उपमानप्रमाण है।

विवेचन—प्रस्तुत में उपमानप्रमाण के प्रथम भेद साधर्म्योपनीत के अवान्तर भेदों का वर्णन किया है।

दो भिन्न पदार्थों में आंशिक गुण-धर्मों की समानता देखकर एक को दूसरे की उपमा देना साधर्म्योपनीत उपमान है। यह उपमान एकदेशिक भी हो सकती है—कतिपय वर्ण-गंध-रस-स्पर्श की अपेक्षा भी और कुछ उससे भी अधिक एक जैसी रूप तथा अत्यल्प भिन्नता वाली हो सकती है और कुछ ऐसी भी जो सर्वात्मना सदृश हो। इसी अपेक्षा साधर्म्योपनीत के तीन भेद होते हैं।

किंचित्साधर्म्योपनीत में कुछ-कुछ समानता को लेकर उपमा दी जाती है। इसके लिए सूत्रकार ने जो उदाहरण दिये हैं उनमें सर्षप और मेरुपर्वत के बीच आकार—संस्थान आदि की अपेक्षा भेद हैं, तथापि दोनों मूर्तिमान हैं और रूप-रस-गंध-स्पर्शवान होने से पौद्गलिक हैं। इसी प्रकार से सूर्य और खद्योत में मात्र प्रकाशकत्व की अपेक्षा, समुद्र एवं गोष्पद में जलवत्ता तथा चन्द्र तथा कुंद

में शुक्लता की अपेक्षा समानता है। अन्यथा उन सबमें महान् अंतर स्पष्ट है। इसीलिये ऐसी उपमा किंचित्साधर्म्योपनीत कहलाती है।

किंचित्साधर्म्योपनीत से प्राय:साधर्म्योपनीत उपमा का क्षेत्र व्यापक है। इसमें उपमेय और उपमान पदार्थगत समानता अधिक होती है और असमानता अल्प—नगण्य जैसी। जिससे श्रोता उपमेय वस्तु को तत्काल जान लेता है। किंचित्साधर्म्योपनीत वस्तु का ज्ञान करना तत्काल सम्भव नहीं है। इसको समझने के लिये अधिक स्पष्टीकरण अपेक्षित होता है। यही दोनों में अन्तर है।

प्राय:साधर्म्योपनीत के लिये गो और गवय का उदाहरण दिया है। इसमें गो सास्नादि युक्त है और गवय (नीलगाय) वर्तुलाकार कंठ वाला है। लेकिन खुर, ककुद, सींग आदि में समानता है। इसीलिये यह प्राय:साधर्म्योपनीत का उदाहरण है।

सर्वसाधर्म्योपनीत में सर्व प्रकारों से समानता बताने के लिये उसी से उसको उपमित किया जाता है। अतएव कदाचित् यह कहा जाये कि उपमा तो दो पृथक् पदार्थों में दी जाती है। सर्व प्रकारों से समानता तो किसी में भी किसी के साथ घटित नहीं होती है। यदि इस प्रकार से समानता घटित होने लगे तो फिर दोनों में एकरूपता होने से उपमान का यह तीसरा भेद नहीं बन सकेगा। तो इसका उत्तर यह है—

यह सत्य है कि दो वस्तुओं में सर्वप्रकार से समानता नहीं मिलती है, फिर भी सर्वप्रकार से समानता का तात्पर्य यह है कि उस जैसा कार्य अन्य कोई नहीं कर सकता है। इसीलिये अरिहंत आदि के उदाहरण दिये हैं कि तीर्थ का स्थापन करना इत्यादि कार्य अरिहंत करते हैं, उन्हें अन्य कोई नहीं करता है। लोकव्यवहार में भी देखा जाता है कि किसी के किये हुए अद्‌भुत कार्य के लिये कहा जाता है—इस कार्य को आप ही कर सकते हैं अथवा आपके तुल्य जो होगा, वही कर सकता है, अन्य नहीं। इसी दृष्टि से सर्वसाधर्म्योपनीत को उपमानप्रमाण का पृथक् भेद माना है।[1]

अब उपमानप्रमाण के दूसरे भेद वैधर्म्योपनीत का कथन करते हैं—

वैधर्म्योपनीत उपमानप्रमाण

४६३. से किं तं वेहम्मोवणीए ?

वेहम्मोवणीए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—किंचिवेहम्मे पायवेहम्मे सव्ववेहम्मे।

[४६३ प्र.] भगवन् ! वैधर्म्योपनीत का तात्पर्य क्या है ?

[४६३ उ.] आयुष्मन् ! वैधर्म्योपनीत के तीन प्रकार हैं, यथा—१. किंचित्‌वैधर्म्योपनीत, २. प्राय:वैधर्म्योपनीत और ३. सर्ववैधर्म्योपनीत।

४६४. से किं तं किंचिवेहम्मे ?

किंचिवेहम्मे जहा सामलेरो न तहा बाहुलेरो, जहा बाहुलेरो न तहा सामलेरो। से तं किंचिवेहम्मे।

---

१. सर्वसाधर्म्योपनीत के लिये यह संस्कृत लोकोक्ति प्रसिद्ध है—
गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणोरिव॥

[४६४ प्र.] भगवन् ! किंचित्वैधर्म्योपनीत का क्या स्वरूप है ?

[४६४ उ.] आयुष्मन् ! किसी धर्मविशेष की विलक्षणता प्रकट करने को किंचित्वैधर्म्योपनीत कहते हैं। वह इस प्रकार—जैसा शवला गाय (चितकबरी गाय) का बछड़ा होता है वैसा बहुला गाय (एक रंग वाली गाय) का बछड़ा नहीं और जैसा बहुला गाय का बछड़ा वैसा शवला गाय का नहीं होता है। यह किंचित्वैधर्म्योपनीत का स्वरूप जानना चाहिये।

४६५. से किं तं पायवेहम्मे ?

पायवेहम्मे जहा वायसो न तहा पायसो, जहा पायसो न तहा वायसो। से तं पायवेहम्मे।

[४६५ प्र.] भगवन् ! प्राय:वैधर्म्योपनीत किसे कहते हैं ?

[४६५ उ.] आयुष्मन् ! अधिकांश रूप में अनेक अवयवगत विसदृशता प्रकट करने को प्राय:वैधर्म्योपनीत कहते हैं। यथा—जैसा वायस (कौआ) है वैसा पायस (खीर) नहीं होता और जैसा पायस होता है वैसा वायस नहीं। यही प्राय:वैधर्म्योपनीत है।

४६६. से किं तं सव्ववेहम्मे ?

सव्ववेहम्मे नत्थि, तहा वि तेणेव तस्स ओवम्मं कीरइ, जहा—णीएणं णीयसरिसं कयं, दासेणं दाससरिसं कयं, काकेण काकसरिसं कयं, साणेणं साणसरिसं कयं, पाणेणं पाणसरिसं कयं। से तं सव्ववेहम्मे। से तं वेहम्मोवणीए। से तं ओवम्मे।

[४६६ प्र.] भगवन् ! सर्ववैधर्म्योपनीत का क्या स्वरूप है ?

[४६६ उ.] आयुष्मन् ! जिसमें किसी भी प्रकार की सजातीयता न हो उसे सर्ववैधर्म्योपनीत कहते हैं। यद्यपि सर्ववैधर्म्य में उपमा नहीं होती है, तथापि उसी की उपमा उसी को दी जाती है, जैसे—नीच ने नीच के समान, दास ने दास के सदृश, कौए ने कौए जैसा, श्वान (कुत्ता) ने श्वान जैसा और चांडाल ने चांडाल के सदृश किया। यही सर्ववैधर्म्योपनीत है।

यही वैधर्म्योपनीत उपमानप्रमाण का आशय है। यह उपमानप्रमाण का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—उक्त प्रश्नोत्तरों में उपमानप्रमाण के दूसरे भेद वैधर्म्योपनीत का विचार किया है। यह वैधर्म्योपनीत विलक्षणता का बोध कराता है और उसके भी तीन भेद हैं।

किंचित्वैधर्म्योपनीत में सामान्य धर्म की अपेक्षा भेद नहीं है। गोगत धर्मों की अपेक्षा दोनों में तुल्यता है, लेकिन माता पृथक्-पृथक् प्रकार की होने से वर्णभेद अवश्य है। इसी कारण किंचित् विलक्षणता प्रकट की गई है।

प्राय:वैधर्म्योपनीत में अनेक अवयवगत विसदृशता पर ध्यान रखा जाता है। वायस और पायस के नाम में दो अक्षरों की समानता है, किन्तु वायस चेतन है और पायस जड़ पदार्थ है। इसलिये दोनों में साम्य नहीं हो सकता है। इस विधर्मता के कारण प्राय:वैधर्म्यता कही गई है।

यद्यपि सर्ववैधर्म्योपनीत में भी सर्वसाधर्म्योपनीत की तरह उसकी उपमा उसी को दी जाती है, फिर भी उसे इसलिये पृथक् माना है कि प्राय: नीच भी जब गुरुघात आदि महापाप नहीं करता

तो फिर अनीच करेगा ही कैसे ? अतः सकल जगत् के विरुद्ध कर्म में प्रवृत्त होने की विवक्षा से सर्ववैधर्म्योपनीतता बताने के लिये सर्ववैधर्म्योपनीत उपमानप्रमाण का निर्देश किया है।

अब क्रमप्राप्त आगमप्रमाण का विचार करते हैं।

आगमप्रमाणनिरूपण

४६७. से किं तं आगमे ?

आगमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—लोइए य लोगुत्तरिए य।

[४६७ प्र.] भगवन् ! आगमप्रमाण का स्वरूप क्या है ?

[४६७ उ.] आयुष्मन् ! आगम दो प्रकार का है। यथा—१. लौकिक २. लोकोत्तर।

४६८. से किं तं लोइए ?

लोइए जण्णं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठीएहिं सच्छंदबुद्धिमतिविगप्पियं। तं जहा—भारहं रामायणं जाव चत्तारि य वेदा संगोवंगा। से तं लोइए आगमे।

[४६८ प्र.] भगवन् ! लौकिक आगम किसे कहते हैं ?

[४६८ उ.] आयुष्मन् ! जिसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जनों ने अपनी स्वच्छन्द बुद्धि और मति से रचा हो, उसे लौकिक आगम कहते हैं। यथा—महाभारत, रामायण यावत् सांगोपांग चार वेद। ये सब लौकिक आगम हैं।

४६९. से किं तं लोगुत्तरिए ?

लोगुत्तरिए जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाण-दंसणधरेहिं तीय-पच्चुप्पण्ण-मणागय-जाणएहिं तेलोक्कवहिय-महिय-पूइएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसीहिं पणीयं दुवालसंगं गणिपिडगं। तं जहा—आयारो जाव दिट्ठिवाओ। से तं लोगुत्तरिए आगमे।

[४६९ प्र.] भगवन् ! लोकोत्तर आगम का क्या स्वरूप है ?

[४६९ उ.] आयुष्मन् ! उत्पन्नज्ञान-दर्शन के धारक, अतीत, प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) और अनागत के ज्ञाता त्रिलोकवर्ती जीवों द्वारा सहर्ष वंदित, पूजित सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अरिहंत भगवन्तों द्वारा प्रणीत आचारांग यावत् दृष्टिवाद पर्यन्त द्वादशांग रूप गणिपिटक लोकोत्तरिक आगम हैं।

४७०. अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सुत्तागमे य अत्थागमे य तदुभयागमे य।

अहवा आगमे तिविहे पण्णत्ते। तं०—अत्तागमे अणंतरागमे परंपरागमे य।

तित्थगराणं अत्थस्स अत्तागमे, गणहराणं सुत्तस्स अत्तागमे अत्थस्स अणंतरागमे, गणहर-सीसाणं सुत्तस्स अणंतरागमे अत्थस्स परंपरागमे, तेण परं सुत्तस्स वि अत्थस्स वि णो अत्तागमे णो अणंतरागमे परंपरागमे। से तं लोगुत्तरिए। से तं आगमे। से तं णाणगुणप्पमाणे।

[४७०] अथवा (प्रकारान्तर से लोकोत्तरिक) आगम तीन प्रकार का कहा है। जैसे—१. सूत्रागम, २. अर्थागम और ३. तदुभयागम।

अथवा (लोकोत्तरिक) आगम तीन प्रकार का है। यथा—१. आत्मागम, २. अनन्तरागम, और ३. परम्परागम।

अर्थागम तीर्थंकरों के लिये आत्मागम है। सूत्र का ज्ञान गणधरों के लिये आत्मागम और अर्थ का ज्ञान अनन्तरागम रूप है। गणधरों के शिष्यों के लिये सूत्रज्ञान अनन्तरागम और अर्थ का ज्ञान परम्परागम है।

तत्पश्चात् सूत्र और अर्थ रूप आगम आत्मागम भी नहीं है, अनन्तरागम भी नहीं है, किन्तु परम्परागम है। इस प्रकार से लोकोत्तर आगम का स्वरूप जानना चाहिये।

यही आगम और ज्ञानगुणप्रमाण का वर्णन है।

विवेचन—प्रस्तुत प्रश्नोत्तरों में ज्ञानगुणप्रमाण के अन्तिम भेद आगम का वर्णन करके अन्त में उसकी समाप्ति का उल्लेख किया है।

प्राचीनकाल में जिज्ञासु श्रद्धाशील व्यक्ति धर्मशास्त्र के रूप में माने जाने वाले अपने-अपने साहित्य को कंठोपकंठ प्राप्त करके स्मरण रखते थे। इसीलिये उन धर्मशास्त्रों की श्रुत यह संज्ञा है। जैन परम्परा के शास्त्र भी प्राचीनकाल में श्रुत या सम्यक् श्रुत के नाम से प्रसिद्ध थे। श्रुत शब्द का अर्थ है सुना हुआ। लेकिन इस शब्द से शास्त्रों का विशिष्ट माहात्म्य प्रकट नहीं हो सकने से आगम शब्द प्रयुक्त किया जाने लगा।

'आगम' शब्द की व्याख्या—ग्रन्थों में निरुक्तिमूलक से लेकर कर्ता की विशेषताओं आदि का वोध कराते हुए की गई आगम शब्द की व्याख्याओं का सारांश इस प्रकार है—

(गुरुपारम्पर्येण) आगच्छतीत्यगमः—गुरुपरम्परा से जो चला आ रहा है उसे आगम कहते हैं। इस निरुक्ति से यह स्पष्ट हुआ कि आगम शब्द कंठोपकंठ श्रुतपरम्परा का वाचक है तथा श्रुत और आगम शब्द एकार्थवाची हैं।

वर्ण्य विषय का परिज्ञान कराने की दृष्टि से आगम शब्द की लाक्षणिक व्याख्या यह है—**आ समन्ताद् गम्यन्ते—ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्था अनेनेति आगमः**—जीवादि पदार्थ जिसके द्वारा भली-भांति जाने जायें वह आगम है। अर्थात् जिसके द्वारा अनन्त धर्मों से विशिष्ट जीव-अजीव आदि पदार्थ जाने जाते हैं ऐसी आज्ञा आगम है। अथवा वीतराग सर्वज्ञ देव द्वारा कहे गये षड् द्रव्य और सप्त तत्त्व आदि का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा व्रतादि का अनुष्ठान रूप चारित्र इस प्रकार से रत्नत्रय का स्वरूप जिसमें प्रतिपादित किया गया है, उसको आगम या शास्त्र कहते हैं।

आगम का कर्ता कौन हो सकता है? इसको स्पष्ट करते हुए आगम की व्याख्या की है—जिसके सर्वदोष प्रक्षीण हो गये हैं, ऐसे प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा प्रणीत शास्त्र आगम शब्द के वाच्य हैं। अर्थात् जन्म, जरा आदि अठारह दोषों का नाश हो जाने से जो कदापि असत्य वचन नहीं वोलता ऐसे आप्त के वचन को आगम कहते हैं और इस *आप्तोक्त आगम की प्रामाणिकता* इसलिये है कि न्यूनाधिकता एवं विपरीतता के विना यथा-तथ्य रूप से वस्तु-स्वरूप का उसमें प्रतिपादन किया जाता है।

आगम के भेद—प्रथम आगम के दो भेद किये हैं—लौकिक और लोकोत्तर। इनका भावश्रुत के वर्णन के प्रसंग में विचार किया जा चुका है। अतएव यहाँ प्रकारान्तर से किये गये आगम के तीन-तीन भेदों का विचार करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रकार १. अर्थागम, २. सूत्रागम, ३. तदुभयागम। द्वितीय प्रकार—१. आत्मागम, २. अनन्तरागम, ३. परम्परागम।

जब अर्थ (भाव) और सूत्र की अपेक्षा आगम का विचार किया जाता है, तब अर्थागम आदि उक्त तीन भेद होते हैं। क्योंकि तीर्थंकर अर्थ का उपदेश करते हैं और गणधर उसके आधार से सूत्र की रचना करते हैं।[1] अतः इस प्रकार अर्थागम और सूत्रागम यह दो भेद हुए। तीसरा भेद इन दोनों का सम्मिलित रूप है।

दूसरी अपेक्षा से उक्त तीनों भेदों का नामकरण किया है—आत्मागम आदि रूप में। तीर्थंकर अर्थोपदेष्टा हैं और गणधर उस अर्थ को सूत्रबद्ध करते हैं। अतएव तीर्थंकर के लिये अर्थरूप आगम और गणधरों के लिये सूत्ररूप आगम आत्मागम है। अर्थ का मूल उपदेश तीर्थंकर का होने से अर्थागम गणधर के लिये आत्मागम नहीं किन्तु गणधरों को लक्ष्य करके अर्थ का उपदेश दिया है इसलिये अर्थागम गणधरों के लिये अनन्तरागम और गणधरशिष्यों के लिये परम्परागम है। क्योंकि वह तीर्थंकर से गणधरों को प्राप्त हुआ और गणधरों से उनके शिष्यों को। सूत्ररूप आगम गणधरशिष्यों के लिये अनन्तरागम है, क्योंकि गणधरों से सूत्र का उपदेश साक्षात् उनको मिला है और गणधर-शिष्यों के बाद होने वाले आचार्यों के लिये अर्थ और सूत्र उभय रूप आगम परम्परागम ही है।

आगम के उपर्युक्त सभी प्रकार विशिष्ट शब्दरूप हैं और विशिष्ट शब्दों की उत्पत्ति पुरुष के ताल्वादि के व्यापार द्वारा होने से पौरुषेय-पुरुषकृत है, अपौरुषेय नहीं। यह संकेत करने के लिये सूत्र में 'पणीअं-प्रणीतं' शब्द का प्रयोग किया है।

यदि कहा जाये कि अनादि—अनिधन होने से शब्द का कभी विनाश नहीं होता, किन्तु उस पर आवरण आ जाता है। ताल्वादि का व्यापार उस आवरण को हटाकर अभिव्यक्त कर देता है, उत्पन्न नहीं करता है। सर्वदा रहने वाले की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। किन्तु यह कथन अयुक्त है। क्योंकि एकान्ततः ऐसा माना जाये तो फिर संसार के जितने भी वचन हैं, वे सब अपौरुषेय हो जायेंगे, तब अमुक आगम प्रमाण है और अमुक आगम अप्रमाण, इसकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

इसके अतिरिक्त शब्द मूर्तिक हैं अर्थात् भाषावर्गणा के पुद्गलों से निष्पन्न होने के कारण मूर्त हैं। आकाश की तरह अमूर्त नहीं हैं। शब्दों की पौद्गलिकता असिद्ध भी नहीं है। क्योंकि नगाड़े आदिजन्य महाघोष से कान की झिल्ली तक फट जाती है तथा भीत आदि के कारण अभिघात भी होता है और यह अभिघात आदि होना प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः शब्द पौद्गलिक है।

सारांश यह है कि शब्द एकान्ततः अपौरुषेय नहीं है कथंचित् पौरुषेय और कथंचित् अपौरुषेय है। अर्थात् पौद्गलिक भाषावर्गणाओं का परिणाम होने से अपौरुषेय तथा पुरुष के ताल्वादिक के व्यापार से जन्य होने से पौरुषेय है।

---

१. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।

इस प्रकार से ज्ञानगुणप्रमाण का निरूपण करने के बाद अब भावप्रमाण के दूसरे भेद दर्शनगुणप्रमाण का वर्णन करते हैं।

दर्शनगुणप्रमाण

४७१. से किं तं दंसणगुणप्पमाणे ?

दंसणगुणप्पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—चक्खुदंसणगुणप्पमाणे अचक्खुदंसणगुणप्पमाणे ओहिदंसणगुणप्पमाणे केवलदंसणगुणप्पमाणे य।

चक्खुदंसणं चक्खुदंसणिस्स घड-पड-कड-रधादिएसु दव्वेसु,

अचक्खुदंसणं अचक्खुदंसणिस्स आयभावे,

ओहिदंसणं ओहिदंसणिस्स सव्वरूविदव्वेहिं न पुण सव्वपज्जवेहिं,

केवलदंसणं केवलदंसणिस्स सव्वदव्वेहिं सव्वपज्जवेहि य। से तं दंसणगुणप्पमाणे।

[४७१ प्र.] भगवन्! दर्शनगुणप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[४७१ उ.] आयुष्मन्! दर्शनगुणप्रमाण चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—चक्षुदर्शनगुणप्रमाण, अचक्षुदर्शनगुणप्रमाण, अवधिदर्शनगुणप्रमाण और केवलदर्शनगुणप्रमाण।

चक्षुदर्शनी का चक्षुदर्शन घट, पट, कट, रथ आदि द्रव्यों में होता है।

अचक्षुदर्शनी का अचक्षुदर्शन आत्मभाव में होता है अर्थात् घटादि पदार्थों के साथ संश्लेष—संयोग होने पर होता है।

अवधिदर्शनी का अवधिदर्शन सभी रूपी द्रव्यों में होता है, किन्तु सभी पर्यायों में नहीं होता है।

केवलदर्शनी का केवलदर्शन सर्व द्रव्यों और सर्व पर्यायों में होता है। यही दर्शनगुणप्रमाण है।

विवेचन—जीव में अनन्त गुण हैं। उनमें से ज्ञानगुण का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है। समान रूप से सभी द्रव्यों में पाये जाने वाले गुणधर्मों को सामान्य और असाधारण धर्मों को विशेष धर्म कहते हैं। ये दोनों प्रकार के धर्म प्रत्येक द्रव्य में हैं और इन दोनों को जानने-देखने वाले गुण दर्शन और ज्ञान हैं। ज्ञान द्वारा द्रव्यगत विशेष धर्मों और दर्शन द्वारा सामान्य धर्मों का परिज्ञान किया जाता है। जैसे ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम आदि होने से ज्ञान द्वारा पदार्थों का विशेष रूप में पृथक्-पृथक् विकल्प, नाम, संज्ञापूर्वक ग्रहण होता है वैसे ही दर्शनावरणकर्म का क्षयोपशम आदि होने से पदार्थों का जो सामान्य ग्रहण होता है, उसे दर्शन कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कोई किसी पदार्थ को देखता है और जब तक वह देखने वाला विकल्प न करे तब तक जो सत्तामात्र का ग्रहण है, उसे दर्शन और जब यह शुक्ल है, यह कृष्ण है इत्यादि रूप से विकल्प उत्पन्न होता है तब उसको ज्ञान कहते हैं। दर्शन में सामान्य की मुख्यता है और विशेष गौण, जबकि ज्ञान में सामान्य गौण और विशेष मुख्य होता है।

दर्शन यद्यपि सामान्य को विषय करता है परन्तु चक्षुदर्शन के उदाहरणों में घटादि विशेषों का उल्लेख यह संकेत करने के लिये किया गया है कि सामान्य और विशेष में कथंचित् अभेद होने

से वह एकान्ततः विशेषव्यतिरिक्त सामान्य को ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि विशेषरहित सामान्य खरविषाण जैसा होता ही नहीं। इसलिये विशेषों का सामान्य ग्रहण करना दर्शन कहा है।[1]

दर्शन भी ज्ञान की तरह आत्मा का गुण है। इसीलिये प्रमाणविचार के प्रसंग में इसका निरूपण किया है।

दर्शन के भेद और लक्षण—दर्शनगुणप्रमाण के चार भेदों के लक्षण इस प्रकार हैं—

१. भावचक्षुरिन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम एवं चक्षु रूप द्रव्येन्द्रिय के अनुपघात से चक्षुदर्शनलब्धि वाले जीव को घट आदि पदार्थों का चक्षु से सामान्यावलोकन होना चक्षुदर्शन है। चक्षुदर्शनसम्पन्न जीव तदावरणकर्म, के क्षयोपशम एवं चक्षुरिन्द्रिय के अवलंबन से मूर्त द्रव्य का विकल रूप से (एक देश से) सामान्यतः अवबोध करता है।

२. चक्षु के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों एवं मन से होने वाले पदार्थों के सामान्य बोध को अचक्षुदर्शन कहते हैं। यह अचक्षुदर्शन भाव-अचक्षुरिन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से और द्रव्येन्द्रियों के अनुपघात से अचक्षुदर्शनलब्धिसंपन्न जीव के घटादि पदार्थों का संश्लेष रूप संवन्ध होने पर होता है। चक्षुरिन्द्रिय और मन अप्राप्यकारी हैं। अर्थात् ये दोनों पदार्थों के साथ संश्लिष्ट होकर पदार्थों का दर्शन नहीं करते हैं। वे उनसे पृथक् रहकर ही अपने विषयों को जानते हैं। इसी वात का संकेत करने के लिये अचक्षुदर्शन के प्रसंग में सूत्रकार ने 'आयभावे'—आत्मभाव पद दिया है। चक्षु और मन के सिवाय शेष श्रोत्रादिक इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, अर्थात् पदार्थ के साथ संश्लिष्ट होकर ही अपने विषय का अववोध करती हैं।[2]

यद्यपि चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन से सामान्यतः विकल रूप से पदार्थ का वोध होता है, तथापि दोनों में यह अंतर है कि चक्षुदर्शन का विपय मूर्तद्रव्य है एवं अचक्षुदर्शन के विपय मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के द्रव्य हैं।

३. अवधिदर्शनावरणकर्म के क्षयोपशम से जो समस्त रूपी पदार्थों का अवधिदर्शनलब्धि-संपन्न जीव को सामान्यावलोकन होता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं। अर्थात् परमाणु से लेकर सर्व-महान् अंतिम स्कन्ध तक के मूर्त द्रव्य को जो प्रत्यक्ष देख सकता है, वह अवधिदर्शन है।

अवधिदर्शन मूर्त द्रव्य की सर्व पर्यायों में नहीं होता है किन्तु विकल रूप से—देशतः सामान्य अवबोधन कराता है। इसीलिये सूत्र में पद दिया है—

'सव्वरूविदव्वेहिं न पुण सव्वपज्जवेहिं।' क्योंकि अवधिदर्शन की विषयभूत पर्यायें उत्कृष्ट एक पदार्थ की संख्यात अथवा असंख्यात और जघन्य रूप से रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार बताई हैं।[3]

---

१. निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत्।

२. पुट्ठं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु। —अनुयोगवृत्ति, पृ. २२०

३. दव्वाओ असंखेज्जे संखेज्जे आवि पज्जवे लहइ।
दो पज्जवे दुगुणिए लहइ य एगाउ दव्वाओ॥ —अनु. मलधारीया वृत्ति पृ. २३०

४. समस्त रूपी और अरूपी पदार्थों को सामान्य रूप से जानने वाले परिपूर्ण दर्शन को **केवलदर्शन** कहते हैं। यह केवलदर्शनावरणकर्म के क्षय से आविर्भूत लब्धि से संपन्न जीव को मूर्त और अमूर्त समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों में होता है।

अवधिदर्शन की तरह मन:पर्यायदर्शन को पृथक् न मानने का कारण यह है कि जिस प्रकार मन:पर्यायज्ञानी भूत और भविष्य को जानता तो है पर देखता नहीं तथा वर्तमान में भी मन के विषय को विशेषाकार से ही जानता है। अतः सामान्यावलोकनपूर्वक प्रवृत्ति न होने से मन:पर्यायदर्शन नहीं माना है। यह दर्शनगुणप्रमाण की वक्तव्यता का सारांश है।

चारित्रगुणप्रमाण

४७२. से किं तं चरित्तगुणप्पमाणे ?

चरित्तगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—सामाइयचरित्तगुणप्पमाणे छेदोवट्ठावणियचरित्तगुणप्पमाणे परिहारविसुद्धियचरित्तगुणप्पमाणे सुहुमसंपरायचरित्तगुणप्पमाणे अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे।

सामाइयचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—इत्तरिए य आवकहिए य।

छेदोवट्ठावणियचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—सातियारे य निरतियारे य।

परिहारविसुद्धियचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—णिव्विसमाणए य णिव्विट्ठकायिए य।

सुहुमसंपरायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—संकिलिस्समाणयं च विसुज्झमाणयं च।

अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—पडिवाई य अपडिवाई य-छउमत्थे य केवलिए य। से तं चरित्तगुणप्पमाणे। से तं जीवगुणप्पमाणे। से तं गुणप्पमाणे।

[४७२ प्र.] भगवन्! चारित्रगुणप्रमाण किसे कहते हैं?

[४७२ उ.] आयुष्मन्! चरित्रगुणप्रमाण के पांच भेद हैं। वे इस प्रकार—१ सामायिकचारित्रगुणप्रमाण, २ छेदोपस्थापनीयचारित्रगुणप्रमाण, ३ परिहारविशुद्धिचारित्रगुणप्रमाण, ४ सूक्ष्मसंपरायचारित्रगुणप्रमाण, ५ यथाख्यातचारित्रगुणप्रमाण। इनमें से—

सामायिकचारित्रगुणप्रमाण दो प्रकार का कहा गया है—१ इत्वरिक और २ यावत्कथिक।

छेदोपस्थापनीयचारित्रगुणप्रमाण के दो भेद हैं, यथा—१ सातिचार और २ निरतिचार।

परिहारविशुद्धिकचारित्रगुणप्रमाण दो प्रकार का है—निर्विश्यमानक, २ निर्विष्टकायिक।

सूक्ष्मसंपरायचारित्रगुणप्रमाण दो प्रकार का कहा गया है—१ संक्लिश्यमानक और २ विशुद्धयमानक।

यथाख्यातचारित्रगुणप्रमाण के दो भेद हैं। वे इस प्रकार—१ प्रतिपाती और २ अप्रतिपाती। अथवा १ छाद्मस्थिक और २ कैवलिक।

इस प्रकार से चारित्रगुणप्रमाण का स्वरूप जानना चाहिये। इसका वर्णन करने पर जीव गुणप्रमाण तथा गुणप्रमाण का कथन समाप्त हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में भेदों—प्रकारों के माध्यम से चारित्रगुणप्रमाण का निरूपण किया है। ज्ञान, दर्शन, सुख आदि की तरह चारित्र भी जीव का स्वभाव—धर्म है। क्योंकि स्वरूप में रमण करना, स्वभाव में प्रवृत्ति करना चारित्र है। यह सर्वसावद्ययोगविरति रूप है।

चारित्र के भेद—संसार की कारणभूत बाह्य और अंतरंग क्रियाओं से निवृत्ति रूप होने से सामान्यापेक्षया चारित्र एक ही है। चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से होने वाली विशुद्धि की दृष्टि से भी चारित्र एक है। किन्तु जब विभिन्न दृष्टिकोणों से चारित्र का विचार करते हैं तो उसके विभिन्न प्रकार हो जाते हैं। जैसे—बाह्य व आभ्यन्तर निवृत्ति अथवा व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा अथवा प्राणीसंयम व इन्द्रियसंयम की अपेक्षा वह दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। छद्मस्थों का सराग और वीतराग चारित्र तथा सर्वज्ञों का सयोग और अयोग चारित्र, अथवा स्वरूपाचरणचारित्र, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र के भेद से चार प्रकार का है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-संपराय और यथाख्यात के भेद से पांच प्रकार का है। इसी तरह विविध निवृत्ति रूप परिणामों की दृष्टि से संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प-भेद हो सकते हैं। परन्तु यहाँ अति संक्षेप और अति विस्तार से भेदों को न बताकर पांच भेद बतलाये हैं। जिनमें सभी अपेक्षाओं से किये जाने वाले प्रकारों का अन्तर्भाव हो जाता है।

सामायिकचारित्र—सम् उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक अय धातु से स्वार्थ में इक् प्रत्यय लगाने से सामायिक शब्द निष्पन्न होता है। सम् अर्थात् एकत्वपने से 'आय' अर्थात् आगमन। अर्थात् परद्रव्यों से निवृत्त होकर उपयोग की आत्मा में प्रवृत्ति होना सामायिक है। अथवा 'सम्' का अर्थ है राग-द्वेष रहित मध्यस्थ आत्मा। उसमें 'आय' अर्थात् उपयोग की प्रवृत्ति समाय है। यह समाय ही जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं। अथवा सम का अर्थ है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र, इनके आय—लाभ अथवा प्राप्ति को समाय कहते हैं। अथवा 'समाय' शब्द साधु की समस्त क्रियाओं का उपलक्षण है। क्योंकि साधु की समस्त क्रियायें राग-द्वेष से रहित होती हैं। इस 'समाय' से जो निष्पन्न हो, संपन्न हो, उसे सामायिक कहते हैं। अथवा समाय में होने वाला सामायिक है। अथवा समाय ही सामायिक है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सर्वसावद्य कार्यों से निवृत्ति, विरति। महाव्रतधारी साधु-साध्वियों के चारित्र को सामायिकचारित्र कहा गया है। क्योंकि महाव्रतों को अंगीकार करते समय समस्त सावद्य कार्यों—योगों से निवृत्ति रूप सामायिकचारित्र ग्रहण किया जाता है।

यद्यपि सामायिकचारित्र में छेदोपस्थापना आदि उत्तरवर्ती समस्त चारित्रों का अन्तर्भाव हो जाता है, तथापि उन चारित्रों से सामायिकचारित्र में उत्तरोत्तर विशुद्धि और विशेषता आने के कारण उनका पृथक् निर्देश किया है।

सामायिकचारित्र के दो भेद हैं—१ इत्वरिक और यावत्कथिक।[1] इत्वरिक का अर्थ है—

१. दिगम्बर साहित्य में नियतकालिक और अनियतकालिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु आशय में अंतर नहीं है।

अल्पकालिक और यावत्कथिक यानी आजीवन (जीवन भर, यावज्जीवन के लिये ग्रहण किया जाने वाला।) भरत और ऐरवत क्षेत्रों में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में महाव्रतों का आरोपण नहीं किया गया हो तब तक शैक्ष (नवदीक्षित) का चारित्र इत्वरिक सामायिकचारित्र है। इसको धारण करने वाले बाद में प्रतिक्रमण सहित अहिंसा, सत्य आदि पांच महाव्रत अंगीकार करते हैं तथा इसके स्वामी स्थितकल्पी होते हैं एवं कालमर्यादा उपस्थापन पर्यन्त (बड़ी दीक्षा लेने तक) मानी जाती है।

यावत्कथिक सामायिकचारित्र भरत, ऐरवत क्षेत्रों में मध्य के बाईस तीर्थंकरों के साधुओं में और महाविदेह के तीर्थंकरों के साधुओं में होता है। क्योंकि उनकी उपस्थापना नहीं होती, अर्थात् उन्हें महाव्रतारोपण के लिये दूसरी बार दीक्षा नहीं दी जाती है। इस संयम को धारण करने वालों के महाव्रत चार और कल्प स्थितास्थित होता है।[1]

छेदोपस्थापनिकचारित्र—जिस चारित्र में पूर्व पर्याय का छेद और पुनः महाव्रतों की उपस्थापना की जाती है, वह छेदोपस्थापनिकचारित्र है।

यह छेदोपस्थापनिकचारित्र सातिचार और निरतिचार के भेद से दो प्रकार का है। सातिचार छेदोपस्थापनिकचारित्र मूलगुणों (महाव्रतों) में से किसी का विघात करने वाले साधु को पुनः महाव्रतोच्चारपूर्वक दिया जाता है। निरतिचार छेदोपस्थापनिकचारित्र इत्वरिक सामायिक वाले शैक्ष (नवदीक्षित) बड़ी दीक्षा के रूप में ग्रहण करते हैं अथवा एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाने पर अंगीकार किया जाता है। जैसे पार्श्वनाथ के केशी आदि श्रमण जब भगवान् महावीर के तीर्थ में सम्मिलित हुए थे तब पुनर्दीक्षा के रूप में इसी संयम को ग्रहण किया था। यह छेदोपस्थापनिक-चारित्र भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के समय में ही होता है।

सामायिक में संपूर्ण व्रतों को सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एक यम रूप में ग्रहण किया जाता है और छेदोपस्थापनिकचारित्र में उसी एक यम—व्रत को अहिंसामहाव्रत आदि पांच अथवा अनेक प्रकार के भेद करके ग्रहण किया जाता है। किन्तु इन दोनों में अनुष्ठानकृत कोई विशेषता नहीं है।

परिहारविशुद्धिचारित्र—परिहार का अर्थ है तपोविशेष और उस तपोविशेष से जिस चारित्र में विशुद्धि प्राप्त की जाती है, उसे परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१. निर्विश्यमानक, २. निर्विष्टकायिक।

जिस चारित्र में साधक प्रविष्ट होकर तपोविधि के अनुसार तपश्चरण कर रहे हों, उसे निर्विश्यमानक परिहारविशुद्धिचारित्र और जिस चारित्र में साधक तपोविधि के अनुसार तपाराधना कर चुके हैं, उस चारित्र का नाम निर्विष्टकायिक परिहारविशुद्धिचारित्र है। निर्विश्यमानक तपाराधना करते हैं और निर्विष्टकायिक उन तपाराधकों की सेवा करते हैं। परिहारविशुद्धि-तपाराधना की संक्षेप में विधि इस प्रकार है—

---

१. आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातर पिंड; राजपिंड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा—इन दस कल्पों में जो स्थित है वे स्थितकल्पी तथा शय्यातर पिंड, व्रत, ज्येष्ठ तथा कृतिकर्म इन चार नियमों में स्थित तथा शेष छह कल्पो में जो अस्थित होते है, वे स्थितास्थितकल्पी कहलाते है।—आवश्यक हरिभद्रीवृत्ति, पृ. ७९०

नौ साधु मिलकर इस परिहारतप की आराधना करते हैं। उनमें से चार साधक निर्विश्यमानक-तप का आचरण करने वाले होते हैं तथा शेष रहे पांच में से चार उनके अनुपारिहारिक अर्थात् वैयावृत्य करने वाले होते हैं और एक साधु कल्पस्थित वाचनाचार्य होता है।[1]

निर्विश्यमान साधक ग्रीष्मकाल में जघन्य चतुर्थभक्त (एक उपवास), मध्यम षष्ठभक्त (दो उपवास) और उत्कृष्ट अष्टमभक्त (तीन उपवास) करते हैं। शीतकाल में जघन्य दो, मध्यम तीन और उत्कृष्ट चार उपवास तथा वर्षाकाल में जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पांच उपवास करते हैं। यह क्रम छह मास तक चलता है और पारणा के दिन अभिग्रह सहित 'आयंबिलव्रत'[2] करते हैं। भिक्षा में पांच वस्तुओं का ग्रहण और दो का अभिग्रह होता है। कल्पस्थित—परिचारक पद ग्रहण करने वाले, वैयावृत्य करने वाले सदा आयंबिल ही करते हैं।

इस प्रकार छह महीने तक तप करने वाले (निर्विश्यमानक) साधक बाद में अनुपारिहारिक (वैयावृत्य करने वाले) बनते हैं और जो अभी अनुपरिहारिक थे, वे छह महीने के लिये परिहारिक (तपाराधक) बन जाते हैं। ये भी पूर्व तपस्वियों की तरह तपाराधना करते हैं।

दूसरे छह मास के बाद तीसरे छह मास के लिये वाचनाचार्य ही तपस्वी बनते हैं और शेष आठ साधुओं में से सात अनुचारी और एक वाचनाचार्य बनते हैं। इस प्रकार तीसरे छह मास पूर्ण होने के बाद अठारह माह की यह परिहारविशुद्धितपाराधना पूर्ण होती है। कल्प समाप्त हो जाने के पश्चात् वे साधक या तो जिनकल्प को अंगीकार कर लेते हैं अथवा अपने गच्छ में पुनः लौट आते हैं या पुनः वैसी ही तपस्या प्रारंभ कर देते हैं।

इस परिहारतप के प्रतिपद्यमानक इसे तीर्थंकर भगवान् के सान्निध्य में अथवा जिसने इस कल्प को तीर्थंकर से स्वीकार किया हो उसके पास से अंगीकार करते हैं, अन्य के पास नहीं। ऐसे मुनियों का चारित्र परिहारविशुद्धिचारित्र है। यह चारित्र जिन्होंने छेदोपस्थापनाचारित्र अंगीकार किया हुआ होता है, उन्हीं को होता है।

इस संयम का अधिकारी बनने के लिये गृहस्थपर्याय (उम्र) का जघन्य प्रमाण २९ वर्ष तथा साधुपर्याय (दीक्षाकाल) का जघन्यप्रमाण २० वर्ष और दोनों का उत्कृष्ट प्रमाण कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष माना है[3]

इस संयम के अधिकारी को साढ़े नौ पूर्व का ज्ञान होता है। इस संयम के धारक मुनि दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षा व विहार कर सकते हैं और अन्य समय में ध्यान, कायोत्सर्ग आदि।[4]

---

१. यद्यपि इसके साधक श्रुतातिशयसंपन्न होते हैं तथापि वह एक प्रकार का कल्प होने के कारण उनमें एक कल्पस्थित आचार्य स्थापित किया जाता है।

२. आयंबिल एक प्रकार का व्रत है, जिसमें विगय—घी, दूध आदि रस छोड़कर केवल दिन में एक बार अन्न खाया जाता है तथा गरम किया हुआ (प्राशुक) पानी पिया जाता है। —आवश्यकनिर्युक्ति गा. १६०३-५

३. पंचवस्तुक गा. १४९४

४. दिगम्बर साहित्य में इसके बारे में थोड़ा-सा मतभेद है। उसमें तीस वर्ष की उम्र वाले को इस संयम का अधिकारी माना है और नौ पूर्व का ज्ञान आवश्यक बताया है। तीर्थंकर के सिवाय और किसी के पास इस संयम को ग्रहण करने की मनाई है तथा तीन संध्याओं को छोड़कर दिन के किसी भाग में दो कोस जाने की सम्मति दी है। —गो. जीवकाण्ड गा. ४३७

अथवा (लोकोत्तरिक) आगम तीन प्रकार का है। यथा—१. आत्मागम, २. अनन्तरागम, और ३. परम्परागम।

अर्थागम तीर्थंकरों के लिये आत्मागम है। सूत्र का ज्ञान गणधरों के लिये आत्मागम और अर्थ का ज्ञान अनन्तरागम रूप है। गणधरों के शिष्यों के लिये सूत्रज्ञान अनन्तरागम और अर्थ का ज्ञान परम्परागम है।

तत्पश्चात् सूत्र और अर्थ रूप आगम आत्मागम भी नहीं है, अनन्तरागम भी नहीं है, किन्तु परम्परागम है। इस प्रकार से लोकोत्तर आगम का स्वरूप जानना चाहिये।

यही आगम और ज्ञानगुणप्रमाण का वर्णन है।

विवेचन—प्रस्तुत प्रश्नोत्तरों में ज्ञानगुणप्रमाण के अन्तिम भेद आगम का वर्णन करके अन्त में उसकी समाप्ति का उल्लेख किया है।

प्राचीनकाल में जिज्ञासु श्रद्धाशील व्यक्ति धर्मशास्त्र के रूप में माने जाने वाले अपने-अपने साहित्य को कंठोपकंठ प्राप्त करके स्मरण रखते थे। इसीलिये उन धर्मशास्त्रों की श्रुत यह संज्ञा है। जैन परम्परा के शास्त्र भी प्राचीनकाल में श्रुत या सम्यक् श्रुत के नाम से प्रसिद्ध थे। श्रुत शब्द का अर्थ है सुना हुआ। लेकिन इस शब्द से शास्त्रों का विशिष्ट माहात्म्य प्रकट नहीं हो सकने से आगम शब्द प्रयुक्त किया जाने लगा।

'आगम' शब्द की व्याख्या—ग्रन्थों में निरुक्तिमूलक से लेकर कर्ता की विशेषताओं आदि का बोध कराते हुए की गई आगम शब्द की व्याख्याओं का सारांश इस प्रकार है—

(गुरुपारम्पर्येण) आगच्छतीत्यगमः—गुरुपरम्परा से जो चला आ रहा है उसे आगम कहते हैं। इस निरुक्ति से यह स्पष्ट हुआ कि आगम शब्द कंठोपकंठ श्रुतपरम्परा का वाचक है तथा श्रुत और आगम शब्द एकार्थवाची हैं।

वर्ण्य विषय का परिज्ञान कराने की दृष्टि से आगम शब्द की लाक्षणिक व्याख्या यह है—**आ समन्ताद् गम्यन्ते—ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्था अनेनेति आगमः**—जीवादि पदार्थ जिसके द्वारा भलीभांति जाने जायें वह आगम है। अर्थात् जिसके द्वारा अनन्त धर्मों से विशिष्ट जीव-अजीव आदि पदार्थ जाने जाते हैं ऐसी आज्ञा आगम है। अथवा वीतराग सर्वज्ञ देव द्वारा कहे गये षड् द्रव्य और सप्त तत्त्व आदि का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा व्रतादि का अनुष्ठान रूप चारित्र इस प्रकार से रत्नत्रय का स्वरूप जिसमें प्रतिपादित किया गया है, उसको आगम या शास्त्र कहते हैं।

आगम का कर्ता कौन हो सकता है? इसको स्पष्ट करते हुए आगम की व्याख्या की है—जिसके सर्वदोष प्रक्षीण हो गये हैं, ऐसे प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा प्रणीत शास्त्र आगम शब्द के वाच्य हैं। अर्थात् जन्म, जरा आदि अठारह दोषों का नाश हो जाने से जो कदापि असत्य वचन नहीं बोलता ऐसे आप्त के वचन को आगम कहते हैं और इस आप्तोक्त आगम की प्रामाणिकता इसलिये है कि न्यूनाधिकता एवं विपरीतता के विना यथा-तथ्य रूप से वस्तु-स्वरूप का उसमें प्रतिपादन किया जाता है।

आगम के भेद—प्रथम आगम के दो भेद किये हैं—लौकिक और लोकोत्तर। इनका भावश्रुत के वर्णन के प्रसंग में विचार किया जा चुका है। अतएव यहाँ प्रकारान्तर से किये गये आगम के तीन-तीन भेदों का विचार करते हैं। वे इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रकार १. अर्थागम, २. सूत्रागम, ३. तदुभयागम। द्वितीय प्रकार—१. आत्मागम, २. अनन्तरागम, ३. परम्परागम।

जब अर्थ (भाव) और सूत्र की अपेक्षा आगम का विचार किया जाता है, तब अर्थागम आदि उक्त तीन भेद होते हैं। क्योंकि तीर्थंकर अर्थ का उपदेश करते हैं और गणधर उसके आधार से सूत्र की रचना करते हैं।[1] अतः इस प्रकार अर्थागम और सूत्रागम यह दो भेद हुए। तीसरा भेद इन दोनों का सम्मिलित रूप है।

दूसरी अपेक्षा से उक्त तीनों भेदों का नामकरण किया है—आत्मागम आदि रूप में। तीर्थंकर अर्थोपदेष्टा हैं और गणधर उस अर्थ को सूत्रबद्ध करते हैं। अतएव तीर्थंकर के लिये अर्थरूप आगम और गणधरों के लिये सूत्ररूप आगम आत्मागम है। अर्थ का मूल उपदेश तीर्थंकर का होने से अर्थागम गणधर के लिये आत्मागम नहीं किन्तु गणधरों को लक्ष्य करके अर्थ का उपदेश दिया है इसलिये अर्थागम गणधरों के लिये अनन्तरागम और गणधरशिष्यों के लिये परम्परागम है। क्योंकि वह तीर्थंकर से गणधरों को प्राप्त हुआ और गणधरों से उनके शिष्यों को। सूत्ररूप आगम गणधरशिष्यों के लिये अनन्तरागम है, क्योंकि गणधरों से सूत्र का उपदेश साक्षात् उनको मिला है और गणधर-शिष्यों के बाद होने वाले आचार्यों के लिये अर्थ और सूत्र उभय रूप आगम परम्परागम ही है।

आगम के उपर्युक्त सभी प्रकार विशिष्ट शब्दरूप हैं और विशिष्ट शब्दों की उत्पत्ति पुरुष के ताल्वादि के व्यापार द्वारा होने से पौरुषेय-पुरुषकृत है, अपौरुषेय नहीं। यह संकेत करने के लिये सूत्र में 'पणीअं-प्रणीतं' शब्द का प्रयोग किया है।

यदि कहा जाये कि अनादि—अनिधन होने से शब्द का कभी विनाश नहीं होता, किन्तु उस पर आवरण आ जाता है। ताल्वादि का व्यापार उस आवरण को हटाकर अभिव्यक्त कर देता है, उत्पन्न नहीं करता है। सर्वदा रहने वाले की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। किन्तु यह कथन अयुक्त है। क्योंकि एकान्ततः ऐसा माना जाये तो फिर संसार के जितने भी वचन हैं, वे सब अपौरुषेय हो जायेंगे, तब अमुक आगम प्रमाण है और अमुक आगम अप्रमाण, इसकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

इसके अतिरिक्त शब्द मूर्तिक हैं अर्थात् भाषावर्गणा के पुद्गलों से निष्पन्न होने के कारण मूर्त हैं। आकाश की तरह अमूर्त नहीं हैं। शब्दों की पौद्गलिकता असिद्ध भी नहीं है। क्योंकि नगाड़े आदिजन्य महाघोष से कान की झिल्ली तक फट जाती है तथा भीत आदि के कारण अभिघात भी होता है और यह अभिघात आदि होना प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः शब्द पौद्गलिक है।

सारांश यह है कि शब्द एकान्ततः अपौरुषेय नहीं है कथंचित् पौरुषेय और कथंचित् अपौरुषेय है। अर्थात् पौद्गलिक भाषावर्गणाओं का परिणाम होने से अपौरुषेय तथा पुरुष के ताल्वादिक के व्यापार से जन्य होने से पौरुषेय है।

---

१. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।

इस प्रकार से ज्ञानगुणप्रमाण का निरूपण करने के बाद अब भावप्रमाण के दूसरे भेद दर्शनगुणप्रमाण का वर्णन करते हैं।

दर्शनगुणप्रमाण

४७१. से किं तं दंसणगुणप्पमाणे ?

दंसणगुणप्पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—चक्खुदंसणगुणप्पमाणे अचक्खुदंसणगुणप्पमाणे ओहिदंसणगुणप्पमाणे केवलदंसणगुणप्पमाणे य।

चक्खुदंसणं चक्खुदंसणिस्स घड-पड-कड-रधादिएसु दव्वेसु,
अचक्खुदंसणं अचक्खुदंसणिस्स आयभावे,
ओहिदंसणं ओहिदंसणिस्स सव्वरूविदव्वेहिं न पुण सव्वपज्जवेहिं,
केवलदंसणं केवलदंसणिस्स सव्वदव्वेहिं सव्वपज्जवेहि य। से तं दंसणगुणप्पमाणे।

[४७१ प्र.] भगवन् ! दर्शनगुणप्रमाण का क्या स्वरूप है ?

[४७१ उ.] आयुष्मन् ! दर्शनगुणप्रमाण चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—चक्षुदर्शनगुणप्रमाण, अचक्षुदर्शनगुणप्रमाण, अवधिदर्शनगुणप्रमाण और केवलदर्शनगुणप्रमाण।

चक्षुदर्शनी का चक्षुदर्शन घट, पट, कट, रथ आदि द्रव्यों में होता है।

अचक्षुदर्शनी का अचक्षुदर्शन आत्मभाव में होता है अर्थात् घटादि पदार्थों के साथ संश्लेष—संयोग होने पर होता है।

अवधिदर्शनी का अवधिदर्शन सभी रूपी द्रव्यों में होता है, किन्तु सभी पर्यायों में नहीं होता है।

केवलदर्शनी का केवलदर्शन सर्व द्रव्यों और सर्व पर्यायों में होता है। यही दर्शनगुणप्रमाण है।

विवेचन—जीव में अनन्त गुण हैं। उनमें से ज्ञानगुण का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है। समान रूप से सभी द्रव्यों में पाये जाने वाले गुणधर्मों को सामान्य और असाधारण धर्मों को विशेष धर्म कहते हैं। ये दोनों प्रकार के धर्म प्रत्येक द्रव्य में हैं और इन दोनों को जानने-देखने वाले गुण दर्शन और ज्ञान हैं। ज्ञान द्वारा द्रव्यगत विशेष धर्मों और दर्शन द्वारा सामान्य धर्मों का परिज्ञान किया जाता है। जैसे ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम आदि होने से ज्ञान द्वारा पदार्थों का विशेष रूप में पृथक्-पृथक् विकल्प, नाम, संज्ञापूर्वक ग्रहण होता है वैसे ही दर्शनावरणकर्म का क्षयोपशम आदि होने से पदार्थों का जो सामान्य ग्रहण होता है, उसे दर्शन कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कोई किसी पदार्थ को देखता है और जब तक वह देखने वाला विकल्प न करे तब तक जो सत्तामात्र का ग्रहण है, उसे दर्शन और जब यह शुक्ल है, यह कृष्ण है इत्यादि रूप से विकल्प उत्पन्न होता है तब उसको ज्ञान कहते हैं। दर्शन में सामान्य की मुख्यता है और विशेष गौण, जबकि ज्ञान में सामान्य गौण और विशेष मुख्य होता है।

दर्शन यद्यपि सामान्य को विषय करता है परन्तु चक्षुदर्शन के उदाहरणों में घटादि विशेषों का उल्लेख यह संकेत करने के लिये किया गया है कि सामान्य और विशेष में कथंचित् अभेद होने

से वह एकान्ततः विशेषव्यतिरिक्त सामान्य को ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि विशेषरहित सामान्य खरविषाण जैसा होता ही नहीं। इसलिये विशेषों का सामान्य ग्रहण करना दर्शन कहा है।[1]

दर्शन भी ज्ञान की तरह आत्मा का गुण है। इसीलिये प्रमाणविचार के प्रसंग में इसका निरूपण किया है।

दर्शन के भेद और लक्षण—दर्शनगुणप्रमाण के चार भेदों के लक्षण इस प्रकार हैं—

१. भावचक्षुरिन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम एवं चक्षु रूप द्रव्येन्द्रिय के अनुपघात से चक्षुदर्शनलब्धि वाले जीव को घट आदि पदार्थों का चक्षु से सामान्यावलोकन होना चक्षुदर्शन है। चक्षुदर्शनसम्पन्न जीव तदावरणकर्म, के क्षयोपशम एवं चक्षुरिन्द्रिय के अवलंबन से मूर्त द्रव्य का विकल रूप से (एक देश से) सामान्यतः अवबोध करता है।

२. चक्षु के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों एवं मन से होने वाले पदार्थों के सामान्य बोध को अचक्षुदर्शन कहते हैं। यह अचक्षुदर्शन भाव-अचक्षुरिन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से और द्रव्येन्द्रियों के अनुपघात से अचक्षुदर्शनलब्धिसंपन्न जीव के घटादि पदार्थों का संश्लेष रूप संबन्ध होने पर होता है। चक्षुरिन्द्रिय और मन अप्राप्यकारी हैं। अर्थात् ये दोनों पदार्थों के साथ संश्लिष्ट होकर पदार्थों का दर्शन नहीं करते हैं। वे उनसे पृथक् रहकर ही अपने विषयों को जानते हैं। इसी बात का संकेत करने के लिये अचक्षुदर्शन के प्रसंग में सूत्रकार ने 'आयभावे'—आत्मभाव पद दिया है। चक्षु और मन के सिवाय शेष श्रोत्रादिक इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, अर्थात् पदार्थ के साथ संश्लिष्ट होकर ही अपने विषय का अवबोध करती हैं।[2]

यद्यपि चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन से सामान्यतः विकल रूप से पदार्थ का बोध होता है, तथापि दोनों में यह अंतर है कि चक्षुदर्शन का विषय मूर्तद्रव्य है एवं अचक्षुदर्शन के विषय मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के द्रव्य हैं।

३. अवधिदर्शनावरणकर्म के क्षयोपशम से जो समस्त रूपी पदार्थों का अवधिदर्शनलब्धि-संपन्न जीव को सामान्यावलोकन होता है, उसे अवधिदर्शन कहते हैं। अर्थात् परमाणु से लेकर सर्व-महान् अंतिम स्कन्ध तक के मूर्त द्रव्य को जो प्रत्यक्ष देख सकता है, वह अवधिदर्शन है।

अवधिदर्शन मूर्त द्रव्य की सर्व पर्यायों में नहीं होता है किन्तु विकल रूप से—देशतः सामान्य अवबोधन कराता है। इसीलिये सूत्र में पद दिया है—

'सव्वरूविदव्वेहिं न पुण सव्वपज्जवेहिं।' क्योंकि अवधिदर्शन की विषयभूत पर्यायें उत्कृष्ट एक पदार्थ की संख्यात अथवा असंख्यात और जघन्य रूप से रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार बताई हैं।[3]

---

१. निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविपाणवत्।

२. पुट्ठं सुणेइ सद्दं रूवं पुण पासई अपुट्ठं तु। —अनुयोगवृत्ति, पृ. २२०

३. दव्वाओ असंखेज्जे संखेज्जे आवि पज्जवे लहइ।
दो पज्जवे दुगुणिए लहइ य एगाउ दव्वाओ॥ —अनु. मलधारीया वृत्ति पृ. २३०

४. समस्त रूपी और अरूपी पदार्थों को सामान्य रूप से जानने वाले परिपूर्ण दर्शन को केवलदर्शन कहते हैं। यह केवलदर्शनावरणकर्म के क्षय से आविर्भूत लब्धि से संपन्न जीव को मूर्त और अमूर्त समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों में होता है।

अवधिदर्शन की तरह मन:पर्यायदर्शन को पृथक् न मानने का कारण यह है कि जिस प्रकार मन:पर्यायज्ञानी भूत और भविष्य को जानता तो है पर देखता नहीं तथा वर्तमान में भी मन के विषय को विशेपाकार से ही जानता है। अतः सामान्यावलोकनपूर्वक प्रवृत्ति न होने से मन:पर्यायदर्शन नहीं माना है। यह दर्शनगुणप्रमाण की वक्तव्यता का सारांश है।

चारित्रगुणप्रमाण

४७२. से किं तं चरित्तगुणप्पमाणे ?

चरित्तगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा—सामाइयचरित्तगुणप्पमाणे छेदोवट्ठावणियचरित्तगुणप्पमाणे परिहारविसुद्धियचरित्तगुणप्पमाणे सुहुमसंपरायचरित्तगुणप्पमाणे अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे।

सामाइयचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—इत्तरिए य आवकहिए य।

छेदोवट्ठावणियचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—सातियारे य निरतियारे य।

परिहारविसुद्धियचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—णिव्विसमाणए य णिव्विट्ठकायिए य।

सुहुमसंपरायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—संकिलिस्समाणयं च विसुज्झमाणयं च।

अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—पडिवाई य अपडिवाई य-छउमत्थे य केवलिए य। से तं चरित्तगुणप्पमाणे। से तं जीवगुणप्पमाणे। से तं गुणप्पमाणे।

[४७२ प्र.] भगवन् ! चारित्रगुणप्रमाण किसे कहते हैं ?

[४७२ उ.] आयुष्मन् ! चरित्रगुणप्रमाण के पांच भेद हैं। वे इस प्रकार—१ सामायिकचारित्रगुणप्रमाण, २ छेदोपस्थापनीयचारित्रगुणप्रमाण, ३ परिहारविशुद्धिचारित्रगुणप्रमाण, ४ सूक्ष्मसंपरायचारित्रगुणप्रमाण, ५ यथाख्यातचारित्रगुणप्रमाण। इनमें से—

सामायिकचारित्रगुणप्रमाण दो प्रकार का कहा गया है—१ इत्वरिक और २ यावत्कथिक।

छेदोपस्थापनीयचारित्रगुणप्रमाण के दो भेद हैं, यथा—१ सातिचार और २ निरतिचार।

परिहारविशुद्धिकचारित्रगुणप्रमाण दो प्रकार का है—निर्विश्यमानक, २ निर्विष्टकायिक।

सूक्ष्मसंपरायचारित्रगुणप्रमाण दो प्रकार का कहा गया है—१ संक्लिश्यमानक और २ विशुद्धयमानक।

यथाख्यातचारित्रगुणप्रमाण के दो भेद हैं। वे इस प्रकार—१ प्रतिपाती और २ अप्रतिपाती। अथवा १ छाद्मस्थिक और २ कैवलिक।

इस प्रकार से चारित्रगुणप्रमाण का स्वरूप जानना चाहिये। इसका वर्णन करने पर जीव गुणप्रमाण तथा गुणप्रमाण का कथन समाप्त हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में भेदों—प्रकारों के माध्यम से चारित्रगुणप्रमाण का निरूपण किया है। ज्ञान, दर्शन, सुख आदि की तरह चारित्र भी जीव का स्वभाव—धर्म है। क्योंकि स्वरूप में रमण करना, स्वभाव में प्रवृत्ति करना चारित्र है। यह सर्वसावद्ययोगविरति रूप है।

चारित्र के भेद—संसार की कारणभूत वाह्य और अंतरंग क्रियाओं से निवृत्ति रूप होने से सामान्यापेक्षया चारित्र एक ही है। चारित्रमोहनीय के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से होने वाली विशुद्धि की दृष्टि से भी चारित्र एक है। किन्तु जब विभिन्न दृष्टिकोणों से चारित्र का विचार करते हैं तो उसके विभिन्न प्रकार हो जाते हैं। जैसे—वाह्य व आभ्यन्तर निवृत्ति अथवा व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा अथवा प्राणीसंयम व इन्द्रियसंयम की अपेक्षा वह दो प्रकार का है। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है। छद्मस्थों का सराग और वीतराग चारित्र तथा सर्वज्ञों का सयोग और अयोग चारित्र, अथवा स्वरूपाचरणचारित्र, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र के भेद से चार प्रकार का है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात के भेद से पांच प्रकार का है। इसी तरह विविध निवृत्ति रूप परिणामों की दृष्टि से संख्यात, असंख्यात और अनन्त विकल्प-भेद हो सकते हैं। परन्तु यहाँ अति संक्षेप और अति विस्तार से भेदों को न वताकर पांच भेद बतलाये हैं। जिनमें सभी अपेक्षाओं से किये जाने वाले प्रकारों का अन्तर्भाव हो जाता है।

सामायिकचारित्र—सम् उपसर्गपूर्वक गत्यर्थक अय धातु से स्वार्थ में इक् प्रत्यय लगाने से सामायिक शब्द निष्पन्न होता है। सम् अर्थात् एकत्वपने से 'आय' अर्थात् आगमन। अर्थात् परद्रव्यों से निवृत्त होकर उपयोग की आत्मा में प्रवृत्ति होना सामायिक है। अथवा 'सम्' का अर्थ है राग-द्वेष रहित मध्यस्थ आत्मा। उसमें 'आय' अर्थात् उपयोग की प्रवृत्ति समाय है। यह समाय ही जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं। अथवा सम का अर्थ है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र, इनके आय—लाभ अथवा प्राप्ति को समाय कहते हैं। अथवा 'समाय' शब्द साधु की समस्त क्रियाओं का उपलक्षण है। क्योंकि साधु की समस्त क्रियायें राग-द्वेष से रहित होती हैं। इस 'समाय' से जो निष्पन्न हो, संपन्न हो, उसे सामायिक कहते हैं। अथवा समाय में होने वाला सामायिक है। अथवा समाय ही सामायिक है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सर्वसावद्य कार्यों से निवृत्ति, विरति। महाव्रतधारी साधु-साध्वियों के चारित्र को सामायिकचारित्र कहा गया है। क्योंकि महाव्रतों को अंगीकार करते समय समस्त सावद्य कार्यों—योगों से निवृत्ति रूप सामायिकचारित्र ग्रहण किया जाता है।

यद्यपि सामायिकचारित्र में छेदोपस्थापना आदि उत्तरवर्ती समस्त चारित्रों का अन्तर्भाव हो जाता है, तथापि उन चारित्रों से सामायिकचारित्र में उत्तरोत्तर विशुद्धि और विशेषता आने के कारण उनका पृथक् निर्देश किया है।

सामायिकचारित्र के दो भेद हैं—१ इत्वरिक और यावत्कथिक।[1] इत्वरिक का अर्थ है—

१. दिगम्बर साहित्य में नियतकालिक और अनियतकालिक शब्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु आशय में अंतर नहीं है।

अल्पकालिक और यावत्कथिक यानी आजीवन (जीवन भर, यावज्जीवन के लिये ग्रहण किया जाने वाला।) भरत और ऐरवत क्षेत्रों में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में महाव्रतों का आरोपण नहीं किया गया हो तब तक शैक्ष (नवदीक्षित) का चारित्र इत्वरिक सामायिकचारित्र है। इसको धारण करने वाले बाद में प्रतिक्रमण सहित अहिंसा, सत्य आदि पांच महाव्रत अंगीकार करते हैं तथा इसके स्वामी स्थितकल्पी होते हैं एवं कालमर्यादा उपस्थापन पर्यन्त (बड़ी दीक्षा लेने तक) मानी जाती है।

यावत्कथिक सामायिकचारित्र भरत, ऐरवत क्षेत्रों में मध्य के बाईस तीर्थंकरों के साधुओं में और महाविदेह के तीर्थंकरों के साधुओं में होता है। क्योंकि उनकी उपस्थापना नहीं होती, अर्थात् उन्हें महाव्रतारोपण के लिये दूसरी बार दीक्षा नहीं दी जाती है। इस संयम को धारण करने वालों के महाव्रत चार और कल्प स्थितास्थित होता है।[1]

छेदोपस्थापनिकचारित्र—जिस चारित्र में पूर्व पर्याय का छेद और पुनः महाव्रतों की उपस्थापना की जाती है, वह छेदोपस्थापनिकचारित्र है।

यह छेदोपस्थापनिकचारित्र सातिचार और निरतिचार के भेद से दो प्रकार का है। सातिचार छेदोपस्थापनिकचारित्र मूलगुणों (महाव्रतों) में से किसी का विघात करने वाले साधु को पुनः महाव्रतोच्चारपूर्वक दिया जाता है। निरतिचार छेदोपस्थापनिकचारित्र इत्वरिक सामायिक वाले शैक्ष (नवदीक्षित) बड़ी दीक्षा के रूप में ग्रहण करते हैं अथवा एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाने पर अंगीकार किया जाता है। जैसे पार्श्वनाथ के केशी आदि श्रमण जब भगवान् महावीर के तीर्थ में सम्मिलित हुए थे तब पुनर्दीक्षा के रूप में इसी संयम को ग्रहण किया था। यह छेदोपस्थापनिक-चारित्र भरत और ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के समय में ही होता है।

सामायिक में संपूर्ण व्रतों को सामान्य की अपेक्षा एक मानकर एक यम रूप में ग्रहण किया जाता है और छेदोपस्थापनिकचारित्र में उसी एक यम—व्रत को अहिंसामहाव्रत आदि पांच अथवा अनेक प्रकार के भेद करके ग्रहण किया जाता है। किन्तु इन दोनों में अनुष्ठानकृत कोई विशेषता नहीं है।

परिहारविशुद्धिचारित्र—परिहार का अर्थ है तपोविशेष और उस तपोविशेष से जिस चारित्र में विशुद्धि प्राप्त की जाती है, उसे परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। इसके दो भेद हैं—१. निर्विश्यमानक, २. निर्विष्टकायिक।

जिस चारित्र में साधक प्रविष्ट होकर तपोविधि के अनुसार तपश्चरण कर रहे हों, उसे निर्विश्यमानक परिहारविशुद्धिचारित्र और जिस चारित्र में साधक तपोविधि के अनुसार तपाराधना कर चुके हैं, उस चारित्र का नाम निर्विष्टकायिक परिहारविशुद्धिचारित्र है। निर्विश्यमानक तपाराधना करते हैं और निर्विष्टकायिक उन तपाराधकों की सेवा करते हैं। परिहारविशुद्धि-तपाराधना की संक्षेप में विधि इस प्रकार है—

---

१. आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातर पिंड; राजपिंड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषणा—इन दस कल्पों में जो स्थित हैं वे स्थितकल्पी तथा शय्यातर पिंड, व्रत, ज्येष्ठ तथा कृतिकर्म इन चार नियमों में स्थित तथा शेष छह कल्पों में जो अस्थित होते हैं, वे स्थितास्थितकल्पी कहलाते हैं।—आवश्यक हरिभद्रीवृत्ति, पृ. ७९०

नौ साधु मिलकर इस परिहारतप की आराधना करते हैं। उनमें से चार साधक निर्विश्यमानक-तप का आचरण करने वाले होते हैं तथा शेष रहे पांच में से चार उनके अनुपारिहारिक अर्थात् वैयावृत्य करने वाले होते हैं और एक साधु कल्पस्थित वाचनाचार्य होता है।[1]

निर्विश्यमान साधक ग्रीष्मकाल में जघन्य चतुर्थभक्त (एक उपवास), मध्यम षष्ठभक्त (दो उपवास) और उत्कृष्ट अष्टमभक्त (तीन उपवास) करते हैं। शीतकाल में जघन्य दो, मध्यम तीन और उत्कृष्ट चार उपवास तथा वर्षाकाल में जघन्य तीन, मध्यम चार और उत्कृष्ट पांच उपवास करते हैं। यह क्रम छह मास तक चलता है और पारणा के दिन अभिग्रह सहित 'आयंबिलव्रत'[2] करते हैं। भिक्षा में पांच वस्तुओं का ग्रहण और दो का अभिग्रह होता है। कल्पस्थित—परिचारक पद ग्रहण करने वाले, वैयावृत्य करने वाले सदा आयंबिल ही करते हैं।

इस प्रकार छह महीने तक तप करने वाले (निर्विश्यमानक) साधक बाद में अनुपारिहारिक (वैयावृत्य करने वाले) बनते हैं और जो अभी अनुपरिहारिक थे, वे छह महीने के लिये परिहारिक (तपाराधक) बन जाते हैं। ये भी पूर्व तपस्वियों की तरह तपाराधना करते हैं।

दूसरे छह मास के बाद तीसरे छह मास के लिये वाचनाचार्य ही तपस्वी बनते हैं और शेष आठ साधुओं में से सात अनुचारी और एक वाचनाचार्य बनते हैं। इस प्रकार तीसरे छह मास पूर्ण होने के बाद अठारह माह की यह परिहारविशुद्धितपाराधना पूर्ण होती है। कल्प समाप्त हो जाने के पश्चात् वे साधक या तो जिनकल्प को अंगीकार कर लेते हैं अथवा अपने गच्छ में पुनः लौट आते हैं या पुनः वैसी ही तपस्या प्रारंभ कर देते हैं।

इस परिहारतप के प्रतिपद्यमानक इसे तीर्थंकर भगवान् के सान्निध्य में अथवा जिसने इस कल्प को तीर्थंकर से स्वीकार किया हो उसके पास से अंगीकार करते हैं, अन्य के पास नहीं। ऐसे मुनियों का चारित्र परिहारविशुद्धिचारित्र है। यह चारित्र जिन्होंने छेदोपस्थापनाचारित्र अंगीकार किया हुआ होता है, उन्हीं को होता है।

इस संयम का अधिकारी बनने के लिये गृहस्थपर्याय (उम्र) का जघन्य प्रमाण २९ वर्ष तथा साधुपर्याय (दीक्षाकाल) का जघन्यप्रमाण २० वर्ष और दोनों का उत्कृष्ट प्रमाण कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष माना है[3]

इस संयम के अधिकारी को साढ़े नौ पूर्व का ज्ञान होता है। इस संयम के धारक मुनि दिन के तीसरे प्रहर में भिक्षा व विहार कर सकते हैं और अन्य समय में ध्यान, कायोत्सर्ग आदि।[4]

---

१. यद्यपि इसके साधक श्रुतातिशयसंपन्न होते हैं तथापि वह एक प्रकार का कल्प होने के कारण उनमें एक कल्पस्थित आचार्य स्थापित किया जाता है।

२. आयंबिल एक प्रकार का व्रत है, जिसमें विगय—घी, दूध आदि रस छोड़कर केवल दिन में एक वार अन्न खाया जाता है तथा गरम किया हुआ (प्राशुक) पानी पिया जाता है। —आवश्यकनिर्युक्ति गा. १६०३-५

३. पंचवस्तुक गा. १४९४

४. दिगम्बर साहित्य में इसके बारे में थोड़ा-सा मतभेद है। उसमें तीस वर्ष की उम्र वाले को इस संयम का अधिकारी माना है और नौ पूर्व का ज्ञान आवश्यक बताया है। तीर्थंकर के सिवाय और किसी के पास इस संयम को ग्रहण करने की मनाई है तथा तीन संध्याओं को छोड़कर दिन के किसी भाग में दो कोस जाने की सम्मति दी है। —गो. जीवकाण्ड गा. ४३७

ये परिहारविशुद्धिचारित्राराधक दो प्रकार के होते हैं—१. इत्वरिक और २. यावत्कथिक। इत्वरिक वे हैं जो कल्प की समाप्ति के बाद उसी पूर्व के कल्प या गच्छ में आ जाते हैं तथा जो कल्प समाप्त होते ही बिना व्यवधान के तत्काल जिनकल्प को स्वीकार कर लेते हैं, वे यावत्कथिक चारित्री कहलाते हैं।

सूक्ष्मसंपरायचारित्र—जिसके कारण जीव चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करता है, उसे संपराय कहते हैं। संसार-परिभ्रमण के मुख्य कारण क्रोधादि कषाय हैं। इसलिये इनकी संपराय यह संज्ञा है। जिस चारित्र में सूक्ष्म अर्थात् संज्वलन के सूक्ष्म लोभरूप संपराय-कषाय का उदय ही शेष रह जाता है, ऐसा चारित्र सूक्ष्मसंपरायचारित्र कहलाता है।

यह चारित्र सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थानवर्ती मुनियों को होता है।

यह चारित्र संक्लिश्यमानक और विशुद्धचमानक के भेद से दो प्रकार का है। क्षपक-श्रेणि या उपशमश्रेणि पर आरोहण करने वाले का चारित्र विशुद्धचमानक होता है। जबकि उपशम-श्रेणि से उपशांतमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँच कर वहाँ से गिरने पर साधक जब पुनः दसवें गुणस्थान में आता है, उस समय का सूक्ष्मसंपरायचारित्र संक्लिश्यमानक कहलाता है। क्योंकि इस पतनोन्मुखी दशा में संक्लेश की अधिकता है और पतन का कारण संक्लेश है। इसीलिये इसको संक्लिश्यमानक कहते हैं।

यथाख्यातचारित्र—प्राकृत में इसको 'अहक्खाय' चारित्र कहते हैं। उसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति इस प्रकार जानना चाहिये—अह-आ-अक्खाय। यहाँ अह—अथ शब्द याथातथ्य अर्थ में, आ—आङ् उपसर्ग अभिविधि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और अक्खाय क्रियापद है। जिसको संधि होने पर, अहावखाय पद बनता है। फिर 'ह्रस्वः संयोगे' इस सूत्र से अकार होने से अहक्खाय पद बन जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यथार्थ रूप से सर्वात्मना जो चारित्र कषायरहित हो, उसे यथाख्यातचारित्र कहते हैं। आत्मा के सर्वथा शुद्ध भाव का प्रादुर्भाव कषायों के निःशेष रूप से अभाव होने पर होता है।

इस चारित्र के दो भेद हैं—प्रतिपाती और अप्रतिपाती। जिस जीव का मोह उपशांत हुआ है, उसका प्रतिपाती और जिसका मोह सर्वथा क्षीण हो गया है, उसका चारित्र अप्रतिपाती होता है। अथवा आश्रय के भेद से इस चारित्र के दो भेद हैं—छाद्मस्थिक (छद्मस्थ अर्थात् ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव का) और कैवलिक (तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव का)। यद्यपि ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव का मोह सर्वथा उपशान्त और क्षीण हो जाता है परन्तु ज्ञानावरण आदि शेष तीन घातिकर्म (छद्म) रहते हैं। इसीलिये उनको छद्मस्थ कहा जाता है। केवली के मोह के सिवाय शेष तीन घातिकर्म भी एकान्ततः नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार से चारित्रगुणप्रमाण की प्ररूपणा जानना चाहिये और इस चारित्रगुणप्रमाण का कथन समाप्त होने से जीवगुणप्रमाण का वर्णन पूर्ण हुआ। इसके साथ ही गुणप्रमाण का कथन भी समाप्त हो गया।

अब क्रमप्राप्त नयप्रमाण का निरूपण करते हैं।

नयप्रमाणनिरूपण

४७३. से किं तं नयप्पमाणे ?

नयप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—पत्थयदिट्ठंतेणं वसहिदिट्ठंतेणं पएसदिट्ठंतेणं ।

[४७३ प्र.] भगवन् ! नयप्रमाण का स्वरूप क्या है ?

[४७३ उ.] आयुष्मन् ! नयप्रमाण का स्वरूप तीन दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट किया गया है। जैसे कि—१. प्रस्थक के दृष्टान्त द्वारा, २. वसति के दृष्टान्त द्वारा और ३. प्रदेश के दृष्टान्त द्वारा।

विवेचन—प्रस्तुत में तीन दृष्टान्तों द्वारा नयप्रमाण के स्वरूप का कथन किया है। प्रत्येक जीवादिक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक हैं। उन अनन्त धर्मों में विवक्षित धर्म को मुख्य एवं अन्य धर्मों को गौण करके वस्तुप्रतिपादक वक्ता का जो अभिप्राय होता है, वह नयप्रमाण है। यद्यपि नयप्रमाण गुणप्रमाण के अंतर्गत ही है और नैगम, संग्रह आदि के भेद से बहुत से नय हैं, तथापि स्थान-स्थान पर अत्युपयोगी और गहन विषय वाले होने से यहाँ प्रस्थक आदि दृष्टान्तत्रय से नयप्रमाण का वर्णन किया है।

प्रस्थकदृष्टान्त द्वारा नयनिरूपण

४७४. से किं तं पत्थगदिट्ठंतेणं ?

पत्थगदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ पुरिसे परसुं गहाय अडविहुत्ते गच्छेज्जा, तं च केइ पासित्ता वदेज्जा—कत्थ भवं गच्छसि ? अविसुद्धो नेगमो भणति—पत्थगस्स गच्छामि। तं च केइ छिंदमाणं पासित्ता वइज्जा—किं भवं छिंदसि ? विसुद्धतराओ नेगमो भणति—पत्थयं छिंदामि। तं च केइ तच्छेमाणं पासित्ता वदेज्जा—किं भवं तच्छेसि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणति—पत्थयं तच्छेमि। तं च केइ उक्किरमाणं पासित्ता वदेज्जा—किं भवं उक्किरसि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणति—पत्थयं उक्किरामि। तं च केइ [वि] लिहमाणं पासेत्ता वदेज्जा—किं भवं [वि] लिहसि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणति—पत्थयं [वि] लिहामि। एवं विसुद्धतरागस्स णेगमस्स नामाउडितओ पत्थओ।

एवमेव ववहारस्स वि।

संगहस्स चितो मिओ मिज्जसमारूढो पत्थओ।

उज्जुसुयस्स पत्थयो वि पत्थओ मिज्जं पि से पत्थओ।

तिण्हं सद्दणयाणं पत्थयाहिगारजाणओ पत्थओ जस्स वा वसेणं पत्थओ निप्फज्जइ। से तं पत्थयदिट्ठंतेणं।

[४७४ प्र.] भगवन् ! प्रस्थक का दृष्टान्त क्या है ?

[४७४ उ.] आयुष्मन् ! जैसे कोई पुरुष परशु (कुल्हाड़ी) लेकर वन की ओर जाता है। उसे देखकर किसी ने पूछा—आप कहाँ जा रहे हैं ?

तब अविशुद्ध नैगमनय के मतानुसार उसने कहा—प्रस्थक लेने के लिये जा रहा हूँ। फिर उसे वृक्ष को छेदन करते—काटते हुए देखकर कोई कहे—आप क्या काट रहे हैं ? तब उसने विशुद्धतर नैगमनय के मतानुसार उत्तर दिया—*मैं प्रस्थक काट रहा हूँ। तदनन्तर कोई उस लकड़ी को छीलते* देखकर पूछे—आप यह क्या छील रहे हैं ? तब विशुद्धतर नैगमनय की अपेक्षा उसने कहा—प्रस्थक छील रहा हूँ। तत्पश्चात् कोई काष्ठ के मध्य भाग को उत्कीर्ण करते देखकर पूछे—आप यह क्या उत्कीर्ण कर रहे हैं ? तब विशुद्धतर नैगमनय के अनुसार उसने उत्तर दिया—मैं प्रस्थक उत्कीर्ण कर रहा हूँ। फिर कोई उस उत्कीर्ण काष्ठ पर प्रस्थक का आकार लेखन—अंकन करते देखकर कहे—आप यह क्या लेखन कर रहे हैं ? तो विशुद्धतर नैगमनयानुसार उसने उत्तर दिया—प्रस्थक अंकित कर रहा हूँ।

इसी प्रकार से जब तक संपूर्ण प्रस्थक निष्पन्न—तैयार न हो जाये, तब तक प्रस्थक संबंधी प्रश्नोत्तर करना चाहिये।

इसी प्रकार व्यवहारनय से भी जानना चाहिए।

संग्रहनय के मत से धान्यपरिपूरित प्रस्थक को ही प्रस्थक कहते हैं।

ऋजुसूत्रनय के मत से प्रस्थक भी प्रस्थक है और मेय वस्तु (उससे मापी गई धान्यादि वस्तु) भी प्रस्थक है।

तीनों शब्द नयों (शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत) के मतानुसार प्रस्थक के अर्थाधिकार का ज्ञाता (प्रस्थक के स्वरूप के परिज्ञान में उपयुक्त जीव अथवा प्रस्थककर्ता का वह उपयोग जिससे प्रस्थक, निष्पन्न होता है उसमें वर्तमान कर्ता प्रस्थक है।

इस प्रकार प्रस्थक के दृष्टान्त द्वारा नयप्रमाण का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में प्रस्थक के दृष्टान्त द्वारा नयदृष्टियों का संकेत किया है।

प्रस्थक—यह मगध देश प्रसिद्ध एक पात्र का नाम है। इसमें धान्यादि भरकर मापे जाते हैं। इस प्रकार के प्रस्थक को बनाने का संकल्प लेकर कोई व्यक्ति कुल्हाड़ी लेकर वन की ओर जा रहा हो। पूछने पर उसने जो उत्तर दिया कि प्रस्थक के लिये जा रहा हूँ, यह अविशुद्ध नैगमनय के अभिप्राय से संगत है। क्योंकि वस्तु को जानने के नैगमनय के अभिप्राय अनेक होते हैं। नैगमनय संकल्पित विषय में उस पर्याय का आरोप कर उसे उस पर्याय रूप मानता है। अतएव अभी तो प्रस्थक बनाने का विचार ही उत्पन्न हुआ है किन्तु उत्तर दिया है प्रस्थक को मानकर। काष्ठ को काटते समय उसने जो उत्तर दिया वह भी नैगमनयानुसार ठीक है, परन्तु पूर्व की अपेक्षा वह विशुद्ध है। इसके बाद काष्ठ को छीलते एवं उत्कीर्ण करते आदि प्रसंगों पर जो उत्तर दिये, उनमें भी नैगमनय की दृष्टि है, किन्तु वे सब कथन पूर्व की अपेक्षा विशुद्धतर हैं। इस प्रकार जब तक लोकप्रसिद्ध प्रस्थक नाम की पर्याय प्रकट न हो जाये, उससे पूर्व तक के जितने उत्तर होंगे वे सब नैगमनय के संकल्पमात्रग्राही होने से सत्य हैं और संकल्प के अनेक रूप होने से नैगमनय अनेक प्रकार से वस्तु को मानता है। इसीलिए कारण में कार्य का उपचार करके जो उत्तर दिया जाता है, वह नैगमनय की दृष्टि से है। ऐसा व्यवहार में भी देखा जाता है।

सूत्र में बताये गये नैगमनय के अविशुद्ध, विशुद्ध और विशुद्धतर यह तीन रूप पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर में विशेषता के प्रदर्शक हैं।

व्यवहारनय में लोकव्यवहार की प्रधानता होती है। वह सर्वत्र लोकव्यवहार की प्रधानता को लेकर प्रवृत्त होता है। अतएव जब लोक में नैगमनयोक्त अवस्थाओं में सर्वत्र प्रस्थक व्यवहार होता है तो यह नय भी वैसा ही मानता है।

संग्रहनय समस्त वस्तुओं को सामान्य रूप से ग्रहण करता है। यदि किसी विवक्षित प्रस्थक को ही प्रस्थक मानें तो विवक्षित प्रस्थक से भिन्न प्रस्थकों में प्रस्थकत्व का व्यपदेश नहीं हो सकेगा। क्योंकि सामान्य के बिना विशेषों का अस्तित्व ही नहीं है।

ऋजुसूत्रनय के अनुसार प्रस्थक भी और उसके द्वारा मेय वस्तु भी प्रस्थक है। यह नय नष्ट एवं अनुत्पन्न होने से सत्ताविहीन भूत और भविष्यत् कालिक मान और मेय को नहीं मानकर वर्तमान-कालिक मान और मेय को ही मानता है। अतएव जिस समय प्रस्थक अपना कार्य कर रहा है और धान्यादिक मापे जा रहे हैं तभी इस नय के अनुसार प्रस्थक माने जाते हैं। यह नय पूर्व नयों की अपेक्षा विशुद्धतर है।

शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये तीनों शब्दनय हैं। इनमें शब्द की प्रधानता है। इसीलिये इन्हें शब्दनय कहा जाता है और शब्द के अनुसार ही ये अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।[1]

इन तीनों शब्दनयों के मत में प्रस्थक के स्वरूप के परिज्ञान से उपयुक्त हुआ जीव प्रस्थक है। ये नय भावप्रधान हैं। इसलिये ये भाव प्रस्थक को—प्रस्थक के उपयोग को—प्रस्थक मानते हैं और उपयोग जीव का लक्षण है। इसलिये जीव का लक्षण रूप उपयोग जब प्रस्थक को विषय करता है, तब वह उस रूप में परिणत हो जाता है, जिससे प्रस्थक के उपयोग को प्रस्थक मान लिया जाता है। अथवा प्रस्थक के बनाने वाले व्यक्ति के जिस उपयोग के द्वारा प्रस्थक निष्पन्न होता है, उस उपयोग में वर्तमान वह कर्ता प्रस्थक कहा जाता है। क्योंकि कर्ता में जब तक प्रस्थक बनाने का उपयोग नहीं होगा, तब तक वह प्रस्थक नहीं बना सकेगा। इसलिये वह कर्ता भी उस प्रस्थक को निष्पन्न करने वाले उपयोग से अनन्य होने के कारण प्रस्थक कहा जाता है।

वसतिदृष्टान्त द्वारा नयनिरूपण

४७५. से किं तं वसहिदिट्ठंतेणं ?

वसहिदिट्ठंतेणं से जहानामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं वदिज्जा, कहिं भवं वससि ? तत्थ अविसुद्धो णेगमो भणइ—लोगे वसामि।

लोगे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—उड्ढलोए अधोलोए तिरियलोए, तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणइ—तिरियलोए वसामि।

तिरियलोए जंबुद्दीवादीया सयंभूरमणपज्जवसाणा असंखेज्जा—दीव-समुद्दा पण्णत्ता, तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणति—जंबुद्दीवे वसामि।

जंबुद्दीवे दस खेत्ता पण्णत्ता, तं जहा—भरहे एरवए हेमवए एरण्णवए हरिवस्से रम्मगवस्से

---

१. आदि के नैगम आदि ऋजुसूत्रनय पर्यन्त चार नय अर्थनय हैं। क्योंकि इनकी अर्थ में ही मान्यता प्रधान—मुख्य है।

देवकुरा उत्तरकुरा पुव्वविदेहे अवरविदेहे, तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणति-भरहे वसामि ।

भरहे वासे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—दाहिणड्ढभरहे य उत्तरड्ढभरहे य, तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणति—दाहिणड्ढभरहे वसामि ।

दाहिणड्ढभरहे अणेगाइं गाम-णगर-खेड-कव्वड-मडंब-दोणमुह-पट्टणा-ऽऽगर-संवाह-सण्णिवेसाइं, तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणति—पाडलिपुत्ते वसामि ।

पाडलिपुत्ते अणेगाइं गिहाइं, तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणति—देवदत्तस्स घरे वसामि ।

देवदत्तस्स घरे अणेगा कोट्ठगा, तेसु सव्वेसु भवं वससि ? विसुद्धतराओ णेगमो भणति—गब्भघरे वसामि । एवं विसुद्धस्स णेगमस्स वसमाणो वसति ।

एवमेव ववहारस्स वि ।

संगहस्स संथारसमारूढो वसति ।

उज्जुसुयस्स जेसु आगासपएसेसु ओगाढो तेसु वसइ ।

तिण्हं सद्दनयाणं आयभावे वसइ । से तं वसहिदिट्ठंतेणं ।

[४७५ प्र.] भगवन् ! जिसके द्वारा नयों का स्वरूप जाना जाता है वह वसति-दृष्टान्त क्या है ?

[४७५ उ.] आयुष्मन् ! वसति के दृष्टान्त द्वारा नयों का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये—जैसे किसी पुरुष ने किसी अन्य पुरुष से पूछा—आप कहाँ रहते हैं ?

तब उसने अविशुद्ध नैगमनय के मतानुसार उत्तर दिया—मैं लोक में रहता हूँ ।

प्रश्नकर्ता ने पुनः पूछा—लोक के तो तीन भेद हैं—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, तिर्यग्लोक । तो क्या आप इन सब में रहते हैं ? तब—

विशुद्ध नैगमनय के अभिप्रायानुसार उसने कहा—मैं तिर्यग्लोक में रहता हूँ ।

इस पर प्रश्नकर्ता ने पुनः प्रश्न किया—तिर्यग्लोक में जम्बूद्वीप आदि स्वयंभूरमणसमुद्र पर्यन्त असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, तो क्या आप उन सभी में रहते हैं ?

प्रत्युत्तर में विशुद्धतर नैगमनय के अभिप्रायानुसार उसने कहा—मैं जम्बूद्वीप में रहता हूँ ।

तब प्रश्नकर्ता ने प्रश्न किया—जम्बूद्वीप में दस क्षेत्र हैं । यथा—भरत, ऐरवत, हैमवत, ऐरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, देवकुरु, उत्तरकुरु, पूर्वविदेह, अपरविदेह । तो क्या आप इन दसों क्षेत्रों में रहते हैं ?

उत्तर में विशुद्धतर नैगमनय के अभिप्रायानुसार उसने कहा—भरतक्षेत्र में रहता हूँ ।

प्रश्नकर्ता ने पुनः प्रश्न पूछा—भरतक्षेत्र के दो विभाग हैं—दक्षिणार्धभरत और उत्तरार्ध-भरत । तो क्या आप उन दोनों विभागों में रहते हैं ?

विशुद्धतर नैगमनय की दृष्टि से उसने उत्तर दिया—दक्षिणार्धभरत में रहता हूँ।

प्रश्नकर्ता ने पुनः प्रश्न पूछा—दक्षिणार्धभरत में तो अनेक ग्राम, नगर, खेड, कर्वट, मडंब, द्रोणमुख, पट्टन, आकर, संवाह, सन्निवेश हैं, तो क्या आप उन सबमें रहते हैं?

इसका विशुद्धतर नैगमनयानुसार उसने उत्तर दिया—मैं पाटलिपुत्र में रहता हूँ।

प्रश्नकर्ता ने पुनः पूछा—पाटलिपुत्र में अनेक घर हैं, तो आप उन सभी में निवास करते हैं?

तब विशुद्धतर नैगमनय की दृष्टि से उसने उत्तर दिया—देवदत्त के घर में वसता हूँ।

प्रश्नकर्ता ने पुनः पूछा—देवदत्त के घर में अनेक प्रकोष्ठ—कोठे हैं, तो क्या आप उन सबमें रहते हैं?

उत्तर में उसने विशुद्धतर नेगमनय के अनुसार कहा—(नहीं, मैं उन सबमें तो नहीं रहता, किन्तु) गर्भगृह में रहता हूँ।

इस प्रकार विशुद्ध नैगमनय के मत से वसते हुए को वसता हुआ माना जाता है। अर्थात् विशुद्ध नैगमनय के मतानुसार गर्भगृह में रहता हुआ ही 'वसति' इस रूप से व्यपदिष्ट होता है।

व्यवहारनय का मंतव्य भी इसी प्रकार का है।

संग्रहनय के मतानुसार शैया पर आरूढ़ हो तभी वह वसता हुआ कहा जा सकता है।

ऋजुसूत्रनय के मत से जिन आकाशप्रदेशों में अवगाढ़-अवगाहनयुक्त-विद्यमान है, उनमें ही वसता हुआ माना जाता है।

तीनों शब्दनयों के अभिप्राय से आत्मभाव—स्वभाव में ही निवास होता है।

इस प्रकार वसति के दृष्टान्त द्वारा नयों का स्वरूप जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में वसति—निवास के दृष्टान्त द्वारा नय-कथनशैली का निरूपण किया है।

नैगमनय के अनेक भेद हैं, अतः उसके अनुसार दिये गये उत्तर उत्तरोत्तर विशुद्धतर नैगमनय की दृष्टि से हैं। क्योंकि संकल्पमात्रग्राही होने से जब नैगमनय अपेक्षा दृष्टि से विशेषोन्मुखी होता है तब चरम विशेष के पूर्व तक विशुद्ध से विशुद्धतर होता जाता है और वे सभी विशुद्धतर नैगमनय के विषय हैं। इसलिये पूर्व-पूर्वापेक्षया विशुद्धतर नैगमनय के मत से वसते हुए को वसता हुआ माना जाता है। यदि वह अन्यत्र भी चला गया हो तब भी जहाँ निवास करेगा, वहीं उसको वसता हुआ माना जायेगा।

इसी प्रकार का व्यवहारनय का भी मंतव्य है। क्योंकि जहाँ जिसका निवासस्थान है, वह उसी स्थान में वसता हुआ माना जाता है तथा जहाँ पर रहे, वही उसका निवासस्थान होता है। जैसे—पाटलिपुत्र का रहने वाला यदि कहीं अन्यत्र जाये तब भी कहा जाता है कि पाटलिपुत्रवासी अमुक व्यक्ति यहाँ आया हुआ है और पाटलिपुत्र में 'कहेंगे'—अब वह यहाँ नहीं है, अन्यत्र वस गया है। अर्थात् विशुद्धतर नैगमनय और व्यवहारनय के मत से 'वसते हुए को वसता हुआ' मानते हैं। इसी का संकेत करने के लिये—'एवमेव ववहारस्स वि' पद दिया है।

संग्रहनय की मान्यता है कि 'वसति' शब्द का प्रयोग गर्भगृह आदि में रहने के अर्थ में नहीं हो सकता है। क्योंकि वसति का अर्थ निवास है और यह निवास रूप अर्थ संस्तारक पर आरूढ होने

पर ही घटित होता है। अतः जब कोई संस्तारक-शय्या पर शयन करे तभी चलने आदि क्रिया से रहित होकर शयन करते समय ही उसे वसता हुआ माना जा सकता है। संग्रहनय सामान्यवादी है, इसलिए इसके मत से सभी शैयायें एक हैं, चाहे वे कहीं भी हों।

ऋजुसूत्रनय संग्रहनय की अपेक्षा भी विशुद्ध है। ऋजुसूत्रनय का मंतव्य है संस्तारक पर आरूढ हो जाने मात्र से वसति शब्द का अर्थ घटित नहीं होता है, किन्तु संस्तारक के जितने आकाश प्रदेश वर्तमान में अवगाहन किये गये हैं, उन्हीं पर वसता हुआ मानना चाहिये।

शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन तीनों नयों की पदार्थ के निज स्वरूप में रहने के विषय में यह दृष्टि है कि आकाशप्रदेश पर द्रव्य होने से उनमें रहना वसति शब्द का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी द्रव्य पर द्रव्य में नहीं रहता है। इसलिये प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में निवास करता है।

अब प्रदेशदृष्टान्त द्वारा नयों का निरूपण करते हैं।

प्रदेशदृष्टान्त द्वारा नयनिरूपण

४७६. से किं तं पदेसदिट्ठंतेणं ?

पदेसदिट्ठंतेणं णेगमो भणति—छण्हं पदेसो, तं जहा—धम्मपदेसो अधम्मपदेसो आगासपदेसो जीवपदेसो खंधपदेसो देसपदेसो।

एवं वयंतं णेगमं संगहो भणइ—जं भणसि—छण्हं पदेसो तण्ण भवइ, कम्हा ? जम्हा जो सो देसपदेसो सो तस्सेव दव्वस्स, जहा को दिट्ठंतो ? दासेण मे खरो कीओ दासो वि मे खरो वि मे, तं मा भणाहि—छण्हं पएसो, भणाहि पंचण्हं पएसो, तं जहा—धम्मपएसो अहम्मपएसो आगासपदेसो जीवपएसो खंधपदेसो।

एवं वयंतं संगहं ववहारो भणइ—जं भणसि—पंचण्हं पएसो तं ण भवइ, कम्हा ? जइ जहा पंचण्हं गोट्ठियाणं केइ दव्वजाए सामण्णे, तं जहा—हिरण्णे वा सुवण्णे वा धणे वा धण्णे वा, तो जुत्तं वत्तुं जहा पंचण्हं पएसो ? तं मा भणाहि—पंचण्हं पएसो, भणाहि—पंचविहो पएसो, तं जहा—धम्मपदेसो अहम्मपदेसो आगासपदेसो जीवपदेसो खंधपदेसो।

एवं वदंतं ववहारं उज्जुसुओ भणति—जं भणसि—पंचविहो पदेसो तं न भवइ, कम्हा ? जइ ते पंचविहो पएसो एवं ते एक्केक्को पएसो पंचविहो एवं ते पणुवीसतिविहो पदेसो भवति, तं मा भणाहि—पंचविहो पएसो, भणाहि—भतियव्वो पदेसो—सिया धम्मपदेसो सिया अधम्मपदेसो सिया आगासपदेसो सिया जीवपदेसो सिया खंधपदेसो।

एवं वयंतं उज्जुसुयं संपतिसद्दणओ भणति—जं भणसि भइयव्वो पदेसो तं न भवति, कम्हा ? जइ ते भइयव्वो पदेसो एवं ते धम्मपदेसो वि सिया अधम्मपदेसो सिया आगासपदेसो सिया जीवपदेसो सिया खंधपदेसो १, अधम्मपदेसो वि सिया धम्मपदेसो सिया आगासपएसो सिया जीवपएसो सिया खंधपएसो २, आगासपएसो वि सिया धम्मपदेसो सिया अहम्मपएसो सिया जीवपएसो सिया

खंधपएसो ३, जीवपएसो वि सिया धम्मपएसो सिया अधम्मपएसो सिया आगासपएसो सिया खंधपएसो ४, खंधपएसो वि सिया धम्मपदेसो सिया अधम्मपदेसो सिया आगासपदेसो सिया जीवपदेसो ५, एवं ते अणवत्था भविस्सई, तं मा भणाहि—भइयव्वो पदेसो, भणाहि—धम्मे पदेसे से पदेसे धम्मे, अहम्मे पदेसे से पदेसे अहम्मे, आगासे पदेसे से पदेसे आगासे, जीव पदेसे से पदेसे णोजीवे, खंधे पदेसे से पदेसे णोखंधे।

एवं वयंतं सद्दणयं समभिरूढो भणति—जं भणसि—धम्मे पदेसे से पदेसे धम्मे जाव खंधे पदेसे से पदेसे नोखंधे तं न भवइ, कम्हा? एत्थ दो समासा भवंति, तं जहा—तप्पुरिसे य कम्मधारए य, तं ण णज्जइ कतरेणं समासेणं भणसि—किं तप्पुरिसेणं किं कम्मधारएणं? जइ तप्पुरिसेणं भणसि तो मा एवं भणाहि, अह कम्मधारएणं भणसि तो विसेसओ भणाहि—धम्मे य से पदेसे य से से पदेसे धम्मे, अहम्मे य से पदेसे य से से पदेसे अहम्मे, आगासे य से पदेसे य से से पदेसे आगासे, जीवे य से पदेसे य से से पदेसे नोजीवे, खंधे य से पदेसे य से से पदेसे नोखंधे।

एवं वयंतं संपयं समभिरूढं एवंभूओ भणइ—जं जं भणसि तं तं सव्वं कसिणं पडिपुण्णं निरवसेसं एगगहणगहितं देसे वि मे अवत्थू पदेसे वि मे अवत्थू। से तं पदेसदिट्ठंतेणं। से तं णयप्पमाणे।

[४७६ प्र.] भगवन्! प्रदेशदृष्टान्त द्वारा नयों के स्वरूप का प्रतिपादन किस प्रकार होता है?

[४७६ उ.] आयुष्मन्! प्रदेशों के दृष्टान्त द्वारा नयों का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिए—

नैगमनय के मत से—छह द्रव्यों के प्रदेश होते हैं। जैसे—१. धर्मास्तिकाय का प्रदेश, २. अधर्मास्तिकाय का प्रदेश, ३. आकाशास्तिकाय का प्रदेश, ४. जीवास्तिकाय का प्रदेश, ५. स्कन्ध का प्रदेश और ६. देश का प्रदेश।

ऐसा कथन करने वाले नैगमनय से संग्रहनय ने कहा—जो तुम कहते हो कि छहों के प्रदेश हैं, वह उचित नहीं है। क्यों (नहीं है)?

इसलिये कि जो देश का प्रदेश है, वह उसी द्रव्य का है।

इसके लिये कोई दृष्टान्त है?

हाँ दृष्टान्त है। जैसे मेरे दास ने गधा खरीदा और दास मेरा है तो गधा भी मेरा है। इसलिये ऐसा मत कहो कि छहों के प्रदेश हैं, यह कहो कि पांच के प्रदेश हैं। यथा—१. धर्मास्तिकाय का प्रदेश, २. अधर्मास्तिकाय का प्रदेश, ३. आकाशास्तिकाय का प्रदेश, ४. जीवास्तिकाय का प्रदेश और ५. स्कन्ध का प्रदेश।

इस प्रकार कहने वाले संग्रहनय से व्यवहारनय ने कहा—तुम कहते हो कि पांचों के प्रदेश हैं, वह सिद्ध नहीं होता है।

क्यों (सिद्ध नहीं होता है)?

प्रत्युत्तर में व्यवहारनयवादी ने कहा—जैसे पांच गोष्ठिक पुरुषों (भागीदारों) का कोई द्रव्य सामान्य होता है। यथा—हिरण्य, स्वर्ण, धन, धान्य आदि (वैसे पांचों के प्रदेश सामान्य होते) तो तुम्हारा कहना युक्त था कि पांचों के प्रदेश हैं। (परन्तु ऐसा है नहीं,) इसलिये ऐसा मत कहो कि पांचों के प्रदेश हैं, किन्तु कहो—प्रदेश पांच प्रकार का है, जैसे—१. धर्मास्तिकाय का प्रदेश, २. अधर्मास्तिकाय का प्रदेश, ३. आकाशास्तिकाय का प्रदेश, ४. जीवास्तिकाय का प्रदेश और ५. स्कन्ध का प्रदेश।

व्यवहारनय के ऐसा कहने पर ऋजुसूत्रनय ने कहा—तुम भी जो कहते हो कि पांच प्रकार के प्रदेश हैं, वह नहीं बनता है। क्योंकि यदि पांच प्रकार के प्रदेश हैं यह कहो तो एक-एक प्रदेश पांच-पांच प्रकार का हो जाने से तुम्हारे मत से पच्चीस प्रकार का प्रदेश होगा। इसलिए ऐसा मत कहो कि पांच प्रकार का प्रदेश है। यह कहो कि प्रदेश भजनीय है—१. स्यात् धर्मास्तिकाय का प्रदेश, २. स्यात् अधर्मास्तिकाय का प्रदेश, ३. स्यात् आकाशास्तिकाय का प्रदेश, ४. स्यात् जीव का प्रदेश, ५. स्यात् स्कन्ध का प्रदेश है।

इस प्रकार कहने वाले ऋजुसूत्रनय से संप्रति शब्दनय ने कहा—तुम कहते हो कि प्रदेश भजनीय है, यह कहना योग्य नहीं है।

क्योंकि प्रदेश भजनीय है, ऐसा मानने से तो धर्मास्तिकाय का प्रदेश अधर्मास्तिकाय का भी, आकाशास्तिकाय का भी, जीवास्तिकाय का भी और स्कन्ध का भी प्रदेश हो सकता है।

इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय का प्रदेश धर्मास्तिकाय का प्रदेश, आकाशास्तिकाय का प्रदेश, जीवास्तिकाय का प्रदेश एवं स्कन्ध का प्रदेश हो सकता है।

आकाशास्तिकाय का प्रदेश भी धर्मास्तिकाय का, अधर्मास्तिकाय का, जीवास्तिकाय का, स्कन्ध का प्रदेश हो सकता है।

जीवास्तिकाय का प्रदेश भी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय का प्रदेश या स्कन्ध का प्रदेश हो सकता है।

स्कन्ध का प्रदेश भी धर्मास्तिकाय का प्रदेश, अधर्मास्तिकाय का प्रदेश, आकाशास्तिकाय का प्रदेश अथवा जीवास्तिकाय का प्रदेश हो सकता है।

इस प्रकार तुम्हारे मत से अनवस्था हो जायेगी। अतः ऐसा मत कहो—प्रदेश भजनीय है, किन्तु ऐसा कहो—धर्मरूप जो प्रदेश है, वही प्रदेश धर्म है—धर्मात्मक है, जो अधर्मास्तिकाय का प्रदेश है, वही प्रदेश अधर्मास्तिकायात्मक है, जो आकाशास्तिकाय का प्रदेश है, वही प्रदेश आकाशात्मक है, एक जीवास्तिकाय का जो प्रदेश है, वही प्रदेश नोजीव है, इसी प्रकार जो स्कन्ध का प्रदेश है, वही प्रदेश नोस्कन्धात्मक है।

इस प्रकार कहते हुए शब्दनय से समभिरूढनय ने कहा—तुम कहते हो कि धर्मास्तिकाय का जो प्रदेश है, वही प्रदेश धर्मास्तिकाय रूप है, यावत् स्कन्ध का जो प्रदेश, वही प्रदेश नोस्कन्धात्मक है, किन्तु तुम्हारा यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि यहाँ (धम्मे पएसे आदि में) तत्पुरुष और कर्मधारय यह दो समास होते हैं। इसलिये संदेह होता है कि उक्त दोनों समासों में से तुम किस समास की

दृष्टि से 'धर्मप्रदेश' आदि कह रहे हो ? यदि तत्पुरुषसमासदृष्टि से कहते होओ तो ऐसा मत कहो और यदि कर्मधारय समास की अपेक्षा कहते हो तब विशेषतया कहना चाहिये—धर्म और उसका जो प्रदेश (उसका समस्त धर्मास्तिकाय के साथ समानाधिकरण हो जाने से) वही प्रदेश धर्मास्तिकाय है। इसी प्रकार अधर्म और उसका जो प्रदेश वही प्रदेश अधर्मास्तिकाय रूप है, आकाश और उसका जो प्रदेश है, वही प्रदेश आकाशास्तिकाय है, एक जीव और उसका जो प्रदेश है, वही प्रदेश नोजीवास्तिकाय है तथा स्कन्ध और उसका जो प्रदेश है, वही प्रदेश नोस्कन्धात्मक है।

ऐसा कथन करने पर समभिरूढनय से एवंभूतनय ने कहा—(धर्मास्तिकाय आदि के विषय में) जो कुछ भी तुम कहते हो वह समीचीन नहीं, मेरे मत से वे सब कृत्स्न (देश-प्रदेश की कल्पना से रहित) हैं, प्रतिपूर्ण और निरवशेष (अवयवरहित) हैं, एक ग्रहणगृहीत हैं—एक नाम से ग्रहण किये गये हैं, अतः देश भी अवस्तु रूप है एवं प्रदेश भी अवस्तु रूप हैं।

यही प्रदेशदृष्टान्त है और इस प्रकार नयप्रमाण का वर्णन पूर्ण हुआ।

विवेचन—प्रदेशदृष्टान्त के द्वारा यहाँ नयों के स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

प्रदेश आदि की व्याख्या—जो अतिसूक्ष्म और जिसका विभाग न हो सके, ऐसे स्कन्ध से सम्बद्ध निर्विभाग भाग को प्रदेश कहते हैं।[1] पुद्गलद्रव्य का समग्रपिण्ड स्कन्ध और स्कन्ध का जो प्रदेश वह स्कन्धप्रदेश कहलाता है। धर्मास्तिकाय आदि पांचों द्रव्यों के दो आदि प्रदेशों से जो निष्पन्न होता है उसे देश एवं देश का जो प्रदेश उसे देशप्रदेश कहते हैं।

नयों का मन्तव्य—नैगमनय की दृष्टि से छह प्रकार के प्रदेश हैं। इसका कारण यह है कि नैगमनय का विषय सबसे अधिक विशाल है। वह सामान्य और विशेष दोनों को गौण-मुख्य रूप से विषय करता है। अतएव जब धर्मास्तिकायादि द्रव्यों में सामान्य की विवक्षा से प्रदेशव्यवस्था की जाती है तब नैगमनय 'षट्प्रदेश' शब्द का समास 'षण्णां प्रदेशः षट्प्रदेशः' ऐसा एकवचनान्त शब्दप्रयोग और जब प्रदेशविशेष की विवक्षा की जाती है तब 'षण्णां प्रदेशाः षट्प्रदेशाः' ऐसा बहुवचनान्त शब्दप्रयोग करता है। इस प्रकार से नैगमनय की अपेक्षा षट्प्रदेश होते हैं।

संग्रहनय की युक्ति है कि 'षण्णां प्रदेशाः' यह कथन संगत नहीं है। क्योंकि देश का भी जो प्रदेश माना है उस देश का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वह धर्मास्तिकायादिकों के प्रदेशद्वय आदि से ही निष्पन्न है। इसलिये देश का प्रदेश तो वस्तुतः धर्मास्तिकायादि का ही होगा, क्योंकि द्रव्य से अभिन्न देश का प्रदेश वस्तुतः द्रव्य का ही है। लोक में देखा जाता है कि किसी के दास ने यदि गधा खरीदा, तब जैसे दास उसका माना जाता है वैसे ही गधा भी उसी का कहलायेगा। इसी प्रकार देश का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होने से प्रदेश धर्मास्तिकाय आदि पांच द्रव्यों के हैं, छह के नहीं।

यद्यपि संग्रहनय सामान्य को विषय करता है, लेकिन विशुद्ध और अविशुद्ध की अपेक्षा उसके दो भेद हैं। इनमें से उपर्युक्त कथन अविशुद्ध संग्रहनय का है। अविशुद्ध संग्रहनय अवान्तर सामान्य रूप अपरसत्ता को विषय करता है। यह अवान्तर सामान्य अनेक प्रकार का हो सकता है। इसलिये अवान्तर सामान्य को ग्रहण करने वाले अविशुद्ध संग्रहनय की दृष्टि से पांच द्रव्यों के प्रदेश

---

१. प्रकृष्टो देशः प्रदेशो निर्विभागो भाग इत्यर्थः। —अनुयोगद्वार. मलधारीया वृत्ति पृ. २२७

कहना संगत है। विशुद्ध संग्रहनय अनेक द्रव्यों को और अनेक प्रदेशों को नहीं मानता है तथा सभी पदार्थों को सामान्य रूप से एक स्वीकार करता है।

विशेषवादी व्यवहारनय की दृष्टि में सामान्य अवस्तु है, अतः संग्रहनय के मंतव्य के निराकरण के लिये उसने युक्ति दी—'पंचानां प्रदेशः' यह कथन असंगत है। क्योंकि जैसे पांच गोष्ठिक पुरुषों की चांदी, सोना, धन, धान्य आदि में सामान्य साझेदारी होती है, वैसे यदि धर्मास्तिकाय आदि का कोई प्रदेश सामान्य हो तो पांच का प्रदेश कहना उचित है, लेकिन प्रदेश तो प्रत्येक द्रव्य के पृथक्-पृथक् अपने-अपने हैं। इसलिये सामान्य प्रदेश के अभाव में 'पंचानां प्रदेशः' ऐसा कहना अयोग्य है। द्रव्य पांच प्रकार के हैं और प्रदेश तदाश्रयभूत हैं, इसलिये पंचविधः प्रदेशः—प्रदेश पांच प्रकार का है, ऐसा कहना चाहिये।

ऋजुसूत्रनय तो व्यवहारनय से भी अधिक विशेषवादी है, अतः उसने व्यवहारनय की दृष्टि को भी अयुक्त मानते हुए कहा—यदि पांच प्रकार के प्रदेश माने जायें तो धर्मास्तिकाय आदि का एक-एक प्रदेश पांच-पांच प्रकार का होने से प्रदेश पच्चीस प्रकार का हो जायेगा। किन्तु ऐसा कहना सिद्धान्त से वाधित है। अतएव ऐसा न कहकर भजनीयता बतलाने के लिये 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिये। जैसे स्यात् धर्मप्रदेश यावत् स्यात् स्कन्धप्रदेश। तात्पर्य यह है कि अर्थ की उपलब्धि शब्द से ही होती है। अतः जव पंचविधः प्रदेशः ऐसा कहा जायेगा तब इस कथन से प्रत्येक द्रव्यप्रदेश में पंचविधता प्रतिभासित होगी और पंचविंशतिविधः प्रदेशः ऐसा 'पंचविधः प्रदेश' का वाक्यार्थ होगा। इसलिये ऐसी भ्रान्त धारणा का निराकरण करने के लिये कहो कि धर्मप्रदेश भजनीय है इत्यादि। इस कथन से अपने-अपने प्रदेश का ही ग्रहण होगा, परसंवन्धी प्रदेश का नहीं।

शब्दनय की दृष्टि में ऋजुसूत्रनय की यह धारणा भी भ्रान्त है। उसका परिमार्जन करने के लिये शब्दनय का कथन है—'प्रदेश भजनीय है' ऐसा कहने पर तो जो धर्मास्तिकाय का प्रदेश है वह कदाचित् धर्मास्तिकाय का भी हो सकता है और अधर्मास्तिकायादिक अन्य द्रव्यों का भी तथा अधर्मास्तिकाय का प्रदेश भी कदाचित् धर्मास्तिकायादिक का प्रदेश हो सकता है इत्यादि। इस प्रकार अनवस्था होने से वास्तविक प्रदेशस्थिति का अभाव हो जायेगा। भजना में अनियतता होने से प्रदेश अपने-अपने अस्तिकाय का होकर भी दूसरे का भी हो जाने से अनवस्था होगी ही। ऐसी स्थिति में यह कैसे समझा जाये कि जो धर्मास्तिकाय का प्रदेश है वह धर्मास्तिकाय का ही है, इतर द्रव्यों का नहीं। इसलिये ऐसा कहो—जो प्रदेश धर्मास्तिकाय का है वह समस्त धर्मास्तिकाय से अभिन्न होकर ही धर्मात्मक है। इसी तरह अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन दोनों के प्रदेशों के विषय में भी जानना चाहिये, क्योंकि ये दोनों भी एक-एक द्रव्य हैं।

जीवास्तिकाय में एक देश नोजीव हैं। यहां 'नो' शब्द एक देशवाचक है। अर्थात् एक जीव सकल जीवास्तिकाय का एक देश है। एक जीवद्रव्यात्मक प्रदेश अनन्त जीवद्रव्यात्मक समस्त जीवास्तिकाय में नहीं रहता है।

इसी प्रकार नोस्कन्ध के लिये भी समझना चाहिये। क्योंकि अनन्त स्कन्धात्मक पुद्गलास्तिकाय के एकदेशभूत एक स्कन्ध में रहने वाले प्रदेश की समस्त स्कन्ध रूप पुद्गलास्तिकाय में वृत्ति नहीं है, इसलिये एक स्कन्धात्मक प्रदेश को नोस्कन्ध कहा है।

समभिरूढनय ने शब्दनय की दृष्टि को भी परिमार्जित करने के लिये कहा—तुम्हारा कथन भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि 'धर्मप्रदेश' इस समासयुक्त पद में दो समास हो सकते हैं—तत्पुरुष और कर्मधारय। यदि 'धर्मप्रदेश' पद में तत्पुरुषसमास माना जाए तो वह सप्तमी तत्पुरुष का आरंभक बन जायेगा। जैसे 'वने हस्तीति वनहस्ती' इस पद में भेदवृत्ति है अर्थात् वन और हस्ती भिन्न-भिन्न हैं, वैसे ही धर्मप्रदेश पद से भी यही अर्थ सिद्ध होगा कि धर्म और प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं तथा 'धर्म में प्रदेश हैं' यहाँ धर्म आधार है और प्रदेश आधेय। आधार और आधेय में भेद अनुभवसिद्ध है जैसे 'कुण्डे बदराणि'। यदि कहा जाए कि अभेद में भी सप्तमी तत्पुरुष समास देखा जाता है, जैसे 'घटे रूपम्'—घट में रूप, तो संशय होगा कि भेद में सप्तमी समास है या अभेद में ?

यदि कर्मधारय समास से कहते हो तो विशेषरूप से कहना चाहिए कि—'धर्मश्च स प्रदेशश्च स प्रदेशः धर्मः।' अभिप्राय यह कि यह धर्मात्मक प्रदेश समस्त धर्मास्तिकाय से अभिन्न होकर ही धर्मात्मक कहलाता है, । धर्मास्तिकाय के एक देश से अभिन्न होकर नहीं किन्तु जीवप्रदेश के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। जीवास्तिकाय में पृथक्-पृथक् अनन्त जीव हैं, अतएव जीवप्रदेश सकल जीवास्तिकाय का एक देश न होकर जीवास्तिकाय के एक देश का अर्थात् किसी एक जीव का देश होकर ही जीवप्रदेश कहलाता है। इस प्रकार विशेषता बतलाकर कहना चाहिये।

एवंभूतनय ने समभिरूढनय को इंगित करते हुए कहा—यदि तुम धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हो तो यह भी मानना चाहिये कि ये सभी प्रदेश की कल्पना से रहित हैं, परिपूर्ण हैं, निरवशेष हैं, निरवयव हैं तथा एक हैं। मेरी दृष्टि में ये देश-प्रदेश अवस्तु ही हैं। विचार करें तो प्रदेश और प्रदेशी में भेद है या अभेद है ? भेद है नहीं, क्योंकि भेद की उपलब्धि नहीं होती है और अभेद कहो तो धर्म और प्रदेश इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ हो जाएगा। ऐसी अवस्था में दो शब्दों का नहीं, किन्तु दो में से एक ही शब्द का उच्चारण करना चाहिए, दूसरे की व्यर्थता स्वयंसिद्ध है। अतः धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल आदि देश-प्रदेश रहित अखंड वस्तु हैं।

इस प्रकार से ये सातों नय अपने-अपने मत की सत्यता का प्रतिपादन करने में कटिबद्ध रहते हैं और अपने दुराग्रह के कारण दुर्नय रूप हो जाते हैं। इस प्रकार नयवर्णन के प्रसंग में दुर्नय का स्वरूप भी बतला दिया है। लेकिन जब ये सातों नय अपने मत की स्थापना के साथ दूसरे नय के मत की उपेक्षा रखते हैं अर्थात् उनका तिरस्कार नहीं करते, तब उस सापेक्ष स्थिति में सुनय कहलाते हैं। इन सापेक्ष समुदित नयों में ही संपूर्ण जिनमत प्रतिष्ठित है। पृथक्-पृथक् अवस्था में नहीं है। कहा भी है—

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥

हे नाथ ! जैसे सब नदियां समुद्र में एकत्र हो जाती हैं, इसी प्रकार आपके मत में सब नय एक साथ मिल जाते हैं। परन्तु आपके मत का किसी एक नय में समावेश नहीं हो सकता है। जैसे समुद्र किसी एक नदी में नहीं समाता, उसी प्रकार सभी वादियों का सिद्धान्त तो जैनमत है लेकिन संपूर्ण जिनमत किसी वादी का मत नहीं है।

नयप्रमाण के उक्त तीनों दृष्टान्तों से यह स्पष्ट है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सभी नयप्रमाण के विषय होते हैं। जैसे प्रस्थकदृष्टान्त में काल की मुख्यता है। वसतिदृष्टान्त में क्षेत्र का और प्रदेशदृष्टान्त में द्रव्य, भाव का विचार किया गया है।

ये सभी नय ज्ञान रूप हैं और ज्ञान आत्मा का गुण है। इसलिये इन नयों का यद्यपि ज्ञानगुण में अन्तर्भाव हो जाता है, फिर भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से इन्हें भिन्न इस कारण कहा गया है कि प्रथम तो ये वस्तु के एक अंश का मुख्य रूप से कथन करने के कारण प्रमाणांश रूप हैं। दूसरे बहु विचार के विषय हैं। जिनागम में स्थान-स्थान पर इनका उपयोग हुआ है। प्रस्थक, वसति और प्रदेश दृष्टान्तों से यहाँ जो नय का स्वरूप निरूपण किया है वह तो केवल उपलक्षण मात्र है। इसी तरह इन नयों से जीवादि पदार्थों के स्वरूप का भी वर्णन किया जा सकता है।

अब क्रमप्राप्त संख्याप्रमाण का निरूपण करते हैं।

संख्याप्रमाणनिरूपण

४७७. से किं तं संखप्पमाणे ?

संखप्पमाणे अट्ठविहे पण्णत्ते। तं जहा—नामसंखा ठवणसंखा दव्वसंखा ओवम्मसंखा परिमाणसंखा जाणणासंखा गणणासंखा भावसंखा।

[४७७ प्र.] *भगवन् ! संख्याप्रमाण का क्या स्वरूप है ?*

[४७७ उ.] आयुष्मन् ! संख्याप्रमाण आठ प्रकार का कहा है। यथा—१. नामसंख्या, २. स्थापनासंख्या, ३. द्रव्यसंख्या, ४. औपम्यसंख्या, ५. परिमाणसंख्या, ६. ज्ञानसंख्या, ७. गणनासंख्या ८. भावसंख्या।

विवेचन—सूत्र में भेदों के द्वारा संख्याप्रमाण का वर्णन प्रारम्भ किया है।

जिसके द्वारा संख्या—गणना की जाये उसे अथवा गणना को संख्या कहते हैं। संख्या रूप प्रमाण संख्याप्रमाण कहलाता है। प्राकृत भाषा में 'शषोः सः' सूत्र से शंख के 'श' के स्थान पर 'स' आदेश हो जाता है। अतः यहाँ 'संखा' शब्द से संख्या और शंख दोनों का ही ग्रहण समझना चाहिये, जैसे 'गो' शब्द से पशु, भूमि इत्यादि का। संख्या और शंख इन दोनों का संख शब्द से ग्रहण होने के कारण नाम-स्थापना आदि के विचार में जहाँ संख्या अथवा शंख शब्द घटित होता हो वहाँ-वहाँ उस-उस शब्द की योजना कर लेना चाहिये।

नाम-स्थापना संख्या

४७८. से किं तं नामसंखा ?

नामसंखा जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा संखा ति णामं कज्जति। से तं नामसंखा।

[४७८ प्र.] भगवन् ! नामसंख्या का क्या स्वरूप है ?

[४७८ उ.] आयुष्मन् ! जिस जीव का अथवा अजीव का अथवा जीवों का अथवा अजीवों

का अथवा तदुभय (एक जीव, एक अजीव दोनों) का अथवा तदुभयों (अनेक जीवों-अजीवों दोनों) का संख्या ऐसा नामकरण कर लिया जाता है, उसे नामसंख्या कहते हैं।

४७९. से किं तं ठवणासंखा ?

ठवणासंखा जण्णं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गंथिकम्मे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइमे वा अक्खे वा वराडए वा एक्को वा अणेगा वा सब्भावठवणाए वा असब्भावठवणाए वा संखा ति ठवणा ठवेज्जति। से तं ठवणासंखा।

[४७९ प्र.] भगवन् ! स्थापनासंख्या का क्या स्वरूप है ?

[४७९ उ.] आयुष्मन् ! जिस काष्ठकर्म में, पुस्तकर्म में या चित्रकर्म में या लेप्यकर्म में अथवा ग्रन्थिकर्म में अथवा वेढित में अथवा पूरित में अथवा संघातिम में अथवा अक्ष में अथवा वराटक में अथवा एक या अनेक में सद्भूतस्थापना या असद्भूतस्थापना द्वारा 'संख्या' इस प्रकार का स्थापन (आरोप) कर लिया जाता है, वह स्थापनासंख्या है।

४८०. नाम—ठवणाणं को पतिविसेसो ?

नामं आवकहियं, ठवणा इत्तिरिया वा होज्जा आवकहिया वा।

[४८० प्र.] भगवन् ! नाम और स्थापना में क्या अन्तर है ?

[४८० उ.] आयुष्मन् ! नाम यावत्कथिक (वस्तु के रहने पर्यन्त) होता है लेकिन स्थापना इत्वरिक (स्वल्पकालिक) भी होती है और यावत्कथिक भी होती है।

विवेचन—नाम और स्थापना संख्या का विशेष स्पष्टीकरण नाम-आवश्यक एवं स्थापना-आवश्यक के अनुसार समझ लेना चाहिये। नाम और स्थापना आवश्यक सम्बन्धी वर्णन पूर्व में विस्तार से किया जा चुका है।

द्रव्यसंख्या

४८१. से किं तं दव्वसंखा ?

दव्वसंखा दुविहा पं०। तं—आगमओ य नोआगमतो य।

[४८१ प्र.] भगवन् ! द्रव्यशंख का क्या तात्पर्य है ?

[४८१ उ.] आयुष्मन् ! द्रव्यशंख दो प्रकार का कहा है, जैसे—१. आगमद्रव्यशंख, २. नोआगमद्रव्यशंख।

४८२. से किं तं आगमओ दव्वसंखा ?

दव्वसंखा जस्स णं संखा ति पदं सिक्खितं ठियं जियं मियं परिजियं जाव कंगिण्ह (कंठोट्ठ) विप्पमुक्कं (गुरुवायणोवगयं), से णं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्मकहाए, नो अणुप्पेहाए, कम्हा ? अणुवओगो दव्वमिति कट्टु।

[४८२ प्र.] भगवन् ! आगमद्रव्यशंख का क्या स्वरूप है ?

[४८२ उ.] आयुष्मन् ! आगमद्रव्यशंख (संख्या) का स्वरूप इस प्रकार है—जिसने शंख (संख्या) यह पद सीख लिया, हृदय में स्थिर किया, जित किया—तत्काल स्मरण हो जाये ऐसा याद किया, मित किया—मनन किया, अधिकृत कर लिया अथवा (आनुपूर्वी, अनानुपूर्वी पूर्वक जिसको सर्व प्रकार से बार-बार दुहरा लिया) यावत् निर्दोष स्पष्ट स्वर से शुद्ध उच्चारण किया तथा गुरु से वाचना ली, जिससे वाचना, पृच्छना, परावर्तना एवं धर्मकथा से युक्त भी हो गया परन्तु जो अर्थ का अनुचिन्तन करने रूप अनुप्रेक्षा से रहित हो, उपयोग न होने से वह आगम से द्रव्यशंख (संख्या) कहलाता है। क्योंकि सिद्धान्त में 'अनुपयोगो द्रव्यम्'—उपयोग से शून्य को द्रव्य कहा है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में द्रव्यसंख्या के भेदों का कथन करके प्रथम भेद आगमद्रव्यशंख (संख्या) का स्वरूप बतलाया है। कोई पुरुष शंख (संख्या) पद का भली-भांति सर्व प्रकार से ज्ञाता है, किन्तु जब उसके उपयोग से रहित है अर्थात् उसके चिन्तन, मनन, ध्यान, विचार में स्थित नहीं है, तब उसकी आगमद्रव्यशंख संज्ञा है। यद्यपि वर्तमान में उपयोग रहित है फिर भी उस उपयोग के संस्कार सहित होने से (भूतपूर्वप्रज्ञापननय की अपेक्षा) आगम शब्द का प्रयोग किया जाता है। आगम द्रव्यशंख (संख्या) विषयक नयदृष्टियां इस प्रकार हैं—

आगमद्रव्यसंख्या : नयदृष्टियां

४८३. [१] [णेगमस्स] एक्को अणुवउत्तो आगमतो एका दव्वसंखा, दो अणुवउत्ता आगमतो दो दव्वसंखाओ, तिन्नि अणुवउत्ता आगमतो तिन्नि दव्वसंखाओ, एवं जावतिया अणुवउत्ता तावतियाओ [णेगमस्स आगमतो] दव्वसंखाओ।

[४८३-१] (नैगमनय की अपेक्षा) एक अनुपयुक्त आत्मा एक आगमद्रव्यशंख (संख्या), दो अनुपयुक्त आत्मा दो आगमद्रव्यशंख, तीन अनुपयुक्त आत्मा तीन आगमद्रव्यशंख हैं। इस प्रकार जितनी अनुपयुक्त आत्मायें हैं उतने ही (नैगमनय की अपेक्षा आगम) द्रव्यशंख हैं।

[२] एवामेव ववहारस्स वि।

[४८३-२] व्यवहारनय नैगमनय के समान ही आगमद्रव्यशंख को मानता है।

[३] संगहस्स एको वा अणेगा वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्ता वा [आगमओ] दव्वसंखा वा दव्वसंखाओ वा [सा एगा दव्वसंखा]।

[४८३-३] संग्रहनय (सामान्य-मात्र को ग्रहण करने वाला होने से) एक अनुपयुक्त आत्मा (आगम से) एक द्रव्यशंख और अनेक अनुपयुक्त आत्मायें अनेक आगमद्रव्यशंख, ऐसा स्वीकार नहीं करता किन्तु सभी को एक ही आगमद्रव्यशंख मानता है।

[४] उज्जुसुयस्स [एगो अणुवउत्तो] आगमओ एका दव्वसंखा, पुहत्तं णेच्छति।

[४८३-४] ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा (एक अनुपयुक्त आत्मा) एक आगमद्रव्यशंख है। वह भेद को स्वीकार नहीं करता है।

[५] तिण्हं सद्दणयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थू, कम्हा? जति जाणए अणुवउत्ते ण भवति। से तं आगमओ दव्वसंखा।

[४८३-५] तीनों शब्द नय (शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय) अनुपयुक्त ज्ञायक को अवस्तु—असत् मानते हैं। क्योंकि यदि ज्ञायक है तो अनुपयुक्त (उपयोगरहित) नहीं होता है और यदि अनुपयुक्त हो तो वह ज्ञायक नहीं होता है। इसलिये आगमद्रव्यशंख संभव नहीं है।

यह आगमद्रव्यशंख का स्वरूप है।

विवेचन—आगमद्रव्य-आवश्यक के वर्णन में नयदृष्टियों का विस्तार से विचार किया जा चुका है। अतः उसी तरह आवश्यक के स्थान पर शंख शब्द रखकर यहाँ भी समझ लेना चाहिये।

नोआगमद्रव्यसंख्यानिरूपण

४८४. से किं तं नोआगमतो दव्वसंखा ?

नोआगमतो दव्वसंखा तिविहा पं० । तं०—जाणयसरीरदव्वसंखा भवियसरीरदव्वसंखा जाणयसरीरभवियसरीरवतिरित्ता दव्वसंखा ।

[४८४ प्र.] भगवन् ! नोआगमद्रव्यसंख्या का क्या स्वरूप है ?

[४८४ उ.] आयुष्मन् ! नोआगमद्रव्यसंख्या के तीन भेद हैं—१. ज्ञायकशरीरद्रव्यसंख्या २. भव्यशरीरद्रव्यसंख्या, ३. ज्ञायकशरीर-भव्यशरीर-व्यतिरिक्तद्रव्यसंख्या।

४८५. से किं तं जाणगसरीरदव्वसंखा ?

जाणगसरीरदव्वसंखा संखा ति पयत्थाहिकार-जाणगस्स जं सरीरयं ववगय-चुय-चइत-चत्तदेहं जीवविप्पजढं जाव अहो ! णं इमेणं सरीरसमुस्सएणं संखा ति पयं आघवितं जाव उवदंसियं, जहा को दिट्ठंतो ? अयं घयकुंभे आसि । से तं जाणगसरीरदव्वसंखा ।

[४८५ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीरद्रव्यसंख्या का क्या स्वरूप है ?

[४८५ उ.] आयुष्मन् ! संख्या इस पद के अर्थाधिकार के ज्ञाता का वह शरीर, जो व्यपगत—चैतन्य से रहित हो गया हो, च्युत-च्यवित-त्यक्त देह यावत् जीवरहित शरीर को देखकर कहना—अहो ! इस शरीर रूप पुद्गलसंघात (समुदाय) ने संख्या पद को (गुरु से) ग्रहण किया था, पढ़ा था यावत् उपदर्शित किया था—नय और युक्तियों द्वारा शिष्यों को समझाया था, (उसका वह शरीर ज्ञायकशरीरद्रव्यसंख्या है।)

[प्र.] इसका कोई दृष्टान्त है ?

[उ.] (हाँ, दृष्टान्त है—जैसे घड़े में से घी निकालने के बाद भी कहा जाता है कि) यह घी का घड़ा है।

यह ज्ञायकशरीरद्रव्यसंख्या का स्वरूप है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में निक्षेपदृष्टि से नोआगमद्रव्यसंख्या के तीन भेद करके प्रथम नोआगमज्ञायकशरीर भेद का स्वरूप बतलाया है। यहाँ आत्मा का शरीर में आरोप करके जीव के त्यक्त शरीर को नोआगमद्रव्य कहा गया है।

चुय-चइत्त-चत्तदेहं का अर्थ—विपाकवेदन द्वारा आयुकर्म के क्षय से पके हुए फल के समान अपने आप पतित होने वाले शरीर को चुय (च्युत) शरीर, विषादि के द्वारा आयु के छिन्न होने पर निर्जीव हुए शरीर को (चइत्त) च्यावितशरीर तथा संलेखना संथारापूर्वक स्वेच्छा से त्यागे गये शरीर को चत्तदेह (त्यक्तशरीर) कहते हैं।

भव्यशरीरद्रव्यसंख्या निरूपण

४८६. से किं तं भवियसरीरदव्वसंखा ?

भवियसरीरदव्वसंखा जे जीवे जोणीजम्मणणिक्खंते इमेणं चेव आदत्तएणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं संखा त्ति पयं सेकाले सिक्खिस्सति, जहा को दिट्ठंतो ? अयं घयकुंभे भविस्सति। से तं भवियसरीरदव्वसंखा।

[४८६ प्र.] भगवन् ! भव्यशरीरद्रव्यसंख्या का क्या स्वरूप है ?

[४८६ उ.] आयुष्मन् ! जन्म समय प्राप्त होने पर जो जीव योनि से बाहर निकला और भविष्य में उसी शरीरपिंड द्वारा जिनोपदिष्ट भावानुसार संख्या पद को सीखेगा (वर्तमान में सीख नहीं रहा है) ऐसे उस जीव का वह शरीर भव्यशरीरद्रव्यसंख्या है।

[प्र.] इसका कोई दृष्टान्त है ?

[उ.] (जैसे घी भरने के लिये कोई घड़ा हो किन्तु अभी उसमें घी नहीं भरा हो तो उसके लिये कहना) यह घृतकुंभ—घी का घड़ा होगा। यह भव्यशरीरद्रव्यसंख्या का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र में भव्यशरीरद्रव्यसंख्या (शंख) का स्वरूप बताया है। यह भविष्यकालीन योग्यता की अपेक्षा जानना चाहिये। पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा भावी पर्याय की मुख्यता से यह भेद बनता है।

ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यशंख

४८७. से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वसंखा ?

जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वसंखा तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—एगभविए बद्धाउए अभिमुहणामगोत्ते य।

[४८७ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यशंख का क्या स्वरूप है ?

[४८७ उ.] आयुष्मन् ! ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यशंख के तीन प्रकार हैं—१. एकभविक, २. बद्धायुष्क और ३. अभिमुखनामगोत्र।

विवेचन—इस सूत्र में ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यशंख का भेदमुखेन स्वरूप बतलाया है। संक्षेप में इसके लिये 'तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्य' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है।

एकभविक आदि का आशय—जिस जीव ने अभी तक शंखपर्याय की आयु का बंध नहीं किया है, परन्तु मरण के अनन्तर शंखपर्याय प्राप्त करने वाला है उसे **एकभविक** कहते हैं। जिस जीव ने शंखपर्याय में उत्पन्न होने योग्य आयु का बंध कर लिया है, ऐसा जीव **बद्धायुष्क** कहलाता

है। निकट भविष्य में जो जीव शंखयोनि में उत्पन्न होने वाला है तथा जिसके द्वीन्द्रिय जाति आदि नामकर्म एवं नीचगोत्र रूप गोत्रकर्म जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त के वाद उदयाभिमुख होने वाला है, उस जीव को **अभिमुखनामगोत्रशंख** कहते हैं।

ये तीनों प्रकार के जीव भावशंखता के कारण होने से ज्ञशरीर और भव्यशरीर इन दोनों से व्यतिरिक्त द्रव्यशंख रूप हैं।

द्विभविक, त्रिभविक, चतुर्भविक आदि जीवों को द्रव्यशंख इसलिये नहीं कहते हैं कि ऐसे जीव भावशंखता के अव्यवहित कारण नहीं हैं। वे मरकर प्रथम भव में शंख की पर्याय में उत्पन्न नहीं होकर दूसरी-दूसरी पर्यायों में उत्पन्न होते हैं। जबकि एकभविक भावशंखता के प्रति अव्यवहित कारण है। वह जीव मरकर निश्चित रूप से शंख की पर्याय में ही उत्पन्न होने वाला है। इसीलिये उसकी द्रव्यशंख यह संज्ञा है।[1]

४८८. एगभविए णं भंते ! एगभविए त्ति कालतो केवचिरं होति ?

जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी।

[४८८ प्र.] भगवन् ! एकभविक जीव 'एकभविक' ऐसा नाम वाला कितने समय तक रहता है ?

[४८८ उ.] आयुष्मन् ! एकभविक जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक पूर्व कोटि पर्यन्त (एकभविक नाम वाला) रहता है।

विवेचन—सूत्र में एकभविक द्रव्यशंख की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और एक पूर्वकोटि की इसलिये बताई है कि पृथ्वी आदि किसी एकभव में अन्तर्मुहूर्त तक जीवित रहकर तदनन्तर जो मरण करके शंखपर्याय में उत्पन्न हो जाता है, वह जीव अन्तर्मुहूर्त तक एकभविक शंख कहलाता है। जीवों की कम से कम आयु अन्तर्मुहूर्त की होती है, इसीलिये जघन्य पद में अन्तर्मुहूर्त का ग्रहण किया है। जो जीव मत्स्य आदि किसी एक भव में उत्कृष्ट रूप से एक पूर्वकोटि तक जीवित रहकर मरते ही शंखपर्याय में उत्पन्न होता है, वह पूर्वकोटि तक एकभविक शंख कहलाता है। क्योंकि जिस जीव की पूर्वकोटि से अधिक आयु होती है वह असंख्यात वर्ष की आयु वाला होने से मरकर देवपर्याय में ही उत्पन्न होता है, शंखपर्याय में नहीं। इस कारण उत्कृष्ट पद में पूर्वकोटि का कथन किया है।

४८९. बद्धाउए णं भंते ! बद्धाउए त्ति कालतो केवचिरं होति ?

जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडीतिभागं।

[४८९ प्र.] भगवन् ! बद्धायुष्क जीव बद्धायुष्क रूप में कितने काल तक रहता है ?

[४८९ उ.] आयुष्मन् ! (बद्धायुष्क जीव बद्धायुष्क रूप में) जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक पूर्वकोटि वर्ष के तीसरे भाग तक रहता है।

विवेचन—सूत्रगत कथन का आशय यह है कि जबसे कोई जीव भुज्यमान आयु में रहते

१. अनुयोग. मलधारीयावृत्ति पृ. २३१

परभव की आयु का बंध कर लेता है, तब से उसे बद्धायुष्क कहते हैं। यहाँ बद्धायुष्क द्रव्यशंख के समय का विचार किया जा रहा है। अतएव भुज्यमान आयु जघन्य से अन्तर्मुहूर्त जब शेष रह जाये, उस समय कोई जीव शंख योनि की आयु का बंध करे, उसकी अपेक्षा बद्धायुष्क का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त बतलाया है और भुज्यमान आयु के पूर्वकोटि के त्रिभाग बाकी रहने पर जो जीव परभव की आयु का बंध करता है, उसकी अपेक्षा पूर्वकोटि का त्रिभाग समय कहा है।

४९०. अभिमुहनामगोत्ते णं भंते ! अभिमुहनामगोत्ते त्ति कालतो केवचिरं होति ?

जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

[४९० प्र.] भगवन् ! अभिमुखनामगोत्र (शंख) का अभिमुखनामगोत्र नाम कितने काल तक रहता है ?

[४९० उ.] आयुष्मन् ! जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त काल रहता है।

विवेचन—उक्त प्रश्नोत्तर का तात्पर्य यह है कि जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अभिमुख नामगोत्र वाला रहकर बाद में भावशंख रूप पर्याय को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार एकभविक और बद्धायुष्क के लिये भी समझना चाहिये कि वे जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति के बाद अवश्य ही भावरूपता को प्राप्त हो जाते हैं।

एकभविक आदि शंखविषयक नयदृष्टि

४९१. इयाणिं को णओ कं संखं इच्छति ?

तत्थ णेगम-संगह-ववहारा तिविहं संखं इच्छंति, तं जहा—एक्कभवियं बद्धाउयं अभिमुहनामगोत्तं च। उज्जुसुओ दुविहं संखं इच्छति, तं जहा—बद्धाउयं च अभिमुहनामगोत्तं च। तिण्णि सद्दणया अभिमुहणामगोत्तं संखं इच्छंति। से तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वसंखा। से तं नोआगमओ दव्वसंखा। से तं दव्वसंखा।

[४९१ प्र.] भगवन् ! कौन नय इन तीन शंखों में से किस शंख को मानता है ?

[४९१ उ.] आयुष्मन् ! नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र तीनों प्रकार के शंखों को शंख मानते हैं। ऋजुसूत्रनय १. बद्धायुष्क और २. अभिमुखनामगोत्र, ये दो प्रकार के शंख स्वीकार करता है। तीनों शब्दनय मात्र अभिमुखनामगोत्र शंख को ही शंख मानते हैं।

इस प्रकार ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यशंख का स्वरूप जानना चाहिये।

यही नोआगम द्रव्यशंख (संख्या) का स्वरूप है और इसी के साथ द्रव्यसंख्या का वर्णन पूर्ण हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में तद्व्यतिरिक्त शंख (संख्या) के विषय में नयों का मंतव्य स्पष्ट करते हुए द्रव्यसंख्याप्रमाण की समाप्ति का कथन किया है।

नैगम आदि प्रथम तीन नय स्थूल दृष्टि वाले होने से तीनों प्रकार के शंखों को शंख रूप में मानते हैं। क्योंकि वे आगे होने वाले कार्य के कारण में कार्य का उपचार करके वर्त्तमान में उसे कार्य रूप में मान लेते हैं, जैसे भविष्य में राजा होने वाले राजकुमार को भी राजा कहते हैं। इसी

प्रकार एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र, ये तीनों प्रकार के द्रव्यशंख अभी तो नहीं किन्तु भविष्य में भावशंख होंगे, इसीलिये ये तीनों नय इनको भावशंख रूप में स्वीकार करते हैं।

ऋजुसूत्रनय पूर्व नयत्रय की अपेक्षा विशेष शुद्ध है। अतः यह बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र—इन दो प्रकार के शंखों को मानता है। इसका मत है कि एकभविक जीव को शंख नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह भावशंख से अतिव्यवहित—बहुत अन्तर पर है। उसे शंख मानने में अतिप्रसंग दोष होगा।

शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय ऋजुसूत्रनय से भी शुद्ध हैं। इस कारण भावशंख के समीप होने से तीसरे—अभिमुखनामगोत्र शंख को तो शंख मानते हैं, किन्तु प्रथम दोनों प्रकार के (एकभविक, बद्धायुष्क) शंख भावशंख के प्रति अति व्यवहित होने से उन्हें शंख के रूप में मान्य नहीं करते।

प्राकृत 'संखा' शब्द के संख्या और शंख ये दो रूप होने से प्रस्तुत निरूपण में जहाँ जो रूप घटित हो सकता हो, वह घटित कर लेना चाहिए।

औपम्यसंख्यानिरूपण

४९२. [१] से किं तं ओवम्मसंखा ?

ओवम्मसंखा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा—अत्थि संतयं संतएणं उवमिज्जइ १ अत्थि संतयं असंतएणं उवमिज्जइ २ अत्थि असंतयं संतएणं उवमिज्जइ ३ अत्थि असंतयं असंतएणं उवमिज्जइ ४।

[४९२-१ प्र.] भगवन्! औपम्यसंख्या का क्या स्वरूप है ?

[४९२-१ उ.] आयुष्मन्! (उपमा देकर किसी वस्तु के निर्णय करने को औपम्यसंख्या कहते हैं।) उसके चार प्रकार हैं। जैसे—

१. सद् वस्तु को सद् वस्तु की उपमा देना।
२. सद् वस्तु को असद् वस्तु से उपमित करना।
३. असद् वस्तु को सद् वस्तु की उपमा देना।
४. असद् वस्तु को असद् वस्तु की उपमा देना।

विवेचन—सूत्रार्थ स्पष्ट है। यहाँ औपम्यसंख्या के चार प्रकार बतलाए हैं, जिनका आगे वर्णन करते हैं।

सद्-सद्रूप औपम्यसंख्या

[२] तत्थ संतयं संतएणं उवमिज्जइ, जहा—संता अरहंता संतएहिं पुरवरेहिं संतएहिं कवाडएहिं संतएहिं वच्छएहिं उवमिज्जंति, तं जहा—

पुरवरकवाडवच्छा फलिहभुया दुंदुभित्थणियघोसा।
सिरिवच्छंकियवच्छा सव्वे वि जिणा चउव्वीसं॥ ११९॥

[४९२-२] इनमें से जो सद् वस्तु को सद् वस्तु से उपमित किया जाता है, वह इस प्रकार है—

सद्रूप अरिहंत भगवन्तों के प्रशस्त वक्षस्थल को सद्रूप श्रेष्ठ नगरों के सत् कपाटों की उपमा देना, जैसे—

सभी चौवीस जिन-तीर्थंकर प्रधान-उत्तम नगर के (तोरणद्वार—फाटक के) कपाटों के समान वक्षस्थल, अर्गला के समान भुजाओं, देवदुन्दुभि या स्तनित(मेघ के निर्घोष) के समान स्वर और श्रीवत्स (स्वस्तिक विशेष) से अंकित वक्षस्थल वाले होते हैं। ११९

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सद्रूप पदार्थ को सद्रूप पदार्थ से उपमित किया गया है। चौबीस जिन भगवान् सद्रूप हैं और नगर के कपाटों का भी अस्तित्व है। सद्रूप कपाटों से अरिहंत भगवन्तों के वक्षःस्थल को जो उपमित किया गया है, उसमें कपाट उपमान है और अरिहंत भगवन्तों का वक्षःस्थल उपमेय है। इसी प्रकार उनकी भुजाओं आदि के विषय में भी समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि यदि कोई, तीर्थंकर के वक्षःस्थल आदि कैसे होते हैं? यह जानना चाहता है तो वह नगर के मुख्य प्रवेशद्वार के कपाट आदि उपमानों के द्वारा उपमेयभूत अरिहंतों के वक्षःस्थल आदि को जान लेता है तथा वक्षःस्थल आदि तीर्थंकर के अविनाभावी होने से तीर्थंकर भी उपमित हो जाते हैं।

सद्-असद्रूप औपम्यसंख्या

[३] संतयं असंतएणं उवमिज्जइ जहा—संताइं नेरइय-तिरिक्खजोणिय-मणूस-देवाणं आउयाइं असंतएहिं पलिओवम-सागरोवमेहिं उवमिज्जंति।

[४९२-३] विद्यमान पदार्थ को अविद्यमान पदार्थ से उपमित करना। जैसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवों की विद्यमान आयु के प्रमाण को अविद्यमान पल्योपम और सागरोपम द्वारा बतलाना।

विवेचन—इस कथन में नारक आदि जीवों का आयुष्य सद्रूप है और पल्योपम-सागरोपम असद्रूप कल्पना द्वारा परिकल्पित होने से असद्रूप हैं। किन्तु इनके द्वारा ही उनकी आयु बताई जा सकती है। इसीलिये इसको सद्रूप उपमेय और असद्रूप उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है। नारकादिकों की आयु उपमेय है और पल्योपम एवं सागरोपम उपमान हैं।

असत्-सत् औपम्यसंख्या

[४] असंतयं संतएणं उवमिज्जति जहा—

परिजूरियपेरंतं चलंतबेंटं पडंत निच्छीरं।
पत्तं वसणप्पत्तं कालप्पत्तं भणइ गाहं॥ १२०॥
जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हे वि य होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेति पडंतं पंडुयपत्तं किसलयाणं॥ १२१॥
णवि अत्थि णवि य होही उल्लावो किसल-पंडुपत्ताणं।
उवमा खलु एस कया भवियजणविबोहणट्ठाए॥ १२२॥

[४९२-४] अविद्यमान—असद्वस्तु को विद्यमान सद्वस्तु से उपमित करने को असत्-सत् औपम्यसंख्या कहते हैं। वह इस प्रकार है—

सर्व प्रकार से जीर्ण, डंठल से टूटे, वृक्ष से नीचे गिरे हुए, निस्सार और (वृक्ष से वियोग हो जाने से) दुःखित ऐसे पत्ते ने वसंत समय प्राप्त नवीन पत्ते (किसलय—कोंपल) से कहा—

किसी गिरते हुए पुराने—जीर्ण पीले पत्ते ने नवोद्गत किसलयों—कोंपलों से कहा—इस समय जैसे तुम हो, हम भी पहले वैसे ही थे तथा इस समय जैसे हम हो रहे हैं, वैसे ही आगे चलकर तुम भी हो जाओगे।

यहाँ जो जीर्ण पत्तों और किसलयों के वार्तालाप का उल्लेख किया गया है, वह न तो कभी हुआ है, न होता है और न होगा, किन्तु भव्य जनों के प्रतिबोध के लिये उपमा दी गई है। १२०, १२१, १२२।

विवेचन—प्रस्तुत दृष्टान्त में 'जह तुब्भे तह अम्हे' इस पद में उपमाभूत किसलय अवस्था तत्काल विद्यमान होने से सद्रूप है और उपमेयभूत तथाविध जीर्ण आदि रूप पत्रावस्था अविद्यमान होने से असद्रूप है तथा 'तुम्हे वि य होहिहा जहा अम्हे' यहाँ जीर्ण-शीर्ण आदि पत्रावस्था तत्कालवर्ती होने से सद्रूप है और किसलयों की तथाविध अवस्था भविष्यकालीन होने के कारण वर्त्तमान में अविद्यमान होने से असद्रूप है। इस प्रकार असत् सत् से उपमित हुआ है।

सूत्रोक्त तीन गाथायें भव्य जनों के प्रतिबोधनार्थ हैं, यथा—संसार की सभी वस्तुएं अनित्य होने से कभी भी एक जैसी नहीं रहती हैं। अतः स्वाभ्युदय में अहंकार और पर का अनादर नहीं करना चाहिये।

असद्-असद्रूप औपम्यसंख्या

[५] असंतयं असंतएण उवमिज्जति—जहा खरविसाणं तहा ससविसाणं। से तं ओवम्मसंखा।

[४९२-५] अविद्यमान पदार्थ को अविद्यमान पदार्थ से उपमित करना असद्-असद्रूप औपम्यसंख्या है। जैसा—खर (गधा) विषाण (सींग) है वैसा ही शश (खरगोश) विषाण है और जैसा शशविषाण है वैसा ही खरविषाण है।

इस प्रकार से औपम्यसंख्या का निरूपण जानना चाहिये।

विवेचन—इस विकल्प में उपमानभूत खरविषाण का त्रिकाल में भी सत्त्व न होने से वे असद्रूप हैं, वैसे ही उपमेयभूत शशविषाण भी असद्-रूप हैं। इस प्रकार असत् से असत् उपमित हुआ है।

परिमाणसंख्यानिरूपण

४९३. से किं तं परिमाणसंखा?

परिमाणसंखा दुविहा पण्णत्ता। तं०—कालियसुयपरिमाणसंखा दिट्ठिवायसुयपरिमाणसंखा य।

[४९३ प्र.] भगवन्! परिमाणसंख्या का क्या स्वरूप है?

[४९३ उ.] आयुष्मन्! परिमाणसंख्या दो प्रकार की कही गई है। जैसे—१. कालिकश्रुत-परिमाणसंख्या और २. दृष्टिवादश्रुतपरिमाणसंख्या।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र परिमाणसंख्या के निरूपण की भूमिका है। जिसकी गणना की जाये उसे संख्या और जिसमें पर्यव आदि के परिमाण का विचार किया जाये उसे परिमाणसंख्या कहते हैं।

कालिकश्रुतपरिमाणसंख्या

४९४. से किं तं कालियसुयपरिमाणसंखा ?

कालियसुयपरिमाणसंखा अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा—पज्जवसंखा अक्खरसंखा संघायसंखा पदसंखा पादसंखा गाहासंखा सिलोगसंखा वेढसंखा निज्जुत्तिसंखा अणुओगदारसंखा उद्देसगसंखा अज्झयणसंखा सुयखंधसंखा अंगसंखा । से तं कालियसुयपरिमाणसंखा ।

[४९४ प्र.] भगवन् ! कालिकश्रुतपरिमाणसंख्या क्या है ?

[४९४ उ.] आयुष्मन् ! कालिकश्रुतपरिमाणसंख्या अनेक प्रकार की कही गई है । यथा—१. पर्यव (पर्याय) संख्या, २. अक्षरसंख्या, ३. संघातसंख्या, ४. पदसंख्या, ५. पादसंख्या, ६. गाथासंख्या, ७. श्लोकसंख्या, ८. वेढ (वेष्टक) संख्या, ९. निर्युक्तिसंख्या, १०. अनुयोगद्वारसंख्या, ११. उद्देशसंख्या, १२. अध्ययनसंख्या, १३. श्रुतस्कन्धसंख्या, १४. अंगसंख्या आदि कालिकश्रुतपरिमाणसंख्या है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में कालिकश्रुतपरिमाण की संख्या के कतिपय नामों का उल्लेख किया है ।

जिस श्रुत का रात्रि व दिन के प्रथम और अंतिम प्रहर में स्वाध्याय किया जाये उसे कालिक-श्रुत कहते हैं । इसके अनेक प्रकार हैं । जैसे—उत्तराध्ययनसूत्र, दशाश्रुतस्कन्धकल्प (बृहत्कल्प), व्यवहारसूत्र, निशीथसूत्र आदि ।[1] जिसके द्वारा इनके श्लोक आदि के परिमाण का विचार हो उसे कालिकश्रुतपरिमाणसंख्या कहते हैं ।

पर्यवसंख्या आदि के अर्थ—१. पर्यव, पर्याय अथवा धर्म और उसकी संख्या को **पर्यवसंख्या** कहते हैं ।

२. अकार आदि अक्षरों की संख्या-गणना को **अक्षरसंख्या** कहते हैं । अक्षर संख्यात होते हैं, अनन्त नहीं । इसलिये अक्षरसंख्या संख्यात है ।

३. दो आदि अक्षरों के संयोग को संघात कहते हैं । इसकी संख्या—गणना संघातसंख्या कहलाती है । यह संघातसंख्या भी संख्यात ही है ।

४. सुबन्त और तिङन्त अक्षरसमूह पद कहलाता है । पदों की संख्या को **पदसंख्या** कहते हैं ।

५. श्लोक आदि के चतुर्थांश को पाद कहते हैं । इनकी संख्या को **पादसंख्या** कहते हैं ।

६. प्राकृत भाषा में लिखे गये छन्दविशेष को गाथा कहते हैं । इस गाथा-संख्या-गणना का नाम **गाथासंख्या** है ।

७. श्लोकों की संख्या **श्लोकसंख्या** है ।

८. वेष्टकों (छन्दविशेष) की संख्या **वेष्टकसंख्या** कहलाती है ।

---

१. कालिकश्रुत के रूप में संकलित सूत्रों के नाम आदि विशेष वर्णन के लिये देखिये नन्दीसूत्र (आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर) सूत्र ८१

९. निर्युक्ति की संख्या को **निर्युक्तिसंख्या** कहते हैं।

१०. व्याख्या के उपायभूत सत्पदप्ररूपण अथवा उपक्रम आदि अनुयोगद्वार कहलाते हैं। इनकी संख्या को **अनुयोगद्वारसंख्या** कहते हैं।

११. अध्ययनों के अंशविशेष को उद्देशक कहते हैं। इनकी संख्या **उद्देशकसंख्या** कहलाती है।

१२. शास्त्र के भागविशेष को अध्ययन कहते हैं। इनकी संख्या **अध्ययनसंख्या** है।

१३. अध्ययनों के समूह रूप शास्त्रांश का नाम श्रुतस्कन्ध है। इनकी संख्या **श्रुतस्कन्धसंख्या** कहलाती है।

१४. अंगों की संख्या को **अंगसंख्या** कहते हैं। आचारांग आदि आगमों का नाम अंग है।

इस प्रकार से कालिकश्रुतपरिमाणसंख्या का निरूपण जानना चाहिये।

दृष्टिवादश्रुतपरिमाणसंख्यानिरूपण

४९५. से किं तं दिट्ठिवायसुयपरिमाणसंखा ?

दिट्ठिवायसुयपरिमाणसंखा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा—पज्जवसंखा जाव अणओगदारसंखा पाहुडसंखा पाहुडियासंखा पाहुडपाहुडियासंखा वत्थुसंखा पुव्वसंखा। से तं दिट्ठिवायसुयपरिमाणसंखा। से तं परिमाणसंखा।

[४९५ प्र.] भगवन् ! दृष्टिवादश्रुतपरिमाणसंख्या क्या है ?

[४९५ उ.] आयुष्मन् ! दृष्टिवादश्रुतपरिमाणसंख्या के अनेक प्रकार कहे गये हैं। यथा—पर्यवसंख्या यावत् अनुयोगद्वारसंख्या, प्राभृतसंख्या, प्राभृतिकासंख्या, प्राभृतप्राभृतिकासंख्या, वस्तु-संख्या और पूर्वसंख्या। इस प्रकार से दृष्टिवादश्रुतपरिमाणसंख्या का स्वरूप जानना चाहिये।

यही परिणामसंख्या का निरूपण है।

विवेचन—इस सूत्र में दृष्टिवादश्रुतपरिमाणसंख्या का प्रतिपादन किया है। जिसमें पर्यव-संख्या से लेकर अनुयोगद्वारसंख्या तक के नाम तो कालिकश्रुतपरिमाणसंख्या के अनुरूप हैं और शेष प्राभृत आदि अधिक नामों का उल्लेख सूत्र में किया है।

ये प्राभृत आदि सब पूर्वान्तर्गत श्रुताधिकार विशेष हैं।[1]

इस प्रकार से परिमाणसंख्या का निर्देश करने के बाद अब ज्ञानसंख्या के स्वरूप का वर्णन किया जाता है।

ज्ञानसंख्यानिरूपण

४९६. से किं तं जाणणासंखा ?

जाणणासंखा जो जं जाणइ सो तं जाणति, तं जहा—सद्दं सद्दिओ, गणियं गणिओ, निमित्तं नेमित्तिओ, कालं कालनाणी, वेज्जो वेज्जियं। से तं जाणणासंखा।

---

१. प्राभृतादयः पूर्वान्तर्गताः श्रुताधिकारविशेषाः।　　—अनुयोगद्वार. टीका पृ. २३४

[४९६ प्र.] भगवन् ! ज्ञानसंख्या का क्या स्वरूप है ?

[४९६ उ.] आयुष्मन् ! जो जिसको जानता है उसे ज्ञानसंख्या कहते हैं। जैसे कि—शब्द को जानने वाला शाब्दिक, गणित को जानने वाला गणितज्ञ—गणिक, निमित्त को जानने वाला नैमित्तिक, काल को जानने वाला कालज्ञानी (कालज्ञ) और वैद्यक को जानने वाला वैद्य। यह ज्ञानसंख्या का स्वरूप है।

विवेचन—जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप जाना जाता है—निश्चय किया जाता है, उसे ज्ञान और इस ज्ञान रूप संख्या को ज्ञानसंख्या कहते हैं। जैसे देवदत्त आदि जिस शब्द आदि को जानता है, वह उस शब्दज्ञान वाला आदि कहा जाता है। यह कथन ज्ञान और ज्ञानी में अभेदोपचार की अपेक्षा जानना चाहिये।

इसी को ज्ञानसंख्या कहते हैं। अब गणनासंख्या का स्वरूपनिरूपण करते हैं।

गणनासंख्यानिरूपण

४९७. से किं तं गणणासंखा ?

गणणासंखा एक्को गणणं न उवेति, दुप्पभितिसंखा। तं जहा—संखेज्जए असंखेज्जए अणंतए।

[४९७ प्र.] भगवन् ! गणनासंख्या का क्या स्वरूप है ?

[४९७ उ.] आयुष्मन् ! (ये इतने हैं, इस रूप में गिनती करने को गणनासंख्या कहते हैं।) 'एक' (१) गणना नहीं कहलाता है इसलिये दो से गणना प्रारंभ होती है। वह गणनासंख्या १. संख्यात, २. असंख्यात और ३. अनन्त, इस तरह तीन प्रकार की जानना चाहिये।

विवेचन—'ये इतने हैं' इस रूप से गिनती को गणना कहते हैं और यह गणनारूप संख्या गणनासंख्या कहलाती है।[1] यह गणना दो से प्रारम्भ होती है। एक संख्या तो है किन्तु गणना नहीं है। क्योंकि एक घटादि पदार्थ के दिखने पर घटादिक रखे हैं ऐसा कहा जाता है किन्तु 'एक संख्या विशिष्ट यह घट रखा है' ऐसी प्रतीति नहीं होती है। अथवा लेन-देन के व्यवहार में एक वस्तु प्रायः गणना की विषयभूत नहीं होती है, इसलिये असंव्यवहार्य अथवा अल्प होने के कारण एक को गणनासंख्या का विषय नहीं कहा जाता है। यह गणनासंख्या संख्येय (संख्यात), असंख्येय (असंख्यात) और अनन्त के भेद से तीन प्रकार की है। जिनका अब अनुक्रम से विस्तृत वर्णन करते हैं।

संख्यात आदि के भेद

४९८. से किं तं संखेज्जए ?

संखेज्जए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—जहण्णए उक्कोसए अजहण्णमणुक्कोसए।

[४९८ प्र.] भगवन् ! संख्यात का क्या स्वरूप है ?

---

१. 'एतावन्त एते' इति सङ्ख्यानं गणना सङ्ख्या। —अनु. मलधारीया वृत्ति पत्र २३४

[४९८ उ.] आयुष्मन् ! संख्यात तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। वह इस प्रकार—१. जघन्य संख्यात, २. उत्कृष्ट संख्यात और ३. अजघन्य-अनुत्कृष्ट (मध्यम) संख्यात।

४९९. से किं तं असंखेज्जए ?

असंखेज्जए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—परित्तासंखेज्जए जुत्तासंखेज्जए असंखेज्जासंखेज्जए।

[४९९ प्र.] भगवन् ! असंख्यात का क्या स्वरूप है ?

[४९९ उ.] आयुष्मन् ! असंख्यात के तीन प्रकार हैं। जैसे—१. परीतासंख्यात, २. युक्तासंख्यात और ३ असंख्यातासंख्यात।

५००. से किं तं परित्तासंखेज्जए ?

परित्तासंखेज्जए तिविहे पण्णत्ते। तं०—जहण्णए उक्कोसए अजहण्णमणुक्कोसए।

[५०० प्र.] भगवन् ! परीतासंख्यात का क्या स्वरूप है ?

[५०० उ.] आयुष्मन् ! परीतासंख्यात तीन प्रकार का कहा है—१. जघन्य परीतासंख्यात, २. उत्कृष्ट परीतासंख्यात और ३. अजघन्य-अनुत्कृष्ट (मध्यम) परीतासंख्यात।

५०१. से किं तं जुत्तासंखेज्जए ?

जुत्तासंखेज्जए तिविहे पण्णत्ते। तं०—जहण्णए उक्कोसए अजहण्णमणुक्कोसए।

[५०१ प्र.] भगवन् ! युक्तासंख्यात का क्या स्वरूप है ?

[५०१ उ.] आयुष्मन् ! युक्तासंख्यात तीन प्रकार का निरूपित किया है। यथा—१. जघन्य युक्तासंख्यात, २. उत्कृष्ट युक्तासंख्यात और ३ अजघन्यानुत्कृष्ट (मध्यम) युक्तासंख्यात।

५०२. से किं तं असंखेज्जासंखेज्जए ?

असंखेज्जासंखेज्जए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—जहण्णए उक्कोसए अजहण्णमणुक्कोसए।

[५०२ प्र.] भगवन् ! असंख्यातासंख्यात का क्या स्वरूप है ?

[५०२ उ.] आयुष्मन् ! असंख्यातासंख्यात तीन प्रकार का है। यथा—१ जघन्य असंख्यातासंख्यात, २. उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात और ३. अजघन्यानुत्कृष्ट (मध्यम) असंख्यातासंख्यात।

५०३. से किं तं अणंतए ?

अणंतए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—परित्ताणंतए जुत्ताणंतए अणंताणंतए।

[५०३ प्र.] भगवन् ! अनन्त का क्या स्वरूप है ?

[५०३ उ.] आयुष्मन् ! अनन्त के तीन प्रकार हैं। यथा—१. परीतानन्त, २. युक्तानन्त और ३. अनन्तानन्त।

५०४. से किं तं परित्ताणंतए ?

परित्ताणंतए तिविहे पण्णत्ते। तं०—जहण्णए उक्कोसए अजहण्णमणुक्कोसए।

[५०४ प्र.] भगवन् ! परीतानन्त किसे कहते हैं ?

[५०४ उ.] आयुष्मन् ! परीतानन्त तीन प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। यथा—१. जघन्य परीतानन्त, २. उत्कृष्ट परीतानन्त और ३ अजघन्य-अनुत्कृष्ट (मध्यम) परीतानन्त।

५०५. से किं तं जुत्ताणंतए ?

जुत्ताणंतए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—जहण्णए उक्कोसए अजहण्णमणुक्कोसए।

[५०५ प्र.] भगवन् ! युक्तानन्त किसे कहते हैं ?

[५०५ उ.] आयुष्मन् ! युक्तानन्त के तीन प्रकार कहे हैं। वे इस प्रकार—१. जघन्य युक्तानन्त, २. उत्कृष्ट युक्तानन्त ३. अजघन्य-अनुत्कृष्ट (मध्यम) युक्तानन्त।

५०६. से किं तं अणंताणंतए ?

अणंताणंतए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—जहण्णए य अजहण्णमणुक्कोसए य।

[५०६ प्र.] भगवन् ! अनन्तानन्त का क्या स्वरूप है ?

[५०६ उ.] आयुष्मन् ! अनन्तानन्त के दो प्रकार कहे हैं। यथा—१. जघन्य अनन्तानन्त और २. अजघन्य-अनुत्कृष्ट (मध्यम) अनन्तानन्त।

विवेचन—उक्त प्रश्नोत्तरों में गणना संख्या के संख्यात, असंख्यात और अनन्त इन तीन मुख्य भेदों के अवान्तर भेद-प्रभेदों का निरूपण किया है। संख्यात के तो जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ये तीन अवान्तर भेद हैं। लेकिन असंख्यात और अनन्त के मुख्य तीन अवान्तर भेदों के नामों में परीत और युक्त तो समान हैं किन्तु तीसरे भेद का नाम असंख्यातासंख्यात और अनन्तानन्त है।

परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात और असंख्यातासंख्यात जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट होने से असंख्यात के कुल नौ भेद हैं। परीतानन्त और युक्तानन्त भी जघन्य आदि तीन-तीन भेद वाले हैं। किन्तु अनन्तानन्त में उत्कृष्ट अनन्तानन्त असंभव होने से यह भेद नहीं बनता है। अतएव अनन्त के आठ ही भेद होते हैं।

उक्त कथन का संक्षिप्त प्रारूप इस प्रकार है—
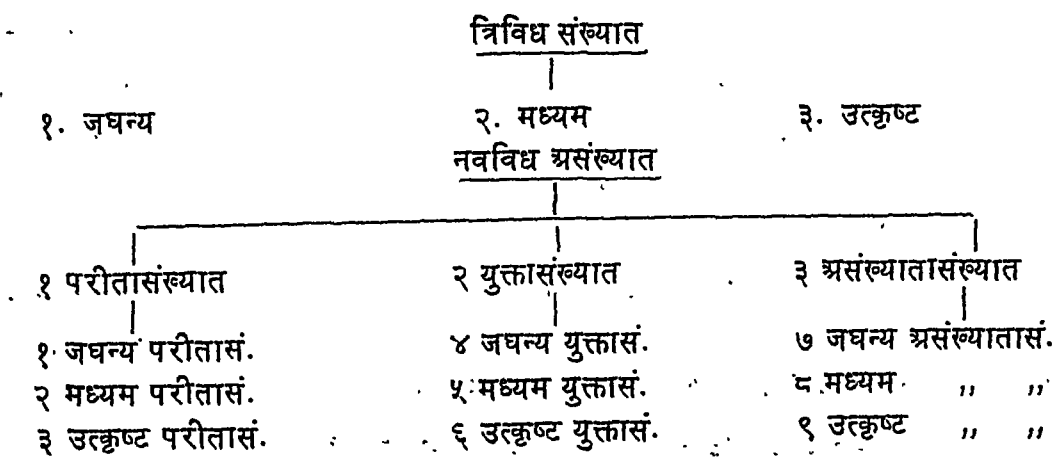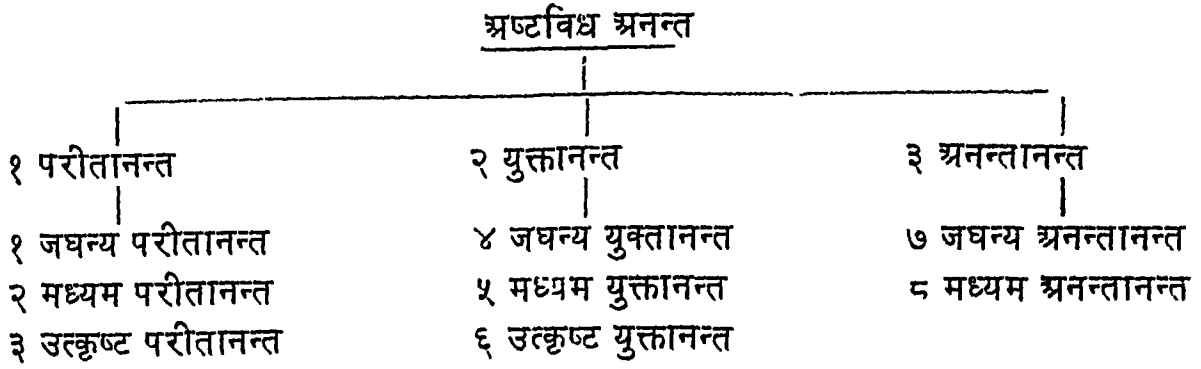
असंख्यात आदि के भेदों का विस्तार से वर्णन करने के लिये सर्वप्रथम संख्यात की प्ररूपणा की जाती है।

संख्यातनिरूपण

५०७. जहण्णयं संखेज्जयं केत्तियं होइ ?

दोरूवाइं, तेण परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं संखेज्जयं ण पावइ।

[५०७ प्र.] भगवन् ! जघन्य संख्यात कितने प्रमाण में होता है ? (अर्थात् किस संख्या से लेकर किस संख्या पर्यन्त जघन्य संख्यात माना जाता है ?)

[५०७ उ.] आयुष्मन् ! दो रूप प्रमाण जघन्य संख्यात है, उसके पश्चात् (तीन, चार आदि) यावत् उत्कृष्ट संख्यात का स्थान प्राप्त न होने तक मध्यम संख्यात जानना चाहिये।

५०८. उक्कोसयं संखेज्जयं केत्तियं होइ ?

उक्कोसयस्स संखेज्जयस्स परूवणं करिस्सामि—से जहानामए पल्ले सिया, एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं, तिण्णि जोयणसयसहस्साइं सोलस य सहस्साइं दोण्णि य सत्तावीसे जोयणसते तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसतं तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलयं च किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं पण्णत्ते। से णं पल्ले सिद्धत्थयाणं भरिए। ततो णं तेहिं सिद्धत्थएहिं दीव-समुद्दाणं उद्धारे घेप्पति, एगे दीवे एगे समुद्दे २ एवं पक्खिप्पमाणेहिं २ जावइया णं दीव-समुद्दा तेहिं सिद्धत्थएहिं अप्फुण्णा एस णं एवतिए खेत्ते पल्ले आइट्ठे। से णं पल्ले सिद्धत्थयाणं भरिए। ततो णं तेहिं सिद्धत्थएहिं दीव-समुद्दाणं उद्धारे घेप्पति एगे दीवे एगे समुद्दे २ एवं पक्खिप्पमाणेहिं २ जावइया णं दीव-समुद्दा तेहिं सिद्धत्थएहिं अप्फुन्ना एस णं एवतिए खेत्ते पल्ले पढमा सलागा, एवइयाणं सलागाणं असंलप्पा लोगा भरिया तहा वि उक्कोसयं संखेज्जयं ण पावइ।

जहा को दिट्ठंतो ?

से जहाणामए मंचे सिया आमलगाणं भरिते, तत्थ णं एगे आमलए पक्खित्ते से माते, अण्णे वि पक्खित्ते से वि माते, अन्ने वि पक्खित्ते से वि माते, एवं पक्खिप्पमाणे २ होही से आमलए जम्मि पक्खित्ते से मंचए भरिज्जिहिइ जे वि तत्थ आमलए न माहिति।

[५०८ प्र.] भगवन् ! उत्कृष्ट संख्यात कितने प्रमाण में होता है ?

[५०८ उ.] आयुष्मन् ! उत्कृष्ट संख्यात की प्ररूपणा इस प्रकार करूंगा—(असत्कल्पना से) एक लाख योजन लम्बा-चौड़ा और तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोश, एक सौ अट्ठाईस धनुष एवं साढे तेरह अंगुल से कुछ अधिक परिधि वाला कोई एक (अनवस्थित नामक) पल्य हो। (उसकी गहराई रत्नप्रभापृथ्वी के रत्नकाण्ड से भी नीचे स्थित वज्रकाण्ड पर्यन्त १००० योजन हो और ऊंचाई पद्मवरवेदिका जितनी साढ़े आठ योजन अर्थात् तल से शिखा तक १००८½ योजन हो। इस पल्य को सर्षपों—सरसों के दानों से भर दिया जाये। उन सर्षपों से द्वीप और समुद्रों का उद्धार-प्रमाण निकाला जाता है अर्थात् उन सर्षपों में से जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र आदि के क्रम से एक को द्वीप में, एक को समुद्र में प्रक्षेप करते-करते उन दानों से जितने द्वीप-समुद्र स्पृष्ट हो जायें—उतने क्षेत्र का अनवस्थित पल्य कल्पित करके उस पल्य को सरसों के दानों से भर दिया जाये। तदनन्तर उन सरसों के दानों से द्वीप-समुद्रों की संख्या का प्रमाण जाना जाता है। अनुक्रम से एक द्वीप में और एक समुद्र में इस तरह प्रक्षेप करते-करते जितने द्वीप-समुद्र उन सरसों के दानों से भर जाएँ, उनके समाप्त होने पर एक दाना शलाकापल्य में डाल दिया जाए। इस प्रकार के शलाका रूप पल्य में भरे सरसों के दानों से असंलप्य—अकथनीय लोक भरे हुए हों तब भी उत्कृष्ट संख्या का स्थान प्राप्त नहीं होता है।

इसके लिये कोई दृष्टान्त दीजिये ? जिज्ञासु ने पूछा।

आचार्य ने उत्तर दिया—जैसे कोई एक मंच हो और वह आंवलों से पूरित हो, तदनन्तर एक आंवला डाला तो वह भी समा गया, दूसरा डाला तो वह भी समा गया, तीसरा डाला तो वह भी समा गया, इस प्रकार प्रक्षेप करते-करते अंत में एक आंवला ऐसा होगा कि जिसके प्रक्षेप से मंच परिपूर्ण भर जाता है। उसके बाद आंवला डाला जाये तो वह नहीं समाता है। इसी प्रकार वारंवार डाले गये सर्षपों से जब असंलप्य—वहुत से पल्य अंत में आमूलशिख पूरित हो जायें, उनमें एक सर्षप जितना भी स्थान न रहे तब उत्कृष्ट संख्या का स्थान प्राप्त होता है।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों में संख्यात गणनासंख्या के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—इन तीनों भेदों का स्वरूप स्पष्ट किया है।

जघन्य संख्यात—जघन्य और मध्यम संख्यात का स्वरूप सुगम है। दो की संख्या जघन्य संख्यात है। क्योंकि जिसमें भेद—पार्थक्य प्रतीत हो उसे संख्या कहते हैं और भेद की प्रतीति कम से कम दो में होने से दो को ही जघन्य संख्यात माना जाता है।

मध्यम संख्यात—जघन्य संख्यात—दो से ऊपर और उत्कृष्ट संख्यात से पूर्व तक की अन्तरालवर्ती सब संख्यायें मध्यम संख्यात हैं। इसके लिये कल्पना से मान लें कि १०० की संख्या उत्कृष्ट और दो की संख्या जघन्य संख्यात है तो २ और १०० के वीच ३ से लेकर ९९ तक की सभी संख्यायें मध्यम संख्यात हैं।

उत्कृष्ट संख्यात—दो से लेकर दहाई, सैकड़ा, हजार, लाख, करोड़, शीर्षप्रहेलिका आदि जो संख्यात की राशियां हैं, उनका तो किसी न किसी प्रकार कथन किया जाना शक्य है, लेकिन संख्या इतनी ही नहीं है। अतएव उसके बाद की संख्या का कथन उपमा द्वारा ही संभव है। इसलिये सूत्र में उपमा—कल्पना का आधार लेकर उत्कृष्ट संख्यात का स्वरूप स्पष्ट किया है।

शास्त्र में सत् और असत् दो प्रकार की कल्पना होती है। कार्य में परिणत हो सकने वाली

कल्पना को सत्कल्पना और जो किसी वस्तु का स्वरूप समझाने में उपयोगी तो हो, किन्तु कार्य में परिणत न की जा सके उसे असत्कल्पना कहते हैं। सूत्रोक्त पल्य का विचार असत्कल्पना है और उसका प्रयोजन उत्कृष्ट संख्यात का स्वरूप समझाना मात्र है।

सूत्र में जो एक लाख योजन की लम्बाई-चौड़ाई, तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोश, एक सौ अट्ठाईस धनुष और कुछ अधिक साढे तेरह अंगुल की परिधि वाले एक पल्य का उल्लेख किया है, वह जम्बूद्वीप की लम्बाई-चौड़ाई और परिधि के बराबर है और इसकी गहराई एक हजार योजन प्रमाण और ऊंचाई साढ़े आठ योजन प्रमाण ऊंची पद्मवरवेदिका प्रमाण बताई है। यह ऊंचाई और गहराई मेरु पर्वत की समतल भूमि से समझना चाहिये। सारांश यह है कि वह पल्य तल से शिखा पर्यन्त १००८½ योजन होगा।

इसी प्रकार की लंबाई-चौड़ाई, गहराई-ऊंचाई और परिधि वाले तीन और पल्यों की कल्पना करें। इन चारों पल्यों के नाम क्रमशः १. अनवस्थित, २. शलाका, ३. प्रतिशलाका और ४. महाशलाका हैं। जिनके नामकरण का कारण इस प्रकार है—

अनवस्थितपल्य—आगे बढ़ते जाने पर नियत स्वरूप के अभाव वाले पल्य को अनवस्थित-पल्य कहते हैं। यह दो प्रकार का है—१. मूल अनवस्थितपल्य और २. उत्तर अनवस्थितपल्य। यद्यपि पहला मूल अनवस्थितपल्य नियत माप वाला होने से अनवस्थित नहीं, किन्तु आगे के पल्यों की अनवस्थितता का कारण होने से इसे भी अनवस्थित कहते हैं। उसके बाद के उत्तरवर्ती पल्य क्रमशः बढ़ते-बढ़ते जाने के कारण अनियत परिमाण वाले होने से अनवस्थित कहलाते हैं।

ये अनवस्थितपल्य अनेक बनते हैं, जिनकी ऊंचाई १००८½ योजनमान नियत है लेकिन मूल अनवस्थितपल्य के सिवाय आगे के पल्यों की लम्बाई, चौड़ाई एक-सी नहीं है, उत्तरोत्तर अधिकाधिक है। जैसे जम्बूद्वीप प्रमाण मूल अनवस्थितपल्य को सरसों के दानों से भरकर जम्बूद्वीप से लेकर आगे के प्रत्येक समुद्र, द्वीप में एक-एक दाना डालते जाने के बाद जिस द्वीप या समुद्र में मूल अनवस्थितपल्य खाली हो जाये तब जम्बूद्वीप (मूल स्थान) से उस द्वीप या समुद्र तक की लम्बाई-चौड़ाई वाला नया पल्य बनाया जाये। यह पहला उत्तर अनवस्थितपल्य है। इसी प्रकार आगे-आगे मूल स्थान से लेकर समाप्त होने वाले सरसों के दाने के द्वीप या समुद्र तक के विस्तार वाले अनवस्थितपल्यों का निर्माण किया जाये। ये अनवस्थितपल्य कहाँ तक बनाना, इसका स्पष्टीकरण आगे के वर्णन से हो जाएगा।

शलाकापल्य—एक-एक साक्षीभूत सरसों के दाने से भरे जाने के कारण इसको शलाकापल्य कहते हैं। शलाकापल्य में डाले गये सरसों के दानों की संख्या से यह जाना जाता है कि इतनी बार उत्तर अनवस्थितपल्य खाली हुए हैं।

प्रतिशलाकापल्य—प्रतिसाक्षीभूत सरसों के दानों से भरे जाने के कारण यह प्रतिशलाकापल्य कहलाता है। हर बार शलाकापल्य के खाली होने पर एक-एक सरसों का दाना प्रतिशलाकापल्य में डाला जाता है। प्रतिशलाकापल्य में डाले गये दानों की संख्या से यह ज्ञात होता है कि इतनी बार शलाकापल्य भरा जा चुका है।

महाशलाकापल्य—महासाक्षीभूत सरसों के दानों द्वारा भरे जाने के कारण इसे महाशलाका-

पल्य कहते हैं। प्रतिशलाकापल्य के एक-एक वार भरे जाने और खाली हो जाने पर एक-एक सरसों का दाना महाशलाका पल्य में डाला जाता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि इतनी वार प्रतिशलाका-पल्य भरा गया और खाली किया गया है।

उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण वताने में इन चारों पल्यों के उपयोग करने की विधि इस प्रकार है—

पल्योपयोग विधि—सबसे पहला जो अनवस्थित पल्य है, इसके पहले प्रकार (मूल अनवस्थित-पल्य) को सरसों के दानों से शिखापर्यन्त ठांस-ठांस कर परिपूर्ण भर देने के वाद उसमें से एक-एक सरसों का दाना जम्बूद्वीप आदि प्रत्येक द्वीप-समुद्र में डालें। इस प्रकार सरसों के दाने डालने पर जिस द्वीप या समुद्र में यह मूल अनवस्थितपल्य खाली हो जाये तव मूलस्थान—जम्बूद्वीप से लेकर उतने लंबे-चौड़े क्षेत्रप्रमाण और ऊंचाई में मूल अनवस्थितपल्य जितना दूसरा उत्तर अनवस्थित पल्य वनायें और इसको भी पूर्ववत् सरसों के दानों से शिखापर्यन्त परिपूर्ण भरें।

इस प्रथम उत्तर अनवस्थितपल्य में से सरसों का एक-एक दाना मूल अनवस्थितपल्य के सरसों के दाने जिस द्वीप या समुद्र में डालने पर समाप्त हुए थे, पुनः उसके आगे के द्वीप-समुद्र में क्रमशः डालें। इस प्रकार एक-एक दाना डालने से जब वह पल्य खाली हो जाये तव एक दाना शलाकापल्य में डाला जाये।

इस प्रकार जव-जब उत्तरोत्तर विशाल अनवस्थितपल्य खाली होता जाये तव-तव एक-एक दाना शलाकापल्य में डालते जाना चाहिये। इस प्रकार करते-करते जव शलाकापल्य पूर्ण भर जाये तब जिस द्वीप या समुद्र में अनवस्थितपल्य खाली हुआ हो, उस द्वीप या समुद्र के बरावर क्षेत्र के अनवस्थितपल्य की कल्पना करके उसे सरसों से भरें। उसको खाली करने पर साक्षीभूत सरसों का दाना शलाकापल्य में समाते—रखे जाने की स्थिति में न होने के कारण उसे जैसा का तैसा भरा रखना चाहिये और उस शलाकापल्य के दानों को लेकर एक-एक द्वीप-समुद्र में एक-एक सरसों का दाना डालें। इस प्रकार जब शलाकापल्य खाली हो तव एक सरसों का दाना प्रतिशलाकापल्य में डालें।

इस समय अनवस्थितपल्य भरा हुआ, शलाकापल्य खाली और प्रतिशलाकापल्य में एक सरसों का दाना होता है।

तदनन्तर अनवस्थितपल्य के दानों में से आगे के द्वीप, समुद्र में एक-एक सरसों का दाना डालें और जब खाली हो तब एक सरसों का दाना शलाकापल्य में डालें और उस द्वीप या समुद्र जितने लंबे-चौड़े नये अनवस्थितपल्य की कल्पना करके सरसों से भरें और पुनः एक-एक सरसों का दाना एक-एक द्वीप और समुद्र में डालें। इस प्रकार पुनः दूसरी वार शलाकापल्य को पूरा भरें और जिस द्वीप या समुद्र में अनवस्थितपल्य खाली हुआ हो उस द्वीप या समुद्र के वरावर के अनवस्थित-पल्य की कल्पना करें और उसे सरसों से भरें।

ऐसा करने पर अनवस्थित और शलाका पल्य भरे होंगे और प्रतिशलाकापल्य में एक सरसों का दाना होगा।

अब पुनः शलाकापल्य को लेकर वहाँ से आगे के द्वीप-समुद्र में एक-एक दाना डालकर उसे खाली करें और खाली होने पर एक सरसों का दाना प्रतिशलाकापल्य में डालें। ऐसा होने पर

प्रतिशलाकापल्य में दो दाने और शलाकापल्य खाली और अनवस्थितपल्य भरा हुआ होगा। अतः इस भरे हुए अनवस्थितपल्य को लेकर वहाँ से आगे के द्वीप-समद्रों में एक-एक दाना डालें और खाली होने पर शलाकापल्य में एक साक्षीभूत सरसों का दाना डालें। इस प्रकार पूर्ववत् विधि से शलाकापल्य को पूरा भरें। तव अनवस्थितपल्य भी भरा हुआ होता है। वाद में शलाकापल्य को लेकर आगे के द्वीप-समुद्रों में खाली करें और खाली होने पर एक सरसों प्रतिशलाकापल्य में डालें। इस प्रकार अनवस्थितपल्य के द्वारा शलाकापल्य और शलाकापल्य के द्वारा प्रतिशालाकापल्य पूर्ण भरना चाहिये।

जब प्रतिशलाकापल्य पूरा भरा हुआ होता है तब अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका यह तीनों पल्य भरे हुए होते हैं।

इसके पश्चात् प्रतिशलाकापल्य को लेकर आगे के द्वीप-समुद्रों में खाली करें और जब खाली हो जायें तब महाशलाकापल्य में एक साक्षीभूत सरसों डालें। इस समय महाशलाकापल्य में एक सरसों, प्रतिशलाकापल्य खाली और शलाका व अनवस्थितपल्य भरे हुए होते हैं। इस समय शलाकापल्य को लेकर आगे के द्वीप-समुद्रों में खाली करें और खाली होने पर एक सरसों प्रति-शलाकापल्य में डालें। तब महाशलाका और प्रतिशलाका पल्य में एक-एक सरसों और शलाका-पल्य खाली तथा अनवस्थितपल्य भरा हुआ होता है।

इसके वाद अनवस्थितपल्य को लेकर आगे के द्वीप-समुद्रों में खाली करें और शलाकापल्य को पुनः भरें। जब शलाकापल्य भर जाये तव अनवस्थितपल्य को भरा हुआ रखें और शलाकापल्य को खाली करके एक सरसों प्रतिशलाकापल्य में डालें। इस रीति से अनवस्थित द्वारा शलाका और शलाका द्वारा प्रतिशलाकापल्य को पूर्ण भरना चाहिये। जब प्रतिशलाकापल्य खाली हो जाये तब महाशलाकापल्य में एक सरसों और शेष पल्य भरे हुए होते हैं। इसके बाद प्रतिशलाका-पल्य को खाली करके महाशलाकापल्य में एक सरसों डालें और शलाका को खाली करके प्रति-शलाकापल्य में एक सरसों डालें तथा अनवस्थितपल्य को खाली करके एक सरसों शलाकापल्य में डालें। इस प्रकार जब महाशलाकापल्य में एक सरसों के दाने की वृद्धि होती है तब प्रति-शलाकापल्य खाली और शलाका तथा अनवस्थित पल्य भरे हुए होते हैं।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व पल्य खाली हों तब एक-एक साक्षी रूप सरसों आगे-आगे के पल्य में डालते-डालते जब महाशलाकापल्य पूरा भर जाये तब प्रतिशलाकापल्य खाली और शलाका, अन-वस्थित पल्य भरे हुए होते हैं। इसी प्रकार शलाका द्वारा प्रतिशलाका और अनवस्थित्त द्वारा शलाकापल्य को पूर्ण करें। जब महाशलाका और प्रतिशलाका पल्य पूर्ण होते हैं तब शलाकापल्य खाली होता है और अनवस्थितपल्य भरा हुआ।

इस समय अनवस्थितपल्य के द्वारा शलाकापल्य को पूर्ण भरें और जब शलाकापल्य पूरा भर जाये तब जो द्वीप, समुद्र हो, उस द्वीप या समद्र के बराबर क्षेत्र जितने अनवस्थितपल्य की कल्पना करके उसे भी सरसों द्वारा भर लें। इस प्रकार चारों पल्य पूर्ण भरें।

इस प्रकार करने पर जितने द्वीपों और समुद्रों में सरसों का एक-एक दाना पड़ा उन सब द्वीपों की और समुद्रों की जो संख्या हुई उसमें चारों पल्यों में भरे हुए सरसों के दानों की संख्या को मिलाने

से जो संख्या हो, उसमें एक को कम कर देने पर उत्कृष्ट संख्यात का प्रमाण निकलता है। अर्थात् प्रत्येक द्वीप, समुद्र में डाले गये सरसों के दाने और चारों पल्यों के दानों को एकत्रित करके उसमें एक को कम करने पर प्राप्त राशि उत्कृष्ट संख्यात है।[1]

सिद्धान्त में जहाँ कहीं भी संख्यात शब्द का व्यवहार हुआ है वहाँ सर्वत्र मध्यम संख्यात ग्रहण हुआ जानना चाहिये।[2]

इस प्रकार से त्रिविध संख्यात का स्वरूप बतलाने के पश्चात् अब नवविध असंख्यात का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

परीतासंख्यातनिरूपण

५०९. एवामेव उक्कोसए संखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहण्णयं परित्तासंखेज्जयं भवति, तेण परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं ण पावइ।

[५०९] इसी प्रकार उत्कृष्ट संख्यात संख्या में रूप (एक) का प्रक्षेप करने से जघन्य परीतासंख्यात होता है। तदनन्तर (परीतासंख्यात के) अजघन्य-अनुत्कृष्ट (मध्यम) स्थान हैं, जहाँ तक उत्कृष्ट परीतासंख्यात स्थान प्राप्त नहीं होता है।

५१०. उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं केत्तियं होति ?

उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं जहण्णयं परित्तासंखेज्जयं जहण्णयपरित्तासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अण्णमण्णब्भासो रूवूणो उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं होति, अहवा जहन्नयं जुत्तासंखेज्जयं रूवूणं उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं होइ।

[५१० प्र.] भगवन् ! उत्कृष्ट परीतासंख्यात का क्या प्रमाण है ?

[५१० उ.] आयुष्मन् ! जघन्य परीतासंख्यात राशि को जघन्य परीतासंख्यात राशि से परस्पर अभ्यास गुणित करके रूप (एक) न्यून करने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात का प्रमाण होता है। अथवा एक न्यून जघन्य युक्तासंख्यात उत्कृष्ट परीतासंख्यात का प्रमाण है।

विवेचन—उक्त दो सूत्रों में असंख्यात के प्रथम भेद परीतासंख्यात के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन तीनों भेदों का स्वरूप स्पष्ट किया है।

जघन्य और मध्यम का स्वरूप सुगम है। उत्कृष्ट संख्यात में एक के मिलाने से जघन्य परीतासंख्यात राशि होती है। जैसे उत्कृष्ट संख्यात की राशि १०० है, इस राशि में एक (१) मिलाने

---

१. यह कार्मग्रन्थिक मत है। किन्तु अनुयोगद्वार मलधारीया वृत्ति में संकेत है '...यदा तु चत्वारोऽपि परिपूर्णा भवन्ति तदोत्कृष्टं सङ्ख्येकं रूपाधिकम् भवति।' अर्थात् अनवस्थित आदि पल्यों के खाली करने और भरने के क्रम से जितने द्वीप, समुद्र व्याप्त हुए उन दोनों की संख्या मिलाने पर जो संख्या आती है वह संख्या एक सर्पप अधिक 'उत्कृष्ट संख्येय' संख्या जानना चाहिये। —अनुयोग. मलधारीयावृत्ति पृ. २३७

२. सिद्धते जत्थ जत्थ संखिज्जगगहणं कतं तत्थ तत्थ सव्वं अजहन्नमणुक्कोसयं दट्ठव्वं। —अनुयोगद्वारचूर्णि

पर प्राप्त राशि जघन्य परीतासंख्यात होगी अर्थात् १०० उत्कृष्टसंख्यात और १००+१=१०१ जघन्य परीतासंख्यात का प्रमाण हुआ तथा जघन्य से ऊपर और उत्कृष्ट से नीचे तक की संख्याएँ मध्यम परीतासंख्यात है।

जघन्य परीतासंख्यात राशि को उतने ही प्रमाण वाली राशि से अभ्यास करने से प्राप्त राशि में से एक कम कर देने पर प्राप्त राशि उत्कृष्ट परीतासंख्यात संख्या का प्रमाण है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जिस संख्या का अभ्यास करना है उसके अंकों को उतनी वार लिखकर आपस में गुणा करना। अर्थात् पहले अंक को दूसरे अंक से गुणा करना और जो गुणनफल आए उसका तीसरे अंक से गुणा करना और उसके गुणनफल का चौथे अंक से गुणा करना। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के गुणनफल का अगले अंक से गुणा करना और अंत में जो गुणनफल प्राप्त हो वही विवक्षित संख्या का अभ्यास है। अतएव कल्पना से मान लें कि जघन्य परीतासंख्या का प्रमाण ५ है। इस पांच को पांच वार (५—५—५—५—५) स्थापित कर परस्पर गुणा करने पर इस प्रकार संख्या होगी ५×५=२५, २५×५=१२५, १२५×५=६२५, ६२५×५=३१२५। यह संख्या वास्तविक रूप में असंख्यात के स्थान में जानना चाहिये। इसमें से एक न्यून संख्या (३१२५—१ = ३१२४) उत्कृष्ट परीतासंख्यात है और यदि एक कम न किया जाए तो जघन्य युक्तासंख्यात रूप मानी जाएगी। इसीलिये प्रकारान्तर से उत्कृष्ट परीतासंख्यात का प्रमाण बताने के लिये कहा है कि जघन्य युक्तासंख्यात में से एक कम करने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात का प्रमाण होता है।

अब युक्तासंख्यात के तीन भेदों का स्वरूप कहते हैं।

युक्तासंख्यातनिरूपण

५११. जहन्नयं जुत्तासंखेज्जयं केत्तियं होति ?

जहन्नयं जुत्तासंखेज्जयं जहन्नयं परित्तासंखेज्जयं जहण्णयपरित्तासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अण्णमण्णब्भासो पडिपुण्णो जहन्नयं जुत्तासंखेज्जयं हवति, अहवा उक्कोसए परित्तासंखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहण्णयं जुत्तासंखेज्जयं होति, आवलिया वि तत्तिया चेव, तेण परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं ण पावइ।

[५११ प्र.] भगवन् ! जघन्य युक्तासंख्यात का कितना प्रमाण है ?

[५११ उ.] आयुष्मन् ! जघन्य परीतासंख्यात राशि का जघन्य परीतासंख्यात राशि से अन्योन्य अभ्यास करने पर (उनका उन्हीं के साथ गुणा करने से) प्राप्त परिपूर्ण संख्या जघन्य युक्तासंख्यात का प्रमाण होता है। अथवा उत्कृष्ट परीतासंख्यात के प्रमाण में एक का प्रक्षेप करने से (जोड़ने से) जघन्य युक्तासंख्यात होता है। आवलिका भी जघन्य युक्तासंख्यात तुल्य समय-प्रमाण वाली जानना चाहिये। तत्पश्चात्—जघन्य युक्तासंख्यात से आगे जहाँ तक उत्कृष्ट युक्तासंख्यात प्राप्त न हो, तत्प्रमाण मध्यम युक्तासंख्यात है।

५१२. उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं केत्तियं होति ?

उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं जहण्णएणं जुत्तासंखेज्जएणं आवलिया गुणिया अण्णमण्णब्भासो

रूवूणो उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ, अहवा जहन्नयं असंखेज्जासंखेज्जयं रूवूणं उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होति।

[५१२ प्र.] भगवन् ! उत्कृष्ट युक्तासंख्यात कितने प्रमाण का होता है ?

[५१२ उ.] आयुष्मन् ! जघन्य युक्तासंख्यात राशि को आवलिका से (जघन्य युक्तासंख्यात से) परस्पर अभ्यास रूप गुणा करने से प्राप्त प्रमाण में से एक न्यून उत्कृष्ट युक्तासंख्यात है। अथवा जघन्य असंख्यातासंख्यात राशि प्रमाण में से एक कम करने से उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों में युक्तासंख्यात के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेदों का स्वरूप बतलाया है। आशय सुगम है। यहाँ इतना ज्ञातव्य है कि आवलिका के असंख्यात समय जघन्य युक्तासंख्यात में जितने सर्षप होते हैं, उतने समय-प्रमाण हैं। अर्थात् आवलिका जघन्य युक्तासंख्यात के तुल्य समयप्रमाण वाली जानना चाहिये।

असंख्यातासंख्यात का निरूपण

५१३. जहण्णयं असंखेज्जासंखेज्जयं केत्तियं होइ ?

जहन्नएणं जुत्तासंखेज्जएणं आवलिया गुणिया अण्णमण्णब्भासो पडिपुण्णो जहण्णयं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ, अहवा उक्कोसए जुत्तासंखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहण्णयं असंखेज्जासंखेज्जयं होति, तेण परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं ण पावति।

[५१३ प्र.] भगवन् ! जघन्य असंख्यातासंख्यात का क्या प्रमाण है ?

[५१३ उ.] आयुष्मन् ! जघन्य युक्तासंख्यात के साथ आवलिका की राशि का परस्पर अभ्यास करने से प्राप्त परिपूर्ण संख्या जघन्य असंख्यातासंख्यात है। अथवा उत्कृष्ट युक्तासंख्यात में एक का प्रक्षेप करने से जघन्य असंख्यातासंख्यात होता है। तत्पश्चात् मध्यम स्थान होते हैं और वे स्थान उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात प्राप्त होने से पूर्व तक जानना चाहिये।

५१४. उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं केत्तियं होति ?

जहण्णयं असंखेज्जासंखेज्जयं जहण्णयअसंखेज्जासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अण्णमण्णब्भासो रूवूणो उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ, अहवा जहण्णयं परित्ताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं होति।

[५१४ प्र.] भगवन् ! उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात का प्रमाण कितना है ?

[५१४ उ.] आयुष्मन् ! जघन्य असंख्यातासंख्यात मात्र राशि का उसी जघन्य असंख्यातासंख्यात राशि से अन्योन्य (परस्पर एक दूसरे से) अभ्यास-गुणा करने से प्राप्त संख्या में से एक न्यून करने पर प्राप्त संख्या उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात है। अथवा एक न्यून जघन्य परीतानन्त उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात का प्रमाण है।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यातों का स्वरूप बताया है। जिनका आशय स्पष्ट और सुगम है। किन्तु अन्य कतिपय आचार्य उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात की अन्य रूप से प्ररूपणा करते हैं। उनका मंतव्य इस प्रकार है—

जघन्य असंख्यातासंख्यात की राशि का वर्ग करना, फिर उस वर्ग की जो राशि आए, उसका भी पुनः वर्ग करना, फिर उस वर्ग की जो राशि आये, उसका भी पुनः वर्ग करना। इस तरह तीन बार वर्ग करके फिर उस वर्गराशि में निम्नलिखित दस असंख्यात राशियों का प्रक्षेप करना चाहिये—

लोगागासपएसा धम्माधम्मेगजीवदेसा य।
दव्वठिआ निओआ, पत्तेया चेव बोद्धव्वा॥
ठिइबंधज्झवसाणा अणुभागा जोगच्छेअपलिभागा।
दोण्ह य समाण समया असंखपक्खेवया दसउ॥[1]

अर्थात् १. लोकाकाश के प्रदेश, २ धर्मास्तिकाय के प्रदेश, ३. अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, ४. एक जीव के प्रदेश, ५. द्रव्यार्थिक निगोद,[2] ६. अनन्तकाय को छोड़कर शेष प्रत्येककायिक (शरीरी) जातियों के जीव,[3] ७. ज्ञानावरण आदि कर्मों के स्थितिबंध के असंख्यात अध्यवसायस्थान,[4] ८. अनुभागविशेष,[5] ९. योगच्छेद-प्रतिभाग[6] १०. दोनों कालों के समय[7]।

उक्त दसों के प्रक्षेप के बाद पुनः इस समस्त राशि का तीन बार वर्ग[8] करके प्राप्त संख्या में से एकन्यून करने से उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात का प्रमाण होता है।

इस प्रकार से नौ प्रकार के असंख्यात का वर्णन जानना चाहिये। अब अनन्त के भेदों का स्वरूपनिर्देश करते हैं।

परीतानन्तनिरूपण

५१५. जहण्णयं परित्ताणंतयं केत्तियं होति ?

जहण्णयं परित्ताणंतयं जहण्णयं असंखेज्जासंखेज्जयं जहण्णयअसंखेज्जासंखेजयमेत्ताणं रासीणं

---

१. यह दस क्षेपक त्रिलोकसार गाथा ४२ से ४६ तक में भी निर्दिष्ट है।

२. सूक्ष्म, बादर अनन्तकायिक वनस्पति जीवों के शरीर—सूक्ष्माणां बादराणां चानन्तकायिकवनस्पतिजीवानां शरीराणीत्यर्थः। —अनुयोगद्वार. मलधारीया वृत्ति पत्र २४०

३. अनन्तकायिकों को छोड़कर प्रत्येकशरीरी पृथ्वी, अप्, तेज वायु, वनस्पति और त्रस जीव।

४. जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिबंध को छोड़कर मध्यम स्थितिबंध के असंख्यात अध्यवसायस्थान।

५. कर्मों की फलदान शक्ति की तरतम आदि भिन्नरूपता को अनुभागविशेष कहते हैं।

६. मन-वचन-काय सम्बन्धी वीर्य का नाम योग है। उनका केवलि-प्रज्ञा-छेदनक द्वारा कृत निर्विभाग अंश को योगप्रतिभाग कहते हैं।

७. उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समय।

८. किसी संख्या का तीन बार वर्ग करने की विधि—सर्वप्रथम उस संख्या का आपस में वर्ग करना, फिर दूसरी बार वर्गजन्य संख्या का वर्गजन्य संख्या से वर्ग करना, तीसरी बार दूसरी बार की वर्गजन्य संख्या का उसी वर्गजन्य संख्या से वर्ग करना। जैसे कि ५ का तीन बार वर्ग करना हो तो पहला वर्ग ५ × ५ = २५ हुआ। इस २५ का दूसरी बार इसी संख्या के साथ वर्ग करना २५ × २५ = ६२५ यह दूसरा वर्ग हुआ। इस ६२५ का ६२५ से गुणा करना ६२५ × ६२५ = ३९०६२५ यह तीसरा वर्ग हुआ। इस प्रकार यह ५ का तीन बार वर्ग करना कहलाता है।

अण्णमण्णब्भासो पडिपुण्णो जहण्णयं परित्ताणंतयं होति, अहवा उक्कोसए असंखेज्जासंखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहण्णयं परित्ताणंतयं होइ। तेण परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्ताणंतयं ण पावइ।

[५१५ प्र.] भगवन्। जघन्य परीतानन्त का कितना प्रमाण है?

[५१५ प्र.] आयुष्मन्! जघन्य असंख्यातासंख्यात राशि को उसी जघन्य असंख्यातासंख्यात राशि से परस्पर अभ्यास रूप में गुणित करने से प्राप्त परिपूर्ण संख्या जघन्य परीतानन्त का प्रमाण है। अथवा उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात में एक रूप का प्रक्षेप करने से भी जघन्य परीतानन्त का प्रमाण होता है। तत्पश्चात् अजघन्य-अनुत्कृष्ट (मध्यम) परीतानन्त के स्थान होते हैं और वे भी उत्कृष्ट परीतानन्त का स्थान प्राप्त न होने के पूर्व तक होते हैं।

५१६. उक्कोसयं परित्ताणंतयं केत्तियं होइ?

जहण्णयं परित्ताणंतयं जहण्णयपरित्ताणंतयमेत्ताणं रासीणं अण्णमण्णब्भासो रूवूणो उक्कोसयं परित्ताणंतयं होइ, अहवा जहण्णयं जुत्ताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं परित्ताणंतयं होइ।

[५१६ प्र.] भगवन्! उत्कृष्ट परीतानन्त कितने प्रमाण में होता है?

[५१६ उ.] आयुष्मन्! जघन्य परीतानन्त की राशि को उसी जघन्य परीतानन्त राशि से परस्पर अभ्यास रूप गुणित करके उसमें से एक रूप (अंक) न्यून करने से उत्कृष्ट परीतानन्त का प्रमाण होता है। अथवा जघन्य युक्तानन्त की संख्या में से एक न्यून करने से भी उत्कृष्ट परीतानन्त की संख्या बनती है।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों में अनन्त संख्या के प्रथम भेद परीतानन्त के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन तीनों प्रकारों का स्वरूप बताया है। जिनका आशय सुगम है।

युक्तानन्तनिरूपण

५१७. जहण्णयं जुत्ताणंतयं केत्तियं होति?

जहण्णयं परित्ताणंतयं जहण्णयपरित्ताणंतयमेत्ताणं रासीणं अण्णमण्णब्भासो पडिपुण्णो जहण्णयं जुत्ताणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए परित्ताणंतए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं जुत्ताणंतयं होइ, अभवसिद्धिया वि तेत्तिया चेव, तेण परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं जुत्ताणंतयं ण पावति।

[५१७ प्र.] भगवन्! जघन्य युक्तानन्त कितने प्रमाण में होता है?

[५१७ उ.] आयुष्मन्! जघन्य परीतानन्त मात्र राशि का उसी राशि से अभ्यास करने से प्रतिपूर्ण संख्या जघन्य युक्तानन्त है। अर्थात् जघन्य परीतानन्त जितनी सर्षप संख्या का परस्पर अभ्यास रूप गुणा करने से प्राप्त परिपूर्ण संख्या जघन्य युक्तानन्त है। अथवा उत्कृष्ट परतानन्त में एक रूप (अंक) प्रक्षिप्त करने से जघन्य युक्तानन्त होता है। अभवसिद्धिक (अभव्य) जीव भी इतने ही (जघन्य युक्तानन्त जितने) होते हैं। उसके पश्चात् अजघन्योत्कृष्ट (मध्यम) युक्तानन्त के स्थान हैं और वे उत्कृष्ट युक्तानन्त के स्थान के पूर्व तक हैं।

५१८. उक्कोसयं जुत्ताणंतयं केत्तियं होति ?

जहण्णएणं जुत्ताणंतएणं अभवसिद्धिया गुणिता अण्णमण्णब्भासो रूवूणो उक्कोसयं जुत्ताणंतयं होइ, अहवा जहण्णयं अणंताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं जुत्ताणंतयं होइ।

[५१८ प्र.] भगवन् ! उत्कृष्ट युक्तानन्त कितने प्रमाण में होता है ?

[५१८ उ.] आयुष्मन् ! जघन्य युक्तानन्त राशि के साथ अभवसिद्धिक राशि का परस्पर अभ्यास रूप गुणाकार करके प्राप्त संख्या में से एक रूप को न्यून करने पर प्राप्त राशि उत्कृष्ट युक्तानन्त की संख्या है। अथवा एक रूप न्यून जघन्य अनन्तानन्त उत्कृष्ट युक्तानन्त है।

विवेचन—यहाँ युक्तानन्त के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेदों का स्वरूप बताया है। सूत्रार्थ सुगम है।

शास्त्रों में जहाँ भी अभव्य जीव राशि की अनन्तता का उल्लेख है, उसका निश्चित प्रमाण जघन्य युक्तानन्तराशि जितना समझना चाहिये।

अनन्तानन्तनिरूपण

५१९. जहण्णयं अणंताणंतयं केत्तियं होति ?

जहण्णएणं जुत्ताणंतएणं अभवसिद्धिया गुणिया अण्णमण्णब्भासो पडिपुण्णो जहण्णयं अणंताणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए जुत्ताणंतए रूवं पक्खित्तं जहण्णयं अणंताणंतयं होति, तेण परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं। से तं गणणासंखा।

[५१९ प्र.] भगवन् ! जघन्य अनन्तानन्त कितने प्रमाण में होता है ?

[५१९ उ.] आयुष्मन् ! जघन्य युक्तानन्त के साथ अभवसिद्धिक जीवों (जघन्य युक्तानन्त) को परस्पर अभ्यास रूप से गुणित करने पर प्राप्त पूर्ण संख्या जघन्य अनन्तानन्त का प्रमाण है। अथवा उत्कृष्ट युक्तानन्त में एक रूप का प्रक्षेप करने से जघन्य अनन्तानन्त होता है। तत्पश्चात् (जघन्य अनन्तानन्त के बाद) सभी स्थान अजघन्योत्कृष्ट (मध्यम) अनन्तानन्त के होते हैं। (क्योंकि उत्कृष्ट अनन्तानन्त राशि नहीं होती है)।

इस प्रकार गणनासंख्या का निरूपण पूर्ण हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अनन्तानन्त संख्या के जघन्य और मध्यम इन दो भेदों का प्रमाण बतलाया है, किन्तु उत्कृष्ट अनन्तानन्त संख्या संभव नहीं होने से उसका निरूपण नहीं किया गया है।

उक्त कथन सैद्धान्तिक आचार्यों का है, लेकिन अन्य आचार्यो ने उत्कृष्ट अनन्तानन्त संख्या का भी निरूपण किया है। उनका मत है—

जघन्य अनन्तानन्त का तीन बार वर्ग करके फिर उसमें निम्नलिखित छह अनन्तों का प्रक्षेप करना चाहिये—

सिद्धा निगोयजीवा वणस्सई काल पुग्गला चेव ।
सव्वमलोगागासं छप्पेतेऽणंतपक्खेवा ॥[1]

अर्थात्—१. सिद्ध जीव, २. निगोद के जीव, ३. वनस्पतिकायिक, ४. तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्यत् काल) के समय, ५. सर्व पुद्गलद्रव्य तथा ६. लोकाकाश और अलोकाकाश प्रदेश ।[2] इनको मिलाकर फिर सर्व राशि का तीन वार वर्ग करके उस राशि में केवलद्विक—केवलज्ञान, केवलदर्शन—की अनन्त पर्यायों[3] का प्रक्षेप करने पर उत्कृष्ट अनन्तानन्त की संख्या का परिमाण होता है ।[4]

यही गणनासंख्या की वक्तव्यता है । अब संख्या के अंतिम प्रकार भावसंख्या का निरूपण करते हैं ।

भावसंख्यानिरूपण

५२०. से किं तं भावसंखा ?

भावसंखा जे इमे जीवा संखगइनाम-गोत्ताइं कम्माइं वेदेंति । से तं भावसंखा । से तं संखप्पमाणे । से तं भावप्पमाणे । से तं पमाणे ।

॥ पमाणे त्ति पयं सम्मत्तं ॥

[५२० प्र.] भगवन् ! भावसंख्या (शंख) का क्या स्वरूप है ?

[५२० उ.] आयुष्मन् ! इस लोक में जो जीव शंखगतिनाम-गोत्र कर्मादिकों का वेदन कर रहे हैं वे भावशंख[5] है ।

यही भाव संख्या है, यही भावप्रमाण का वर्णन है तथा यहीं प्रमाण सम्वन्धी वक्तव्यता पूर्ण हुई ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में भावसंख्या का निरूपण करके प्रमाण पद की वक्तव्यता का उपसंहार किया है ।

---

१. यह छह क्षेपक टीका तथा त्रिलोकसार गाथा ४९ में वर्णित है ।

२. यद्यपि मूल गाथा में अलोक पद है । लेकिन उपलक्षण से लोक का भी ग्रहण कर लेना चाहिये । अर्थात् यहाँ लोक और अलोक दोनों आकाश विवक्षित हैं ।

३. ज्ञेयपदार्थ अनन्त होने से केवलद्विक की पर्यायें भी अनन्त हैं ।

४. यह उत्कृष्ट अनन्तानन्त का परिमाण वोध के लिये है, लेकिन लोकाकाश में विद्यमान पदार्थों के मध्यम अनन्तानन्त प्रमाण होने से मध्यम अनन्तानन्त ही उपयोग में लिया जाता है । उत्कृष्ट अनन्तानन्त को सिद्धान्त में उपयोग में न आने के कारण ग्राह्य नहीं माना है ।

उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात में दस क्षेपकों एवं उत्कृष्ट अनन्तानन्त मानने, उसके निर्माण की विधि एवं छह क्षेपकों के मिलने का मत कार्मग्रन्थिक आचार्यों का प्रतीत होता है । कार्मग्रन्थिक आचार्यों की असंख्यात और अनन्त संख्या के भेदों को वनाने की प्रक्रिया भी सिद्धान्त से भिन्न है । इसका विस्तार से वर्णन षड्शीति (चतुर्थ कर्मग्रन्थ, श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति ब्यावर) में पृ. ३६४ से ३८४ में देखिये ।

५. यद्यपि संख्या शब्द से गणना का वोध होता है, किन्तु पूर्व में वताया है कि प्राकृत भाषा में संख्या शब्द शंख का भी वाचक है । इसलिये यहाँ 'भावसंखा' शब्द द्वीन्द्रिय जीव 'शंख' के लिये प्रयुक्त हुआ जानना चाहिये ।

जो जीव शंखप्रायोग्य तिर्यचगति, द्वीन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, औदारिक-अंगोपांग आदि नामकर्मों एवं नीचगोत्र को विपाकतः वेदन करते हैं अर्थात् तदनुकूल कर्मप्रकृतियों के उदय में वर्तमान है, वे भावशंख (संखा) कहलाते हैं। यही भावसंख्या का अर्थ है।

इस भावसंख्या के वर्णन के साथ प्रमाणद्वार की वक्तव्यता पूर्ण हो जाती है।

।। इस प्रकार से प्रमाण पद समाप्त हुआ ।।

अब क्रमप्राप्त उपक्रम के चतुर्थ भेद वक्तव्यता का निरूपण करते हैं।

वक्तव्यता के भेद

५२१. से किं तं वत्तव्वया ?

वत्तव्वया तिविहा पण्णत्ता। तं०—ससमयवत्तव्वया परसमयवत्तव्वया ससमयपरसमयवत्तव्वया।

[५२१ प्र.] भगवन् ! वक्तव्यता का क्या स्वरूप है ?

[५२१ उ.] आयुष्मन् ! वक्तव्यता तीन प्रकार की कही गई है, यथा—स्वसमयवक्तव्यता, २. परसमयवक्तव्यता और ३. स्वसमय-परसमयवक्तव्यता।

वक्तव्यता—अध्ययन-आदिगत प्रत्येक अवयव के अर्थ का यथासंभव प्रतिनियत विवेचन करना।[1]

वक्तव्यता के तीन भेद क्यों ?—प्रस्तुत में समय का अर्थ सिद्धान्त या मत है। अतः स्व—अपने सिद्धान्त का प्रस्तुतीकरण स्वसमयवक्तव्यता, पर—अन्य के सिद्धान्त का निरूपण परसमयवक्तव्यता एवं स्वपर—दोनों के सिद्धान्तों का विवेचन करना स्वपरसमयवक्तव्यता है। इनकी पृथक्-पृथक् व्याख्या आगे की जाती है।

स्वसमयवक्तव्यतानिरूपण

५२२. से किं तं ससमयवत्तव्वया ?

ससमयवत्तव्वया जत्थ णं ससमए आघविज्जति पण्णविज्जति परूविज्जति दंसिज्जति निदंसिज्जति उवदंसिज्जति। से तं ससमयवत्तव्वया।

[५२२ प्र.] भगवन् ! स्वसमयवक्तव्यता क्या है ?

[५२२ उ.] आयुष्मन् ! अविरोधी रूप से स्वसिद्धान्त के कथन, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन करने को स्वसमयवक्तव्यता कहते हैं। यही स्वसमयवक्तव्यता है।

विवेचन—पूर्वापरविरोध न हो, इस प्रकार अपने सिद्धान्त की अविरोधी क्रमबद्ध व्याख्या करने को स्वसमयवक्तव्यता कहते हैं।

यद्यपि आघविज्जति आदि उवदंसिज्जति पर्यन्त शब्द सामान्यतः समानार्थक-से प्रतीत होते हैं, लेकिन शब्दभेद से अर्थभेद होने से उनका पृथक्-पृथक् आशय इस प्रकार है—

१. अध्ययनादिषु प्रत्यवयवं यथासंभवं प्रतिनियतार्थकथनं वक्तव्यता। —अनुयोग. मलधारीया वृत्ति, पृ. २४३

आघविज्जति—सामान्य रूप से कथन करना, व्याख्यान करना। जैसे कि धर्मास्तिकाय आदि पांच अस्तिकाय द्रव्य हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल, ये बहुप्रदेशी पांचों द्रव्य त्रिकाल अवस्थायी हैं।

पण्णविज्जति—अधिकृत विषय की पृथक्-पृथक् लाक्षणिक व्याख्या करना। जैसे जीव और पुद्गल की गति में जो सहायक हो, वह धर्मास्तिकाय है, इत्यादि।

परूविज्जति—अधिकृत विषय की विस्तृत प्ररूपणा करना। जैसे—धर्मास्तिकाय के असंख्यात प्रदेश हैं, इत्यादि।

दंसिज्जति—दृष्टान्त द्वारा सिद्धान्त को स्पष्ट करना। जैसे—यथा मछलियों को चलन में सहायक जल होता है।

निदंसिज्जति—उपनय द्वारा अधिकृत विषय का स्वरूप निरूपण करना। जैसे—वैसे ही धर्मद्रव्य भी जीव और पुद्गलों को गति में सहायक है।

उवदंसिज्जति—समस्त कथन का उपसंहार करके अपने सिद्धान्त की स्थापना करना। जैसे—इस प्रकार के स्वरूप वाले द्रव्य को धर्मास्तिकाय कहते हैं।

परसमयवक्तव्यतानिरूपण

५२३. से किं तं परसमयवत्तव्वया ?

परसमयवत्तव्वया जत्थ णं परसमए आघविज्जति जाव उवदंसिज्जति। से तं परसमय-वत्तव्वया।

[५२३ प्र.] भगवन् ! परसमयवक्तव्यता क्या है ?

[५२३ उ.] आयुष्मन् ! जिस वक्तव्यता में परसमय—अन्य मत के सिद्धान्त—का कथन यावत् उपदर्शन किया जाता है, उसे परसमयवक्तव्यता कहते हैं।

विवेचन—जिसमें स्वमत की नहीं किन्तु परसिद्धान्त की उसी रूप में व्याख्या की जाती है, जैसे सूत्रकृतांग के प्रथम अध्ययन में लोकायतिकों का सिद्धान्त स्पष्ट किया है—

संति पञ्चमहब्भूया, इहमेगेसि आहिया।
पुढवी आऊ तेऊ (य) वाऊ आगास पंचमा॥
ए ए पंच महब्भूया तेब्भो एगोत्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो।

नास्तिकों के मत के अनुसार सर्वलोकव्यापी पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांच महाभूत कहे गये हैं। इन पांच महाभूतों से जीव अव्यतिरिक्त—अभिन्न है। जब ये पंच महाभूत शरीराकार परिणत होते हैं, तब इनसे जीव नामक पदार्थ उत्पन्न हो जाता है और इनके विनष्ट होने पर इनसे जन्य जीव का भी विनाश हो जाता है।

उक्त प्रकार का कथन आर्हत दर्शन का नहीं किन्तु लोकायतिक मत प्रतिपादक होने से पर-

सिद्धान्त है। इस तरह जिस वक्तव्यता में परसिद्धान्त की प्ररूपणा की जाती है, वह परसमयवक्तव्यता है।

स्वसमय-परसमयवक्तव्यता

५२४. से किं तं ससमयपरसमयवत्तव्वया ?

ससमयपरसमयवत्तव्वया जत्थ णं ससमए परसमए आघविज्जइ जाव उवदंसिज्जइ। से तं ससमयपरसमयवत्तव्वया।

[५२४ प्र.] भगवन्! स्वसमय-परसमयवक्तव्यता का क्या स्वरूप है ?

[५२४ उ.] आयुष्मन् ! स्वसमय-परसमयवक्तव्यता इस प्रकार है—जिस वक्तव्यता में स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त दोनों का कथन यावत् उपदर्शन किया जाता है, उसे स्वसमय-परसमयवक्तव्यता कहते हैं।

विवेचना—जो व्याख्या स्वसमय और परसमय उभय रूप संभव हो वह स्वसमयपरसमयवक्तव्यता कहलाती है। जैसे—

आगारमावसंता वा, आरण्णा वावि पव्वया।
इमं दरिसणमावन्ना, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥

अर्थात् जो व्यक्ति घर में रहते हैं—गृहस्थ हैं, अथवा वनवासी हैं, अथवा प्रव्रजित (शाक्यादि) हैं, वे यदि हमारे सिद्धान्त को स्वीकार, धारण, ग्रहण कर लेते हैं तो सभी (शारीरिक, मानसिक) दुखों से सर्वथा विमुक्त हो जाते हैं।

इस कथन की उभयमुखी वृत्ति होने से जैन, बौद्ध, सांख्य आदि जो कोई भी इसका अर्थ करेगा वह अपने मतानुसार होने से स्वसमयवक्तव्यता रूप और इतर के लिये परसमयवक्तव्यता रूप है। इसीलिये इसे स्व-परसमयों की वक्तव्यता कहा है।

वक्तव्यता के विषय में नयदृष्टियां

५२५. [१] इयाणिं को णओ कं वत्तव्वयमिच्छति ?

तत्थ णेगम-संग्रह-ववहारा तिविहं वत्तव्वयं इच्छंति। तं जहा—ससमयवत्तव्वयं परसमयवत्तव्वयं ससमयपरसमयवत्तव्वयं।

[५२५-१ प्र.] भगवन् ! (इन तीनों वक्तव्यताओं में से) कौन नय किस वक्तव्यता को स्वीकार करता है ?

[५२५-१ उ.] आयुष्मन् ! नैगम, संग्रह और व्यवहार नय तीनों प्रकार की वक्तव्यता को स्वीकार करते हैं।

[२] उज्जुसुओ दुविहं वत्तव्वयं इच्छति। तं जहा—ससमयवत्तव्वयं परसमयवत्तव्वयं। तत्थ णं जा सा ससमयवत्तव्वया सा ससमयं पविट्ठा, जा सा परसमयवत्तव्वया सा परसमयं पविट्ठा, तम्हा दुविहा वत्तव्वया, णत्थि तिविहा वत्तव्वया।

[५२५-२] ऋजुसूत्रनय स्वसमय और परसमय—इन दो वक्तव्यताओं को ही मान्य करता है। क्योंकि (स्वसमय-परसमयवक्तव्यता रूप तीसरी वक्तव्यता में से) स्वसमयवक्तव्यता प्रथम भेद स्वसमयवक्तव्यता में और परसमय की वक्तव्यता द्वितीय भेद परसमयवक्तव्यता में अन्तर्भूत हो जाती है। इसलिए वक्तव्यता के दो ही प्रकार हैं, किन्तु त्रिविध वक्तव्यता नहीं है।

[३] तिण्णि सद्दणया [एगं] ससमयवत्तव्वयं इच्छंति, नत्थि परसमयवत्तव्वयं। कम्हा? जम्हा परसमए अणट्ठे अहेऊ असब्भावे अकिरिया उम्मग्गे अणुवएसे मिच्छादंसणमिति कट्टु, तम्हा सव्वा ससनयवत्तव्वया, णत्थि परसमयवत्तव्वया णत्थि ससमयपरसमयवत्तव्वया। से तं वत्तव्वया।

[५२५-३] तीनों शब्दनय (शब्द, समभिरूढ एवंभूत नय) एक स्वसमयवक्तव्यता को ही मान्य करते हैं। उनके मतानुसार परसमयवक्तव्यता नहीं है। क्योंकि परसमय अनर्थ, अहेतु, असद्-भाव, अक्रिय (निष्क्रिय), उन्मार्ग, अनुपदेश (कु-उपदेश) और मिथ्यादर्शन रूप है। इसलिए स्वसमय की वक्तव्यता है किन्तु परसमयवक्तव्यता नहीं है और न स्वसमय-परसमयवक्तव्यता ही है।

इस प्रकार से वक्तव्यताविषयक निरूपण जानना चाहिये।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट किया है कि पूर्वोक्त तीन वक्तव्यताओं में से कौन नय किसको अंगीकार करता है?

नयदृष्टियां लोकव्यवहार से लेकर वस्तु के स्वकीयस्व रूप तक का विचार करती हैं। इसी अपेक्षा यहाँ वक्तव्यताविषयक नयों का मंतव्य स्पष्ट किया गया है।

नैगम आदि सातों नयों में से अनेक प्रकार से वस्तु का प्रतिपादन करने वाले नैगमनय सर्वार्थ के संग्राहक संग्रहनय और लोकव्यवहार के अनुसार व्यवहार करने में तत्पर व्यवहारनय की मान्यता है कि लोक में इसी प्रकार की रूढि-परम्परा प्रचलित होने से तीनों ही—स्व, पर और उभय समय की वक्तव्यताएँ माननी चाहिये।

ऋजुसूत्रनय पूर्वोक्त नयों से विशुद्धतर है, अतः उसकी दृष्टि से दो—स्वसमय और परसमय की वक्तव्यता हो सकती है। स्वसमय-परसमय वक्तव्यता में से स्वसमयवक्तव्यता का स्वसमय-वक्तव्यता में और परसमयवक्तव्यता का परसमयवक्तव्यता में अन्तर्भाव हो जाने से वक्तव्यता का तीसरा भेद संभव नहीं है। अतएव तीसरी वक्तव्यता युक्तिसंगत नहीं है।

जैसे नैगम आदि तीन नयों से ऋजुसूत्रनय विशुद्धतर को विषय करने वाला है, वैसे ही ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा अधिक विशुद्धतर विषय वाले शब्दादि तीनों नयों को एक मात्र स्वसमय-वक्तव्यता ही मान्य है। क्योंकि परसमयादि शेष दो मान्यतायें मानने में यह विसंगतियां हैं—

१. परसमय 'नास्त्येवात्मा'—आत्मा नहीं है, इत्यादि रूप से अनर्थ रूप का प्रतिपादक होने के कारण अनर्थ रूप इसलिये है कि आत्मा के अभाव में उसका प्रतिषेध कौन करेगा?

जो यह विचार करता है 'कि मैं नहीं हूँ' वही तो जीव-आत्मा है। जीव के सिवाय अन्य पदार्थ संशयकारक नहीं हो सकता है।[1] इसी प्रकार की और भी अनर्थता (विसंगतियां) परसमय में जानना चाहिये।

---

१. जो चिंतेइ सरीरे नत्थि अहं स एव होइ जीवोत्ति।
न हु जीवंमि असंते संसयउप्पायओ अण्णो॥ —अनुयोग. मलधारीयावृत्ति पत्र २४४

२. हेत्वाभास के बल से प्रवृत्त होने के कारण परसमय अहेतु रूप भी है। जैसे—'नास्त्येवात्मा अत्यन्तानुपलब्धेः'—आत्मा नहीं है क्योंकि उसकी अत्यन्त अनुपलब्धि है। यहाँ अत्यन्त अनुपलब्धि हेतु हेत्वाभास है। हेत्वाभास होने का कारण यह है कि आत्मा के ज्ञानादि गुणों की उपलब्धि होती है। जैसे घटादिकों के गुणों—रूपादि की उपलब्धि होने से घटादि की सत्ता है, उसी प्रकार जीव के ज्ञानादिक गुणों की उपलब्धि होने से उसकी सत्ता है।[1]

३. परसमयवक्तव्यता असदर्थ का प्रतिपादन करने वाली भी है। क्योंकि परसमय असद्भाव रूप एकान्त क्षणभंग आदि असदर्थ का प्रतिपादन करता है। एकान्ततः क्षणभंग आदि सिद्धान्त असद्रूप इसलिए है कि उसमें युक्ति, प्रमाण आदि से विरोध है। जैसे—एकान्ततः पदार्थ को क्षणभंगुर मानने पर धर्म—अधर्म का उपदेश, सुकृत—दुष्कृत, परलोक आदि में गमन तथा इसी प्रकार से अन्य लोकव्यवहार नहीं बन सकते हैं।[2] तथा—

४. एकान्त रूप से शून्यता का प्रतिपादन करने वाला होने से परसमय में किसी भी प्रकार की क्रिया करना संभवित नहीं और तब क्रिया करने वाले कर्ता का भी अभाव मानना पड़ेगा। क्योंकि सर्वशून्यता में जब समस्त पदार्थ ही शून्य रूप हैं तो यह स्वाभाविक है कि कर्ता और क्रिया आदि सभी शून्यरूप होंगे। यदि ऐसा न माना जाये तो सर्वशून्यता का सिद्धान्त ही नहीं बन सकता है। इसी कारण परसमय असद्भाव रूप का प्रतिपादक होने से उसकी वक्तव्यता नहीं मानी जा सकती है।

५. परसमयवक्तव्यता इसलिए भी नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि वह उन्मार्ग—परस्पर विरुद्ध वचनों की प्रतिपादक है। जैसे—परसमय कभी तो कहता है कि स्थावर और त्रस रूप किसी भी प्राणी की हिंसा न करे तथा समस्त प्राणियों को अपना जैसा ही माने। इस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाला धार्मिक है।[3] किन्तु साथ ही ऐसा भी कहता है कि अश्वमेधयज्ञ करते समय ५०९७ पशुओं की बलि करना चाहिये।[4]

इस प्रकार जब परसमय में स्पष्ट रूप से पूर्वापर उन्मार्गता है तब उसकी वक्तव्यता मान्य कैसे की जा सकती है?

६. परसमय उपदेश रूप भी नहीं है—अनुपदेश (कुत्सित उपदेश) रूप है। क्योंकि उपदेश जीवों को अहित से छुड़ाकर हित में प्रवृत्ति कराने वाला होता है, परन्तु परसमय के उपदिष्ट सिद्धान्त जीवों को अहित की ओर ले जाते हैं। जैसे—जब सभी कुछ क्षणिक है तो कौन विषयादिकों का

---

२. नाणाईण गुणाणं अणुभवओ होइ जंतुणो सत्ता।
जह रूवाइगुणाणं उवलंभाओ घडाईण॥ —अनुयोग. मलधारीयावृत्ति पत्र २४४

१. धम्माधम्मुवएसो कयाकयं परभवाइगमणं च।
सव्वावि हु लोयठिई न घडइ एगतखिणयम्मी॥ —अनुयोग. मलधारीयावृत्ति पत्र २४४

३. न हिंस्यात् सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स धार्मिकः॥ ,, ,, ,,

४. षट् सहस्राणि युज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥ ,, ,, ,,

सेवन करने में प्रवृत्ति नहीं करेगा ? अर्थात् सभी प्रवृत्ति करेंगे। क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार वे यह तो जान ही लेंगे कि हम क्षणिक हैं अत: नरकादि के दु:ख रूप फल तो हमें भोगना ही नहीं पड़ेंगे, फलभोग के काल तक हम रहने वाले नहीं है।[1]

इसी तरह के अन्यान्य अनर्थादिकों से युक्त होने के कारण परसमय मिथ्यादर्शन रूप है। इसी कारण शब्दादि नयत्रय को स्वसमयवक्तव्यता ही मान्य है।

इस प्रकार से वक्तव्यता सम्बन्धी नयदृष्टियां जानना चाहिये। अब अर्थाधिकार का निरूपण करते हैं।

अर्थाधिकारनिरूपण

५२६. से किं तं अत्थाहिगारे ?

अत्थाहिगारे जो जस्स अज्झयणस्स अत्थाहिगारो। तं जहा—

सावज्जजोगविरती १ उक्कित्तण २ गुणवओ य पडिवत्ती ३।
खलियस्स निंदणा ४ वणतिगिच्छ ५ गुणधारणा ६ चेव ॥ १२३ ॥

से तं अत्थाहिगारे।

[५२६ प्र.] भगवन् ! अर्थाधिकार का क्या स्वरूप है ?

[५२६ उ.] आयुष्मन् ! (आवश्यकसूत्र के) जिस अध्ययन का जो अर्थ-वर्ण्य विषय है उसका कथन अर्थाधिकार कहलाता है। यथा—

१. सावद्ययोगविरति यानी सावद्य व्यापार का त्याग प्रथम (सामायिक) अध्ययन का अर्थ है। २. (चतुर्विंशतिस्तव नामक) दूसरे अध्ययन का अर्थ उत्कीर्तन—स्तुति करना है। ३. (वंदना नामक) तृतीय अध्ययन का अर्थ गुणवान् पुरुषों का सम्मान, वन्दना, नमस्कार करना है। ४. (प्रतिक्रमण अध्ययन में) आचार में हुई स्खलनाओं—पापों आदि की निन्दा करने का अर्थाधिकार है। ५. (कायोत्सर्ग अध्ययन में) व्रणचिकित्सा करने रूप अर्थाधिकार है। ६. (प्रत्याख्यान अध्ययन का) गुण धारण करने रूप अर्थाधिकार है। यही अर्थाधिकार है।

विवेचन—जिस अध्ययन का जो अर्थ है वह उसका अर्थाधिकार कहलाता है। जैसे आवश्यक-सूत्र के छह अध्यायों के गाथोक्त वर्ण्यविषय हैं। इनका आशय पूर्व में बताया जा चुका है।

समवतारनिरूपण

५२७. से किं तं समोयारे ?

समोयारे छव्विहे पण्णत्ते। तं०—णामसमोयारे ठवणसमोयारे दव्वसमोयारे खेत्तसमोयारे कालसमोयारे भावसमोयारे।

[५२७ प्र.] भगवन् ! समवतार का क्या स्वरूप है ?

---

१. सर्वं क्षणिकमित्येतद् ज्ञात्वा को न प्रवर्तते ?
विषयादौ विपाको मे न भावीति विनिश्चयात् ॥ —अनुयोग. मलधारीयावृत्ति पत्र २४४

[५२७ उ.] आयुष्मन् ! समवतार के छह प्रकार हैं, जैसे—१. नामसमवतार, २. स्थापना-समवतार, ३. द्रव्यसमवतार, ४. क्षेत्रसमवतार, ५. कालसमवतार और ६. भावसमवतार।

विवेचन—सूत्र में भेदों द्वारा समवतार के स्वरूप का वर्णन प्रारम्भ किया है।

समवतार—वस्तुओं के अपने में, पर में और उभय में अन्तर्भूत होने का विचार करने को समवतार कहते हैं। उसके नाम आदि के भेद से छह प्रकार हैं। आगे क्रम से उनका वर्णन करते हैं।

नाम-स्थापना-द्रव्यसमवतार

५२८. से किं तं णामसमोयारे ?

नाम-ठवणाओ पुव्ववण्णियाओ।

[५२८ प्र.] भगवन् ! नाम (स्थापना) समवतार का स्वरूप क्या है ?

[५२८ उ.] आयुष्मन् ! नाम और स्थापना (समवतार) का वर्णन पूर्ववत् (आवश्यक के वर्णन जैसा) यहाँ भी जानना चाहिये।

५२९. से किं तं दव्वसमोयारे ?

दव्वसमोयारे दुविहे पण्णत्ते। तं०—आगमतो य णोआगमतो य। जाव से तं भवियसरीर-दव्वसमोयारे।

[५२९ प्र.] भगवन् ! द्रव्यसमवतार का क्या स्वरूप है ?

[५२९ उ.] आयुष्मन् ! द्रव्यसमवतार दो प्रकार का कहा है—१. आगमद्रव्यसमवतार, २. नोआगमद्रव्यसमवतार। यावत् आगमद्रव्यसमवतार का तथा नोआगमद्रव्यसमवतार के भेद ज्ञायकशरीर और भव्यशरीर नोआगमद्रव्यसमवतार का स्वरूप पूर्ववत् द्रव्यावश्यक के प्रकरण में कथित भेदों के समान जानना चाहिये।

विवेचन—यहाँ नाम, स्थापना समवतार का और द्रव्यसमवतार के दो भेदों का वर्णन किया है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—नामसमवतार और स्थापनासमवतार इन दोनों का वर्णन तो नाम-आवश्यक और स्थापना-आवश्यक के अनुरूप जानना चाहिए। परन्तु आवश्यक के स्थान पर समवतार पद का प्रयोग करना चाहिए।

आगम और नोआगम की अपेक्षा द्रव्यसमवतार के दो भेद हैं। इनमें से नोआगमद्रव्य-समवतार ज्ञायकशरीर, भव्यशरीर, तद्व्यतिरिक्त के भेद से तीन प्रकार का है। आगमद्रव्यसमवतार और नोआगम ज्ञायकशरीरद्रव्यसमवतार एवं भव्यशरीरद्रव्यसमवतार का स्वरूप पूर्वोक्त द्रव्यावश्यक के वर्णन जैसा ही जानना चाहिए। शेष रहे ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यसमवतार का वर्णन प्रकार है—

५३०. [१] से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वसमोयारे ?

जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वसमोयारे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—आयसमोयारे

परसमोयारे तदुभयसमोयारे। सव्वदव्वा वि य णं आयसमोयारेणं आयभावे समोयरंति, परसमोयारेणं जहा कुंडे बदराणि, तदुभयसमोयारेणं जहा घरे थंभो आयभावे य, जहा घडे गीवा आयभावे य।

[५३०-१ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यसमवतार कितने प्रकार का है ?

[५३०-१ उ.] आयुष्मन् ! ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यसमवतार तीन प्रकार का है—यथा—१. आत्मसमवतार, २. परसमवतार, ३. तदुभयसमवतार।

आत्मसमवतार की अपेक्षा सभी द्रव्य आत्मभाव—अपने स्वरूप में ही रहते हैं, परसमवतारापेक्षया कुंड में बेर की तरह परभाव में रहते हैं तथा तदुभयसमवतार से (सभी द्रव्य) घर में स्तम्भ अथवा घट में ग्रीवा (गर्दन) की तरह परभाव तथा आत्मभाव-दोनों में रहते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में तद्व्यतिरिक्तद्रव्यसमवतार का स्वरूप स्पष्ट किया है। प्रत्येक द्रव्य—पदार्थ कहाँ रहता है ? इसका विचार करने का आधार है निश्चय और व्यवहार नयदृष्टियों का गौण-मुख्य भाव। स्वस्वरूप के विचार में निश्चयनय की और परभाव का विचार करने में व्यवहारनय की मुख्यता है। इसलिये निश्चयनय से समस्त द्रव्यों के रहने का विचार करने पर उत्तर होता है कि सभी द्रव्य निजस्वरूप में रहते हैं। निजस्वरूप से भिन्न उनका कोई अस्तित्व नहीं है तथा परसमवतार से—व्यवहारनय से विचार करने पर उत्तर होता है कि परभाव में भी रहते हैं। उभयरूपता युगपत् निश्चय-व्यवहारनयाश्रित है। अतः तदुभयसमवतार से विचार किये जाने पर आत्मसमवतार की अपेक्षा समस्त द्रव्य आत्मभाव में तथा परसमवतार की अपेक्षा परभाव में रहते हैं। उदाहरणार्थ—स्तम्भ जैसे पर घर में भी रहता है और स्वस्वरूप में भी रहता है, ऐसा स्पष्ट दिखता है।

यद्यपि परसमवतार के दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत 'कुण्डे बदराणि' उदाहरण उभयसमवतार का है क्योंकि जिस प्रकार बेर अपने से पर—भिन्न कुण्ड में रहते हैं वैसे ही आत्मभाव में भी रहते हैं, इसलिए यह केवल परसमवतार नहीं हैं। किन्तु केवल परभाव में रहने का कोई उदाहरण सम्भव न होने से आत्मभाव की विवक्षा न करके नाममात्र के लिए यहाँ उसका पृथक् निर्देश किया है। वास्तव में समवतार दो हैं—आत्मसमवतार और उयभसमवतार। जिसको स्वयं सूत्रकार स्पष्ट करते हैं—

[२] अहवा जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वसमोयारे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—आयसमोयारे य तदुभयसमोयारे य।

चउसट्ठिया आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभयसमोयारेणं बत्तीसियाए समोयरति आयभावे य। बत्तीसिया आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभयसमोयारेणं सोलसियाए समोयरति आयभावे य। सोलसिया आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभयसमोयारेणं अट्ठभाइयाए समोयरति आयभावे य। अट्ठभाइया आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभयसमोयारेणं चउभाइयाए समोयरति आयभावे य। चउभाइया आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभय-

समोयारेणं अद्धमाणीए समोयरइ आयभावे य। अद्धमाणी आयसमोयारेणं आयभावे समोयरइ, तदुभयसमोयारेणं माणीए समोयरति आयभावे य।

से तं जाणयसरीरभवियसरीरवतिरित्ते दव्वसमोयारे। से तं नोआगमओ दव्वसमोयारे। से तं दव्वसमोयारे।

[५३०-२] अथवा ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यसमवतार दो प्रकार का है— आत्मसमवतार और तदुभयसमवतार। जैसे आत्मसमवतार से चतुष्षष्टिका आत्मभाव में रहती है और तदुभयसमवतार की अपेक्षा द्वात्रिंशिका में भी और अपने निजरूप में भी रहती है। द्वात्रिंशिका आत्मसमवतार की अपेक्षा आत्मभाव में और उभयसमवतार की अपेक्षा षोडशिका में भी रहती है और आत्मभाव में भी रहती है।

षोडशिका आत्मसमवतार से आत्मभाव में समवतीर्ण होती है और तदुभयसमवतार की अपेक्षा अष्टभागिका में भी तथा अपने निजरूप में भी रहती है।

अष्टभागिका आत्मसमवतार की अपेक्षा आत्मभाव में तथा तदुभयसमवतार की अपेक्षा चतुर्भागिका में भी समवतरित होती है और अपने निज स्वरूप में भी समवतरित होती है।

आत्मसमवतार की अपेक्षा चतुर्भागिका आत्मभाव में और तदुभयसमवतार से अर्धमानिका में समवतीर्ण होती है एवं आत्मभाव में भी।

आत्मसमवतार से अर्धमानिका आत्मभाव में एवं तदुभयसमवतार की अपेक्षा मानिका में तथा आत्मभाव में भी समवतीर्ण होती है।

यह ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यसमवतार का वर्णन है। इस तरह नोआगमद्रव्य-समवतार और द्रव्यसमवतार की प्ररूपणा पूर्ण हुई।

विवेचन—परसमवतार की असंभविता को यहाँ ध्यान में रखकर प्रकारान्तर से तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यसमवतार की द्विविधता का निरूपण किया है। प्रत्येक द्रव्य स्वस्वरूप की अपेक्षा स्वयं में ही रहता है लेकिन व्यवहार की अपेक्षा यह भी माना जाता है कि अपने से विस्तृत में समाविष्ट होता है। लेकिन उस समय भी उसका स्वतन्त्र अस्तित्व होने से वह स्वरूप में भी रहेगा ही।

मानी, अर्धमानी, चतुर्भागिका आदि मगध देश के माप हैं। इनका प्रमाण पूर्व में बताया जा चुका है।

क्षेत्रसमवतार

५३१. से किं तं खेत्तसमोयारे ?

खेत्तसमोयारे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—आयसमोयारे य तदुभयसमोयारे य।

भरहे वासे आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभयसमोयारेणं जंबुद्दीवे समोयरति आयभावे य। जंबुद्दीवे दीवे आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभयसमोयारेणं तिरियलोए समोयरति आयभावे य। तिरियलोए आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभयसमोयारेणं लोए

समोयरंति आयभावे य[1]।

से तं खेत्तसमोयारे।

[५३१ प्र.] भगवन्! क्षेत्रसमवतार का क्या स्वरूप है?

[५३१ उ.] आयुष्मन्! क्षेत्रसमवतार का दो प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। यथा—१. आत्मसमवतार, २. तदुभयसमवतार। आत्मसमवतार की अपेक्षा भरतक्षेत्र आत्मभाव (अपने) में रहता है और तदुभयसमवतार की अपेक्षा जम्बूद्वीप में भी रहता है और आत्मभाव में भी रहता है।

आत्मसमवतार की अपेक्षा जम्बूद्वीप आत्मभाव में रहता है और तदुभयसमवतार की अपेक्षा तिर्यक्लोक (मध्यलोक) में भी समवतरित होता है और आत्मभाव में भी।

आत्मसमवतार से तिर्यक्लोक आत्मभाव में समवतीर्ण होता है और तदुभयसमवतार की अपेक्षा लोक में समवतरित होता है और आत्मभाव-निजरूप में भी।

यही क्षेत्रसमवतार का स्वरूप है।

विवेचन—यहाँ क्षेत्रसमवतार का स्वरूप स्पष्ट किया है।

लघु क्षेत्र के प्रमाण को यथोत्तर वृहत् क्षेत्र में समवतरित किये जाने को क्षेत्रसमवतार कहते हैं। उदाहरणार्थ दिये गये दृष्टान्तों का अर्थ सुगम है। उत्तरोत्तर भरतक्षेत्र, जम्बूद्वीप, तिर्यकलोक आदि क्षेत्र वृहत् प्रमाण वाले क्षेत्र में भी समवतरित होते हैं।

कालसमवतार

५३२. से किं तं कालसमोयारे?

कालसमोयारे दुविहे पण्णत्ते। तं०—आयसमोयारे य तदुभयसमोयारे य।

समए आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभयसमोयारेणं आवलियाए समोयरति आयभावे य। एवं आणापाणू थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते पक्खे मासे उऊ अयणे संवच्छरे जुगे वाससते वाससहस्से वाससतसहस्से पुव्वंगे पुव्वे तुडियंगे तुडिए अडडंगे अडडे अववंगे अववे हुहुयंगे हुहुए उप्पलंगे उप्पले पउमंगे पउमे णलिणंगे णलिणे अत्थिनिउरंगे अत्थिनिउरे अउयंगे अउए णउयंगे णउए पउयंगे पउए चूलियंगे चूलिया सीसपहेलियंगे सीसपहेलिया पलिओवमे सागरोवमे आयसमोयारेणं आयभावे समोतरति, तदुभयसमोयारेणं ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीसु समोयरति आयभावे य, ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीओ आयसमोयारेणं आयभावे समोयरंति, तदुभयसमोयारेणं पोग्गलपरियट्टे समोयरंति आयभावे य। पोग्गलपरियट्टे आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभयसमोयारेणं तीतद्धा-अणागतद्धासु समोयरति आयभावे य; तीतद्धा-अणागतद्धाओ आयसमोयारेणं आयभावे समोयरंति, तदुभयसमोयारेणं सव्वद्धाए समोयरंति आयभावे य।

से तं कालसमोयारे।

---

१. लोए आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभयसमोयारेणं अलोए समोयरति आयभावे य।

[५३२ प्र.] भगवन् ! कालसमवतार का क्या स्वरूप है ?

[५३२ उ.] आयुष्मन् ! कालसमवतार दो प्रकार का कहा गया है यथा—आत्मसमवतार, तदुभयसमवतार। जैसे—

आत्मसमवतार की अपेक्षा समय आत्मभाव में रहता है और तदुभयसमवतार की अपेक्षा आवलिका में भी और आत्मभाव में भी रहता है। इसी प्रकार आनप्राण, स्तोक, लव, मुहूर्त, अहोरात्र, (दिन-रात), पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, वर्षशत, वर्षसहस्र, वर्षशतसहस्र, पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग, अटट, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अक्षनिकुरांग, अक्षनिकुर, अयुतांग, अयुत, नयुतांग, नयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका, पल्योपम, सागरोपम ये सभी आत्मसमवतार से आत्मभाव में और तदुभयसमवतार से अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी में भी और आत्मभाव में भी रहते हैं।

अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल आत्मसमवतार की अपेक्षा आत्मभाव में रहता है और तदुभय-समवतार की अपेक्षा पुद्गलपरावर्तन में भी और आत्मभाव में भी रहता है।

पुद्गलपरावर्तनकाल आत्मसमवतार की अपेक्षा निजरूप में रहता है और तदुभयसमवतार से अतीत और अनागत (भविष्यत्) काल में भी एवं आत्मभाव में भी रहता है। अतीत-अनागत काल आत्मसमवतार की अपेक्षा आत्मभाव में रहता है, तदुभयसमवतार की अपेक्षा सर्वाद्धाकाल में भी रहता है और आत्मभाव में भी रहता है।

इस तरह कालसमवतार का विचार है।

विवेचन—समयादि रूप से जो जाना जाता है उसे काल कहते हैं। वह अनन्त समय वाला है। काल की न्यूनतम आद्य इकाई समय और तन्निष्पन्न आवलिका आदि रूप कालविभाग का उत्तरोत्तर बड़े कालविभाग में समवतरण करना कालसमवतार है। इसके भी पूर्ववत् दो भेद हैं—आत्मसमवतार और तदुभयसमवतार। आत्मसमवतार से सभी कालभेद अपने ही स्वरूप में रहते हैं तथा तदुभय-समवतार से परभाव और आत्मभाव दोनों में रहते हैं। जैसे आनप्राण आत्मभाव में भी और पर भाव स्तोक में भी समवतीर्ण होता है। इसी प्रकार अन्य कालभेदों के लिए जानना चाहिए।

किन्तु पुद्गलपरावर्तन का तदुभयसमवतार की अपेक्षा अतीत-अनागत काल में समवतार बताने का कारण यह है कि पुद्गलपरावर्तन असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीकालप्रमाण है, जिससे समयमात्र प्रमाण वाले वर्तमान काल में उस बृहत्कालविभाग का समवतार संभव नहीं होने से अनन्त समय वाले अतीत-अनागत काल का कथन किया है।

इस प्रकार कालसमवतार का स्वरूप जानना चाहिये।

भावसमवतार

५३३. से किं तं भावसमोयारे ?

भावसमोयारे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—आयसमोयारे य तदुभयसमोयारे य। कोहे आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभयसमोयारेणं माणे समोयरति आयभावे य। एवं माणे

माया लोभे रागे मोहणिज्जे अट्ठकम्मपगडीओ आयसमोयारेणं आयभावे समोयरंति, तदुभयसमोयारेणं छव्विहे भावे समोयरंति आयभावे य। एवं छव्विहे भावे जीवे जीवत्थिकाए आयसमोयारेणं आयभावे समोयरति, तदुभयसमोयारेणं सव्वदव्वेसु समोयरति आयभावे य। एत्थं संगहणिगाहा—

कोहे माणे माया लोभे रागे य मोहणिज्जे य।

पगडी भावे जीवे जीवत्थिय सव्वदव्वा य ॥१२४॥

से तं भावसमोयारे। से तं समोयारे। से तं उवक्कमे।

[५३३ प्र.] भगवन्! भावसमवतार का क्या स्वरूप है?

[५३३ उ.] आयुष्मन्! भावसमवतार दो प्रकार का कहा गया है। यथा—आत्मसमवतार और तदुभयसमवतार।

आत्मसमवतार की अपेक्षा क्रोध निजस्वरूप में रहता है और तदुभयसमवतार से मान में और निजस्वरूप में भी समवतीर्ण होता है। इसी प्रकार मान, माया, लोभ, राग, मोहनीय और अष्टकर्म प्रकृतियाँ आत्मसमवतार से आत्मभाव में तथा तदुभयसमवतार से छह प्रकार के भावों में और आत्मभाव में भी रहती हैं।

इसी प्रकार (औदयिक आदि) छह भाव जीव, जीवास्तिकाय, आत्मसमवतार की अपेक्षा निजस्वरूप में रहते हैं और तदुभयसमवतार की अपेक्षा द्रव्यों में और आत्मभाव में भी रहते हैं। इनकी संग्रहणी गाथा इस प्रकार है—

क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, मोहनीयकर्म, (कर्म) प्रकृति, भाव, जीव, जीवास्तिकाय और सर्वद्रव्य (आत्मसमवतार से अपने-अपने स्वरूप में और तदुभयसमवतार से पररूप और स्व-स्वरूप में भी रहते हैं)। १२४

यही भावसमवतार है। इसका वर्णन होने पर सभेद समवतार और उपक्रम नाम के प्रथम द्वार की वक्तव्यता समाप्त हुई।

विवेचन—क्रोध कषाय आदि जीव के वैभाविक भावों के तथा ज्ञानादि स्वाभाविक भावों के समवतार को भावसमवतार कहते हैं। इसके भी आत्मसमवतार और तदुभयसमवतार ये दो प्रकार हैं। सूत्र में क्रोधादिक के दोनों प्रकार के समवतार का संक्षेप में उल्लेख किया है। उसका आशय यह है—क्रोधादि औदयिकभाव रूप होने से उनका भावसमवतार में ग्रहण किया है, अहंकार के बिना क्रोध उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए उभयसमवतार की अपेक्षा क्रोध का मान में और अपने निजरूप में समवतार कहा है। क्षपकश्रेणी में आरूढ जीव जिस समय मान का क्षय करने के लिए प्रवृत्त होता है उस समय वह मान के दलिकों को माया में प्रक्षिप्त करके क्षय करता है, इस कारण उभयसमवतार की अपेक्षा मान का माया में और निजरूप में भी और आत्मसमवतार की अपेक्षा अपने निजरूप में ही समवतार बताया है। इसी प्रकार माया, लोभ, राग, मोहनीयकर्म, अष्टकर्मप्रकृति आदि जीवपर्यन्त का उभयसमवतार एवं आत्मसमवतार समझ लेना चाहिये।

यद्यपि उपक्रमद्वार में शास्त्रकार को सामायिक आदि षडावश्यक-अध्ययनों का समवतार करना अभीष्ट है, किन्तु सुगम होने के कारण यहाँ उसका सूत्र में वर्णन नहीं किया है। वह इस प्रकार है—

सामायिक, उत्कीर्तन का विषय होने से सामायिक का उत्कीर्तनानुपूर्वी में समवतार होता है तथा गणनानुपूर्वी में जब पूर्वानुपूर्वी से इसकी गणना की जाती है तब प्रथम स्थान पर और पश्चानुपूर्वी से गणना किये जाने पर छठे स्थान पर आता है तथा अनानुपूर्वी से गणना किये जाने पर यह दूसरे आदि स्थानों पर आता है, अतः इसका स्थान अनियत है।

नाम में औदायिक आदि छह भावों का समवतार होता है। इसमें सामायिक अध्ययन श्रुतज्ञान रूप होने से क्षायोपशमिकभाव में समवतवित होता है।

प्रमाण की अपेक्षा जीव का भाव रूप होने से सामायिक अध्ययन का भावप्रमाण में समवतार होता है।

भावप्रमाण गुण, नय और संख्या, इस तरह तीन प्रकार का है। इन भेदों में से सामायिक-अध्ययन का समवतार गुणप्रमाण और संख्याप्रमाण में होता है। यद्यपि कहीं-कहीं नयप्रमाण में भी इसका समवतार कहा गया है, तथापि तथाविध नय के विचार की विवक्षा नहीं होने से नयप्रमाण में इसका समवतार नहीं कहा है।

जीव और अजीव के गुणों के भेद से गुणप्रमाण दो प्रकार का है। सामायिक जीव का उपयोग रूप होने से इसका समवतार जीवगुणप्रमाण में जानना चाहिये तथा जीवगुणप्रमाण भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भेद से तीन प्रकार का है। सामायिक ज्ञान रूप होने से इसका समवतार ज्ञानप्रमाण में होता है।

ज्ञानप्रमाण भी प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान के भेद से चार प्रकार का है। सामायिक आप्तोपदेश रूप होने के कारण से इसका आगमप्रमाण में अन्तर्भाव होता है। किन्तु आगम भी लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार का है। तीर्थंकरप्रणीत होने से सामायिक का लोकोत्तर-आगम में समवतार होता है।

लोकोत्तर-आगम भी आत्मागम, अनन्तरागम और परंपरागम के भेद से तीन प्रकार का है। इन तीनों प्रकार के आगमों में सामायिक का समवतार जानना चाहिये।

संख्याप्रमाण नाम, स्थापना, द्रव्य, औपम्य, परिमाण, ज्ञान, गणना और भाव के भेद से आठ प्रकार का है। इन आठ प्रकारों में से सामायिक का अन्तर्भाव पांचवें परिमाणसंख्याप्रमाण में हुआ है।

वक्तव्यता तीन या दो तरह की कही गयी है। इनमें से सामायिक का समवतार स्वसमय-वक्तव्यता में जानना चाहिये। इसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तव आदि अध्ययनों के समवतार के विषय में जानना चाहिये।

समवतार का वर्णन करने के साथ उपक्रमद्वार की वक्तव्यता पूर्ण हुई।

अब निक्षेप नामक अनुयोगद्वार का निरूपण करते हैं।

निक्षेपनिरूपण

५३४. से किं तं निक्खेवे ?

निक्खेवे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—ओहनिप्फण्णे य नामनिप्फण्णे य सुत्तालावगनिप्फण्णे य।

[५३४ प्र.] भगवन् ! निक्षेप किसे कहते हैं ?

[५३४ उ.] आयुष्मन् ! निक्षेप के तीन प्रकार हैं। यथा—१. ओघनिष्पन्न, २. नामनिष्पन्न, ३. सूत्रालापकनिष्पन्न।

विवेचन—इष्ट वस्तु का निर्णय करने के लिये अप्रकृत का निराकरण करके प्रकृत का विधान करना निक्षेप कहलाता है। इसके तीन भेदों का अर्थ इस प्रकार है—

ओघनिष्पन्न—सामान्य रूप में अध्ययन आदि श्रुत नाम से निष्पन्न निक्षेप को ओघनिष्पन्न-निक्षेप कहते हैं।

नामनिष्पन्न—श्रुत के ही सामायिक आदि विशेष नामों से निष्पन्न निक्षेप नामनिष्पन्ननिक्षेप कहलाता है।

सूत्रालापकनिष्पन्न—'करेमि भंते सामाइयं' इत्यादि सूत्रालापकों से निष्पन्न निक्षेप सूत्रालापक-निष्पन्न निक्षेप है।

ओघनिष्पन्ननिक्षेप

५३५. से किं तं ओहनिप्फण्णे ?

ओहनिप्फण्णे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—अज्झयणे अज्झीणे आए झवणा।

[५३५ प्र.] भगवन् ! ओघनिष्पन्ननिक्षेप का क्या स्वरूप है ?

[५३५ उ.] आयुष्मन् ! ओघनिष्पन्ननिक्षेप के चार भेद हैं। उनके नाम हैं—१. अध्ययन, २. अक्षीण, ३. आय, ४. क्षपणा।

विवेचन—सूत्र में ओघनिष्पन्ननिक्षेप के जिन चार प्रकारों का नामोल्लेख किया है, वे चारों सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव आदि रूप श्रुतविशेष के ही एकार्थवाची सामान्य नाम हैं। क्योंकि जैसे पढ़ने योग्य होने से अध्ययन रूप हैं, वैसे ही शिष्यादि को पढ़ाने से सूत्रज्ञान क्षीण नहीं होने से अक्षीण हैं, मुक्ति रूप लाभ के दाता होने से आय हैं और कर्मक्षय करने वाले होने से क्षपणा हैं। इसी कारण ये अध्ययन आदि श्रुत के सामान्य नामान्तर होने से ओघनिष्पन्ननिक्षेप हैं।

अध्ययननिरूपण

५३६. से किं तं अज्झयणे ?

अज्झयणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—णामज्झयणे ठवणज्झयणे दव्वज्झयणे भावज्झयणे।

[५३६ प्र.] भगवन् ! अध्ययन किसे कहते हैं ?

[५३६ उ.] आयुष्मन् ! अध्ययन के चार प्रकार कहे गये हैं, यथा—१. नाम-अध्ययन, २. स्थापना-अध्ययन, ३. द्रव्य-अध्ययन, ४. भाव-अध्ययन।

विवेचन—प्ररूपणा के लिये अधिक से अधिक प्रकारों में वस्तु का न्यास-निक्षेप न भी किया जाये, तो भी कम-से-कम नाम आदि चार प्रकारों से वर्णन किये जाने का सिद्धान्त होने से सूत्र में अध्ययन को नाम आदि चार प्रकारों में निक्षिप्त किया है। आगे क्रम से उनकी व्याख्या की जाती है।

नाम-स्थापना-अध्ययन

५३७. णाम-ट्ठवणाओ पुव्ववण्णियाओ ।

[५३७] नाम और स्थापना अध्ययन का स्वरूप पूर्ववर्णित (नाम और स्थापना आवश्यक) जैसा ही जानना चाहिये ।

विवेचन—सूत्र में नाम और स्थापना अध्ययन का स्वरूप बताने के लिये नाम और स्थापना आवश्यक का अतिदेश किया है और अतिदेश के संकेत के लिये सूत्र में 'पुव्ववण्णियाओ' पद दिया है ।

द्रव्य-अध्ययन

५३८. से किं तं दव्वज्झयणे ?

दव्वज्झयणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—आगमओ य णोआगमओ य ।

[५३८ प्र.] भगवन् ! द्रव्य-अध्ययन का क्या स्वरूप है ?

[५३८ उ.] आयुष्मन् ! द्रव्य-अध्ययन के दो प्रकार हैं, यथा—१. आगम से और २. नोआगम से ।

५३९. से किं तं आगमतो दव्वज्झयणे ?

आगमतो दव्वज्झयणे जस्स णं अज्झयणे त्ति पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं जाव जावइया अणुवउत्ता आगमओ तावइयाइं दव्वज्झयणाइं । एवमेव ववहारस्स वि । संगहस्स णं एगो वा अणेगो वा तं चेव भाणियव्वं जाव से तं आगमतो दव्वज्झयणे ।

[५३९ प्र.] भगवन् ! आगम से द्रव्य-अध्ययन का क्या स्वरूप है ?

[५३९ उ.] आयुष्मन् ! जिसने 'अध्ययन' इस पद को सीख लिया है, अपने (हृदय) में स्थिर कर लिया है, जित, मित और परिजित कर लिया है यावत् जितने भी उपयोग से शून्य हैं, वे आगम से द्रव्य-अध्ययन हैं । इसी प्रकार (नैगमनय जैसा ही) व्यवहारनय का मत है, संग्रहनय के मत से एक या अनेक आत्माएँ एक आगमद्रव्य-अध्ययन हैं, इत्यादि समग्र वर्णन आगमद्रव्य-आवश्यक जैसा ही यहाँ जानना चाहिये । यह आगमद्रव्य-अध्ययन का स्वरूप है ।

५४०. से किं तं णोआगमतो दव्वज्झयणे ?

णोआगमतो दव्वज्झयणे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—जाणयसरीरदव्वज्झयणे भवियसरीरदव्वज्झयणे जाणयसरीरभवियसरीरवतिरित्ते दव्वज्झयणे ।

[५४० प्र.] भगवन् ! नोआगमद्रव्य-अध्ययन का क्या स्वरूप है ?

[५४० उ.] आयुष्मन् ! नोआगमद्रव्य-अध्ययन तीन प्रकार का कहा गया है । यथा—१. ज्ञायकशरीरद्रव्य-अध्ययन, २. भव्यशरीरद्रव्य-अध्ययन ३. ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्य-अध्ययन ।

५३१. से किं तं जाणगसरीरदव्वज्झयणे ?

जाणगसरीरदव्वज्झयणे अज्झयणपयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगत-चुत-चइय-

चत्तदेहं जाव अहो ! णं इमेणं सरीरसमुस्सएणं अज्झयणे त्ति पदं आघवियं जाव उवदंसियं ति, जहा को दिट्ठंतो ? अयं घयकुंभे आसी, अयं महुकुंभे आसी । से तं जाणयसरीरदव्वज्झयणे ।

[५४१ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीरद्रव्य-अध्ययन किसे कहते हैं ?

[५४१ उ.] आयुष्मन् ! अध्ययन पद के अर्थाधिकार के ज्ञायक—जानकार के व्यपगतचैतन्य, च्युत, च्यावित त्यक्तदेह यावत् (जीव रहित शरीर को शय्यागत, संस्तारकगत, स्वाध्यायभूमि या श्मशानगत अथवा सिद्धशिलागत, देखकर कोई कहे)—अहो इस शरीर रूप पुद्गलसंघात ने 'अध्ययन' इस पद का व्याख्यान किया था, यावत् (प्ररूपित, दर्शित, निदर्शित), उपदर्शित किया था, (वैसा यह शरीर ज्ञायकशरीरद्रव्य-अध्ययन है ।)

[प्र.] एतद्विषयक कोई दृष्टान्त है ?

[उ.] (इस प्रकार शिष्य के पूछने पर आचार्य ने उत्तर दिया) जैसे घड़े में से घी या मधु के निकाल लिये जाने के बाद भी कहा जाता है—यह घी का घड़ा था, यह मधुकुंभ था ।

यह ज्ञायकशरीरद्रव्य-अध्ययन का स्वरूप है ।

५४२. से किं तं भवियसरीरदव्वज्झयणे ?

भवियसरीरदव्वज्झयणे जे जीवे जोणीजम्मणनिक्खंते इमेणं चेव आदत्तएणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं अज्झयणे त्ति पयं सेयकाले सिक्खिस्सति ण ताव सिक्खति, जहा को दिट्ठंतो ? अयं घयकुंभे भविस्सति, अयं महुकुंभे भविस्सति । से तं भवियसरीरदव्वज्झयणे ।

[५४२ प्र.] भगवन् ! भव्यशरीरद्रव्य-अध्ययन का क्या स्वरूप है ?

[५४२ उ.] आयुष्मन् ! जन्मकाल प्राप्त होने पर जो जीव योनिस्थान से बाहर निकला और इसी प्राप्त शरीरसमुदाय के द्वारा जिनोपदिष्ट भावानुसार 'अध्ययन' इस पद को सीखेगा, लेकिन अभी-वर्त्तमान में नहीं सीख रहा है (ऐसा उस जीव का शरीर भव्यशरीरद्रव्याध्ययन कहा जाता है) ।

[प्र.] इसका कोई दृष्टान्त है ?

[उ.] जैसे किसी घड़े में अभी मधु या घी नहीं भरा गया है, तो भी उसको यह घृतकुंभ होगा, मधुकुंभ होगा कहना । यह भव्यशरीरद्रव्याध्ययन का स्वरूप है ।

५४३. से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वज्झयणे ?

जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वज्झयणे पत्तय-पोत्थयलिहियं । से तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वज्झयणे । से तं णोआगमओ दव्वज्झणे । से तं दव्वज्झयणे ।

[५४३ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीरभव्यशरीव्यतिरिक्तद्रव्याध्ययन का क्या स्वरूप है ?

[५४३ उ.] आयुष्मन् ! पत्र या पुस्तक में लिखे हुए अध्ययन को ज्ञायकशरीरभव्यशरीर-व्यतिरिक्तद्रव्याध्ययन कहते हैं ।

इस प्रकार से नोआगमद्रव्याध्ययन का और साथ ही द्रव्याध्ययन का वर्णन पूर्ण हुआ ।

विवेचन—सूत्र ५३८ से ५४३ तक छह सूत्रों में द्रव्याध्ययन का आशय स्पष्ट किया है। इन सबकी व्याख्या पूर्वोक्त द्रव्यावश्यक की वक्तव्यता के अनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिये। किन्तु आवश्यक के स्थान पर अध्ययन पद का प्रयोग किया जाये। इसी प्रकार आगे के विवेचन के लिये भी जानना चाहिये।

आगमद्रव्य-अध्ययन की नयप्ररूपणा में व्यवहार और संग्रहनय की दृष्टि का उल्लेख किया है, शेष नयदृष्टियों सम्बन्धी स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नैगमनय की दृष्टि से जितने भी अध्ययन शब्द के ज्ञाता किन्तु अनुपयुक्त जीव हैं, उतने ही आगमद्रव्याध्ययन हैं। व्यवहारनय की मान्यता नैगमनय जैसी है। संग्रहनय की मान्यता एक या अनेक अनुपयुक्त आत्माओं को एक आगमद्रव्य-अध्ययन मानने की है। भेद को नहीं मानने से ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा एक अनुपयुक्त आत्मा एक आगमद्रव्य-अध्ययन है। ज्ञायक यदि अनुपयुक्त हो तो तीनों शब्दनय उसे अवस्तु-असत् मानते हैं। क्योंकि ज्ञायक होने पर अनुपयुक्तता संभव नहीं है और यदि अनुपयुक्त हो तो वह ज्ञायक नहीं हो सकता है।

भाव-अध्ययन

५४४. से किं तं भावज्झयणे ?

भावज्झयणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—आगमतो य णोआगमतो य।

[५४४ प्र.] भगवन् ! भाव-अध्ययन का क्या स्वरूप है ?

[५४४ उ.] आयुष्मन् ! भाव-अध्ययन के दो प्रकार हैं—(१) आगमभाव-अध्ययन (२) नोआगमभाव-अध्ययन।

५४५. से किं तं आगमतो भावज्झयणे ?

आगमतो भावज्झयणे जाणए उवउत्ते। से तं आगमतो भावज्झयणे।

[६४५ प्र.] भगवन् ! आगमभाव-अध्ययन का क्या स्वरूप है ?

[५४५ उ.] आयुष्मन् ! जो अध्ययन के अर्थ का ज्ञायक होने के साथ उसमें उपयोगयुक्त भी हो, उसे आगमभाव-अध्ययन कहते हैं।

५४६. से किं तं नोआगमतो भावज्झयणे ?

नोआगमतो भावज्झयणे—

अज्झप्पस्साऽऽणयणं, कम्माणं अवचओ उवचियाणं।
अणुवचओ य नवाणं, तम्हा अज्झयणमिच्छंति ॥ १२५ ॥

से तं णोआगमतो भावज्झयणे। से तं भावज्झयणे। से तं अज्झयणे।

[५४६ प्र.] भगवन् ! नोआगमभावाध्ययन का क्या स्वरूप है ?

[५४६ उ.] आयुष्मन् ! नोआगमभाव-अध्ययन का स्वरूप इस प्रकार है—

अध्यात्म में आने—सामायिक आदि अध्ययन में चित्त को लगाने, उपार्जित-पूर्वबद्ध कर्मों का

क्षय करने—निर्जरा करने और नवीन कर्मों का बंध नहीं होने देने का कारण होने से (मुमुक्षु महापुरुष) अध्ययन की अभिलाषा करते हैं। १२५

यह नोआगमभाव-अध्ययन का स्वरूप है। इस प्रकार से भाव-अध्ययन और साथ ही अध्ययन का वर्णन पूर्ण हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में भावाध्ययन का वर्णन किया गया है।

आगमभाव-अध्ययन का स्वरूप स्पष्ट है।

नोआगमभाव-अध्ययन विषयक स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नोआगमभावाध्ययन में प्रयुक्त 'नो' शब्द एकदेशवाची है। क्योंकि ज्ञान और क्रिया के समुदाय रूप होने से सामायिक आदि अध्ययन आगम के एकदेश हैं। इसीलिये सामायिक आदि को नोआगम से अध्ययन कहा है।

गाथागत पदों का सार्थक्य—'अज्झप्पस्साऽऽणयणं' पद की संस्कृत छाया—अध्यात्ममानयनं-अध्यात्मम्-आनयनम् है। इसमें अध्यात्म का अर्थ है चित्त और आनयन का अर्थ है लगाना। तात्पर्य यह हुआ कि सामायिक आदि में चित्त का लगाना अध्यात्मानयन कहा जाता है और इसका फल है—कम्माणं अवचओ ……………………नवाणं। अर्थात् सामायिक आदि में चित्त की निर्मलता होने के कारण कर्मनिर्जरा होती है, नवीन कर्मों का आश्रव-बंध नहीं होता है।

अक्षीणनिरूपण

५४७. से किं तं अज्झीणे ?

अज्झीणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—णामज्झीणे ठवणज्झीणे दव्वज्झीणे भावज्झीणे।

[५४७ प्र.] भगवन् ! (ओघनिष्पन्ननिक्षेप के द्वितीय भेद) अक्षीण का क्या स्वरूप है ?

[५४७ उ.] आयुष्मन् ! अक्षीण के चार प्रकार हैं। यथा—१. नाम-अक्षीण, २. स्थापना-अक्षीण, ३. द्रव्य-अक्षीण और ४. भाव-अक्षीण।

विवेचन—सूत्र में अक्षीण का वर्णन करना प्रारंभ किया है। अक्षीण का अर्थ पूर्व में वतलाया जा चुका है कि शिष्य-प्रशिष्य के क्रम से पठन-पाठन की परंपरा के चालू रहने से जिसका कभी क्षय न हो, उसे अक्षीण कहते हैं। अक्षीण के भी अध्ययन की तरह नामादि चार भेद हैं।

नाम-स्थापना-अक्षीण

५४८. नाम-ठवणाओ पुव्ववण्णियाओ।

[५४८] नाम और स्थापना अक्षीण का स्वरूप पूर्ववत् (नाम और स्थापना आवश्यक के समान] जानना चाहिये।

द्रव्य-अक्षीण

५४९. से किं तं दव्वज्झीणे ?

दव्वज्झीणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—आगमतो य नोआगमतो य।

[५४९ प्र.] भगवन् ! द्रव्य-अक्षीण का क्या स्वरूप है ?

[५४९ उ.] आयुष्मन् ! द्रव्य-अक्षीण के दो प्रकार हैं। यथा—१. आगम से, २. नोआगम से।

५५०. से किं तं आगमतो दव्वज्झीणे ?

आगमतो दव्वज्झीणे जस्स णं अज्झीणे त्ति पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं तं चेव जहा दव्वज्झयणे तहा भाणियव्वं, जाव से तं आगमतो दव्वज्झीणे।

[५५० प्र.] भगवन् ! आगमद्रव्य-अक्षीण का क्या स्वरूप है ?

[५५० उ.] आयुष्मन् ! जिसने अक्षीण इस पद को सीख लिया है, स्थिर, जित, मित, परिजित किया है इत्यादि जैसा द्रव्य-अध्ययन के प्रसंग में कहा है, वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये, यावत् वह आगम से द्रव्य-अक्षीण है।

५५१. से किं तं नोआगमतो दव्वज्झीणे ?

नोआगमतो दव्वज्झीणे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—जाणयसरीरदव्वज्झीणे भवियसरीर-दव्वज्झीणे जाणयसरीरभवियसरीरवतिरित्ते दव्वज्झीणे।

[५५१ प्र.] भगवन् ! नोआगम से द्रव्य-अक्षीण का क्या स्वरूप है ?

[५५१ उ.] आयुष्मन् ! नोआगमद्रव्य-अक्षीण के तीन प्रकार हैं। यथा—१. ज्ञायकशरीर-द्रव्य-अक्षीण २. भव्यशरीरद्रव्य-अक्षीण ३. ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्य-अक्षीण।

५५२. से किं तं जाणयसरीरदव्वज्झीणे ?

जाणयसरीरदव्वज्झीणे अज्झीणपयत्थाहिकारजाणयस्स जं सरीरयं ववगय-चुत-चइत-चत्तदेहं जहा दव्वज्झयणे तहा भाणियव्वं, जाव से तं जाणयसरीरदव्वज्झीणे।

[५५२ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीरद्रव्य-अक्षीण किसे कहते हैं ?

[५५२ उ.] आयुष्मन् ! अक्षीण पद के अर्थाधिकार के ज्ञाता का व्यपगत, च्युत, च्यवित, त्यक्तदेह आदि जैसा द्रव्य-अध्ययन के संदर्भ में वर्णन किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी करना चाहिये यावत् यही ज्ञायकअशरीरद्रव्य-अक्षीण का स्वरूप है।

५५३. से किं तं भवियसरीरदव्वज्झीणे ?

भवियसरीरदव्वज्झीणे जे जीवे जोणीजम्मणनिक्खंते जहा दव्वज्झयणे, जाव से तं भविय-सरीरदव्वज्झीणे।

[५५३ प्र.] भगवन् ! भव्यशरीरद्रव्य-अक्षीण किसे कहते हैं ?

[५५३ उ.] आयुष्मन् ! समय पूर्ण होने पर जो जीव योनि से निकलकर उत्पन्न हुआ आदि पूर्वोक्त भव्यशरीरद्रव्य-अध्ययन के जैसा इस भव्यशरीरद्रव्य-अक्षीण का वर्णन जानना चाहिये, यावत् यह भव्यशरीरद्रव्य-अक्षीण की वक्तव्यता है।

५५४. से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वज्झीणे ?

जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वज्झीणे सव्वागाससेढी। से तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वज्झीणे। से तं नोआगमओ दव्वज्झीणे। से तं दव्वज्झीणे।

[५५४ प्र.] भगवन्! ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्य-अक्षीण का क्या स्वरूप है ?

[५५४ उ.] आयुष्मन्! सर्वाकाश-श्रेणि ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्य-अक्षीण रूप है।

यह नोआगम से द्रव्य-अक्षीण का वर्णन है और इसका वर्णन करने से द्रव्य-अक्षीण का कथन पूर्ण हुआ।

विवेचन—उपर्युक्त सूत्र ५४७ से ५५४ तक अक्षीण के नाम, स्थापना और द्रव्य इन तीन प्रकारों का वर्णन पूर्वोक्त अध्ययन के अतिदेश के आधार से किया है। जिसका तात्पर्य यह है कि अध्ययन के प्रसंग में आवश्यक के अतिदेश के द्वारा जो और जैसा वर्णन किया है, वही और वैसा ही वर्णन यहाँ आवश्यक के स्थान पर अक्षीण शब्द को रखकर कर लेना चाहिये, लेकिन इतना विशेष है कि ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्य-अक्षीण 'सर्वाकाश श्रेणी' रूप है। जिसका आशय यह है—

क्रमबद्ध एक-एक प्रदेश की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। अतएव लोक और अलोक रूप अनन्तप्रदेशी सर्व आकाशद्रव्य की श्रेणी में से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहार किये जाने पर भी अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालों में क्षीण नहीं हो सकने से वह सर्वाकाश की श्रेणी उभयव्यतिरिक्त-द्रव्य-अक्षीण है।

भाव-अक्षीण

५५५. से किं तं भावज्झीणे ?

भावज्झीणे दुविहे पण्णत्ते। तं तहा—आगमतो य नोआगमतो य।

[५५५ प्र.] भगवन्! भाव-अक्षीण का क्या स्वरूप है ?

[५५५ उ.] आयुष्मन्! भाव-अक्षीण दो प्रकार का है, यथा—१. आगम से, २. नोआगम से।

५५६. से किं तं आगमतो भावज्झीणे ?

आगमतो भावज्झीणे जाणए उवउत्ते। से तं आगमतो भावज्झीणे।

[५५६ प्र.] भगवन्! आगमभाव-अक्षीण का क्या स्वरूप है ?

[५५६ उ.] आयुष्मन्! ज्ञायक जो उपयोग से युक्त हो— जो जानता हो और उपयोग सहित हो वह आगम की अपेक्षा भाव-अक्षीण है।

५५७. से किं तं नोआगमतो भावज्झीणे।

नोआगमतो भावज्झीणे—

जह दीवा दीवसतं पइप्पए, दिप्पए य सो दीवो।
दीवसमा आयरिया दिप्पंति, परं च दीवेंति ॥१२६॥

से तं नोआगमतो भावज्झीणे । से तं भावज्झीणे । से तं अज्झीणे ।

[५५७ प्र.] भगवन् ! नोआगमभाव-अक्षीण का क्या स्वरूप है ?

[५५७ उ.] आयुष्मन् ! जैसे दीपक दूसरे सैकड़ों दीपकों को प्रज्वलित करके भी प्रदीप्त रहता है, उसी प्रकार आचार्य स्वयं दीपक के समान देदीप्यमान हैं और दूसरों (शिष्य वर्ग) को देदीप्यमान करते हैं । १२६

इस प्रकार से नोआगमभाव-अक्षीण का स्वरूप जानना चाहिये । यही भाव-अक्षीण और अक्षीण की वक्तव्यता है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में सप्रभेद भाव-अक्षीण का वर्णन कर अक्षीण की वक्तव्यता की समाप्ति का सूचन किया है ।

उपयोग आगमभाव-अक्षीण कैसे ?— श्रुतकेवली के श्रुतोपयोग की अन्तर्मुहूर्त्तकालीन अनन्त पर्याय होती हैं । उनमें से प्रतिसमय एक-एक पर्याय का अपहार किये जाने पर भी अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल में उनका क्षय होना संभव नहीं हो सकने से वह आगमभाव अक्षीण रूप है ।

नोआगमभाव-अक्षीणता के निर्दिष्ट उदाहरण का आशय यह है—अध्ययन-अध्यापन द्वारा श्रुत की निरंतरता रहना, श्रुत की परंपरा का क्षीण न होना भाव-अक्षीणता है । इसमें आचार्य का उपयोग आगम और वाक्-कायव्यापार रूप योग अनागम रूप है किन्तु बोधप्राप्ति में सहायक है । यही बताने के लिये आगम के साथ 'नो' शब्द दिया है ।

आय-निरूपण

५५८. से किं तं आए ?

आए चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा—नामाए ठवणाए दव्वाए भावाए ।

[५५८ प्र.] भगवन् ! आय का क्या स्वरूप है ?

[५५८ उ.] आयुष्मन् ! आय के चार प्रकार हैं । यथा— १. नाम-आय, २. स्थापना-आय, ३. द्रव्य-आय, ४. भाव-आय ।

विवेचन—अप्राप्त की प्राप्ति—लाभ होने को आय कहते हैं । इसके भी अध्ययन, अक्षीण की तरह चार प्रकार हैं ।

नाम-स्थापना-आय

५५९. नाम-ठवणाओ पुव्वभणियाओ ।

[५५९] नाम-आय और स्थापना-आय का वर्णन पूर्वोक्त नाम और स्थापना आवश्यक के अनुरूप जानना चाहिए ।

५६०. से किं तं दव्वाए ?

दव्वाए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—आगमतो य नोआगमतो य ।

[५६० प्र.] भगवन् ! द्रव्य-आय का क्या स्वरूप है ?

[५६० उ.] आयुष्मन् ! द्रव्य-आय के दो भेद इस प्रकार हैं—१. आगम से, २. नोआगम से।

आगम-द्रव्य-आय

५६१. से किं तं आगमतो दव्वाए ?

जस्स णं आए त्ति पयं सिक्खितं ठितं जाव अणुवओगो दव्वमिति कट्टु, जाव जावइया अणुवउत्ता आगमओ तावइया ते दव्वाया, जाव से तं आगमओ दव्वाए।

[५६१ प्र.] भगवन् ! आगम से द्रव्य आय का क्या स्वरूप है ?

[५६१ उ.] आयुष्मन् ! जिसने आय यह पद सीख लिया है, स्थिर कर लिया है किन्तु उपयोग रहित होने से द्रव्य है यावत् जितने उपयोग रहित हैं, उतने ही आगम से द्रव्य-आय हैं, यह आगम से द्रव्य-आय का स्वरूप जानना चाहिये।

नोआगमद्रव्य-आय

५६२. से किं तं नोआगमओ दव्वाए ?

नोआगमओ दव्वाए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—जाणयसरीरदव्वाए भवियसरीरदव्वाए जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वाए।

[५६२ प्र.] भगवन् ! नोआगमद्रव्य-आय का क्या स्वरूप है ?

[५६२ उ.] आयुष्मन् ! नोआगमद्रव्य-आय के तीन प्रकार हैं। यथा—१. ज्ञायकशरीरद्रव्य-आय, २. भव्यशरीरद्रव्य-आय, ३. ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्य-आय।

५६३. से किं तं जाणयसरीरदव्वाए ?

जाणयसरीरदव्वाए आयपयत्थाहिकारजाणगस्स जं सरीरगं ववगय-चुत-चतिय-चत्तदेहं सेसं जहा दव्वज्झयणे, जाव से तं जाणयसरीरदव्वाए।

[५६३ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीरद्रव्य-आय किसे कहते हैं ?

[५६३ उ.] आयुष्मन् ! आय पद के अर्थाधिकार के ज्ञाता का व्यपगत, च्युत, च्यवित त्यक्त आदि शरीर द्रव्याध्ययन की वक्तव्यता जैसा ही ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्य-आय का स्वरूप जानना चाहिये।

५६४. से किं तं भवियसरीरदव्वाए ?

भवियसरीरदव्वाए जे जीवे जोणीजम्मणणिक्खंते सेसं जहा दव्वज्झयणे, जाव से तं भवियसरीरदव्वाए।

[५६४ प्र.] भगवन् ! भव्यशरीरद्रव्य-आय का क्या स्वरूप है ?

[५६४ उ.] आयुष्मन् ! समय पूर्ण होने पर योनि से निकलकर जो जन्म को प्राप्त हुआ आदि भव्यशरीरद्रव्य-अध्ययन के वर्णन के समान भव्यशरीरद्रव्य-आय का स्वरूप जानना चाहिये।

५६५. से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वाये ?

जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वाये तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—लोइए कुप्पावयणिए लोगुत्तरिए।

[५६५ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त-द्रव्य आय किसे कहते हैं ?

[५६५ उ.] आयुष्मन् ! ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त-द्रव्य-आय के तीन प्रकार हैं। यथा—१. लौकिक, २. कुप्रवाचनिक, ३. लोकोत्तर।

५६६. से किं तं लोइए ?

लोइए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सचित्ते अचित्ते मीसए य।

[५६६ प्र.] भगवन् ! (उभयव्यतिरिक्त) लौकिक द्रव्य-आय का क्या स्वरूप है ?

[५६६ उ.] आयुष्मन् ! लौकिकद्रव्य-आय के तीन प्रकार कहे गये हैं। यथा—१. सचित्त, २. अचित्त और मिश्र।

५६७. से किं तं सचित्ते ?

सचित्ते तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—दुपयाणं चउप्पयाणं अपयाणं। दुपयाणं दासाणं, दासीणं, चउप्पयाणं आसाणं हत्थीणं, अपयाणं अंबाणं अंबाडगाणं आए। से तं सचित्ते।

[५६७ प्र.] भगवन् ! सचित्त लौकिक-आय का क्या स्वरूप है ?

[५६७ उ.] आयुष्मन् ! सचित्त लौकिक-आय के भी तीन प्रकार हैं। यथा—१. द्विपद-आय २. चतुष्पद-आय, ३. अपद-आय। इनमें से दास-दासियों की आय (प्राप्ति) द्विपद-आय रूप है। अश्वों (घोड़ों) हाथियों की प्राप्ति चतुष्पद-आय रूप और आम, आमला के वृक्षों आदि की प्राप्ति अपद-आय रूप है। इस प्रकार सचित्त आय का स्वरूप जानना चाहिये।

५६८. से किं तं अचित्ते ?

अचित्ते सुवण्ण-रयत-मणि-मोत्तिय-संख-सिलप्पवाल-रत्तरयणाणं [संतसावएज्जस्स] आये। से तं अचित्ते।

[५६८ प्र.] भगवन् ! (उभयव्यतिरिक्तलौकिक-आय के दूसरे भेद) अचित्त-आय का क्या स्वरूप है ?

[५६८ उ.] आयुष्मन् ! सोना-चांदी, मणि-मोती, शंख, शिला, प्रवाल (मूंगा) रक्तरत्न (माणिक) आदि (सारवान् द्रव्यों) की प्राप्ति अचित्त-आय है।

५६९. से किं तं मीसए ?

मीसए दासाणं दासीणं आसाणं हत्थीणं समाभरियाउज्जालंकियाणं आये। से तं मीसए। से तं लोइए।

[५६९ प्र.] भगवन् ! मिश्र (सचित्त-अचित्त उभय रूप) आय किसे कहते हैं ?

[५६९ उ.] आयुष्मन् ! अलंकारादि से तथा वाद्यों से विभूषित दास-दासियों, घोड़ों, हाथियों आदि की प्राप्ति को मिश्र आय कहते हैं।

इस प्रकार से लौकिक-आय का स्वरूप जानना चाहिये।

५७०. से किं तं कुप्पावयणिये ?

कुप्पावयणिये तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सचित्ते अचित्ते मीसए य। तिण्णि वि जहा लोइए, जाव से तं कुप्पावयणिए।

[५७० प्र.] भगवन् ! कुप्रवाचनिक-आय का क्या स्वरूप है ?

[५७० उ.] आयुष्मन् ! कुप्रवाचनिक आय भी तीन प्रकार की है। यथा—१. सचित्त, २. अचित्त, ३. मिश्र। इन तीनों का वर्णन लौकिक-आय के तीनों भेदों के अनुरूप जानना चाहिये यावत् यही कुप्रवाचनिक आय है।

५७१. से किं तं लोगुत्तरिए ?

लोगुत्तरिए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सचित्ते अचित्ते मीसए य।

[५७१ प्र.] भगवन् ! लोकोत्तरिक-आय का क्या स्वरूप है ?

[५७१ उ.] आयुष्मन् ! लोकोत्तरिक-आय के तीन प्रकार कहे गये हैं। यथा—१. सचित्त, २. अचित्त और ३. मिश्र।

५७२. से किं तं सचित्ते ?

सचित्ते सीसाणं सिस्सिणियाणं आये। से तं सचित्ते।

[५७२ प्र.] भगवन् ! सचित्त-लोकोत्तरिक-आय का क्या स्वरूप है ?

[५७२ उ.] आयुष्मन् ! शिष्य-शिष्याओं की प्राप्ति सचित्त-लोकोत्तरिक-आय है।

५७३. से किं तं अचित्ते ?

अचित्ते पडिग्गहाणं वत्थाणं कंबलाणं पायपुंछणाणं आए। से तं अचित्ते।

[५७३ प्र.] भगवन् ! अचित्त लोकोत्तरिक-आय का क्या स्वरूप है ?

[५७३ उ.] आयुष्मन् ! अचित्त पात्र, वस्त्र, पादप्रोंच्छन (रजोहरण) आदि की प्राप्ति को अचित्त लोकोत्तरिक-आय कहते हैं।

५७४. से किं तं मीसए ?

मीसए सीसाणं सिस्सिणियाणं सभंडोवकरणाणं आये। से तं मीसए। से तं लोगुत्तरिए, से तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वाए। से तं नोआगमओ दव्वाए। से तं दव्वाए।

[५७४ प्र.] भगवन् ! मिश्र लोकोत्तरिक-आय किसे कहते हैं ?

[५७४ उ.] आयुष्मन् ! भांडोपकरणादि सहित शिष्य-शिष्याओं की प्राप्ति-लाभ को मिश्र आय कहते हैं। यही लोकोत्तरिक-आय का स्वरूप है।

इस प्रकार से ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्य-आय का वर्णन जानना चाहिये और इसके साथ ही नोआगमद्रव्य-आय एवं द्रव्य-आय की वक्तव्यता भी पूर्ण हुई।

विवेचन—सूत्र संख्या ५५८ से ५७४ तक ओघनिष्पन्ननिक्षेप के तीसरे प्रकार आय का नाम, स्थापना और द्रव्य दृष्टि से विचार किया गया है। नाम, स्थापना और ज्ञायकशरीर तथा भव्यशरीर रूप द्रव्य आय का वर्णन तो द्रव्य-आवश्यक तक के इन्हीं भेदों के समान है। लेकिन ज्ञायकशरीरभव्य-शरीरव्यतिरिक्तद्रव्य-आय के वर्णन का रूप भिन्न है। क्योंकि प्रायः स्थूल दृश्य पदार्थों की प्राप्ति-लाभ को आय माना जाता है और सामान्यतः प्राप्त करने योग्य अथवा प्राप्त होने योग्य पदार्थ सजीव अजीव और मिश्र अवस्था वाले होते हैं। उनके अपेक्षादृष्टि से लौकिक, कुप्रवाचनिक और लोकोत्तरिक यह तीन-तीन भेद होते हैं। लौकिक आय आदि का स्वरूप सूत्र में स्पष्ट है।

भाव-आय

५७५. से किं तं भावाए?

भावाए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—आगमतो य नोआगमतो य।

[५७५ प्र.] भगवन्! भाव-आय का क्या स्वरूप है?

[५७५ उ.] आयुष्मन्! भाव-आय के दो प्रकार हैं। यथा—१. आगम से २. नोआगम से।

५७६. से किं तं आगमतो भावाए?

आगमतो भावाए जाणए उवउत्ते। से तं आगमतो भावाए।

[५७६ प्र.] भगवन्! आगमभाव-आय का क्या स्वरूप है?

[५८६ उ.] आयुष्मन्! आयपद के ज्ञाता और साथ ही उसके उपयोग से युक्त जीव आगम-भाव-आय हैं।

५७७. से किं तं नोआगमतो भावाए?

नोआगमतो भावाए दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—पसत्थे य अप्पसत्थे य।

[५७७ प्र.] भगवन्! नोआगमभाव-आय का क्या स्वरूप है?

[५७७ उ.] आयुष्मन्! नोआगमभाव-आय के दो प्रकार हैं, यथा—१. प्रशस्त और अप्रशस्त।

५७८. से किं तं पसत्थे?

पसत्थे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—णाणाए दंसणाए चरित्ताए। से तं पसत्थे।

[५७८ प्र.] भगवन्! प्रशस्त नोआगमभाव-आय किसे कहते हैं?

[५७८ उ.] आयुष्मन्! प्रशस्त नोआगमभाव-आय के तीन प्रकार हैं। यथा—१. ज्ञान-आय, २. दर्शन-आय, ३. चारित्र-आय।

५७९. से किं तं अपसत्थे?

अपसत्थे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—कोहाए माणाए मायाए लोभाए। से तं अपसत्थे। से तं णोआगमतो भावाए। से तं भावाए। से तं आये।

[५७९ प्र.] भगवन् ! अप्रशस्तनोआगमभाव-आय किसे कहते हैं ?

[५७९ उ.] आयुष्मन् ! अप्रशस्तनोआगमभाव-आय के चार प्रकार हैं। यथा—१. क्रोध-आय, २. मान-आय, ३. माया-आय और ४. लोभ-आय। यही अप्रशस्तभाव-आय है। इस प्रकार से नोआगमभाव-आय और भाव-आय एवं आय की वक्तव्यता का वर्णन जानना चाहिये।

विवेचन—भाव-आय का वर्णन सुगम है। विशेष इतना है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आय मोक्षप्राप्ति का उपाय होने के साथ आत्मिक गुण रूप होने से प्रशस्त है और क्रोधादि की आय अप्रशस्त इसलिये है कि वे आत्मा की वैभाविक परिणति एवं संसार के कारण हैं। इनकी प्राप्ति से जीव संसार में परिभ्रमण करता है और संसार में परिभ्रमण करना जीव के लिए अनिष्ट है।

क्षपणानिरूपण

५८०. से किं तं झवणा ?

झवणा चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा—नामज्झवणा ठवणज्झवणा दव्वज्झवणा भावज्झवणा।

[५८० प्र.] भगवन् ! क्षपणा का क्या स्वरूप है ?

[५८० उ.] आयुष्मन् ! क्षपणा के भी चार प्रकार जानना चाहिये। यथा—१. नामक्षपणा २. स्थापनाक्षपणा ३. द्रव्यक्षपणा ४. भावक्षपणा।

विवेचन—कर्मनिर्जरा, क्षय या अपचय को क्षपणा कहते हैं। आगे नाम आदि चारों प्रकार की क्षपणा का वर्णन करते हैं।

नामस्थापनाक्षपणा

५८१. नाम-ठवणाओ पुव्वभणियाओ।

[५८१] नाम और स्थापनाक्षपणा का वर्णन पूर्ववत् (नाम और स्थापना आवश्यक के अनुरूप) जानना चाहिये।

द्रव्यक्षपणा

५८२. से किं तं दव्वज्झवणा ?

दव्वज्झवणा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—आगमतो य नोआगमतो य।

[५८२ प्र.] भगवन् ! द्रव्यक्षपणा का क्या स्वरूप है ?

[५८२ उ.] आयुष्मन् ! द्रव्यक्षपणा दो प्रकार की है। यथा—१. आगम से और २. नोआगम से।

५८३. से किं तं आगमतो दव्वज्झवणा ?

आगमतो दव्वज्झवणा जस्स णं झवणेत्ति पदं सिक्खियं ठितं जितं मितं परिजियं, सेसं जहा दव्वज्झयणे तहा भाणियव्वं, जाव से तं आगमतो दव्वज्झवणा।

[५८३ प्र.] भगवन् ! आगमद्रव्यक्षपणा किसे कहते हैं ?

[५८२ उ.] आयुष्मन् ! जिसने 'क्षपणा' यह पद सीख लिया है, स्थिर, जित, मित और परिजित कर लिया है, इत्यादि वर्णन द्रव्याध्ययन के समान यावत् यह आगम से द्रव्यक्षपणा है तक जानना चाहिये ।

५८४. से किं तं नोआगमओ दव्वज्झवणा ?

नोआगमओ दव्वज्झवणा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—जाणयसरीरदव्वज्झवणा भवियसरीरदव्वज्झवणा जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वज्झवणा ।

[५८४ प्र.] भगवन् ! नोआगमद्रव्यक्षपणा का क्या स्वरूप है ?

[५८४ उ.] आयुष्मन् ! नोआगमद्रव्यक्षपणा के तीन भेद हैं । यथा—१. ज्ञायकशरीरद्रव्यक्षपणा २. भव्यशरीरद्रव्यक्षपणा, ३. ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यक्षपणा ।

५८५. से किं तं जाणयसरीरदव्वज्झवणा ?

जाणयसरीरदव्वज्झवणा झवणापयत्थाहिकार-जाणयस्स जं सरीरयं ववगय-चुय-चइय-चत्तदेहं, सेसं जहा दव्वज्झयणे, जाव य से तं जाणयसरीरदव्वज्झवणा ।

[५८५ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीरद्रव्यक्षपणा का क्या स्वरूप है ?

[५८५ उ.] आयुष्मन् ! क्षपणा पद के अर्थाधिकार के ज्ञाता का व्यपगत, च्युत, च्यावित, त्यक्त शरीर इत्यादि सर्व वर्णन द्रव्याध्ययन के समान जानना चाहिये । यह ज्ञायकशरीरद्रव्यक्षपणा का स्वरूप है ।

५८६. से किं तं भवियसरीरदव्वज्झवणा ?

भवियसरीरदव्वज्झवणा जे जीवे जोणीजम्मणणिक्खंते आयत्तएणं० जिणदिट्ठेणं भावेणं ज्झवण त्ति पयं सेयकाले सिक्खिस्सति, ण ताव सिक्खइ, को दिट्ठंतो ? जहा अयं घयकुंभे भविस्सति, अयं महुकुंभे भविस्सति । से तं भवियसरीरदव्वज्झवणा ।

[५८६ प्र.] भगवन् ! भव्यशरीरद्रव्यक्षपणा किसे कहते हैं ?

[५८६ उ.] आयुष्मन् ! समय पूर्ण होने पर जो जीव उत्पन्न हुआ और प्राप्त शरीर से जिनोपदिष्ट भाव के अनुसार भविष्य में क्षपणा पद को सीखेगा, किन्तु अभी नहीं सीख रहा है, ऐसा वह शरीर भव्यशरीरद्रव्यक्षपणा है ।

[प्र.] इसके लिये दृष्टान्त क्या है ?

[उ.] जैसे किसी घड़े में अभी घी अथवा मधु नहीं भरा गया है, किन्तु भविष्य में भरे जाने की अपेक्षा अभी से यह घी का घड़ा होगा, यह मधुकलश होगा, ऐसा कहना ।

५८७. से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वज्झवणा ?

जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वज्झवणा जहा जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वाए तहा भाणियव्वा, जाव से तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वज्झवणा । से तं नोआगमओ दव्वज्झवणा । से तं दव्वज्झवणा ।

[५८७ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यक्षपणा का क्या स्वरूप है ?

[५८७ उ.] आयुष्मन् ! ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यक्षपणा का स्वरूप ज्ञायकशरीर-भव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्य-आय के समान जानना चाहिये। इस प्रकार से नोआगमद्रव्यक्षपणा और साथ ही द्रव्यक्षपणा का वर्णन पूर्ण हुआ।

विवेचन—यहां सूत्र ५८१ से ५८७ तक में अध्ययन के अतिदेश द्वारा नाम, स्थापना और द्रव्य-क्षपणा का वर्णन किया है। अतः विशेष विवेचन की अपेक्षा नहीं है।

भावक्षपणा

५८८. से किं तं भावज्झवणा ?

भावज्झवणा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—आगमतो य णोआगमतो य।

[५८८ प्र.] भगवन् ! भावक्षपणा का क्या स्वरूप है।

[५८८ उ.] आयुष्मन् ! भावक्षपणा दो प्रकार की है। यथा—१. आगम से २. नोआगम से।

५८९. से किं तं आगमओ भावज्झवणा ?

आगमओ भावज्झवणा झवणापयत्थाहिकारजाणए उवउत्ते। से तं आगमतो भावज्झवणा।

[५८९ प्र.] भगवन् ! आगमभावक्षपणा का क्या स्वरूप है।

[५८९ उ.] आयुष्मन् ! क्षपणा इस पद के अर्थाधिकार का उपयोगयुक्त ज्ञाता आगम से भावक्षपणा रूप है।

५९०. से किं तं णोआगमतो भावज्झवणा ?

णोआगमतो भावज्झवणा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—पसत्था य अप्पसत्था य।

[५९० प्र.] भगवन् ! नोआगमभावक्षपणा का क्या स्वरूप है ?

[५९० उ.] आयुष्मन् ! नोआगमभावक्षपणा दो प्रकार की है। यथा—१. प्रशस्तभावक्षपणा २. अप्रशस्तभावक्षपणा।

५९१. से किं तं पसत्था ?

पसत्था चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा—कोहज्झवणा माणज्झवणा मायज्झवणा लोभज्झवणा। से तं पसत्था।

[५९१ प्र.] भगवन् ! प्रशस्तभावक्षपणा का क्या स्वरूप है ?

[५९१ उ.] आयुष्मन् ! नोआगमप्रशस्तभावक्षपणा चार प्रकार की है। यथा—१. क्रोधक्षपणा २. मानक्षपणा, ३. मायाक्षपणा और लोभक्षपणा। यही प्रशस्तभावक्षपणा का स्वरूप है।

५९२. से किं तं अप्पसत्था ?

अप्पसत्था तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—नाणज्झवणा दंसणज्झवणा चरित्तज्झवणा। से तं अप्पसत्था। से तं नोआगमतो भावज्झवणा। से तं भावज्झवणा। से तं झवणा। से तं ओहनिप्फण्णे।

[५९२ प्र.] भगवन् ! अप्रशस्तभावक्षपणा का क्या स्वरूप है ?

[५९२ उ.] आयुष्मन् ! अप्रशस्तभावक्षपणा तीन प्रकार की कही गई है। यथा—१. ज्ञानक्षपणा, २. दर्शनक्षपणा, ३. चारित्रक्षपणा। यही अप्रशस्तभावक्षपणा है।

इस प्रकार से नोआगम भावक्षपणा, भावक्षपणा, क्षपणा और साथ ही ओघनिष्पन्ननिक्षेप का वर्णन पूर्ण हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में भावक्षपणा का विस्तार से वर्णन करके ओघनिष्पन्ननिक्षेप की वक्तव्यता की समाप्ति का उल्लेख किया है।

भावक्षपणा का वर्णन स्पष्ट और सुगम है लेकिन इतना विशेष है कि किसी-किसी प्रति में अनुयोगद्वारसूत्र के मूलपाठ में नोआगमभावक्षपणा के प्रशस्त प्रकार में ज्ञानक्षपणा, दर्शनक्षपणा, चारित्रक्षपणा ये तीन भेद एवं अप्रशस्त के रूप में क्रोध, मान, माया, लोभ क्षपणा ये चार भेद बताये हैं। लेकिन यहां उससे विपरीत भेद और नामों का उल्लेख किया है। जो उपर्युक्त सूत्र पाठ से स्पष्ट है।

इस प्रकार सामान्य से तो यह मतभिन्नता प्रतीत होती है। लेकिन आपेक्षिक दृष्टि से विचार किया जाये तो यह सामासिक दृष्टिकोण का अंतर है, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

यहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ के क्षय को प्रशस्त इसलिये माना गया है कि ये क्रोधादि संसार के कारण हैं, अतएव संसार के कारणभूत इन क्रोधादि का क्षय प्रशस्त. शुभ होने से प्रशस्तभावक्षपणा है और इससे विपरीत ज्ञानादित्रय का क्षय अप्रशस्त इसलिये है कि आत्मगुणों की क्षीणता संसार का कारण है।

एक जगह 'प्रशस्त' विशेषण को 'भाव' का और दूसरी जगह 'क्षपणा' का विशेषण माना गया है। अतः प्रशस्त ज्ञान आदि गुणों के क्षय को प्रशस्तभावक्षपणा के रूप में एवं अप्रशस्त क्रोधादि के क्षय को अप्रशस्तभावक्षपणा के रूप में ग्रहण किया है। इसी आपेक्षिक दृष्टि के कारण किसी-किसी प्रति में यहाँ—प्रस्तुत पाठ से अंतर प्रतीत होता है।

इस प्रकार से निक्षेप के प्रथम भेद ओघनिष्पन्ननिक्षेप का वर्णन करने के अनन्तर अब द्वितीय भेद नामनिष्पन्ननिक्षेप की प्ररूपणा प्रारंभ करते हैं।

नामनिष्पन्ननिक्षेपप्ररूपणा

५९३. से किं तं नामनिप्फण्णे ?

नामनिप्फण्णे सामाइए। से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा— णामसामाइए ठवणासामाइए दव्वसामाइए भावसामाइए।

[५९३ प्र.] भगवन् ! (निक्षेप के द्वितीय भेद) नामनिष्पन्न निक्षेप का क्या स्वरूप है ?

[५९३ उ.] आयुष्मन् ! नामनिष्पन्न सामायिक है। वह सामायिक चार प्रकार का है। यथा—१. नामसामायिक, २. स्थापनासामायिक, ३. द्रव्यसामायिक ४. भावसामायिक।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र नामनिष्पन्ननिक्षेप का वर्णन करने की भूमिका है।

सूत्र में नामनिष्पन्ननिक्षेप का लक्षण स्पष्ट करने के लिये 'सामाइए' पद दिया है। इसका अर्थ यह है कि पूर्व में अध्ययन, अक्षीण आदि पदों द्वारा किये गये सामान्य उल्लेख का पृथक्-पृथक् उस-उस विशेष नामनिर्देश पूर्वक कथन करने को नामनिष्पन्ननिक्षेप कहते हैं।

सूत्रगत सामायिक पद उपलक्षण है, अतएव सामायिक की तरह विशेष नाम के रूप में चतुर्विंशतिस्तव आदि का भी ग्रहण समझ लेना चाहिये।

यह नामनिष्पन्ननिक्षेप भी पूर्व की तरह नामादि के भेद से चार प्रकार का है। सूत्रकार जैसे विशेष नाम के रूप में सामायिक पद को माध्यम बना कर वर्णन कर रहे हैं, उसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तव आदि नामों का भी वर्णन समझ लेना चाहिये।

अब सूत्रोक्त क्रम से नामादि सामायिक का वर्णन करते हैं।

नाम-स्थापना-सामायिक

५९४. णाम-ठवणाओ पुव्वभणियाओ।

[५९४] नामसामायिक और स्थापनासामायिक का स्वरूप पूर्ववत् जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र में नाम और स्थापनासामायिक की व्याख्या करने के लिये 'पुव्वभणियाओ' पद दिया है। अर्थात् पूर्व में नाम-आवश्यक और स्थापना-आवश्यक की जैसी वक्तव्यता है, तदनुरूप यहाँ आवश्यक के स्थान पर सामायिक पद का प्रक्षेप करके व्याख्या कर लेनी चाहिए।

द्रव्यसामायिक

५९५. दव्वसामाइए वि तहेव, जाव से तं भवियसरीरदव्वसामाइए।

[५९२] भव्यशरीरद्रव्यसामायिक तक द्रव्यसामायिक का वर्णन भी तथैव (द्रव्य-आवश्यक के वर्णन जैसा) जानना चाहिये।

५९६. से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वसामाइए ?

जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वसामाइए पत्तय-पोत्थयलिहियं। से तं जाणयसरीर-भवियसरीरवइरित्ते दव्वसामाइए। से तं णोआगमतो दव्वसामाइए। से तं दव्वसामाइए।

[५९६ प्र.] भगवन् ! ज्ञायकशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्त द्रव्यसामायिक का क्या स्वरूप है ?

[५९६ उ.] आयुष्मन् ! पत्र में अथवा पुस्तक में लिखित 'सामायिक' पद ज्ञशरीरभव्यशरीर-व्यतिरिक्तद्रव्य सामायिक है।

इस प्रकार से नोआगमद्रव्यसामायिक एवं द्रव्य सामायिक की वक्तव्यता जानना चाहिये।

विवेचन—सूत्र ५९५, ५९६ में द्रव्यसामायिक के दो विभाग करके वर्णन किया है। जिसका आशय यह है कि आगम तथा नोआगम रूप दूसरे भेद के ज्ञायकशरीर, भव्यशरीर प्रभेद तक का वर्णन तो पूर्ववर्णित आवश्यक के अनुरूप है। किन्तु उभयव्यतिरिक्त का वर्णन उससे भिन्न होने के कारण सूत्रानुसार जान लेना चाहिये।

भावसामायिक

५९७. से किं तं भावसामाइए ?

भावसामाइए दुविहे पण्णत्ते । तं०—आगमतो य नोआगमतो य ।

[५९७ प्र.] भगवन् ! भावसामायिक का क्या स्वरूप है ?

[५९७ उ.] आयुष्मन् ! भावसामायिक के दो प्रकार हैं। यथा—१. आगमभावसामायिक २. नोआगमभावसामायिक।

५९८. से किं तं आगमतो भावसामाइए ?

आगमतो भावसामाइए भावसामाइयपयत्थाहिकारजाणए उवउत्ते । से तं आगमतो भावसामाइए ।

[५९८ प्र.] भगवन् ! आगमभावसामायिक का क्या स्वरूप है ?

[५९८ उ.] आयुष्मन् ! सामायिक पद के अर्थाधिकार का उपयोगयुक्त ज्ञायक आगम से भावसामायिक है।

५९९. [अ] से किं तं नोआगमतो भावसामाइए ?

नोआगमतो भावसामाइए—

जस्स सामाणिओ अप्पा संजमे णियमे तवे ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥ १२७ ॥
जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं ॥ १२८ ॥

[५९९ (अ) प्र.] भगवन् ! नोआगमभावसामायिक का क्या स्वरूप है ?

[५९९ (अ) उ.] जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में संनिहित—लीन है, उसी को सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान् का कथन है। १२७

जो सर्व भूतों—त्रस, स्थावर आदि प्राणियों के प्रति समभाव धारण करता है, उसी को सामायिक होती है, ऐसा केवली भगवान् ने कहा है। १२८

विवेचन—इन दो गाथाओं में सामायिक का लक्षण एवं उसके अधिकारी का संकेत किया है।

संयम—मूलगुणों, नियम—उत्तरगुणों, तप—अनशन आदि तपों में निरत एवं त्रस, स्थावर, रूप सभी जीवों पर समभाव का धारक सामायिक का अधिकारी है। जिसका फलितार्थ यह हुआ—संयम, नियम, तप, समभाव का समुदाय सामायिक है। इसीलिये समस्त जिनवाणी का सार बताते हुए आचार्यों ने इसकी अनेक लाक्षणिक व्याख्यायें की हैं—

१. बाह्य परिणतियों से विरत होकर आत्मोन्मुखी होने को सामायिक कहते हैं।
२. सम अर्थात् मध्यस्थभावयुक्त साधक की मोक्षाभिमुखी प्रवृत्ति सामायिक कहलाती है।
३. मोक्ष के साधन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की साधना को सामायिक कहते हैं।

४. साम—सब जीवों पर मैत्री भाव की प्राप्ति सामायिक है।
५. सावद्ययोग से निवृत्ति और निरवद्ययोग में प्रवृत्ति सामायिक है।

सामायिक के अधिकारी की संज्ञायें

५६६. [आ] जह मम ण पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य सममणती तेण सो समणो ॥ १२९ ॥
णत्थि य से कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥ १३० ॥

[५९९ (आ)] जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नहीं है, उसी प्रकार सभी जीवों को भी प्रिय नहीं है, ऐसा जानकर—अनुभव कर जो न स्वयं किसी प्राणी का हनन करता है, न दूसरों से करवाता है और न हनन की अनुमोदना करता है, किन्तु सभी जीवों को अपने समान मानता है, वही समण (श्रमण) कहलाता है। १२९

जिसको किसी जीव के प्रति द्वेष नहीं है और न राग है, इस कारण वह सममन वाला होता है। यह प्रकारान्तर से समन (श्रमण) का दूसरा पर्यायवाची नाम है। १३०

विवेचन—पूर्व गाथाओं में सामायिक के अधिकारी का कथन किया था और इन दोनों गाथाओं द्वारा उनके लिये प्रयुक्त समण आदि संज्ञाओं का निरूपण किया है। जिनकी व्याख्या इस प्रकार है—

१. सम्यक् प्रकार से जो मूलगुण रूप संयम, उत्तरगुण रूप नियम और अनशनादि रूप तप में निहित—रत—लीन है, वह समण कहलाता है।

२. जो शत्रुमित्रा का विकल्प न करके सभी को समान मानकर प्रवृत्ति करता है, वह समण कहलाता है।

३. जैसे मुझे दुःख इष्ट नहीं, उसी प्रकार सभी जीवों को भी हननादि जनित दुःख प्रिय नहीं है। ऐसा अनुभव कर सभी को स्व-समान मानता है, वह सममन—समन—श्रमण है।

अब उपमाओं द्वारा श्रमण का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

श्रमण की उपमायें

५६६. [इ] उरग- गिरि-जलण-सागर-नहतल-तरुगणसमो य जो होइ।
भमर-मिग-धरणि-जलरुह-रवि-पवणसमो य सो समणो ॥ १३१ ॥

जो सर्प, गिरि (पर्वत), अग्नि, सागर, आकाश-तल, वृक्षसमूह, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य और पवन के समान है, वही समण है। १३१

विवेचन—श्रमण का आचार भी विचारों के समान होता है, इस तथ्य का गाथोक्त उपमाओं द्वारा कथन किया है।

श्रमण के लिये प्रयुक्त उपमायें—समण (श्रमण) के लिये प्रयुक्त उपमाओं के साथ समानता के अर्थ में सम शब्द जोड़कर उनका भाव इस प्रकार जानना चाहिये—

१. उरग (सर्प) सम—जैसे सर्प दूसरों के बनाये हुए बिल में रहता है, इसी प्रकार अपना घर नहीं होने से परकृत गृह में निवास करने के कारण साधु को उरग की उपमा दी है।

२. गिरिसम—परीषहों और उपसर्गों को सहन करने में पर्वत के समान अडोल—अविचल होने से साधु गिरिसम हैं।

३. ज्वलन (अग्नि) सम—तपोजन्य तेज से समन्वित होने के कारण साधु अग्निसम है। अथवा जैसे अग्नि तृण, काष्ठ आदि ईंधन से तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार साधु भी ज्ञानाभ्यास से तृप्त नहीं होने के कारण अग्निसम हैं।

४. सागरसम—जैसे सागर अपनी मर्यादा को नहीं लांघता इसी प्रकार साधु भी अपनी आचारमर्यादा का उल्लंघन नहीं करने से सागरसम हैं। अथवा समुद्र जैसे रत्नों का आकर होता है वैसे ही साधु भी ज्ञानादि रत्नों का भंडार होने से सागरसम हैं।

५. नभस्तलसम—जैसे आकाश सर्वत्र अवलंबन से रहित है, उसी प्रकार साधु भी किसी प्रसंग पर दूसरों का आश्रय—अवलंबन—सहारा नहीं लेने से आकाशसम हैं।

६. तरुगणसम—जैसे वृक्षों को सींचने वाले पर राग और काटने वाले पर द्वेष नहीं होता, वे सर्वदा समान रहते हैं, इसी प्रकार साधु भी निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान में समवृत्ति वाले होने से तरुगण के समान हैं।

७. भ्रमरसम—जैसे भ्रमर अनेक पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस लेकर अपनी उदरपूर्ति करता है, उसी प्रकार साधु भी अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा सा आहार ग्रहण करके उदरपूर्ति करने से भ्रमर-सम हैं।

८. मृगसम—जैसे मृग हिंसक पशुओं, शिकारियों आदि से सदा भीतचित्त रहता है, उसी प्रकार साधु भी संसारभय से सदा उद्विग्न रहने के कारण मृगसम हैं।

९. धरणिसम—पृथ्वी जैसे सब कुछ सहन करती है, इसी प्रकार साधु भी खेद, तिरस्कार, ताड़ना आदि को समभाव से सहन करने वाले होने से पृथ्वीसम हैं।

१०. जलरुहसम—जैसे कमल पंक (कीचड़) में पैदा होता है, जल में संवर्धित होता है किन्तु उनसे निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार साधु भी कामभोगमयी संसार में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहने के कारण जलरुह (कमल) सम हैं।

११. रविसम—जैसे सूर्य अपने प्रकाश से समान रूप में सभी क्षेत्रों को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार साधु अपने ज्ञान रूपी प्रकाश को देशना द्वारा सर्वसाधारण को समान रूप से प्रदान करने वाले होने से रविसम हैं।

१२. पवनसम—जिस प्रकार वायु की सर्वत्र अप्रतिहत गति होती है, उसी प्रकार साधु भी सर्वत्र अप्रतिबद्ध विचरणशील होने से पवनसम हैं।

प्रकारान्तर से श्रमण का निर्वचन

५९९. [ई] तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ ण होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो, समो य माणाऽवमाणेसु ॥ १३२ ॥

से तं नोआगमतो भावसामाइए। से तं भावसामाइए। से तं सामाइए। से तं नामनिप्फण्णे।

[५९९ (ई)] (पूर्वोक्त उपमाओं से उपमित) श्रमण तभी संभवित है जब वह सुमन हो, और भाव से भी पापी मन वाला न हो। जो माता-पिता आदि स्वजनों में एवं परजनों में समभावी हो, एवं मान-अपमान में समभाव का धारक हो।

इस प्रकार से नोआगमभावसामायिक, भावसामायिक, सामायिक तथा नामनिष्पन्ननिक्षेप की वक्तव्यता का आशय जानना चाहिये।

विवेचन—गाथा में प्रकारान्तर से श्रमण का लक्षण बताने के साथ उसकी योग्यता का तथा अंत में नामनिष्पन्ननिक्षेप की वक्तव्यता की समाप्ति का कथन किया है।

इन सब विशेषताओं से विभूषित श्रमण समन, सममन, सुमन ही सामायिक है।

समन और सामायिक में नोआगमता इसलिये है कि सामायिक ज्ञान के साथ क्रिया रूप है और क्रिया आगम रूप नहीं है। तथा सामायिक और सामायिक वाले—इन दोनों में अभेदोपचार करने से समन भी नोआगम की अपेक्षा भावसामायिक है।

सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेप

६००. से किं तं सुत्तालावगनिप्फण्णे?

सुत्तालावगनिप्फण्णे इदाणिं सुत्तालावयनिप्फण्णं निक्खेवं इच्छावेइ, से य पत्तलक्खणे वि ण णिक्खिप्पइ, कम्हा? लाघवत्थं। इतो अत्थि ततिये अणुओगद्दारे अणुगमे त्ति, तहिं णं णिक्खित्ते इहं णिक्खित्ते भवति इहं वा णिक्खित्ते तहिं णिक्खित्ते भवति, तम्हा इहं ण णिक्खिप्पइ तहिं चेव णिक्खिप्पिस्सइ। से तं निक्खेवे।

[६०० प्र.] भगवन्! सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेप का क्या स्वरूप है?

[६०० उ.] आयुष्मन्! इस समय (नामनिष्पन्ननिक्षेप का कथन करने के अनन्तर) सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेप की प्ररूपणा करने की इच्छा है और अवसर भी प्राप्त है। किन्तु आगे अनुगम नामक तीसरे अनुयोगद्वार में इसी का वर्णन किये जाने से लाघव की दृष्टि से अभी निक्षेप नहीं करते हैं। क्योंकि वहां पर निक्षेप करने से यहां निक्षेप हो गया और यहां निक्षेप किये जाने से वहाँ पर निक्षेप हुआ समझ लेना चाहिये। इसीलिये यहाँ निक्षेप नहीं करके वहाँ पर ही इसका निक्षेप किया जायेगा।

इस प्रकार से निक्षेपप्ररूपणा का वर्णन समाप्त हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सूत्रालापकों का नाम आदि निक्षेपों में न्यास न करने का कारण स्पष्ट किया है। सूत्रों का उच्चारण अनुगम के भेद सूत्रानुगम में किया जाता है और उच्चारण किये बिना आलापकों का निक्षेप होता नहीं है। किन्तु वह भी निक्षेप का एक प्रकार है। यह बताने के लिये यहाँ उसका उल्लेख मात्र किया है।

अनुगम निरूपण

६००. से किं तं अणुगमे ?

अणुगमे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—सुत्ताणुगमे य निज्जुत्तिअणुगमे य ।

[६०१ प्र.] भगवन् ! अनुगम का क्या स्वरूप है ?

[६०१ उ.] आयुष्मन् ! अनुगम के दो भेद हैं। वे इस प्रकार—१. सूत्रानुगम और २. निर्युक्त्यनुगम ।

विवेचन—अनुगम-अधिकार की प्ररूपणा करने के लिये यह सूत्र भूमिका रूप है। अनुगम का लक्षण पूर्व में बताया जा चुका है। उसके दोनों भेदों के लक्षण इस प्रकार हैं—

सूत्रानुगम—सूत्र के व्याख्यान अर्थात् पदच्छेद आदि करके उसकी व्याख्या करने को सूत्रानुगम कहते हैं।

निर्युक्त्यनुगम—निर्युक्ति अर्थात् सूत्र के साथ एकीभाव से संवद्ध अर्थों को स्पष्ट करना। अतएव नाम, स्थापना आदि प्रकारों द्वारा विभाग करके विस्तार से सूत्र की व्याख्या करने की पद्धति को निर्युक्त्यनुगम कहते हैं।

अनुगम के इन दोनों भेदों में से सूत्रानुगम का वर्णन आगे सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति के प्रसंग में किये जाने से यहाँ पुनरावृत्ति न करके निर्युक्त्यनुगम का निरूपण करते हैं।

निर्युक्त्यनुगम

६०२. से किं तं निज्जुत्तिअणुगमे ?

निज्जुत्तिअणुगमे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—निक्खेवनिज्जुत्तिअणुगमे उवघातनिज्जुत्तिअणुगमे सुत्तप्फासियनिज्जुत्तिअणुगमे ।

[६०२ प्र.] भगवन् ! निर्युक्त्यनुगम का क्या स्वरूप है ?

[६०२ उ.] आयुष्मन् ! निर्युक्त्यनुगम के तीन प्रकार हैं। यथा—१. निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम, २. उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम और सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम ।

विवेचन—निर्युक्त्यनुगम के तीन भेदों का विस्तार से आगे वर्णन करते हैं।

निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम

६०३. से किं तं निक्खेवनिज्जुत्तिअणुगमे ?

निक्खेवनिज्जुत्तिअणुगमे अणुगए ।

[६०३ प्र.] भगवन् ! निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम का क्या स्वरूप है ?

[६०३ उ.] आयुष्मन् ! (नाम स्थापना आदि रूप) निक्षेप की निर्युक्ति का अनुगम पूर्ववत् जानना चाहिये ।

विवेचन—सूत्र में निक्षेपनिर्युक्ति-अनुगम का स्वरूप पूर्ववत् जानने का संकेत किया है। जिसका आशय यह है—

नाम-स्थापनादि रूप निक्षेप की निर्युक्ति के अनुगम को अथवा निक्षेप की विषयभूत बनी हुई निर्युक्ति के अनुगम को निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पहले आवश्यक और सामायिकादि पदों की नाम, स्थापनादि निक्षेपों द्वारा जो और जैसी व्याख्या की गई है, वैसी ही व्याख्या निक्षेपनिर्युक्त्यनुगम में की जाती है।

उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम

६०४. से किं तं उवघायनिज्जुत्तिअणुगमे ?

उवघायनिज्जुत्तिअणुगमे इमाहिं दोहिं गाहाहिं अणुगंतव्वे। तं जहा—

उद्देसे १ निद्देसे य २ निग्गमे ३ खेत्त ४ काल ५ पुरिसे य ६।
कारण ७ पच्चय ८ लक्खण ९ णये १० समोयारणा ११ ऽणुमए १२ ॥ १३३ ॥
किं १३ कइविहं १४ कस्स १५ कहिं १६
केसु १७ कहं १८ किच्चिरं हवइ कालं १९
कइ २० संतर २१ मविरहितं २२
भवा २३ ऽऽगरिस २४ फासण २५ निरुत्ती २६ ॥ १३४ ॥

से तं उवघातनिज्जुत्तिअणुगमे।

[६०४ प्र.] भगवन् ! उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम का क्या स्वरूप है ?

[६०४ उ.] आयुष्मन् ! उपोद्घातनिर्युक्तिअनुगम का स्वरूप गाथोक्तक्रम से इस प्रकार जानना चाहिये—१. उद्देश, २. निर्देश, ३. निर्गम, ४. क्षेत्र, ५, काल, ६. पुरुष, ७. कारण, ८. प्रत्यय, ९. लक्षण १०. नय, ११. समवतार, १२. अनुमत, १३. किम्-क्या, १४. कितने प्रकार का, १५. किसको, १६. कहाँ पर, १७. किसमें, १८. किस प्रकार—कैसे, १९. कितने काल तक, २०. कितनी, २१. अंतर (विरहकाल), २२. अविरह (निरन्तरकाल), २३. भव, २४. आकर्ष, २५. स्पर्शना और २६. निर्युक्ति। अर्थात् इन प्रश्नों का उत्तर उपोद्घातनियुक्त्यनुगम रूप है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम करने सम्बन्धी प्रश्नों का उल्लेख किया है—

उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम—उद्देश आदि की व्याख्या करके सूत्र की व्याख्या करने को कहते हैं। गाथोक्त क्रमानुसार सामायिक के माध्यम से इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. **उद्देश**—सामान्य रूप से कथन करने को उद्देश कहते हैं। जैसे—'अध्ययन।'

२. **निर्देश**—उद्देश का विशेष नामोल्लेखपूर्वक अभिधान-कथन निर्देश कहलाता है। जैसे—सामायिक।

३. **निर्गम**—वस्तु के निकलने के आधार—स्रोत का कथन निर्गम है। जैसे—सामायिक कहाँ से निकली ? अर्थतः तीर्थंकरों से और सूत्रतः गणधरों से सामायिक निकली।

४. **क्षेत्र**—किस क्षेत्र में सामायिक की उत्पत्ति हुई ? सामान्य से समयक्षेत्र में और विशेषापेक्षया पावापुरी के महासेनवनोद्यान में।

५. **काल**—किस काल में सामायिक की उत्पत्ति हुई ? वर्तमान काल की अपेक्षा वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन प्रथम पौरुषीकाल में उत्पत्ति हुई।

६. **पुरुष**—किस पुरुष से सामायिक निकली ? सर्वज्ञ पुरुषों ने सामायिक का प्रतिपादन किया है, अथवा व्यवहारनय से भरतक्षेत्र की अपेक्षा इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने और वर्तमान में जिनशासन की अपेक्षा श्रमण भगवान् महावीर ने सामायिक का प्रतिपादन किया है। अथवा अर्थ की अपेक्षा सामायिक का प्रतिपादन भगवान् महावीर ने और सूत्र की अपेक्षा गौतमादि गणधरों ने प्रतिपादन किया।

७. **कारण**—किस कारण गौतमादि गणधरों ने भगवान् से सामायिक का श्रवण किया ? संयतिभाव की सिद्धि के लिये।

८. **प्रत्यय**—किस प्रत्यय (निमित्त) से भगवान् ने सामायिक का उपदेश दिया और किस प्रत्यय से गणधरों ने उसका श्रवण किया ? केवलज्ञानी होने से भगवान् ने सामायिकचारित्र का प्रतिपादन किया और भगवान् केवली हैं, इस प्रत्यय से भव्य जीवों ने श्रवण किया।

९. **लक्षण**—सामायिक का लक्षण कहना। जैसे सम्यक्त्वसामायिक का लक्षण तत्त्वार्थ की श्रद्धा, श्रुतसामायिक का जीवादि तत्त्वों का परिज्ञान, चारित्रसामायिक का सर्वसावद्यविरति और देशचारित्रसामायिक का लक्षण विरत्यविरति (एकदेशविरति) है।

१०. **नय**—नैगमादि नयों के मत से सामायिक कैसे होती है ? जैसे—व्यवहारनय से पाठ रूप सामायिक और तीन शब्दनयों से जीवादि वस्तु का ज्ञानरूप सामायिक होती है।

११. **(नय) समवतार**—नैगमादि नयों का जहाँ समवतार—अन्तर्भाव संभवित हो, वहाँ उसका निर्देश करना। जैसे—कालिकश्रुत में नयों का समवतार नहीं होता है। किन्तु चरणकरणानुयोग आदि रूप चतुर्विध अनुयोगात्मक शास्त्रों की अपृथगावस्था में नयों का समवतार प्रत्येक सूत्र में होता है तथा इनकी पृथक् अवस्था में नयों का समवतार नहीं है। वर्तमान में आचार्यों ने सूत्रों के पृथक्-पृथक् रूप से चार अनुयोग स्थापित कर दिये हैं। जिनमें नयों का समवतार इस समय विच्छिन्न हो गया है।

१२. **अनुमत**—कौन नय किस सामायिक को मोक्षमार्ग रूप मानता है ? जैसे नैगम, संग्रह और व्यवहारनय तप-संयम रूप चारित्रसामायिक को, निर्ग्रन्थप्रवचन रूप श्रुतसामायिक को और तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यक्त्वसामायिक को, इन तीनों सामायिकों को मोक्षमार्ग मानते हैं। सर्वसंवर रूप चारित्र के अनन्तर ही मोक्ष की प्राप्ति होने से ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ तथा एवंभूत, ये चारों नय संयम रूप चारित्रसामायिक को ही मोक्षमार्ग रूप मानते हैं।

१३. **किम्**—सामायिक क्या है ? द्रव्यार्थिकनय के मत से सामायिक जीवद्रव्य है और पर्यायार्थिक नय के मत से सामायिक जीव का गुण है।

१४. कितने प्रकार की—सामायिक कितने प्रकार की है ? सामायिक तीन प्रकार की है—१. सम्यक्त्वसामायिक, २. श्रुतसामायिक और ३. चारित्रसामायिक । पुनः इनके भेद-प्रभेदों का कथन करना ।

१५. किसको—किस जीव को सामायिक प्राप्त होती है ? जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में सन्निहित होती है तथा जो जीव त्रस और स्थावर—समस्त प्राणियों पर समताभाव रखता है, उस जीव को सामायिक प्राप्त होती है ।

१६. कहाँ—सामायिक कहां-कहां होती है ? इसका निर्देश करना । जैसे—१. क्षेत्र, २. दिशा, ३. काल, ४. गति, ५. भव्य, ६. संज्ञी, ७. उच्छ्वास, ८. दृष्टि और ९. आहारक इत्यादि का आश्रय लेकर कौनसी सामायिक कहाँ हो सकती है, इसका कथन करना ।

१७. किसमें—सामायिक किस-किस में होती है ? सम्यक्त्व सामायिक सर्वद्रव्यों और सर्वपर्यायों में होती है किन्तु श्रुत और चारित्र सामायिक सर्वद्रव्यों में तो होती है, किन्तु समस्त पर्यायों में नहीं पाई जाती है । देशविरति सामायिक न तो सर्वद्रव्यों में और न सर्वपर्यायों में होती है ।

१८. कैसे—जीव सामायिक कैसे प्राप्त करता है ? मनुष्यत्व, आर्यक्षेत्र, जाति, कुल, रूप, आरोग्य, आयुष्य, बुद्धि, धर्मश्रवण, धर्मविधारण, श्रद्धा और संयम, इन लोकदुर्लभ बारह स्थानों की प्राप्ति होने पर जीव सामायिक को प्राप्त करता है ।

१९. कितने काल तक—सामायिक रह सकती है ? अर्थात् सामायिक का कालमान कितना है ? सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक छियासठ सागरोपम और चारित्रसामायिक की देशोन पूर्वकोटि वर्ष की तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है ।

२०. कितने—विवक्षित समय में सामायिक के प्रतिपद्यमानक, पूर्वप्रतिपन्न और सामायिक से पतित जीव कितने होते हैं ? क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवें भाग के प्रदेशों प्रमाण सम्यक्त्व और देशविरति सामायिक के प्रतिपद्यमानक जीव किसी एक काल में होते हैं । इनमें भी देशविरति के धारकों की अपेक्षा सम्यक्त्वसामायिक के धारक असंख्यात गुणे हैं । जघन्य एक, दो हो सकते हैं । श्रेणी के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उत्कृष्टतः उतने प्रतिपद्यमानक जीव एक काल में सम्यक्—मिथ्याश्रुत भेदों से रहित सामान्य अक्षरश्रुतात्मक श्रुतसामायिक के धारक होते हैं । जघन्य एक दो होते हैं । सर्वविरतिसामायिक के धारक उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व और जघन्य एक-दो होते हैं ।

सम्यक्त्व और देशविरति सामायिक के पूर्वप्रतिपन्नक एक समय में उत्कृष्ट और जघन्य असंख्यात होते हैं । सम्यक् और मिथ्या विशेषण से रहित सामान्य अक्षरात्मक श्रुतसामायिक के एक काल में पूर्वप्रतिपन्नक घनीकृत लोकप्रतर के असंख्यातवें भाग में रही हुई असंख्यात श्रेणियों के आकाशप्रदेश जितने होते हैं ।

चारित्रसामायिक, देशविरतिसामायिक और सम्यक्त्वसामायिक इन तीनों सामायिकों से प्रपतित जीव सम्यक्त्व आदि सामायिकों के प्रतिपत्ता (प्राप्त करने वाले) तथा पूर्वप्रतिपन्नक जीवों की अपेक्षा अनन्तगुणे हैं ।

२१. अन्तर—सामायिक का अन्तर (विरह) काल कितना होता है ? सम्यक् और मिथ्या इन विशेषणों से विहीन सामान्य श्रुतसामायिक में जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट अंतर अनन्त काल का है। एक जीव की अपेक्षा सम्यक् श्रुत, देशविरति, सर्वविरतिरूप सामायिक का अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन अर्धपुद्गलपरावर्तकाल रूप है। इतना बड़ा अन्तर काल आशातनाबहुल जीवों की अपेक्षा हुआ करता है।

२२. निरन्तर काल—विना अन्तर के लगातार कितने काल तक सामायिक ग्रहण करने वाले होते हैं ? सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक के प्रतिपत्ता अगारी (गृहस्थ) निरंतर उत्कृष्टतः आवलिका के असंख्यातवें भाग काल तक होते हैं और चारित्रसामायिक वाले आठ समय तक होते हैं। जघन्यतः समस्त सामायिकों के प्रतिपत्ता दो समय तक निरंतर बने रहते हैं।

२३. भव—कितने भव तक सामायिक रह सकती है ? पल्य के असंख्यातवें भाग तक सम्यक्त्व और देशविरति सामायिक, आठ भव पर्यन्त चारित्रसामायिक और अनन्तकाल तक श्रुतसामायिक होती है।

२४. आकर्ष—सामायिक के आकर्ष एक भव में या अनेक भवों में कितने होते हैं ? अर्थात् एक भव में या अनेक भवों में सामायिक कितनी बार धारण की जाती है ? तीनों सामायिकों (सम्यक्त्व, श्रुत और देशविरत सामायिक) के आकर्ष एक भव में उत्कृष्ट से सहस्रपृथक्त्व और सर्वविरति के शतपृथक्त्व होते हैं। जघन्य से समस्त सामायिकों का आकर्ष एक भव में एक ही होता है तथा अनेक भवों की अपेक्षा सम्यक्त्व व देशविरति सामायिकों के उत्कृष्ट असंख्य सहस्रपृथक्त्व और सर्वविरति के सहस्रपृथक्त्व आकर्ष होते हैं।

२५. स्पर्श—सामायिक वाले जीव कितने क्षेत्र का स्पर्श करते हैं ? सम्यक्त्व और चारित्र (सर्वविरति) सामायिक वाले (केवलिसमुद्घात की अपेक्षा) समस्त लोक का और जघन्य लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श करते हैं। कितनेक श्रुत और देशविरति सामायिक वाले उत्कृष्ट से चौदह राजू प्रमाण लोक के सात राजू, पांच राजू, चार, तीन और दो राजू प्रमाण लोक का स्पर्श करते हैं।

२६. निरुक्ति—सामायिक की निरुक्ति क्या है ? निश्चित उक्ति-कथन को निरुक्ति कहते हैं। अतएव सम्यग्दृष्टि अमोह, शोधि, सद्भाव, दर्शन, बोधि, अविपर्यय, सुदृष्टि इत्यादि सामायिक के नाम हैं। अर्थात् सामायिक का पूर्ण वर्णन ही सामायिक की निरुक्ति है।

यह उपोद्घातनिर्युक्त्यनुगम की व्याख्या है। अब सूत्र के प्रत्येक अवयव का विशेष व्याख्या करने रूप सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम का कथन करते हैं।

सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम

६०५. से किं तं सुत्तप्फासियनिज्जुत्तिअणुगमे ?

सुत्तप्फासियनिज्जुत्तिअणुगमे सुत्तं उच्चारेयव्वं अखलियं अमिलियं अविच्चामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं। तो तत्थ णज्जिहिति ससमयपयं वा परसमयपयं वा बंधपयं वा मोक्खपयं वा सामाइयपयं वा णोसामाइयपयं वा। तो तम्मि उच्चारिते समाणे केसिंचि

भगवंताणं केइ अत्थाहिगारा अहिगया भवंति, केसिंचि य केइ अणहिगया भवंति, ततो तेसिं अणहिगयाणं अत्थाणं अभिगमणत्थाए पदेणं पदं वत्तइस्सामि—

संहिता य पदं चेव पदत्थो पदविग्गहो।
चालणा य पसिद्धी य, छव्विहं विद्धि लक्खणं ।। १३५ ।।

से तं सुत्तप्फासियनिज्जुत्तिअणुगमे। से तं निज्जुत्तिअणुगमे। से तं अणुगमे।

[६०५ प्र.] भगवन् ! सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम का क्या स्वरूप है ?

[६०५ उ.] आयुष्मन् ! (जिस सूत्र की व्याख्या की जा रही है उस सूत्र को स्पर्श करने वाली निर्युक्ति के अनुगम को सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्त्यनुगम कहते हैं।) इस अनुगम में अस्खलित, अमिलित, अव्यत्याम्रेडित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्णघोष, कंठोष्ठविप्रमुक्त तथा गुरुवाचनोपगत रूप से सूत्र का उच्चारण करना चाहिये। इस प्रकार से सूत्र का उच्चारण करने से ज्ञात होगा कि यह स्वसमयपद है, यह परसमयपद है, यह बंधपद है, यह मोक्षपद है, अथवा यह सामायिकपद है, यह नोसामायिकपद है। सूत्र का निर्दोष विधि से उच्चारण किये जाने पर कितने ही साधु भगवन्तों को कितनेक अर्थाधिकार अधिगत हो जाते हैं और किन्हीं-किन्हीं को (क्षयोपशम की विचित्रता से) कितनेक अर्थाधिकार अनधिगत रहते हैं—ज्ञात नहीं होते हैं। अतएव उन अनधिगत अर्थों का अधिगम कराने के लिये (ज्ञात हो जायें इसलिये) एक-एक पद की प्ररूपणा (व्याख्या) करूंगा। जिसकी विधि इस प्रकार है—

१. संहिता, २. पदच्छेद, ३. पदों का अर्थ, ४. पदविग्रह, ५. चालना और ६. प्रसिद्धि। यह व्याख्या करने की विधि के छह प्रकार हैं।

यही सूत्रस्पर्शिक निर्युक्त्यनुगम का स्वरूप है। इस प्रकार से निर्युक्त्यनुगम और अनुगम की वक्तव्यता का वर्णन पूर्ण हुआ।

विवेचन—सूत्रालापकनिष्पन्न निक्षेप में किये गये संकेतानुसार सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम की यहाँ व्याख्या की है। यह निर्युक्त्यनुगम सूत्रस्पर्शिक है। सूत्र का लक्षण इस प्रकार है—

अप्पग्गंथमहत्थं बत्तीसा दोसविरहियं जं च।
लक्खणजुत्तं सुत्तं अट्ठहि य गुणेहि उववेयं ।।

अर्थात् जो अल्पग्रन्थ (अल्प अक्षर वाला) और महार्थयुक्त (अर्थ की अपेक्षा महान्—अधिक विस्तार वाला) हो, (जैसे—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्) तथा बत्तीस दोषों से रहित, आठ गुणों से सहित और लक्षणयुक्त हो, उसे सूत्र कहते हैं।

सूत्र के बत्तीस दोषों के नाम—सूत्रविकृति के कारणभूत बत्तीस दोषों के लक्षण सहित नाम इस प्रकार हैं—

१. अलीक (अनृत) दोष—अविद्यमान पदार्थों का सद्भाव बताना, जैसे जगत् का कर्त्ता ईश्वर है और विद्यमान पदार्थों का अभाव बताना—अपलाप करना, जैसे आत्मा नहीं है। यह दोनों असत्य-प्ररूपक होने से अलीकदोष हैं।

२. उपघातजनक—जीवों के घात का प्ररूपक, जैसे वेद में वर्णन की गई हिंसा धर्मरूप है।

३. निरर्थकवचन—जिन अक्षरों का अनुक्रमपूर्वक उच्चारण तो मालूम हो, लेकिन अर्थ कुछ भी सिद्ध नहीं हो। जैसे अ, आ, इ, ई, उ, ऊ इत्यादि अथवा डित्थ डवित्थ आदि।

४. अपार्थकदोष—असंबद्ध अर्थवाचक शब्दों का बोलना। जैसे—दस दाडिम, छह अपूप, कुण्ड में बकरा आदि।

५. छलदोष—ऐसे पद का प्रयोग करना जिसका अनिष्ट अर्थ हो सके और विवक्षितार्थ का उपघात हो जाये। जैसे 'नवकम्बलोऽयं देवदत्त इति'। यहाँ 'नव' शब्द का अर्थ नूतन है, किन्तु 'नौ' अर्थ भी हो सकता है।

६. द्रुहिलदोष—पाप व्यापारपोषक।
७. निस्सारवचनदोष—युक्ति से रहित वचन।

८. अधिकदोष—जिसमें अक्षर-पदादि अधिक हों। जैसे अनित्यः शब्दः कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वाभ्यां घटपटवत्। यहाँ एक साध्य की सिद्धि के लिये कृतकत्व और प्रयत्नानन्तरीयकत्व यह दो हेतु और घट पट दो दृष्टान्त दिये गये हैं। एक साध्य की सिद्धि में एक ही हेतु और एक ही दृष्टान्त पर्याप्त है। इसलिये अधिक दोष है।

९. ऊनदोष—(न्यूनवचन)—जिसमें अक्षरपदादि हीन हों अथवा हेतु या दृष्टान्त की न्यूनता हो। जैसे—अनित्यः शब्दः घटवत् तथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्।

१०. पुनरुक्तदोष—पुनरुक्तदोष के दो भेद हैं—एक शब्द से और द्वितीय अर्थ से। शब्द से पुनरुक्त—जो शब्द एक बार उच्चारण किया गया हो, फिर उसी का उच्चारण करना, जैसे—घटो घटः। अर्थ से पुनरुक्त जैसे—घट, कुट, कुंभ।

११. व्याहतदोष—जहाँ पूर्ववचन से उत्तरवचन का व्याघात हो। जैसे 'कर्म चास्ति फलं चास्ति कर्त्ता नत्वस्ति कर्मणामित्यादि—कर्म है और उसका फल भी होता है किन्तु कर्मों का कर्त्ता कोई नहीं है।'

१२. अयुक्तदोष—जो वचन युक्ति, उपपत्ति को सहन न कर सके। जैसे—हाथियों के गण्डस्थल से मद का ऐसा प्रवाह वहा कि उसमें चतुरंगी सेना वह गई।

१३. क्रमभिन्नदोष—जिसमें अनुक्रम न हो, जो उलट-पुलट कर बोला जाये, जैसे—स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द के स्थान पर स्पर्श, रूप, शब्द, रस, गंध इस प्रकार क्रमभंग करके बोलना।

१४. वचनभिन्नदोष—जहाँ वचन की विपरीतता हो। जैसे वृक्षाः ऋतौ पुष्पितः। यहाँ 'वृक्षाः' बहुवचन का पद है और 'पुष्पितः' एकवचन है।

१५. विभक्तिभिन्नदोष—विभक्ति की विपरीतता-व्यत्यय होना। जैसे 'वृक्षं पश्य' के स्थान पर 'वृक्षः पश्य' ऐसा कहना। यहाँ द्वितीया विभक्ति के स्थान पर प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

१६. लिंगभिन्नदोष—लिंग का विपरीत होना। जैसे—अयं स्त्री। इसमें 'अयं' शब्द पुल्लिंग है और 'स्त्री' शब्द स्त्रीलिंग का है।

१७. अनभिहितदोष—स्वसिद्धान्त में जो पदार्थ ग्रहण नहीं किये गये, उनका उपदेश करना। जैसे सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष से अतिरिक्त तीसरा तत्त्व कहना।

१८. अपदोष—अन्य छन्द के स्थान पर दूसरे छन्द का उच्चारण करना जैसे—आर्या पद के बदले वैतालीय पद कहना।

१९. स्वभावहीनदोष—जिस पदार्थ का जो स्वभाव है, उससे विरुद्ध प्रतिपादन करना। जैसे—अग्नि शीत है, आकाश मूर्तिमान् है, ये दोनों ही स्वभाव से हीन हैं।

२०. व्यवहितदोष—जिसका कथन प्रारम्भ किया है, उसे छोड़कर जो प्रारम्भ नहीं किया, उसकी व्याख्या करके फिर पहले प्रारम्भ किये हुए की व्याख्या करना।

२१. कालदोष—भूतकाल के वचन को वर्तमान काल में उच्चारण करना। जैसे—'रामचन्द्र ने वन में प्रवेश किया, ऐसा कहने के बदले 'रामचन्द्र वन में प्रवेश करते हैं' कहना।

२२. यतिदोष—अनुचित स्थान पर विराम लेना—रुकना अथवा सर्वथा विराम ही नहीं लेना।

२३. छविदोष—छवि अलंकार विशेष से शून्य होना।

२४. समयविरुद्धदोष—स्वसिद्धान्त से विरुद्ध प्रतिपादन करना।

२५. वचनमात्रदोष—निर्हेतुक वचन उच्चारण करना। जैसे कोई पुरुष अपनी इच्छा से किसी स्थान पर भूमि का मध्यभाग कहे।

२६. अर्थापत्तिदोष—जिस स्थान पर र्थापत्ति के कारण अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जाये। जैसे—घर का मुर्गा नहीं मारना चाहिये, इस कथन से यह अर्थ निकला कि दूसरे मुर्गों को मारना चाहिये।

२७. असमासदोष—जिस स्थान पर समास विधि प्राप्त हो वहाँ न करना अथवा जिस समास की प्राप्ति हो, उस स्थान पर उस समास को न करके अन्य समास करना असमासदोष है।

२८. उपमादोष—हीन उपमा देना, जैसे—मेरु सरसों जैसा है, अथवा अधिक उपमा देना, जैसे—सरसों मेरु जैसा है अथवा विपरीत उपमा देना, जैसे—मेरु समुद्र समान है। यह उपमादोष है।

२९. रूपकदोष—निरूपणीय मूल वस्तु को छोड़कर उसके अवयवों का निरूपण करना, जैसे—पर्वत के निरूपण को छोड़कर उसके शिखर आदि अवयवों का निरूपण करना या समुद्रादि किसी अन्य वस्तु के अवयवों का निरूपण करना।

३०. निर्देशदोष—निर्दिष्ट पदों की एकवाक्यता न होना।

३१. पदार्थदोष—वस्तु के पर्याय को एक पृथक् पदार्थ रूप में मानना जैसे—सत्ता वस्तु की पर्याय है किन्तु वैशेषिक उसे पृथक् पदार्थ कहते हैं।

३२. संधिदोष—जहाँ संधि होना चाहिये, वहाँ संधि नहीं करना, अथवा करना तो गलत करना।

लक्षण युक्त सूत्र इन बत्तीस दोषों से रहित होने के साथ ही आठ गुणों से युक्त भी होता है। वे आठ गुण ये हैं—

निद्दोसं सारवंतं च हेउजुत्तमलंकियं।
उवणीयं सोवयारं च मियं महुरमेव च ॥

१. **निर्दोष**—सर्व दोषों से रहित।
२. **सारवान्**—सारयुक्त होना।
३. **हेतुयुक्त**—अन्वय और व्यतिरेक हेतुओं से युक्त।
४. **अलंकारयुक्त**—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से विभूषित।
५. **उपनीत**—उपनय से युक्त अर्थात् दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक में घटित करना।
६. **सोपचार**—ग्रामीण भाषाओं से रहित और संस्कृतादि साहित्यिक भाषाओं से युक्त।
७. **मित**—अक्षरादि के प्रमाण से नियत।
८. **मधुर**—सुनने में मनोहर ऐसे मधुर वर्णों से युक्त।

अनधिगतार्थ की बोधविधि—सूत्र के समुच्चारित होने पर भी अनधिगत रहे अर्थाधिकारों के परिज्ञान कराने की विधि इस प्रकार है—

१. **संहिता**—अस्खलित रूप से पदों का उच्चारण करना। जैसे—करेमि भंते सामाइयं इत्यादि।

२. **पद**—सुबन्त और तिङन्त शब्द को पद कहते हैं। जैसे—करेमि यह प्रथम तिङन्त पद है, भंते यह सुबन्त द्वितीय पद है, 'सामाइयं' यह तृतीय पद है इत्यादि।

३. **पदार्थ**—पद के अर्थ करने को पदार्थ कहते हैं। जैसे करेमि = करता हूं, इस क्रियापद से सामायिक करने की उन्मुखता का बोध होता है, 'भंते! भगवन्!, यह पद गुरुजनों को आमंत्रित करने के अर्थ का बोधक है, 'सामाइयं-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप सम का जिससे आय-लाभ हो, उस सामायिक को—यह सामायिक पद का अर्थ है।

४. **पदविग्रह**—संयुक्त पदों का प्रकृतिप्रत्ययात्मक विभाग रूप विस्तार करना। अनेक पदों का एक पद करना समास कहलाता है। जैसे भयस्य अंतो भयान्तः, जिनानाम् इन्द्रः जिनेन्द्रः इत्यादि।

५. **चालना**—प्रश्नोत्तरों द्वारा सूत्र और अर्थ की पुष्टि करना।

६. **प्रसिद्धि**—सूत्र और उसके अर्थ का विविध युक्तियों द्वारा जैसा कि वह है उसी प्रकार से स्थापना करना प्रसिद्धि है। अर्थात् प्रथम अन्य युक्ति देकर फिर सूत्रोक्त युक्ति की सिद्धि करना प्रसिद्धि कहलाती है।

व्याख्या के इन षड्विध लक्षणों में से सूत्रोच्चारण और पदच्छेद करना सूत्रानुगम का विषय है—कार्य है। सूत्रानुगम द्वारा यह कार्य किये जाने के बाद सूत्रालापकनिक्षेप-सूत्रालापकों को नाम, स्थापना आदि निक्षेपों में निक्षिप्त करता है, अर्थात् सूत्रालापकों को नाम स्थापना आदि निक्षेपों में सूत्रालापक निक्षेप विभक्त करता है। शेष पदविग्रह, चालना और प्रसिद्धि यह सब सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्ति के विषय हैं। अर्थात् इन कार्यों को सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम संपादित करता है तथा

नैगमादि नय भी प्रायः पदार्थ आदि का विचार करने वाले होने से जब पदार्थ आदि को ही विषय करते हैं, तब इस दृष्टि से वे सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम के अन्तर्गत हो जाते हैं।

इस प्रकार जब सूत्र, व्याख्या का विषयभूत बनता है, तब सूत्र, सूत्रानुगम, सूत्रालापकनिक्षेप और सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगम ये सब युगपत् एक जगह मिल जाते हैं।

स्वसमय आदि का अर्थ—सूत्र में आगत स्वसमय आदि पदों का भावार्थ इस प्रकार है—

स्वसमयपद—स्वसिद्धान्तसम्मत जीवादिक पदार्थों का प्रतिपादक—बोधक पद।

परसमयपद—परसिद्धान्त-सम्मत प्रकृति, ईश्वर आदि का प्रतिपादन करने वाला पद।

बंधपद—परसमय—सिद्धान्त के मिथ्यात्व का प्रतिपादक पद। क्योंकि कर्मबंध एवं कुवासना का हेतु होने से वह बंध पद कहलाता है।

मोक्षपद—प्राणियों के सद्बोध का कारण होने से तथा समस्त कर्मक्षय रूप मोक्ष का प्रतिपादक होने से स्वसमय मोक्षपद कहलाता है। अथवा—

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार के बंध का प्रतिपादन करने वाला पद बंधपद तथा कृत्स्नकर्मक्षय रूप मोक्ष का प्रतिपादक पद मोक्षपद कहलाता है।

यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार की व्याख्या करने से बंध और मोक्ष ये दोनों पद स्वसमय पद से भिन्न नहीं हैं, अभिन्न हैं, तथापि स्वसमय पद का दूसरा भी अर्थ होता है, यह दिखाने के लिये अथवा शिष्य जनों को सुगमता से बोध कराने और उनकी बुद्धि को विशद—निर्मल बनाने के लिये पृथक्-पृथक् निर्देश किया है। इसीलिये सामायिक का प्रतिपादन करने वाले सामायिक पद और सामायिक से व्यतिरिक्त नारक तिर्यंचादि के बोधक नोसामायिक पद इन दोनों पदों का अलग-अलग उपन्यास किया है।

इस प्रकार से सूत्रस्पर्शिक निर्युक्त्यनुगम के अधिकृत विषयों का निरूपण हो जाने से निर्युक्त्यनुगम एवं साथ ही अनुगम अधिकार की वक्तव्यता की भी समाप्ति जानना चाहिये।

नयनिरूपण की भूमिका

६०६. [अ] से किं तं णए ?

सत्त मूलणया पण्णत्ता। तं जहा—णेगमे संगहे ववहारे उज्जुसुए सद्दे समभिरुढे एवंभूते।

तत्थ—

णगेहिं माणेहिं मिणइ त्ति णेगमस्स य निरुत्ती १।
सेसाणं पि नयाणं लक्खणमिणमो सुणह वोच्छं॥ १३६॥
संगहियपिंडियत्थं संगहवयणं समासओ बिंति २।
वच्चइ विणिच्छियत्थं ववहारो सव्वदव्वेसु ३॥ १३७॥
पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो ४।
इच्छइ विसेसियतरं पच्चुप्पण्णं णओ सद्दो ५॥ १३८॥

वत्थूओ संकमणं होइ अवत्थु णये समभिरूढे ७ ।
वंजण—अत्थ—तदुभयं एवंभूओ विसेसेइ ७ ॥ १३९ ॥

[६०६ प्र.] भगवन् ! नय का क्या स्वरूप है ?

[६०६ उ.] आयुष्मन् ! मूल नय सात हैं । वे इस प्रकार—१. नैगमनय, २. संग्रहनय, ३. व्यवहारनय, ४. ऋजुसूत्रनय, ५. शब्दनय, ६. समभिरूढनय और ७. एवंभूतनय ।

विवेचन—सूत्र में सात नयों के नाम गिनाये हैं । यद्यपि वचनों के प्रकार जितने ही नय हैं, लेकिन उन सब का समावेश सात नयों में हो जाता है और यह इसलिये कि उनके द्वारा सभी तरह के जिज्ञासुओं को वस्तुनिरूपण की शैली का सुगमता से बोध हो जाता है ।

नैगम आदि सात नयों के लक्षण

जो अनेक मानों (प्रकारों) से वस्तु के स्वरूप को जानता है, अनेक भावों से वस्तु का निर्णय करता है (वह नैगमनय है) यह नैगमनय की निरुक्ति—व्युत्पत्ति है । शेष नयों के लक्षण कहूँगा, जिनको तुम सुनो । १३६

सम्यक् प्रकार से गृहीत—एक जाति को प्राप्त अर्थ जिसका विषय है, यह संग्रहनय का वचन है । इस प्रकार से (तीर्थंकर, गणधर आदि ने संक्षेप में) कहा है ।

व्यवहारनय सर्व द्रव्यों के विषय में विनिश्चय (विशेष-भेद रूप में निश्चय) करने के निमित्त प्रवृत्त होता है । १३७

ऋजुसूत्रनयविधि प्रत्युत्पन्नग्राही (वर्तमानकालभावी पर्याय को ग्रहण करने वाली) जानना चाहिये ।

शब्दनय (ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा सूक्ष्मतर विषय वाला होने से) पदार्थ को विशेषतर मानता है । १३८

समभिरूढनय वस्तु का अन्यत्र संक्रमण अवस्तु (अवास्तविक) मानता है ।

एवंभूतनय व्यंजन (शब्द) अर्थ एवं तदुभय को विशेष रूप से स्थापित करता है । १३९

विवेचन—उल्लिखित चार गाथाओं में नैगमादि सात नयों के लक्षण संक्षेप में बताये हैं । स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. **नैगमनय**—जो महासत्ता (परसामान्य) अपरसामान्य एवं विशेष के द्वारा वस्तु का परिच्छेद करता है, वह नैगमनय है । अथवा निगम का अर्थ है वसति । अतएव 'लोके वसामि' (लोक में रहता हूं) इत्यादि पूर्वोक्त कथन का नाम निगम है और इन निगमों से सम्बद्ध नय को नैगमनय कहते हैं । अथवा अर्थ के ज्ञान को निगम कहते हैं । अतएव अनेक प्रकार से जो अर्थ के ज्ञान को मान्य करे वह नैगमनय कहलाता है । अथवा जिसके वस्तुविचार के अनेक गम-प्रकार हों उसे नैगमनय कहते हैं । अथवा पूर्वोक्त प्रस्थक आदि दृष्टान्त रूप संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नय नैगमनय है ।

यह नय भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों संबंधी पदार्थ को ग्रहण करता है। इस नय के मत से भूत आदि तीनों कालों का अस्तित्व है।

२. **संग्रहनय**—सामान्य रूप से सभी पदार्थों का संग्रह करने वाले नय को संग्रहनय कहते हैं। यह नय सब वस्तुओं को सामान्यधर्मात्मक मान्य करता है, क्योंकि विशेष सामान्य से पृथक् नहीं हैं।

३. **व्यवहारनय**—इसका दृष्टिकोण संग्रहनय से विपरीत है। अर्थात् यह सामान्य का अभाव सिद्ध करने वाला है। क्योंकि लोकव्यवहार में विशेषों से व्यतिरिक्त सामान्य का अस्तित्व सिद्ध नहीं होने तथा उसके अनुपयोगी होने के कारण व्यवहारनय सामान्य को स्वीकार नहीं करता।

४. **ऋजुसूत्रनय**—इसमें ऋजु और सूत्र यह दो शब्द हैं। इनमें से ऋजु का अर्थ प्रगुण-कुटिलतारहित—सरल है। अतएव ऐसे सरल को जो सूत्रित करता है—स्वीकार करता है उस नय को ऋजुसूत्रनय कहते हैं। अथवा जो नय अतीत और अनागत कालवर्ती पदार्थों को ग्रहण न करके वर्तमानकालिक पदार्थों को ही ग्रहण करता है वह ऋजुनयसूत्र है। उक्त दोनों लक्षणों का समन्वित आशय यह हुआ कि अतीत और अनागत ये दोनों अवस्थाएँ क्रमशः विनष्ट और अनुत्पन्न होने के कारण असत् हैं और ऐसे असत् को स्वीकार करना कुटिलता है। इस कुटिलता का परिहार करके केवल सरल—वर्तमानकालिक वस्तु को स्वीकार करने वाला नय ऋजुसूत्रनय कहलाता है।

इस नय द्वारा वर्तमान कालभावी पदार्थ को ग्रहण करने का कारण यह है कि वर्तमान कालवर्ती पदार्थ ही अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है।

'उज्जुसुओ' की संस्कृत छाया 'ऋजुश्रुत' भी होती है। अतएव जिसका श्रुत ऋजु—सरल—अकुटिल है, वह ऋजुश्रुत है। आशय यह हुआ कि श्रुतज्ञान की तरह इतर ज्ञानों से आदान-प्रदान रूप परोपकार नहीं होता है, इसलिये यह नय श्रुतज्ञान को मानता है।

५. **शब्दनय**—जो उच्चारण किया जाये, जिसके द्वारा वस्तु कही जाये, उसे शब्द कहते हैं। इसमें शब्द मुख्य और अर्थ गौण है। अतएव उपचार से इस नय को शब्दनय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वस्तु शब्द द्वारा कही जाती है और बुद्धि उसी अर्थ को मुख्य रूप से मान लेती है। अतः शब्दजन्य वह बुद्धि भी उपचार से शब्द कह दी जाती है। बुद्धि जब यह विचार करती है कि जैसे तीनों कालों में एक वस्तु नहीं है किन्तु वर्तमानकालस्थित ही वस्तु कहलाती है, वैसे ही भिन्न-भिन्न लिंग, वचन आदि से युक्त शब्दों द्वारा कही जाने वाली वस्तु भी भिन्न-भिन्न ही है, ऐसा विचार कर यह नय लिंग, वचनादि के भेद से अर्थ में भेद मानने लग जाता है। इस तरह यह नय ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा अपने वाच्यार्थ को विशेषिततर करके मानता है। जैसे—

ऋजुसूत्रनय तटः तटी तटम् इन भिन्न-भिन्न लिंगों वाले शब्दों का तथा गुरु, गुरवः इन भिन्न-भिन्न वचन वाले शब्दों का वाच्यार्थ एक मानता है, जबकि शब्दनय विभिन्न लिंग और वचन वाले शब्दों के लिंग और वचन की भिन्नता की तरह उनके वाच्यार्थ को भी भिन्न-भिन्न मानता है। लेकिन जिन शब्दों का लिंग एक है, वचन एक है, उन शब्दों के वाच्यार्थ में भिन्नता नहीं मानता है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा इस नय में यही विशेषता है।

शब्दनय नाम, स्थापना और द्रव्यनिक्षेप में निक्षिप्त वस्तु को नहीं मानता क्योंकि ये कार्य करने में असमर्थ होने से अप्रमाण हैं। भाव से ही कार्यसिद्धि होती है इसलिये भाव ही प्रधान है।

६. **समभिरूढ़नय**—वाचकभेद से वाच्यार्थ में भिन्नता मानने वाले अथवा शब्दभेद से अर्थभेद मानने वाले नय को समभिरूढ़नय कहते हैं। इसी का प्रकारान्तर से गाथा में संकेत किया है कि यदि शब्दभेद है तो अर्थ में भेद होना चाहिये और यदि एक वस्तु में अन्य शब्द का आरोप किया जाये तो वह अवस्तु रूप हो जाती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शब्दनय लिंग और वचन की समानता होने से इन्द्रः शुक्रः पुरन्दरः इन शब्दों का वाच्यार्थ एक मान लेता है किन्तु इस नय में प्रवृत्ति का निमित्त जब भिन्न-भिन्न है तो मनुष्य आदि शब्दों की तरह इन शब्दों का वाच्यार्थ भी भिन्न-भिन्न है। क्योंकि व्युत्पत्ति की अपेक्षा ऐश्वर्यवान् होने से इन्द्र, शकन-समर्थ होने से शक्र और पुरों—नगरों का दारण-नाश करने से पुरन्दर कहलाता है। किन्तु जो परम ऐश्वर्य पर्याय है, वही शकन या पुरदारण पर्याय नहीं है। इसलिये ये इन्द्रादि शब्द भिन्न-भिन्न अभिधेय वाले हैं। यदि सभी पर्यायों को एक माना जाये तो सांकर्य दोष होगा। इस नय के मत से इन्द्र शब्द से शक्र शब्द उतना ही भिन्न है, जितना घट से पट और अश्व से हस्ती।

७. **एवंभूतनय**—जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है, उसी रूप निश्चय करने वाले (नाम देने वाले) नय को एवंभूतनय कहते हैं। यही आशय गाथोक्त पदों का है कि व्यंजन-शब्द से जो वस्तु का अभिधेय अर्थ होता है, उसको प्रकट किया जाये, उसे ही एवंभूतनय कहते हैं। जैसे—जिस समय आज्ञा और ऐश्वर्यवान् हो, उस समय ही वह इन्द्र है, अन्य समयों में नहीं।

समभिरूढ़नय से एवंभूतनय में यह अन्तर है कि यद्यपि ये दोनों नय व्युत्पत्तिभेद से शब्द के अर्थ में भेद मानते हैं, परन्तु समभिरूढ़नय तो उस व्युत्पत्ति को सामान्य रूप से अंगीकार करके वस्तु की हर अवस्था में उसे स्वीकार कर लेता है। परन्तु एवंभूतनय तो उस व्युत्पत्ति का अर्थ तभी ग्रहण करता है, जबकि वस्तुतः क्रियापरिणत होकर साक्षात् रूप से उस व्युत्पत्ति की विषय बन रही हो।

सुनय और दुर्नय—पूर्वोक्त सात नयों में से यदि वे अन्य धर्मों का निषेध करके केवल अपने अभीष्ट एक धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं, तब दुर्नय रूप हो जाते हैं। दुर्नय अर्थात् जो वस्तु के एक धर्म को सत्य मानकर अन्य धर्मों का निषेध करने वाला हो। जैसे नैगमनय से नैयायिक—वैशेषिक दर्शन उत्पन्न हुए। अद्वैतवादी और सांख्य संग्रहनय को ही मानते हैं। चार्वाक व्यवहारनयवादी ही है। बौद्ध केवल ऋजुसूत्रनय का तथा वैयाकरणी शब्द आदि तीन नयों का ही अनुसरण करते हैं। इस प्रकार ये सभी एकान्त पक्ष के आग्रही होने से दुर्नयवादी हैं।

सात नयों का वर्गीकरण और अल्पबहुत्व—पूर्वोक्त नैगम आदि सात नयों में से नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थ के प्रतिपादक होने से अर्थनय कहे जाते हैं। शब्द समभिरूढ़ और एवंभूतनय शब्द का प्रतिपादन करने से शब्दनय हैं।

इनमें पूर्व-पूर्व के नय अधिक विषय और उत्तर-उत्तर के नय परिमित विषय वाले हैं। जैसे संग्रहनय सामान्य मात्र को स्वीकार करता है जबकि नैगमनय सामान्य और विशेष दोनों को। इसलिये संग्रहनय की अपेक्षा नैगमनय का विषय अधिक है। व्यवहारनय संग्रहनय के द्वारा गृहीत पदार्थों में से विशेष को जानता है और संग्रहनय समस्त सामान्य पदार्थों को जानता है, इसलिये संग्रहनय का विषय व्यवहारनय से अधिक है। व्यवहारनय तीनों कालों के पदार्थों को जानता है, जबकि ऋजुसूत्र केवल वर्तमानकालीन पदार्थों का ज्ञान करता है। अतएव ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा व्यवहारनय का विषय

अधिक है। शब्दनय काल आदि के भेद से वर्तमान पर्याय को जानता है किन्तु ऋजुसूत्र में काल आदि का कोई भेद नहीं है। इसलिये शब्दनय से ऋजुसूत्रनय का विषय अधिक है। समभिरूढ़नय पर्यायवाची शब्दों को भी व्युत्पत्ति की अपेक्षा भिन्न रूप से जानता है, परन्तु शब्दनय में यह सूक्ष्मता नहीं है। अतएव शब्दनय की अपेक्षा समभिरूढ़नय का विषय अल्प है। एवंभूतनय समभिरूढ़नय से जाने हुए पदार्थ में क्रिया के भेद से भेद मानता है। अतएव एवंभूत से समभिरूढ़नय का विषय अधिक है।

नयविचार का प्रयोजन—प्रस्तुत प्रकरण में यह है कि पूर्व प्रकान्त सामायिक अध्ययन सर्वप्रथम उपक्रम से उपक्रान्त होता है और निक्षेप से यथासंभव निक्षिप्त होता है। तत्पश्चात् अनुगम से वह जानने योग्य बनता है और इसके बाद नयों से उसका विचार किया जाता है।

यद्यपि पूर्व में उपोद्घातनिर्युक्ति में समस्त अध्ययन के विषय वाला नय विचार किया जा चुका है, तथापि यहाँ उसका पृथक् निर्देश इसलिये किया है कि चौथा जो अनुयोगद्वार है, वही नय-वक्तव्यता का मूल स्थान है। क्योंकि यहाँ सिद्ध हुए नयों का पूर्व में उपन्यास किया गया है।

नयवर्णन के लाभ

६०६. [आ] णायम्मि गिण्हियव्वे अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि।
जइयव्वमेव इइ जो उवएसो सो नओ नाम ॥ १४० ॥
सव्वेसिं पि नयाणं बहुविहवत्तव्वयं निसामेत्ता।
तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू ॥ १४१ ॥

से तं नए।

सोलससयाणि चउरुत्तराणि गाहाण जाण सव्वग्गं।
दुसहस्समणुट्ठुभछंदवित्तपरिमाणओ भणियं ॥ १४२ ॥
नगरमहादारा इव कम्मद्दाराणुओगवरदारा।
अक्खर-बिंदू-मत्ता लिहिया दुक्खक्खयट्ठाए ॥ १४३ ॥

नयवर्णन के लाभ—इन नयों द्वारा हेय और उपादेय अर्थ का ज्ञान प्राप्त करके तदनुकूल प्रवृत्ति करनी ही चाहिये। इस प्रकार का जो उपदेश है वही (ज्ञान) नय कहलाता है। १४०

इन सभी नयों की परस्पर विरुद्ध वक्तव्यता को सुनकर समस्त नयों से विशुद्ध सम्यक्त्व, चारित्र (और ज्ञान) गुण में स्थित होने वाला साधु (मोक्षसाधक हो सकता) है। १४१

इस प्रकार नय-अधिकार की प्ररूपणा जानना चाहिये।

साथ ही अनुयोगद्वारसूत्र का वर्णन समाप्त होता है।

विवेचन—उपर्युक्त दो गाथाओं में नयवर्णन से प्राप्त लाभ का उल्लेख किया है।

'जितने वचनमार्ग हैं, उतने ही नय हैं' इस सिद्धान्त के अनुसार नयों के अनेक भेद हैं। नैगम, संग्रह आदि सात भेद और अर्थनय एवं शब्दनय के भेद से दो भेद पूर्व में बताये हैं। इनके अतिरिक्त भी द्रव्यार्थिक—पर्यायार्थिक, ज्ञान-क्रिया, निश्चय-व्यवहार आदि भेद भी किये जा सकते हैं, तथापि

यहाँ मोक्ष का कारण होने से सर्व अध्ययन का विचार ज्ञाननय और क्रियानय की अपेक्षा किया गया जानना चाहिये। क्योंकि गाथा में इसी प्रकार का कथन किया गया है—

पदार्थों में जो उपादेय हों उन्हें ग्रहण करना और जो हेय हों उन्हें त्याग करना चाहिये तथा ज्ञेय (जानने योग्य) हों उन्हें मध्यस्थ भाव से जानना चाहिये। इस लोक सम्बन्धी सुखादिसामग्री ग्रहण योग्य है, विषादि पदार्थ त्यागने योग्य और तृण आदि पदार्थ उपेक्षणीय हैं। यदि परलोक सम्बन्धी विचार किया जाये तो सम्यग्दर्शनादि ग्रहण करने योग्य हैं, मिथ्यात्वादि त्यागने योग्य हैं और स्वर्गिक सुख उपेक्षणीय है।

ज्ञाननय का मंतव्य है कि ज्ञान के बिना किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती है। ज्ञानी पुरुष ही मोक्ष के फल का अनुभव करते हैं। अन्धा पुरुष अन्धे के पीछे-पीछे गमन करने से वांछित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। ज्ञान के बिना पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती है। सभी व्रतादि एवं क्षायिक सम्यक्त्व आदि अमूल्य पदार्थों की प्राप्ति ज्ञान से होती है। अतएव सबका मूल कारण ज्ञान है।

क्रियानय का मंतव्य है कि सिद्धि प्राप्त करने का मुख्य कारण क्रिया ही है। क्योंकि तीनों प्रकार के अर्थों का ज्ञान करके प्रयत्न करना चाहिये। इस कथन से क्रिया की ही सिद्धि होती है। ज्ञान तो क्रिया का उपकरण है। इसलिये क्रिया मुख्य और ज्ञान गौण है। मात्र ज्ञान से जीव सुख नहीं पाते। तीर्थंकर देव भी अंतिम समय पर्यन्त क्रिया के ही आश्रित रहते हैं। बीज को भी अंकुरोत्पत्ति के लिए बाह्य सामग्री की आवश्यकता होती है। इसलिये सबका मुख्य कारण क्रिया ही है। यह क्रियानय का मंतव्य है। किन्तु किसी भी एकान्त पक्ष में मोक्षप्राप्ति का अभाव है। इसलिये अब मान्य पक्ष प्रस्तुत करते हैं—

सर्व नयों के नाना प्रकार के वक्तव्यों को सुनकर—नयों के परस्पर विरोधी भावों को सुनकर जो साधु ज्ञान और क्रिया में स्थित है वही मोक्ष का साधक होता है। केवल ज्ञान और केवल क्रिया से कार्यसिद्धि नहीं होती है। अन्नादि का ज्ञान होने पर भी बिना भक्षण क्रिया के उदरपोषणादि नहीं होता है। केवल क्रिया से भी कार्यसिद्धि नहीं होती है। जैसे क्रिया से रहित ज्ञान निष्फल है वैसे ही ज्ञान से रहित क्रिया भी कार्यसाधक नहीं है। यथा—पंगु और अंधे भागते हुए भी सुमार्ग को प्राप्त नहीं होते, एक चक्र (पहिये) से शकट (गाड़ी) नगर को प्राप्त नहीं कर सकती, इसी प्रकार अकेले ज्ञान और अकेली क्रिया से सिद्धि नहीं होती, अपितु दोनों के समुचित समन्वय से सिद्धि प्राप्त होती है।

कदाचित् कहा जाए कि जब पृथक्-पृथक् दोनों में मुक्तिसाधन की शक्ति नहीं तो उभय में वह शक्ति कहां से हो सकती है? समाधान यह है कि ज्ञान और क्रिया पृथक्-पृथक् रूप में देश उपकारी होते हैं, दोनों मिलने से सर्व उपकारी होते हैं।

इस प्रकार से नयद्वार की वक्तव्यता के पूर्ण होने से चतुर्थ अनुयोगद्वार की और साथ ही श्रीमदनुयोगद्वार सूत्र की भी पूर्ति होती है। अनुयोगद्वार सूत्र के चार मुख्य द्वार हैं, जिनमें यह नयद्वार चौथा है। अतः इसकी पूर्ति होने से अनुयोगद्वार सूत्र की भी पूर्ति हो गई।

लिपिकार का वक्तव्य

अनुयोगद्वार सूत्र की कुल मिलाकर सोलह सौ चार (१६०४) गाथाएं हैं तथा दो हजार (२०००) अनुष्टुप छन्दों का परिमाण है। १४२

जैसे महानगर के मुख्य-मुख्य चार द्वार होते हैं, उसी प्रकार इस श्रीमदनुयोगद्वार सूत्र के भी उपक्रम आदि चार द्वार हैं। इस सूत्र में अक्षर, विन्दु और मात्रायें जो लिखी गई हैं, वे सव सर्व दुखों के क्षय करने के लिये ही हैं। १४३

विवेचन—यद्यपि ये गाथायें मूल सूत्र में नहीं है वृत्तिकारों ने भी इनकी वृत्ति नहीं लिखी है। तथापि सारांश अच्छा होने से अनुयोगद्वारसूत्र की पूर्ति के पश्चात् इनको उद्धृत किया गया है। गाथार्थ सुगम और सुबोध है।

॥ श्रीमद्नुयोगद्वारसूत्र समाप्त ॥

कथानक

सूत्रसंख्या ९०

१. डोडिणी ब्राह्मणी

किसी ग्राम में डोडिणी नाम की ब्राह्मणी रहती थी। उसकी तीन पुत्रियाँ थीं। उनका विवाह करने के बाद उसे विचार हुआ कि जमाइयों के स्वभाव को जानकर मुझे अपनी पुत्रियों को वैसी शिक्षा-सीख देनी चाहिये, जिससे उसी के अनुरूप व्यवहार कर वे अपने जीवन को सुखी बना सकें।

ऐसा विचार कर उसने अपनी तीनों पुत्रियों को बुलाकर सलाह दी—'आज जब तुम्हारे पति सोने के लिये शयनकक्ष में आएँ तब तुम कोई न कोई कल्पित दोष लगाकर उनके मस्तक पर लात मारना। तब वह जो कुछ तुमसे कहें सुबह मुझे बताना।

पुत्रियों ने माता की बात मान ली और रात्रि के समय अपने अपने शयनखंड में बैठकर पति की प्रतीक्षा करने लगीं।

जब ज्येष्ठ पुत्री का पति शयनखंड में आया, तब उसने कल्पित दोष का आरोपण करके उसके मस्तक पर लात मारी। लात लगते ही पति ने उसका पैर पकड़ कर कहा—'प्रिये ! पत्थर से भी कठोर मेरे शिर पर तुमने जो केतकी पुष्प के समान कोमल पग मारा, उससे तुम्हारा चरण दुखने लगा होगा।' इस प्रकार कहकर वह उसके पैर को सहलाने लगा।

दूसरे दिन बड़ी पुत्री ने आकर रातवाली घटना मां को सुनाई। सुन कर ब्राह्मणी बहुत हर्षित हुई। जमाई के इस वर्ताव से वह उसके स्वभाव को समझ गई और पुत्री से बोली—तू अपने घर में जो करना चाहेगी, कर सकेगी। क्योंकि तेरे पति के व्यवहार से लगता है कि वह तेरी आज्ञा के अधीन रहेगा।

दूसरी पुत्री ने भी माता की सलाह के अनुरूप अपने पति के मस्तक पर लात मारी। तब उसका पति थोड़ा रुष्ट हुआ और उसने अपने रोष को मात्र शब्दों द्वारा प्रकट किया—मेरे साथ तूने जो व्यवहार किया वह कुलवधुओं के योग्य नहीं है। तुझे ऐसा नहीं करना चाहिये। ऐसा कहकर वह शान्त हो गया।

प्रातः दूसरी पुत्री ने भी सब प्रसंग माता को कह सुनाया। माता ने संतुष्ट होकर उससे कहा—बेटी ! तू भी अपने घर में इच्छानुरूप प्रवृत्ति कर सकेगी। तेरे पति का स्वभाव ऐसा है कि वह चाहे जितना रुष्ट हो, लेकिन क्षण मात्र में शांत-तुष्ट हो जायेगा।

तीसरी पुत्री ने भी किसी दोष के बहाने अपने पति के मस्तक पर लात मारी। इससे पति के क्रोध का पार नहीं रहा और डाट कर बोला—अरी दुष्टा ! कुल-कन्या के अयोग्य यह व्यवहार मेरे

साथ क्यों किया ? फिर मार-पीट कर उसे घर से बाहर निकाल दिया। तब वह रोती-कलपती मां के पास आई और सब घटना कह सुनाई।

पुत्री की बात से ब्राह्मणी को उसके पति के स्वभाव का पता लग गया और उसी समय वह उसके पास आई। मीठे-मीठे बोलों से जमाई के क्रोध को शांत करके बोली—जमाईराज ! हमारे कुल की यह रीति है कि सुहाग रात में प्रथम समागम के समय पति के मस्तक पर चरण-प्रहार किया जाता है, इसी कारण मेरी पुत्री ने आपके साथ ऐसा व्यवहार किया है, किन्तु दुर्भावना या दुष्टता से यह सब नहीं किया है। इसलिये आप शान्त हों और इस वर्ताव के लिये उसे क्षमा करें।

सासू की बात से उसका गुस्सा शांत हुआ।

उसके बाद डोडिणी ब्राह्मणी ने तीसरी पुत्री को सलाह दी—बेटो ! तेरा पति दुराराध्य है, इसलिये उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना और सावधानीपूर्वक देवता की तरह उसकी सेवा करना।

इस प्रकार पूर्वोक्त युक्ति से ब्राह्मणी ने अपने जमाइयों के स्वभावों को जान लिया।

२. विलासवती गणिका की कथा

किसी नगर में एक गणिका रहती थी, जिसका नाम विलासवती था। वह चौंसठ कलाओं में निपुण थी। उसने अपने यहाँ आने वालों का अभिप्राय जानने के लिये अपने रतिभवन में दीवारों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियायें करते विविध जाति के पुरुषों के चित्र लगवाये थे। जो पुरुष वहाँ आता वह उसे अपने जात्युचित चित्र के निरीक्षण में तन्मय देखकर उसकी रुचि, जाति, स्वभाव आदि को समझ जाती थी और उसी के अनुरूप उस पुरुष के साथ वर्ताव कर उसका आदर-सत्कार करके प्रसन्न कर देती थी। परिणामस्वरूप उसके यहाँ आने वाले व्यक्ति प्रसन्न होकर इनाम में खूब द्रव्य देते थे।

३. सुशील अमात्य की कथा

किसी नगर में भद्रबाहु नाम का राजा राज्य करता था। उसके अमात्य का नाम सुशील था। वह परकीय मनोगत भावों को जानने में निपुण था।

एक दिन अश्वक्रीडा करने के लिये अमात्य सहित राजा नगर के बाहर गया। चलते-चलते रास्ते के किनारे बंजर भूमि में घोड़े ने लघुशंका (पेशाब) कर दी। वह मूत्र वहाँ जैसा का तैसा भरा रहा, सूखा नहीं। अश्वक्रीड़ा करने के बाद राजा पुनः उसी रास्ते से वापस लौटा। तब भी मूत्र को पहले जैसा भरा देख कर राजा के मन में विचार आया—यदि यहाँ तालाब बनवाया जाय तो वह हमेशा जल से भरा रहेगा।

इस प्रकार का विचार करता-करता राजा बहुत देर तक उस भूमि-भाग की ओर ताकता रहा और उसके बाद अपने महल में लौट आया।

चतुर अमात्य राजा के मनोगत भावों को बराबर समझ रहा था। उसने राजा से पूछे बिना

ही उस स्थान पर एक विशाल तालाव बनवाया और उसके किनारे षड् ऋतुओं के फल-फूलों वाले वृक्ष लगवा दिये।

इसके बाद किसी समय पुनः राजा अमात्य सहित उसी रास्ते पर घूमने निकला। वृक्ष-समूह से सुशोभित जलाशय को देखकर राजा ने अमात्य से पूछा—यह रमणीक जलाशय किसने बनवाया है ?

अमात्य ने उत्तर दिया—महाराज ! आपने ही तो बनवाया है।

अमात्य का उत्तर सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ। वह बोला—सचमुच ही यह जलाशय मैंने बनवाया है ? जलाशय बनवाने का कोई आदेश मैंने दिया हो, याद नहीं है।

अमात्य ने पूर्व समय की घटना की याद दिलाते हुए बताया—महाराज ! इस स्थान पर बहुत समय तक मूत्र को विना सूखा देख कर आपने यहाँ जलाशय बनवाने का विचार किया था। आपके मनोभावों को जानकर मैंने यह जलाशय बनवा दिया है।

अपने अमात्य की दूसरे के मनोभावों को परखने की प्रतिभा देख कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसकी प्रशंसा करने लगा।

(यह तीनों अप्रशस्त भावोपक्रम के दृष्टान्त हैं।)

परिशिष्ट—२

कालगणना की संज्ञाओं एवं अनुक्रम में विविधता

क्रम.	तिलोयपण्णत्ति	अनुयोगद्वारसूत्र	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (दि.)	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (श्वे.)	ज्योतिष करण्डक
१.	समय	समय	समय	समय	समय
२.	आवलि	आवलिका	आवली	आवली	उच्छ्वास
३.	उच्छ्वास	आन	उच्छ्वास	आनप्राण	स्तोक
४.	प्राण (निश्वास)	प्राण	स्तोक	स्तोक	लव
५.	स्तोक	स्तोक	लव	लव	नालिका
६.	लव	लव	नाली	मुहूर्त	मुहूर्त
७.	नाली	×	मुहूर्त	अहोरात्र	अहोरात्र
८.	मुहूर्त	मुहूर्त	दिवस	पक्ष	पक्ष
९.	दिवस	अहोरात्र	मास	मास	मास
१०.	पक्ष	पक्ष	ऋतु	ऋतु	संवत्सर
११.	मास	मास	अयन	अयन	पूर्वांग
१२.	ऋतु	ऋतु	वर्ष	संवत्सर	पूर्व
१३.	अयन	अयन	युग	युग	लतांग
१४.	वर्ष	वर्ष	दसवर्ष	वर्षशत	लता
१५.	युग	युग	वर्षशत	वर्षसहस्र	महालतांग
१६.	वर्षदशक	×	वर्षसहस्र	वर्षशतसहस्र	महालता
१७.	वर्षशत	वर्षशत	दशवर्षसहस्र	पूर्वांग	नलिनांग
१८.	वर्षसहस्र	वर्षसहस्र	वर्षशतसहस्र	पूर्व	नलिन
१९.	दशवर्षसहस्र	×	पूर्वांग	त्रुटितांग	महानलिनाग
२०.	वर्षलक्ष	वर्षशतसहस्र	पूर्व	त्रुटित	महानलिन
२१.	पूर्वांग	पूर्वांग	पर्वांग	अडडांग	पद्मांग
२२.	पूर्व	पूर्व	पर्व	अडड	पद्म
२३.	नियुतांग	त्रुटितांग	नयुतांग	अववांग	महापद्मांग
२४.	नियुत	त्रुटित	नयुत	अवव	महापद्म

२५.	कुमुदांग	अटटांग	कुमुदांग	हूहू अंग	कमलांग
२६.	कुमुद	अटट	कुमुद	हूहू	कमल
२७.	पद्मांग	अववांग	पद्मांग	उत्पलांग	महाकमलांग
२८.	पद्म	अवव	पद्म	उत्पल	महाकमल
२९.	नलिनांग	हूहूकांग	नलिनांग	पद्मांग	कुमुदांग
३०.	नलिन	हूहूक	नलिन	पद्म	कुमुद
३१.	कमलांग	उत्पलांग	कमलांग	नलिनांग	महाकुमुदांग
३२.	कमल	उत्पल	कमल	नलिन	महाकुमुद
३३.	त्रुटितांग	पद्मांग	त्रुटितांग	अस्थिनेपुरांग	त्रुटितांग
३४.	त्रुटित	पद्म	त्रुटित	अस्थिनेपुर	त्रुटित
३५.	अटटांग	नलिनांग	अटटांग	आउअग (अयुतांग)	महात्रुटितांग
३६.	अटट	नलिन	अटट	आउ (अयुत)	महात्रुटित
३७.	अममांग	अर्थनिपुरांग	अममांग	नयुतांग	अडडांग
३८.	अमम	अर्थनिपुर	अमम	नयुत	अडड
३९.	हाहांग	अयुतांग	हाहांग	प्रयुतांग	महाअडडांग
४०.	हाहा	अयुत	हाहा	प्रयुत	महाअडड
४१.	हूहूअंग	नयुतांग	हूहूअंग	चूलितांग	ऊहांग
४२.	हूहू	नयुत	हूहू	चूलित	ऊह
४३.	लतांग	प्रयुतांग	लतांग	शीर्षप्रहेलिकांग	महाऊहांग
४४.	लता	प्रयुत	लता	शीर्षप्रहेलिका	महाऊह
४५.	महालतांग	चूलिकांग	महालतांग	×	शीर्षप्रहेलिकांग
४६.	महालता	चूलिका	महालता	×	शीर्षप्रहेलिका
४७.	श्रीकल्प	शीर्षप्रहेलिकांग	शीर्षप्रकंपित	×	×
४८.	हस्तप्रहेलित	शीर्षप्रहेलिका	हस्तप्रहेलित	×	×
४९.	अचलात्म	×	अचलात्म	×	×

□□

गाथानुक्रम

□□

विशिष्ट शब्दसूची

□□

परिशिष्ट—५

संज्ञावाचक शब्दानुक्रम

□□

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—**स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०**

नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहपाडिवए, कत्तिअपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तंजहा—पढिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—**स्थानाङ्गसूत्र, स्थान ४, उद्देश २**

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं, जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. गर्जित—बादलों के गर्जन पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. विद्युत—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत् प्रायः ऋतु-स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है, वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका-कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज-उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक शरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हड्डी, मांस और रुधिर—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से ये वस्तुएँ उठाई न जाएँ, तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो, तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

□□

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरडिया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५ श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७ श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी महता, मेड़ता सिटी
४. श्री श० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचंदजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचंदजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K.G.F.) जाड़न
११. श्री थानचंदजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचंदजी बैद, राजनादगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९ श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचंदजी उत्तमचंदजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचंदजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचंदजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरीलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जवरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५ श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़ता सिटी
२ श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकडिया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचन्दजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचंदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८ श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनादगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलाराम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री माँगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरूं
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी, बैंगलौर
९५. श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनादगाँव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचंदजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराज जी कोठारी, मांगलियावास
१०३. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी, चोरड़िया भैंरूंदा
१११. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुल्लीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढ़ा, बम्बई
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचंदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगड़ीनगर
१२७ श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८ श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बैंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़ □□

आगमप्रकाशन समिति द्वारा

अद्यावधि प्रकाशित आगम

ग्रन्थांक	नाम	पृष्ठ	अनुवादक-सम्पादक	मूल्य
१.	आचारांगसूत्र [प्र. भाग]	४२६	श्रीचन्द सुराना 'सरस'	३०)
२.	आचारांगसूत्र [द्वि. भाग]	५०८	श्रीचन्द सुराना 'सरस'	३५)
३.	उपासकदशांगसूत्र	२५०	डॉ. छगनलाल शास्त्री	२५)
४.	ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र	६४०	पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल	४५)
५.	अन्तकृद्दशांगसूत्र	२४८	साध्वी दिव्यप्रभा	२५)
६.	अनुत्तरोपपातिकसूत्र	१२०	साध्वी मुक्तिप्रभा	१६)
७.	स्थानांगसूत्र	८२४	पं० हीरालाल शास्त्री	५०)
८.	समवायांगसूत्र	३६४	पं० हीरालाल शास्त्री	३०)
९.	सूत्रकृतांगसूत्र [प्र. भाग]	५६२	श्रीचन्द सुराना 'सरस'	४५)
१०.	सूत्रकृतांगसूत्र [द्वि. भाग]	२८०	श्रीचन्द सुराना 'सरस'	२५)
११	विपाकसूत्र	२०८	अनु. पं. रोशनलाल शास्त्री सम्पा. पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल	२५)
१२	नन्दीसूत्र	२५२	अनु. साध्वी उमरावकुंवर 'अर्चना' सम्पा. कमला जैन 'जीजी' एम. ए.	२८)
१३.	औपपातिकसूत्र	२४२	डॉ. छगनलाल शास्त्री	२५)
१४.	व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र [प्र. भाग]	५६८	अमरमुनि	५०)
१५.	राजप्रश्नीयसूत्र	२८४	वाणीभूषण रतनमुनि	३०)
१६.	प्रज्ञापनासूत्र [प्र. भाग]	५६८	जैनभूषण ज्ञानमुनि	४५)
१७.	प्रश्नव्याकरणसूत्र	३५६	अनु. मुनि प्रवीणऋषि सम्पा. पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल	३५)
१८.	व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र [द्वि. भाग]	६६६	अमरमुनि	४५)
१९.	उत्तराध्ययनसूत्र	८४२	राजेन्द्रमुनि शास्त्री	६५)
२०.	प्रज्ञापनासूत्र [द्वि. भाग]	५४२	जैनभूषण ज्ञानमुनि	४५)
२१.	निरयावलिकासूत्र	१७६	देवकुमार जैन	२०)
२२.	व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र [तृ. भाग]	८३६	अमरमुनि	६१)
२३.	दशवैकालिकसूत्र	५३२	महासती पुष्पवती	४५)
२४.	आवश्यकसूत्र	१८८	महासती सुप्रभा एम. ए., शास्त्री	२५)
२५.	व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र [चतुर्थ भाग]	९०८	अमरमुनि	६५)
२६.	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र	४७८	डॉ. छगनलाल शास्त्री	४५)
२७.	प्रज्ञापनासूत्र [तृ. भाग]	३६८	जैनभूषण ज्ञानमुनि	४०)
२८.	अनुयोगद्वारसूत्र	५५०	उपाध्याय श्री केवलमुनि	५०)